श्रीः ।

पञ्चदशी ।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-

श्रीविद्यारण्यस्वामिविरचित ।

[illegible] श्रीपंडित-

[illegible] कृत-

भाषाटीकासमेत ।

मुमुक्षुजनोंके हितार्थ

[illegible]

खेमराज श्रीकृष्णदासने

स्वकीय "श्रीवेंकटेश्वर" छापाखानामें

छापकर प्रसिद्ध किया ।

अनादिमायया भ्रान्ता जीवेशौ सुविलक्षणौ ।
मन्यन्ते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥ १ ॥

संवत् १९५१. शके १८१६.

अथ पंचदशीप्रकरणानुक्रमः ।

१—तत्त्वविवेकप्रकरणम्.
२—महाभूतविवेकप्रकरणम्.
३—पंचकोशविवेकप्रकरणम्.
४—द्वैतविवेकप्रकरणम्.
५—महावाक्यविवेकप्रकरणम्.
६—चित्रदीपप्रकरणम्.
७—तृप्तिदीपप्रकरणम्.
८—कूटस्थदीपप्रकरणम्.
९—ध्यानदीपप्रकरणम्.
१०—नाटकदीपप्रकरणम्.
११—ब्रह्मानंदे योगानंदप्रकरणम्.
१२—ब्रह्मानंदे आत्मानंदप्रकरणम्.
१३—ब्रह्मानंदे अद्वैतानंदप्रकरणम्.
१४—ब्रह्मानंदे विद्यानंदप्रकरणम्.
१५—ब्रह्मानंदे विषयानंदप्रकरणम्.

॥ इति पंचदशप्रकरणानि ॥

॥ श्रीः ॥

पंचदशी

भाषाटीकासमेता ।

तत्त्वविवेकप्रकणम् १

नमःश्रीशंकरानंदगुरुपादांबुजन्मने ॥
सविलासमहामोहग्राहग्रासैककर्मणे ॥ १ ॥

श्रीगणेशायनमः। मायाकल्पितसंसृतेरपगमं यद्बोधसाध्यंविदुः नत्वा ब्रह्म मुमुक्षुमुक्तिकरणन्तत्पंचदश्युद्धतिः ॥ नुर्गियींमिहिरादिचंद्रविदुषाभाषाप्रियप्रीतिदा संतेने भवभीतिभीतजनुषा विज्ञेषु कः साहसी १–प्रारंभ किये ग्रंथमें विघ्ननिवृत्तिके लिये इष्टदेव और गुरुके नमस्कार रूप मंगलको ग्रंथकी आदिमें लिखते हैं–कि संपूर्ण जगत्को आनंदरूपसुखकारी जो परमात्मा क्योंकि वही ब्रह्म सबको आनंद करताहै यह श्रुतिमें[1] लिखाहै और सबसे उत्तम प्रेमरूपका आश्रय होनेसे परमात्मा रूप जो प्रत्यगात्मा (जीव) अर्थात् जीवसे अभिन्न जो परमात्मा (ब्रह्म) वही जो गुरु–अर्थात् जिनके मल पक गयेहै उनके मलोंको दूरी करणार्थ श्रेष्ठ उपदेशसे परमतत्त्व (ब्रह्म) में आचार्यकी मूर्तिमें टिककर युक्त करने (मिलान) वाला ब्रह्मरूप गुरुहै इसवेदके वाक्यसे[2] जीवसे अभिन्न परमात्माके समान जो अणिमा आदि सिद्धियोंसे युक्त, गुरु अथवा लक्ष्मीसे सुखके कर्ता जो आनद रूपगुरु क्योंकि दाताका परम आस्रय दानही है यह श्रुतिमें[3] लिखाहै–ऐसे पूर्वोक्त गुरुके उन कमलरूपी चरणारविंदोंको हम प्रणाम करते हैं जो पृथिवी आदि कार्योंके समूहसे युक्त महामोह रूप ग्राह अर्थात् अविद्यारूप मूल अज्ञान रूपमे जो अपने वशमें आयेको मकरके समान दुःखका दाता जो संसार उस ग्राहके ग्रास (भक्षण वा नाश) कर्ताहै–भावार्थ यह है कि पृथिवी आदि संसार सहित अविद्यारूप ग्राहके नाशक, जो जीवसे अभिन्न ब्रह्मरूप गुरुके कमलरूप चरणारविंद–उनको हम नमस्कार करते हैं यहां जीव और ब्रह्मकी एकताके वर्णनसे अद्वैत इस ग्रंथका विषयहै–और जीवको

---

१ एष एवानंदयतीतिश्रुतेः। २ परिपक्कमला ये तानुत्सादनशक्तिपातेन योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः। ३ रातिर्दातुः परायणम्:–

ब्रह्म रूपकी प्रकटता वा अविद्या आदि अनर्थकी निवृत्ति प्रयोजनहैं और इस ग्रंथसे वे जाने जातेहैं और ग्रंथ उनको जनाताहै यह प्रतिपाद्य प्रतिपादक भावरूप, संम्बधहै और अद्वैतका अभिलाषी मुमुक्षु इस ग्रंथका अधिकारी है ये चारों विषय, प्रयोजन, संबंध, अधिकारी (जो ग्रंथोंकी आदिमें होते हैं) इस श्लोकसे सूचित किये समझने ॥ १ ॥

तत्पादांबुरुहद्वंद्वसेवानिर्मलचेतसाम् ॥
सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते ॥ २ ॥

भाषार्थ– अब अवांतर (मध्यके) प्रयोजनोंके कथनपूर्वक ग्रंथके आरंभकी प्रतिज्ञा करते हैं कि उसपूर्वोक्त गुरुके कमलरूप दोनों चरणोंकी सेवा (स्तुति-नमस्कार)से राग द्वेष आदिसे रहित (निर्मल)है अंतःकरण जिनका उनको अनायास (विनापरिश्रम)से तत्वोंके ज्ञानार्थ इस (वक्ष्यमाण) विवेकको करते हैं अर्थात् नहीं है कहीं आरोप (भ्रम) जिसका जैसा रज्जुमें सर्पका होताहै–ऐसे तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे जानने योग्य अखंड सच्चिदानंदरूप परब्रह्मका उसी उक्त परब्रह्ममें आरोप किये (माने) पंचकोशरूप जगत्से विवेक (भेद) को करतेहैं अर्थात् जगत्के विकारोंसे रहित परब्रह्मका जिससे ज्ञान होजाय ऐसे प्रकरणका आरंभ करते हैं क्योंकि जैसे रज्जुके ज्ञानविना आरोपकिये सर्पसे पैदाहुये शरीरकंप आदिकी निवृत्ति नही होती ऐसेही ब्रह्मरूप अधिष्ठानके ज्ञान विना सुखदुःखआदि संसारके अनर्थोंकीभी निवृत्ति नही होती इससे यह विवेक मुमुक्षुका परम उपयोगी हैं भावार्थ यहहै कि गुरुके चरणारविंदोंकी सेवासे निर्मल बुद्धियोंको सुख पूर्वक बोधके लिये यह तत्त्व (ब्रह्म)का विवेक करतेहैं ॥ २ ॥

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक् ॥
ततो विभक्ता तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते ॥ ३ ॥

भाषार्थ–जीवब्रह्मकी एकतारूप विषयकी संभावनाके लिये जीवको सत्यज्ञान आदि स्वरूप दिखानेके अभिलाषी ग्रंथकार प्रथम ज्ञानके अभेद (एक) के कथनसे ज्ञानकी नित्यताको सिद्ध करतेहैं और तिसमेंभी भलीप्रकार स्पष्ट व्यवहारहै जिसमें ऐसी जागरण अवस्थामें ज्ञानकी एकताको कहते हैं कि इंद्रियों (नेत्र आदि) से रूप आदि विषयोंका जिसमें ज्ञानहो ऐसी जाग्रत् अवस्थामें ज्ञानके विषय (जो जानेजाय) जो शब्द स्पर्श आदि आकाश आदि भूतोंके गुण और उन गुणोंके आश्रय

आदि विचित्रतासे अर्थात् गौ अश्व आदिके समान विलक्षण होनेसे परस्पर भिन्नहैं और बुद्धिसे कियाहै विवेक (विचार) जिसका ऐसा उन शब्द स्पर्श आदिका ज्ञान एकरूप (ज्ञान २) होनेसे अर्थात् एक आकारसे प्रतीत होनेसे आकाशके समान भिन्न नहीं है निदान शब्दका ज्ञान स्पर्शका ज्ञान इत्यादि ज्ञानोंमें शब्द आदि संबंधियोंके भेदसे ज्ञानका भेद प्रतीत होताहै वस्तुतः ज्ञान एकहै और परमार्थ अवस्थामें जब शब्द आदिकी मिथ्याताका निश्चय होताहै तब ब्रह्मरूप ज्ञानही शेष रहता है इससे ज्ञान एकरूपहै यहां यह प्रयोग (अनुमान) हैं कि विवादकी आस्पद जो संवित् (ज्ञान) वह स्वाभाविक भेदसे शून्यहै उपाधिके ज्ञानविना अज्ञातहै भेद जिसका ऐसी होनेसे आकाशके समान-अथवा शब्दकी संवित् स्पर्शकी संवित्से भिन्न नहीं है संवित् होनेसे स्पर्शसंवित्के समान- इसप्रकार अनुमानकरनेसे एकही ज्ञानके उपाधिसे प्रतीत हुये भेदसे भिन्न व्यवहारकी सिद्धि होनेपर वास्तविक भेद माननेमें-गौरव मानना पडेगा अर्थात् अनेकज्ञान मानने पडेंगे अनुमानमें चार वस्तु होतेहैं पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टांत, जिसमें साध्यका संदेह हो उसे पक्ष, और जो सिद्ध किया जाय उसे साध्य, और जिससे सिद्ध कियाजाय उसे हेतु, और जिसमें हेतुसे साध्यका निश्चय प्रतीत हो उसे दृष्टांत कहते हैं- जैसे- पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत्- यहां पर्वत पक्ष वह्नि साध्य धूम हेतु महानस दृष्टांत है इसी प्रकार अन्य अनुमानों में भी समझना भावार्थ यहहै कि जानने योग्य शब्द स्पर्श आदि विषय गौ अश्व आदिके समान विलक्षणतासे परस्पर भिन्न २ हैं और बुद्धिसे विचारा हुआ उनका ज्ञान एकरूप होनेसे भिन २ नहीं है अर्थात् एकहै ॥ ३ ॥

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम् ॥
तद्भेदोऽतस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते ॥ ४ ॥

भाषार्थ—इसी उक्तरीतिको स्वप्नमें दिखाते हैं कि जैसे जाग्रत् अवस्थामें विषयोंकी विचित्रतासे घट पट आदिका भेद और ज्ञानका अभेद है इसी प्रकार स्वप्नमें भी भेद और अभेद हैं इंद्रिय अपने २ विषयोंको छोडदें और जाग्रत् अवस्थाके संस्कारसे जिसमें विषय सहित ज्ञान पैदा होताहै उसे स्वप्न कहते है उसमें भी विषयोंकाही भेद है ज्ञानका नही वह तो जाग्रत् अवस्थाके समान स्वप्नावस्थामें भी एकही है यदि विषय और ज्ञानके भेद और अभेदसे स्वप्न और जाग्रत् ये दोनों एकरूपही हैं तो स्वप्न जाग्रत् यह भिन्न २ व्यवहार किससे होता है इस शंकाकी निवृत्तिके लिये स्वप्न जाग्रत्के भेदका कारण वर्णन करते हैं कि स्वप्न अवस्थामें दीखता हुआ घट आदि वस्तुओंका समूह स्थिर नहीं होता क्योंकि उसका शरीर प्रतीति मात्रहै

और जाग्रत् अवस्थामें जो वस्तु दीखती है वह स्थिर हैं क्यों कि वह कालांतरमें भी दीखनेके योग्यहै इसप्रकार स्थिर अस्थिर विषयोंकी विलक्षणतासे जाग्रत् और स्वप्नका भेद है कदाचित् कोई शंका करै कि यदि स्वप्न जाग्रतका भेद है तो उनके ज्ञानका भी भेद होगा सो ठीक नही क्यों कि स्वप्न और जाग्रत्के विषयोंका जो ज्ञान है वह एकरूप होनेसे अर्थात् ज्ञानज्ञान इस एकाकार प्रतीति होनेसे एक ही है- भावार्थ यह है कि तैसेहीं स्वप्नमेंभी विलक्षणतासे विषयोंका भेदहैं ज्ञानका नही परंतु स्वप्नका विषय अस्थिर और जाग्रत्का स्थिर होता है यही स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओंका भेदहै और दोनों अवस्थाओंके विषयोंका जो ज्ञानहै वह एकरूप होनेसे भिन्न २ नहींहै ॥ ४ ॥

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्ततमोबोधो भवेत्स्मृतिः ॥
सा चाऽवबुद्धविषयाऽवबुद्धं तत्तदा तमः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—इसप्रकार जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओंमें ज्ञानकी एकताको सिद्ध करके सुषुप्ति कालके ज्ञानकी भी पूर्वोक्त दोनों अवस्थाके ज्ञानके संग एकताकी सिद्धिके लिये प्रथम सुषुप्तिमें ज्ञानको सिद्ध करते हैं कि पहिले सोकर प्रातःकाल उठा अर्थात् सुषुप्तिसे जगा जो पुरुष उसको सुषुप्तिमें वर्तमान अज्ञानका जो ज्ञानहै अर्थात् मैं ऐसा सुखसे सोया कुछभी ज्ञान न रहा वह अज्ञानका ज्ञान स्मरण है प्रत्यक्ष अनुमान नहीहै क्यों कि प्रत्यक्षके कारण इंद्रिय आदिके संनिकर्ष (संबंध) का और व्याप्तिज्ञान-हेतु आदिका उस समय अभाव है और स्मरण उसी पदार्थका हुआ करताहै जिसका प्रथम ज्ञान हो चुका हो यह व्याप्ति (नियम) जगत्में देखी है तिससे वह सुषुप्तिसमयका अज्ञान सुषुप्तिमें जानाथा यह मानना पडेगा यहांभी यह अनुमानहै कि विवादका आस्पद जो मै कुछ नही जाना यह अज्ञानका स्मरणहै वह अनुभवसे जन्यहै स्मरण होनेसे वह मेरी माताहै इस स्मृतिके समान भावार्थ यहहै कि सुषुप्तिसे उठे मनुष्यको जो मैं सुखसे सोय कुछ ज्ञान न रहा यह अज्ञानका ज्ञानहै वह स्मरणहै और स्मरण ज्ञातपदार्थका होताहै इससे सुषुप्तिमें अज्ञानका ज्ञान हुआ था यह मानना पडेगा अन्यथा प्रातःकाल स्मरण न होता ॥ ५ ॥

स बोधो विषयाद्भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत् ॥
एवं स्थानत्रयेऽप्येका संवित्तद्वद्दिनांतरे ॥ ६ ॥

मासाब्दयुगकल्पेषु गताऽगम्येष्वनेकधा ॥
नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा ॥ ७ ॥

भाषार्थ–उस अज्ञानके ज्ञानरूप अनुभवको अपना विषय जो अज्ञान उससे भेद और इतर ज्ञानसे अभेदका वर्णन करते हैं कि वह बोध (ज्ञान) अर्थात् सुषुप्ति कालके अज्ञानका अनुभव अपने विषय अज्ञानसे भिन्नहै और बोधसे इसप्रकार भिन्न है जैसे स्वप्नकालका ज्ञान जाग्रत्के ज्ञानसे भिन नही होताहै यहां यह अनुमान नही समझना कि सुषुप्ति कालके अज्ञानका ज्ञान विषयसे भिन्न होने योग्यहै बोध होनेसे घटके बोधकीतुल्य और वह सुषुप्तिकालके अज्ञानका ज्ञान अन्य ज्ञानोंसे भिन्न नहीहै बोध होनेसे स्वप्नके बोधकी तुल्य अब फलितको कहतेहुये इसी न्यायको अन्यत्रभी दिखाते हैं कि इसीप्रकार एक दिनकी जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें संवित् (ज्ञान) एकही है और इसीप्रकार अन्य दिनमेंभी ज्ञानका अभेदही है जैसे एक दिनकी तीनों अवस्थाओंमें ज्ञानका अभेदहै इसीप्रकार अन्य दिनोंमें अनेक प्रकारसे बीते और आनेवाले दिन और चैत्र आदि मास, और प्रभव आदि वर्षोंमें और कृत आदि युग और ब्राह्म आदि कल्पोंमें ज्ञानका अभेदही है–अब ज्ञानके अभेदकी सिद्धिका फल कहते हैं कि जिससे संवित् एक है इससे न उदय होती है और न उत्पन्न होती है न अस्त होती है न नष्ट होती है–क्योंकि विना साक्षी उत्पत्ति और नाश नही होते और अपने उत्पत्ति विनाशको वही संवित् आप नही जान सकती और दूसरी कोई संवित् है नही इससे संवित् (ज्ञान)नित्य और एकही है- कदाचित् कोई शंका करै कि अन्यतो संवित् है नही तो ग्राहक (ज्ञाता) के अभावसे इस संवित्काभीभान न होगा तो सबजगत् अंधा हो जायगा सो ठीकनही क्योंकि यह संवित् स्वयं प्रकाशरूपहै-यहां यह अनुमानहै कि संवित्-स्वयं प्रकाश रूप है–किसी अन्यसे जाननेके अयोग्य होकर अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होनेसे-इस अनुमानमें घटरूप व्यतिरेक दृष्टांतहै जैसे घट स्वयं प्रकाशरूप नही है अन्यसे जाननेके अयोग्य होकर प्रत्यक्षका विषयभी नही है किंतु इंद्रियोंसे जानाही प्रत्यक्षका विषय है कदाचित् कोई शंका करै कि उक्त अनुमानमें अवेद्यत्वे सति-अपरोक्षत्वात् (जाननेके अयोग्य होकर प्रत्यक्ष होनेसे) विशेषण (जाननेके अयोग्य होकर) की असिद्धिहै अर्थात् संवित् जाननेयोग्यहै सो ठीक नही क्यों कि संवित्ही संवित्को जानेगी तो वही कर्म और वही कर्ता माननेमें विरोध होगा अर्थात् कर्ता और कर्म भिन्न २ होतेहै एक नही और संवित्के जानने वाली अन्य (दूसरी) संवित् मानोगे तो अनवस्था दोष होगा क्यों कि उस दूसरी संवित्के ज्ञानार्थ तीसरी और तीसरीके ज्ञानार्थ चौथी माननी पडेगी इसप्रकार कहीं भी स्थिति न होगी इससे स्वप्रकाशरूपसे भासमान संवित् सबकी प्रकाशकहै इससे जगत्की अंधताका प्र-

संगरूप दोष नहीहै भावार्थ यहहै कि वह सुषुप्तिकालके अज्ञानका बोध विषयसे भिन्नहै और स्वप्नकालके बोधकी तुल्य बोधसे भिन्न नहीहै इसीप्रकार जाग्रत् स्वप्न सुषुप्तिरूप तीनों अवस्थाओंमें और तिसीप्रकार अन्य दिन-मास-वर्ष-युग-कल्प जो अनेक प्रकारसे बीते और आगामी हैं उनमें संवित् एकहीहै न यह उदय होतीहै न अस्त किंतु यह संवित् एक प्रकाशरूपहै अर्थात् इसको किसीके प्रकाशकी अपेक्षा नहीहै ॥ ६ ॥ ७ ॥

इयमात्मा परानंदः परप्रेमास्पदं यतः ॥
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमाऽऽत्मनीक्ष्यते ॥ ८ ॥

भाषार्थ–इसप्रकार संवित् नित्य और स्वप्रकाशरूप रहो उससे क्या सिद्ध हुआ इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि यह संवित् आत्माहै यहां यह अनुमानहै कि यह संवित् आत्मा होने योग्यहै नित्य होकर स्वप्रकाश होनेसे घटके समान जैसे घट इससे नित्य होकर स्वप्रकाश नहीहै जिससे आत्मरूप नहीहै इस अनुमानसे आत्माको नित्य और संवित् रूपकी सिद्धिसे सत्यकी भी सिद्धि होगयी क्यों कि नित्यसे भिन्न सत्य नही होताहै और वाचस्पति मिश्रोंनेभी यह कहाहै कि सत्यत्व रूप नित्यत्व जिसमें हो उसे नित्य सत्य कहते हैं अब आत्माको आनंदरूप सिद्ध करते हैं कि आत्मा परानंदहै अर्थात् परम (सर्वोत्तम) आनंदरूप है निदान आत्मासे अधिक अन्य कोई सुख नहीहै क्यों कि जिससे वह आत्मा उपाधिसे रहित सबसे अधिक प्रेम स्नेहका आस्पद (विषय) है तिससे यहां यह अनुमानहै कि आत्मा परमानंदरूपहै उत्तम स्नेहका आस्पद होनेसे उत्तमस्नेहका आस्पद वहन ही हो सकता जो परमानंदरूप नही होता जैसे घट जिससे यह आत्मापर प्रेमका आस्पद नहीहै यह नही कह सकते तिससे परमानंदरूप नहीहै यह भी नही कह सकते कदाचित् कोई शंका करै कि आत्माके विषै मुझे धिक्कारहै इस द्वेषकीभी प्रतीति होनेसे प्रेमकाभी आस्पद आत्मा नहीहै परम प्रेमका आस्पद तो कहासे होगा सो ठीक नही क्यों कि वह प्रतीति दुःखके संबंधसे होतीहै इससे अन्यथा सिद्धहै और प्रेम तो आत्माके विषै अनुभवसे सिद्धहै इसी शंकाका परिहार करते हैं कि जिसकारणसे आत्मामें इस प्रेमको सब देखते हैं अर्थात् सब जानते हैं कि मेरी असत्ता (अभाव) कभीभी नहो किंतु मेरी सत्ताही सदा रहै इससे कोई असिद्धि नहीहै भावार्थ यहहै कि यह संवित् आत्मारूपहै और परम प्रेमका आस्पद होनेसे यह आत्मा परमानन्दरूपहै क्यों कि मेरी असत्ता (अभाव) कभी नहो किंतु मैं सदैव रहूं इस प्रेमको आत्माके विषै संपूर्ण जन देखते हैं ॥ ८ ॥

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि ॥
अतस्तत्परमं तेन परमानंदताऽऽत्मनः ॥ ९ ॥

भाषार्थ–पक्षमें हेतुके अभावरूप स्वरूपासिद्धिरूप दोष तो मत हो परप्रेमकी उत्तमतामें मानका आभावहै इससे हेतुमें विशेषण (श्रेष्ठता) को असिद्धिरूप दोष है इस शंकाकी निवृत्तिकेलिये कहते हैं कि अपनेसे भिन्न पुत्रआदिमें जो प्रेमहै वह आत्माके (अपने) लिये है क्यों कि वे सब आत्माकेही शेषहैं अर्थात् अपनी प्रीति के लियेही पुत्र आदि प्यारे हैं और पुत्र आदिमें प्रेम स्वाभाविक नही है इसप्रकार आत्माके विषै जो विद्यमान प्रेमहै वह अन्यके लिये नहीं है अर्थात् आत्मा किसी अन्यका शेष नही है किंतु आत्माके प्रेमका निमित्त आत्मामें रहनेवाला आत्मस्वरूप धर्मही हेतुहै इससे उपाधिसे रहित होनेसे आत्मामें जो प्रेमहै परम (सबसे श्रेष्ठ) है तिससे सबसे उत्तम प्रेमका आश्रय होनेसे आत्मा परमानंदस्वरूपहै अर्थात् सर्वोत्तम सुखरूपहै यह सिद्धभया भावार्थ यहहै कि जैसे पुत्रआदिमें जो प्रेमहै वह आत्माकेलियेहै और ऐसेही आत्मामें प्रेम अन्यके लिये नही है इससे आत्मामें प्रेम उत्तमहै तिससे आत्मा परमानंदरूपहै ॥ ९ ॥

इत्थं सच्चित्परानंद आत्मा युक्त्या तथाविधम् ॥
परं ब्रह्म तयोश्चैक्यं श्रुत्यंतेषूपदिश्यते ॥ १० ॥

भाषार्थ–इन पूर्वोक्त सात श्लोकोंसे सिद्ध किये अर्थको संक्षेपसे दिखाते हैं कि शब्द स्पर्शादय इत्यादिसे ज्ञानको नित्य सिद्ध किया और उस ज्ञानकोही इयमात्मा इस श्लोकसे आत्मत्व सिद्ध किया और उससे आत्माको सत् चित् रूपता और परमानंद इत्यादिसे परम आनंदरूपका समर्थन (सिद्ध) किया इसप्रकार आत्मा तत्वमसि आदि महावाक्योंमें जो त्वं पदका अर्थ है वह सच्चिदानंदरूप सिद्ध हुआ कदाचित् कोई शंका करै कि इसप्रकार युक्तिसेही आत्माकी सच्चिदानंदरूपता सिद्ध होगयी तो उपनिषदोंका विषय न होनेसे अप्रमाणता हो जायगी सो ठीक नही क्यों कि परब्रह्मभी तैसाही है अर्थात् सच्चिदानंदरूपहै और वही पूर्वोक्त महावाक्योंमें तत् पदका अर्थ है उन तत् त्वं पदोंकी एकता अर्थात् अखंड एकरसरूपता श्रुतिके अंतों (वेदांत) में प्रतिपादन (वर्णन) की गई है अर्थात् जीव और ब्रह्मकी एकता वेदांतोंसे प्रतीत होती है इससे वेदांतोंको निर्विषयताका प्रसंग नही हो सकता अर्थात् यह नही कहसकते कि पूर्वोक्त ब्रह्म वेदांतोंका विषय नही है भावार्थ यह है कि इसप्रकार पूर्वोक्त युक्तिसे जीवात्मा सत् चित् परमानंदरूपहै और तैसेही परब्रह्मभी परमानंदरूपहै उन दोनों जीव ब्रह्मोंकी एकता (अभेद वा अद्वैत) का उपदेश संपूर्ण वेदांत करते हैं अर्थात् जीवब्रह्मका अभेद सिद्ध करते हैं ॥ १० ॥

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा ॥
अतो भानेप्यभाताऽसौ परमानंदताऽऽत्मनः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—अब आत्माके परमानंदरूपमें आशंका करतेहैं कि आत्मामें परमानंदरूपता भासतीहै वा नही भासती अर्थात् प्रतीत होतीहै कि नही कदाचित् कहो कि प्रतीत नही होती तो आत्मामें परम प्रेम न होगा अर्थात् सबसे अधिक स्नेह न होगा क्योंकि स्नेह विषयकी सुंदरताके ज्ञानसे पैदा हुआ करताहै कदाचित् परानंदरूपता आत्मामें प्रतीत होतीहै तो सुखके हेतु स्रक्चंदन आदिमें वा उनसे पैदा हुये सुखमें इच्छा न होनी चाहिये क्योंकि सुखरूप फलकी प्राप्ति होनेपर साधन (हेतु) की इच्छा नही हुआ करती और जब सबसे उत्तम आनंदका लाभ होगया तो क्षणिक (अनित्य) और जो अनेक कारणोंके आधीन आदि दोषोंसे युक्तहो ऐसे विषय सुखकी इच्छा होनीभी अयुक्तहै तिससे आत्मा आनंदरूप नही हो सकता अन्य कोई प्रकार (रीति) यहां नही हो सकता इससे परिहार (समाधान) करतेहैं कि जिससे भासने और न भासने दोनों पक्षोंमें दोषहै इस कारण यह आत्माकी परमानंदरूपता भान होनेपरभी भान नही होती अर्थात् प्रतीत होतीभी प्रतीत नही होती भावार्थ यह है कि आत्माकी परम आनंदताका भान न मानोगेतो परस्नेह वह न होगा और भान मानोंगेतो विषयोंकी इच्छा न होगी इससे यह आत्माकी परमानंदरूपता भान होने परभी भान न होनेके समानहै अर्थात् प्रकटतासे प्रतीत नही होती ॥ ११ ॥

अध्येतृवर्गमध्यस्थपुत्राध्ययनशब्दवत् ॥
भानेप्यभानं भानस्य प्रतिबंधेन युज्यते ॥ १२ ॥

भाषार्थ—कदाचित् शंकाकरो कि एक वस्तुका एक कालमें भान और अभान युक्त नही हो सकता इस शंकामें यह विकल्पहै कि यह अयुक्त होना कही देखा नही वा इसकी सिद्धिही नही हो सकती पहिला (देखा नही) तो ठीक हो नहीं सकता क्योंकि जैसे वेदके अनेक पढनेवाले बालकोंके समूहमें बैठे हुये पुत्रका जो शब्द उसके समान (सामान्य रूपसे भासते हुयेकाभी यह मेरे पुत्रका शब्दहै यह विशेष रूपसे भान नही होता तैसे ही) आत्माका परमानंदभी भान होनेपर नही भासनेके समान होसकताहै—और उस परमानंदके भानकी सिद्धिनही हो सकती यह भी ठीकनही क्योंकि भान (स्फुरना) के प्रतिबंधसे (जोकहेगें) भानका भी अभान होसकताहै अर्थात् सामान्यरूपसे प्रतीति होने पर भी विशेषरूपसे प्रतीति का नहोना

युक्तहै—भावार्थ यहहै कि अनेक पढने वालोंके मध्यमें पढते हुये पुत्रका जो पढने का शब्द उसके समान भानमें भी अभान युक्त है वा भानके प्रतिबंध (विघ्न) से भानमे अभान युक्त होसकताहै— ॥ १२ ॥

प्रतिबंधोऽस्तिभातीति व्यवहारार्हवस्तुनि ॥
तन्निरस्य विरुद्धस्य तस्योत्पादनमुच्यते ॥ १३ ॥

भाषार्थ—अवप्रतिबंधको कहते है कि अस्ति भाति (है प्रकाशताहै) इसप्रकार व्यवहारयोग्य वस्तु में उस पूर्वोक्त व्यवहारको दूरकरके भ्रमआदिकेद्वारा उससे विरुद्ध जो नही है नही भासता यह व्यवहार—उस की जो उत्पत्ति उसको ही प्रतिबंध कहतेहै—अर्थात् विद्यमान और प्रकाशमान वस्तुभी भ्रमसे अविद्यमान और अप्रकाशमान सी प्रतीत होतीहै—भावार्थयह है कि है—भासता है इसव्य-वहारके योग्यवस्तुमें नहीहै नहीभासता इस विरुद्धव्यवहारकी जो पूर्वोक्तव्य-वहारको दूरकरके उत्पत्ति उसको ही प्रतिबंध कहतेहै ॥ १३ ॥

तस्य हेतुः समानाभिहारः पुत्रध्वनिश्रुतौ ॥
इहाऽनादिरविद्यैव व्यामोहैकनिबंधनम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—अव पूर्वोक्त प्रतिबंध केहेतुको दृष्टांत और दार्ष्टांतिकमें दिखातेहै कि पुत्रके अध्ययनका जो शब्द उसके सुनने में तो समानाभिहार (बहुतोंका संगपढना) विशेषरूपसे पुत्रशब्दके न जाननेमें प्रतिबंधकहै—और आत्माकी परमानंदताका जो अभान उसमें अनादि जो अविद्या (अज्ञान) वही एक व्यामोह (विपरीत) ज्ञानका कारणहै—अर्थात् अविद्यासे भासमान वस्तुभी नही दीखती क्योंकि मूलाज्ञान (अविद्या) कीनिवृत्तिके विना परमानंदका ज्ञान नही होसकता—भावार्थ यहहै कि पुत्रशब्दके सुननेमें अनेकोंके संग पढना और यहां अनादि अविद्याही विपरीत ज्ञानका हेतुहै— ॥ १४ ॥

चिदानंदमयब्रह्मप्रतिबिंबसमन्विता ॥
तमोरजःसत्त्वगुणा प्रकृतिर्द्विविधा च सा ॥ १५ ॥

भाषार्थ—अव पूर्वोक्त प्रतिबंधका कारणजो अविद्या उसके कहने के लिये उसअवि-द्याका मूलजो प्रकृति उसका वर्णन करतेहै कि चिदानंदरूपजो ब्रह्म उसके प्रतिबिंब सेयुक्तजो तमोगुण रजोगुण सत्वगुणरूप अर्थात् सत्व रजः तमः इनतीनों गुणोंकी साम्या (बराबर) वस्था उसे प्रकृति कहतेहै और वह प्रकृति दोप्रकारकीहै और

चकारसे आगेजो वर्णन किया जायगा वहभी प्रकारहै—भावार्थ यहहै कि सच्चिदानंद रूप पर ब्रह्मके प्रति बिंबसे युक्तजो तमो गुण रजोगुण सत्वगुण रूप प्रकृति वहदो प्रकारकी है ॥ १५ ॥

सत्त्वशुद्ध्यविशुद्धिभ्यां मायाऽविद्ये च ते मते ॥
मायाबिंबोवशीकृत्य तां स्यात्सर्वज्ञ ईश्वरः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—अब दोनों भेद और उनके कारणोंका वर्णन करते हैं कि सत्वगुणकी जो शुद्धि अर्थात् प्रकाशरूप सत्वगुणका जो रजोगुण तमोगुणोंसे मलिनताका अभाव और अन्यगुणोंसे जो अविशुद्धि (मलिनता) उनसे वह प्रकृति माया और अविद्यारूप शास्त्रमें मानीहै अर्थात् शुद्धसत्वगुण प्रधान माया और मलीन सत्वगुण प्रधान अविद्या होतीहै अब माया और अविद्याके भेदका फलदिखाते हैं कि मायामें पडाहै प्रतिबिंब जिसका ऐसा चिदात्मा (परब्रह्म) उसमायाको वशमें (अपने आधीन) करके वर्तनेसे सबके ज्ञान आदिगुणोंसे युक्त सर्वज्ञ ईश्वर होताहै अर्थात् मायाके नियंता परब्रह्मको ईश्वरकहते हैं—भावार्थ यहहै कि सत्वगुणकी शुद्धि और अशुद्धिसे वे दोनों क्रमसे माया और अविद्या मानीहै और मायाका बिंब मायाको वशमें करके सर्वज्ञ ईश्वर होता है अर्थात् मायोपाधिको ईश्वरकहते हैं— ॥ १६ ॥

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा ॥
सा कारणशरीरं स्यात् प्राज्ञस्तत्राऽभिमानवान् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—अविद्याके वशमें प्राप्तहुआ अर्थात् अविद्यामें प्रतिबिंबरूपसे स्थित अविद्याके परतंत्र जो चिदात्मा वह जीवहै और वह जीव उपाधिरूप अविद्याको विचित्रतासे अर्थात् अविद्यासे पैदाहुयी अशुद्धिके न्यून आधिक भावसे देव मनुष्य तिर्यक् आदिभेदसे अनेकप्रकारका होताहै—जैसे मुंजसे ईषीका (अग्रशलाका) को पृथक् करलेते हैं इसीप्रकार तीनों शरीरोंसे धीर पुरुष युक्तियोंसे आत्माको पृथक् जान लेते हैं इसवचनसे तीनोंशरिरोंसे पृथक् किये जीवात्माको परब्रह्मरूप कहेंगे—उसमें वे तीन शरीर कोनसे हैं और उन शरीरोपाधिजीवका क्यारूपहै इस आकांक्षाकी निवृत्तिके लिये उन शरीर आदिकोंका क्रमसे वर्णन करते है कि वह अविद्या कारण शरीर होती है अर्थात् स्थूल सूक्ष्म शरीरका कारण शरीरहै—क्यों कि प्रकृतिका अवस्था विशेष होनेसे उस अविद्याको कारण, और तत्वज्ञानसे नष्ट होजानेसे शरीर कहाती है और उसकारण शरीरका अभिमानी अर्थात् उसके तादात्म्य (एकता) अध्या-

---

१ यथा मुंजादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः । शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते—

ससे अहं इस अभिमानवाला और अविनाशीरूप अनुभव (ज्ञान) प्रज्ञा (बुद्धि) वालाहोनेसे प्राज्ञ कहाताहै अर्थात् उसको प्राज्ञकहते हैं–भावार्थ यहहै कि अविद्याका वशीभूत जो जीव है वह अविद्याकी विचित्रतासे देव मनुष्य आदि रूप अनेक प्रकारका है और वह अविद्या कारणशरीर कहाती है और उस अविद्याके अभिमानको प्राज्ञकहते हैं ॥ १७ ॥

तमःप्रधानप्रकृतेस्तद्भोगायेश्वराज्ञया ॥
वियत्पवनतेजोंबुभुवो भूतानि जज्ञिरे ॥ १८ ॥

भाषार्थ–अब क्रमसे प्राप्तहुये सूक्ष्म शरीरका और सूक्ष्म शरीर है उपाधि जिसकी ऐसे जीवका वर्णन करनेके लिये सूक्ष्म शरीरके कारण आकाश आदिकी सृष्टिका वर्णन करते हैं कि उन प्राज्ञ अभिमानी जीवोंके भोगार्थ अर्थात् सुख दुःख की प्राप्तिकेलिये तमो गुण है प्रधान (मुख्य) जिसमें ऐसी पूर्वोक्त प्रकृति (उपादानकारणरूप) से जगत्के अधिष्ठाता ईश्वरकी आज्ञासे अर्थात् ईक्षापूर्वक रचनेकी इच्छारूप निमित्तकारणरूप आज्ञासे–आकाश वायु तेज जल भूमि ये पांचों भूत पैदाहुये अर्थात् अभिन्न (तद्रूप) निमित्तोपादानरूप मायासे पांचोंभूत उत्पन्नहुये–भावार्थ यहहै कि उनजीवोंके भोगार्थ तमोगुणहै प्रधान जिसमें ऐसी प्रकृतिसे ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार आकाश आदि पांचों भूत उत्पन्नहुये ॥ १८ ॥

सत्त्वांशैःपंचभिस्तेषां क्रमाद्धींद्रियपंचकम् ॥
श्रोत्रत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यमुपजायते ॥ १९ ॥

भाषार्थ–अब पांचोंभूतोंकी सृष्टिको कहकर–भूतोंसे जो उत्पन्न हुई उससृष्टिको कहताहुआ आचार्य प्रथम ज्ञानइंद्रियोंकी सृष्टिको कहताहै कि उन आकाश आदि कारणरूप पांचोंभूतोंके जो पांच सत्वगुणिभाग उनसे श्रोत्र त्वचा नेत्र रसना घ्राण नामकी पांच ज्ञान इंद्रिय पैदाहुयी अर्थात् एक २ भूतके सत्वगुणीभाग से श्रोत्र आदि ज्ञान इंद्रिय क्रमसे उत्पन्नभयी–भावार्थ यहहै कि उन भूतोंके पांचों सत्वगुणीभागोंसे श्रोत्र त्वचा आक्षि रसना घ्राण ये पांचों ज्ञान इंद्रिय क्रमसे उत्पन्नहुयी ॥ १९ ॥

तैरंतःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा ॥
मनो विमर्शरूपं स्याद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका ॥ २० ॥

भाषार्थ–सत्वगुणी भागोंके पृथक् २ कार्यको कहकर सबके असाधारण कार्यको

कहते हैं–कि मिलेहुये उन संपूर्ण सत्वगुणी भागोंसे मन और बुद्धिका उपादानरूप अंतःकरण पैदाहुआ और वह अंतःकरणवृत्ति (परिणाम) के भेदसे दोप्रकारका है उसी वृत्तिके भेदको दिखाते हैं कि संशयरूप वृत्ति है स्वरूप जिसका वह मन होता है और निश्चयरूप है वृत्ति जिसकी यह बुद्धि होती है अर्थात् मनका संदेह और बुद्धिका निश्चय कार्य होता है–भावार्थ यह है कि मिले हुये भूतोंके सत्व गुणी भागोंसे अंतःकरण होताहै वह अंतःकरण वृत्तिके भेदसे दो प्रकारका है कि संशयरूप मन और निश्चयरूप बुद्धि होती है ॥ २० ॥

रजोंऽशैः पंचभिस्तेषां क्रमात्कर्मेंद्रियाणि तु ॥
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे ॥ २१ ॥

भाषार्थ–अब क्रमसे प्राप्त रजो गुणी भागोंके पृथक् असाधारण (भिन्न २) कार्योंको कहते हैं कि उन आकाश आदिके पांचों रजो गुणी भागोंसे अर्थात् उपादान कारणरूप अंशोंसे–वाणी हाथ पाद गुदा लिंग नामकी पांच कर्म इंद्रिय अर्थात् कार्यकी कर्ता इंद्रिय उत्पन्न हुयी एक २ भूतके रजोगुणीभागसे एक २ इंद्रियका जन्म हुआ भावार्थ यह है कि पाचों भूतोंके रजोगुणीभागोंसे वाणी हाथ पाद गुदा लिंग नामकी पांच कर्मेंद्रिय उत्पन्न हुयी ॥ २१ ॥

तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात्स पंचधा ॥
प्राणोपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः ॥ २२ ॥

भाषार्थ–अब रजोगुणीभागोंके साधारण कार्यको कहते हैं कि उन मिले हुये संपूर्ण रजोगुणीभागोंसे प्राण उत्पन्न होताहै और वह प्राण प्राणन (जीवना) आदि वृत्तिके भेदसे प्राण अपान समान उदान व्यानरूपसे पांच प्रकारका है ॥२२॥

बुद्धिकर्मेंद्रियप्राणपंचकैर्मनसा धिया ॥
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मतल्लिंगमुच्यते ॥ २३ ॥

भाषार्थ–जिसके लिये प्राण पर्यंत अकाश आदिकी सृष्टिका वर्णन किया उस फलको अब दिखाते हैं कि पांचों ज्ञानेंद्रिय और पांचों कर्मेंद्रिय और पांचों प्राण–मन और बुद्धि इन सतरह तत्वोंसे सूक्ष्म शरीर होता है और उसीको लिंगशरीर कहते हैं अर्थात् इन सत्तरह तत्त्वोंकाही लिंग शरीर नाम वेदांतोंमे कहा है ॥ २३ ॥

प्राज्ञस्तत्राभिमानेन तैजसत्वं प्रपद्यते ॥
हिरण्यगर्भतामीशस्तयोर्व्यष्टिसमष्टिता ॥ २४ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार सूक्ष्म शरीर को कहकर उस सूक्ष्मशरीरके अभिमानसे प्राज्ञ और ईश्वर की अन्य भी अवस्था को कहतेहैं कि मलिनसत्त्वप्रधान अविद्याहै उपाधि जिसकी ऐसा जीव–तेज शब्दके वाच्य (अर्थ) अंतःकरणसे उपलक्षित (जान) लिंगशरीरके अभिमानसे अर्थात् तादात्म्य (एकता) के अध्याससे तैजसनामको प्राप्तहोताहै अर्थात् सूक्ष्मशरीरके अभिमानी को तैजस कहते हैं–और शुद्धसत्त्व है प्रधान जिसमें ऐसी माया जिसकी उपाधिहै ऐसा परमेश्वर–उस लिंग शरीरमें अहं (मैहूं) इस अभिमानसे हिरण्यगर्भनामको प्राप्तहोताहै अर्थात् लिंग शरीरके अभिमानी ईश्वरको हिरण्यगर्भ कहतहैं और यह शंका न करनीकि तैजस हिरण्यगर्भ इन दोनोंको जब लिंग शरीरका अभिमान तुल्यहै तो उनके भेदका क्याकारणहोगा–क्योंकि उन तैजस और हिरण्यगर्भका व्यष्टि समष्टि भावहै अर्थात् प्रत्येक लिंगशरीरके अभिमानीको तैजस कहते हैं और संपूर्ण लिंग शरीरोंके अभिमानीको हिरण्य गर्भ कहते हैं भावार्थ–यह है कि एक लिंग शरीरके अभिमानी प्राज्ञको तैजस और सब लिंगशरीरोंके अभिमानी ईश्वरको हिरण्यगर्भ कहते हैं और उन दोनोंका व्यष्टिसमष्टिभावरूपसे भेद है ॥ २४ ॥

समष्टिरीशः सर्वेषां स्वात्मतादात्म्यवेदनात् ॥
तदभावात्ततोऽन्ये तु कथ्यंते व्यष्टिसंज्ञया ॥ २५ ॥

भाषार्थ–ईश्वरके समष्टिरूप और जीवोंके व्यष्टिरूप होनेमें कारणका वर्णन करते हैं कि ईश्वर अर्थात् हिरण्यगर्भ संपूर्ण तैजस लिंग शरीरोंको अपनी आत्माके संग एकताके ज्ञानसे समष्टि होता है और ईश्वरसे अन्य जो जीव हैं वे अपनी आत्माके संग सबकी एकताके अभावसे व्यष्टि कहाते हैं अर्थात् प्रत्येक लिंगशरीरमें उनकी एकता है इससे उन्हे व्यष्टि कहते हैं ॥ २५ ॥

तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने ॥
पंचीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ॥ २६ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार लिंगशरीरको और लिंगशरीरोपाधिक तैजस हिरण्यगर्भको दिखाकर–स्थूल शरीरकी जो उत्पत्ति उसकी सिद्धिके लिये पंचीकरणके निरूपणार्थ कहते हैं कि भगवान् अर्थात् ऐश्वर्य धर्म यश श्री ज्ञान वैराग्य–इन छः गुणोंसे युक्त परमेश्वर वारंवार उन जीवोंके भोगार्थ और अन्न पान आदि भोग्य पदार्थ और

जरायुज आदि चौवीस प्रकारके शरीरकी उत्पत्तिके लिये आकाश आदि प्रत्येक पांचो भूतोंका पंची करण करते हैं अर्थात् एक २ भूतको पांच २ प्रकारका करते हैं भावार्थ—यह है कि जीवोंके भोग और अन्न पान और शरीर इनके अर्थ परमेश्वर आकाश आदि पांचों भूतोंका पंची करण करते हैं ॥ २६ ॥

द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः ॥
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात्पंच पंच ते ॥ २७ ॥

भाषार्थ— अब एक २ को पांच२ रूपताके हेतु पंची करणको कहते हैंकि आकाश आदि एक एक भूतोंके दो दो भाग करके और दोनों भागोंमें प्रथम भागके चार २ भाग करके-जिस भूतके चार भागहों उससे भिन्न चारों भूतोंका जो स्थूल दूसरा २ भाग है उस २ के संग–प्रथम भागके चार २ भागोंके मध्यमेंसे एक २ भागके मिलानेसे वे आकाश आदि पांचों भूत— पांच २ प्रकारके होते हैं अर्थात् एक भूतमें आधा भाग अपना और आधेमें चारों भूतोंका एक २ भाग होनेसे चारों भूत होते हैं और सब भूतोंमें अपना २ आधा जो अधिक भाग है इससे आकाश आदिमें आकाश आदिकाही व्यवहार होता है पवन आदिका व्यवहार नही होता है क्योंकि व्यासजीने इस सूत्रमें[1] यही लिखा है—भावार्थ यह है कि एक२ भूतके दो २ भाग करके और उनमेंसे प्रथम भागके चार २ भाग करके अपनेसे भिन्न दूसरे भागोमें सबका एक २ भाग मिलानेसे वे आकाश आदिभूत पांच२ प्रकारके होते हैं– ॥ २७ ॥

तैरंडस्तत्र भुवनं भोग्यभोगाश्रयोद्भवः ॥
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—अब पंचीकरणको कहकर उन भूतोंसे उत्पन्न हुये कार्योंके समूहको दिखाते हैं कि उन पंचीकरण किये भूतोंसे संपूर्ण ब्रह्मांड उत्पन्न होता है—और उस ब्रह्मांडमें ब्रह्मांडके अंतर्गत भूमिके ऊपरके भागमें वर्तमान भूमि आदि सात लोक और भूमिके नीचले भागमें वर्तमान अतल आदि सात पाताल—और उन भुवनोंमें तिन २ प्राणियोंके भोगार्थ अन्न आदि और तिस २ लोकमें उचित शरीर उन्ही पंचीकरण किये भूतोंसे ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार पैदा होते हैं—इस प्रकार स्थूल शरीरकी उत्पत्तिको कहकर—उस स्थूलशरीरके अभिमानी समष्टिरूप हिरण्यगर्भकी वैश्वानर संज्ञाको और एक २ स्थूलशरीरके अभिमानी व्यष्टिरूप तैजसोंकी

---

१ आधिक्यात्तद्वादस्तद्वादः ।

विश्वसंज्ञाको कहते हैं कि इस स्थूलदेहमें वर्तमान हिरण्यगर्भ वैश्वानर होता है अर्थात् स्थूलशरीरके अभिमानी हिरण्यगर्भको वैश्वानर कहते हैं-भावार्थ यह है कि पंचीकरण किये भूतोंसे ब्रह्मांड चोदह भुवन अन्न आदि भोग्य और शरीर उत्पन्न होते हैं और इस स्थूल शरीरके अभिमानी हिरण्यगर्भको वैश्वानर कहते हैं ॥ २८ ॥

तैजसा विश्वतां याता देवतिर्यङ्नरादयः ॥
ते पराग्दर्शिनः प्रत्यक्तत्त्वबोधविवर्जिताः ॥ २९ ॥

भाषार्थ-उसी स्थूल शरीरमें वर्तमान (अभिमानी) तैजस विश्वसंज्ञाको प्राप्त होते हैं और वे देवता तिर्यक् (सर्पआदि) और मनुष्य आदि भेदसे अनेक प्रकारके होते हैं- अब विश्वसंज्ञाको प्राप्त हुये उन जीवोंको तत्त्व ज्ञान रहित होनेसे-संसारकी प्राप्तिका प्रकार दृष्टांत सहित-दो श्लोकोंसे वर्णन करते हैं कि वे देव आदि पराक्दर्शी हैं अर्थात् शब्द आदि विषयोंकोही जानते हैं प्रत्यगात्मारूप परब्रह्मको नही जानते क्योंकि श्रुति[1] में लिखा है कि ब्रह्माने इनकी इंद्रिय पराकही रची हैं इससे पराकको देखते हैं अंतरात्माको नही-कदाचित् शंकाकरो कि तार्किक देहसे भिन्न आत्माको नही जानते सो ठीक नही क्योंकि यद्यपि देह रूप आत्माको वे जानते हैं तोभी श्रुतिसे सिद्ध तत्त्वको नही जानते इस अभिप्रायसे कहा है कि प्रत्यक् आत्माको नहीं जानते-भावार्थ यह है कि तैजस (जीव) विश्व संज्ञाको प्राप्त होकर देवता तिरछे मनुष्य आदि रूप होते हैं और वे प्रत्यक् (व्यापक) आत्माके बोधसे रहित होते हैं ॥ २९ ॥

कुर्वते कर्म भोगाय कर्म कर्तुं च भुंजते ॥
नद्यां कीटा इवावर्तादावर्तांतरमाशु ते ॥
व्रजंतो जन्मनो जन्म लभंते नैव निर्वृतिम् ॥ ३० ॥

भाषार्थ-इसीसे सुखआदिकेभोगार्थ मनुष्यआदिशरीरोंमें टिककर तिस २ शरीरके योग्य कर्मोंको करतेहैं और फिरभी कर्म करनेके लिये देव आदि शरीरोंसेउन कर्मोंके फलोंको भोगते हैं क्योंकि फलके ज्ञानविना तिस२के सजातीय कर्मकी इच्छाके नहोनेसे उनकर्मोंका साधनभी न होगा इसप्रकार वर्तमान वेजीव नदीके प्रवाहमें पडे हुये कीट जैसे एक आवर्त (कुंड) से दूसरे आवर्तमें शीघ्रतासे जाते हुये सुखको प्राप्त नही होते इसीप्रकार जीवभी एक जन्ममेंसे दुसरे जन्ममें प्राप्त हुये सुखको प्राप्त नही होते अर्थात् तिस२ जन्ममें उनको दुःख भोगने पडते है भावार्थ यह है कि वेजीव भोगके लिये कर्म करते हैं और पुनः कर्म करनेके लिये फलको

---

1 परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराक् पश्यन्ति नांतरात्मानम् ।

भोगते हैं और जैसै नदीमें कीट एककुंडमेंसे दूसरे कुंडमें शीघ्र जाते हैं इसीप्रकार एकजन्मसे दूसरे जन्ममें जाते हुये सुखको प्राप्त नही होते ॥ ३० ॥

सत्कर्मपरिपाकांते करुणानिधिनोद्धृताः ॥
प्राप्य तीरतरुच्छायां विश्राम्यंति यथासुखम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे जीवोंको संसारकी प्राप्तिको कहकर संसारकी निवृत्तिके उपायको दिखानेके लिये प्रथम दृष्टांतको कहतेहैं कि पूर्व किये शुभकर्मके परिपाकवश किसी दयालु पुरुषने नदीके प्रवाहमेंसे बाहिर निकासे हुये वे कीट किसी तीरके वृक्षकी छायाका आश्रय लेकर जैसे सुखसे विश्राम करते हैं अर्थात् सुख भोगते हैं ॥ ३१ ॥

उपदेशमवाप्यैवमाचार्यात्तत्त्वदर्शिनः ॥
पंचकोशविवेकेन लभंते निर्वृतिं पराम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—अब दृष्टांतसे सिद्ध किये अर्थको दार्ष्टांतिकमें घटाते हैं कि इसी उक्त प्रकारसे पूर्व जन्ममें संचित किये पुण्यकर्मके परिपाक वश—तत्त्वका दर्शी जो आचार्य अर्थात् जीवोंसे अभिन्न (एकरूप) ब्रह्मके ज्ञाता गुरुके सकाशसे उपदेशको अर्थात् तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके अर्थोंका साधन जो वेदांतशास्त्रका श्रवण (जो आगे कहेंगे) उसको प्राप्त होकर अन्न आदि पांचों कोशोंके विवेकसे अर्थात् पंच कोशोंसे भिन्न आत्माके ज्ञानसे मोक्षरूप परम सुखको प्राप्त होते हैं—भावार्थ यह है कि इसीप्रकार तत्त्वके ज्ञाता आचार्यके उपदेशको प्राप्त होकर पांचों कोशोंके विवेकसे वे जीव मुक्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

अन्नं प्राणो मनो बुद्धिरानंदश्चेति पंच ते ॥
कोशास्तैरावृतः स्वात्मा विस्मृत्या संसृतिं व्रजेत् ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—अब अन्न आदि पांच कोशोंका उपदेश करते हैं कि अन्न—प्राण—मन—बुद्धि—आनंद—ये पांच कोशहैं यहां बुद्धिसे विज्ञान लेते हैं—अब अन्न आदिकोंको कोश शब्दका अर्थ होनेमें कारण कहते हैं कि उन कोशोंसे आच्छादित (ढका) हुआ स्वात्मा अर्थात् अपना स्वरूप आत्मा अपने स्वरूपके विस्मरण (भूलना)से जन्ममरणरूप संसारको प्राप्त होताहै जैसे कोश कोशकारी (अंजनहारी) कीटको ढककर क्लेश देताहै इसी प्रकार अन्नमय आदिभी अद्वयानंदरूप ब्रह्मका आवरण करके आत्माको क्लेशके हेतुहैं इससे कोश कहाते हैं—भावार्थ यहहै कि अन्न, प्राण,

मन, विज्ञान, आनंद ये पांच कोशहैं इनसे आवृत (ढका) आत्मा अपने स्वरूपके विस्मरणसे संसारको प्राप्त होताहै अर्थात् जन्म मरण आदि दुःखोंको भोगताहै॥ ३३

स्यात्पंचीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः ॥
लिंगे तु राजसैः प्राणैः प्राणः कर्मेंद्रियैः सह ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-अब क्रमसे कोशोंक स्वरूप कहते हैं कि पंचीकरण किये पांचों भूतोंसे पैदा हुआ जो स्थूलदेह वह अन्नमय कोश होताहै और लिंग शरीरके विषै वर्तमान जो रजोगुणके कार्यरूप प्राण अपान आदि पांचों वायु और वाक् आदि पांचों कर्मेंद्रिय इन दशों सहित प्राणमय कोश होता है अर्थात् इन दशोंको प्राणमय-कोश कहते हैं-भावार्थ यहहैं कि पंचीकृत भूतोंसे पैदाहुये स्थूलदेहको अन्नमय-कोश-और रजोगुणी पांच प्राण और पांचों कर्मेंद्रियोंको प्राणमयकोश कहते हैं॥ ३४॥

सात्त्विकैर्धींद्रियैः साकं विमर्शात्मा मनोमयः ॥
तैरेव साकं विज्ञानमयो धीर्निश्चयात्मिका ॥ ३५ ॥

भाषार्थ-प्रत्येक भूतोंके सत्वगुणसे उत्पन्नहुयी जो पांचों ज्ञान इंद्रिय उनसे युक्त जो संशयात्मा मन वह मनोमय कोश होताहै अर्थात् श्रोत्र आदि इंद्रिय और मन मनोमय कोश कहाते हैं-और उन्ही ज्ञानेंद्रियोंसे युक्त और भूतोंका सत्वगुण कार्यरूप जो निश्चयात्मक बुद्धि वह विज्ञानमय कोश होताहै अर्थात् पूर्वोक्त ज्ञानेंद्रियोंसहित निश्चयकारिणी बुद्धिको विज्ञानमय कोश कहते हैं-भावार्थ यहहै कि सत्त्वगुणी ज्ञानेंद्रियोंसहित संशयरूप मन, मनोमय कोश और उन्ही इंद्रियोंसहित निश्चय रूप बुद्धिको विज्ञानमय कोश-कहतेहैं ॥ ३५ ॥

कारणे सत्वमानंदमयो मोदादिवृत्तिभिः ॥
तत्तत्कोशैस्तु तादात्म्यादात्मा तत्तन्मयो भवेत् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-पूर्वोक्त कारणशरीररूप अविद्यामें जो मलिनसत्त्व है वह प्रिय मोद प्रमोद नामकी वृत्तियोंसे अर्थात् इष्टका दर्शन, लाभ, भोगसे पैदाहुये सुखविशेषों सहित आनंदमय कोश होताहै-कदाचित् कोई शंका करै कि स्थूल शरीर आदि अन्नमय आदि शब्दके अर्थ हैं इसमें तो यह श्रुति प्रमाण हैकि वह यह आत्मा अन्नरसमय है यह प्रारंभ करके कहाहै कि तिस इस अन्नरसमय आत्मासे अन्य अंतर आत्मा प्राणमयहै और अन्य अंतर आत्मा मनोमय है इत्यादि सुननेसे

१ सवाएषआत्माअन्नरसमयः – तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योंतर आत्मा प्राणमयः अन्योंतरआत्मा मनोमयः।

स्थूल शरीर अन्नमय कोश होसकता है आत्माको अन्नमय आदि होनेमें क्या प्रमाणहै–इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि देह आदिको तो अन्न आदिका विकार होनेसे अन्नमय कहते हैं और आत्माको तो तिस२ कोशके संग तादात्म्य (एकता)के अध्यास (मानना)से अन्नमय आदि कहते हैंकि प्रत्यगात्मा तिस २ कोशके संग तादात्म्यके अभिमानसे तिस२ कोशमय होताहै व्यवहार कालमें अन्नमय आदि कोशोंकी प्रधानता है इससे आत्माभी अन्नमय आदि कहाताहै और परमार्थ दृष्टिसे तो आत्मा कोशोंसे विलक्षण है इसीसे तु शब्द पढाहै भावार्थ यह है कि कारण शरीरमें जो मलिन सत्वगुण है मोद आदि वृत्तियोंसहित वह आनंदमय कोश होताहै और आत्मा तो तिस २ कोशके अध्याससे तिस २ कोशमय होताहैं अर्थात् अन्नमयोहं (मैं अन्नमय हूं) इत्यादि अध्याससे अन्नमय आदि रूप होजाता है॥ ३६॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां पंचकोशविवेकतः ॥
स्वात्मानं तत उद्धृत्य परं ब्रह्म प्रपद्यते ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् शंका करोकि इस प्रकारका आत्मा कैसे ब्रह्मरूप होसकता है इसका समाधान यह है कि कोशोंसे विवेक करनेसे होताहै– उसी विवेकको कहते हैं कि आगे वर्णनकरने योग्य अन्वय और व्यतिरेकसे अर्थात् संबंध और अभावसे अन्नमय आदि पांचोंका आत्मासे पृथक् विवेक (ज्ञान)से अथवा प्रत्यगात्माके पंचकोशोंसे पृथक् करनेसे अपने आत्माको कोशोंसे उद्धार करके अर्थात् बुद्धिसे निकासकर–चिदानंदस्वरूपका निश्चय करके पूर्वोक्त स्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होताहै अर्थात् ब्रह्मरूप होताहै भावार्थ यहहै कि अन्वय व्यतिरेकसे पंचकोशोंसे आत्माके विवेकसे-पंचकोशोंसे अपने आत्माको उद्धार करके जीवात्मा ब्रह्मरूप होजाताहै॥ ३७॥

अभाने स्थूलदेहस्य स्वप्ने यद्भानमात्मनः ॥
सोऽन्वयो व्यतिरेकस्तद्भानेऽन्यानवभासनम् ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–अब कहनेको इष्ट जो अन्वय व्यतिरेक उनको दिखाते हैं कि स्वप्नमें अन्नमय कोशरूप स्थूलदेहकी तो अप्रतीति होतीहै और प्रत्यक् आत्माकी स्वप्नके- साक्षी रूपसे प्रतीति (स्फूर्ति) होतीहै यही आत्माका अन्वय (व्यापकता) कहाताहै–और उसी स्वप्न अवस्थामें तिस आत्माका भान (प्रतीति) होनेसे अन्य जो स्थूलदेह उसकी अप्रतीतिको व्यतिरेक कहते हें–इस प्रकरणमें अन्वय व्यतिरेकसे अनुवृत्ति और व्यावृत्ति क्रमसे लेते हैं अर्थात् जो सब अवस्थाओंमें रहे उसका अन्वय और जो सब अवस्थाओंमें न रहै उसका व्यतिरेक (अभाव) होताहै–भावार्थ

यहहै कि स्वप्नमें स्थूल देहके अभानमें जो आत्माका भान उसको अन्वय-और स्वप्नमेंही आत्माके भानमे जो स्थूलदेहका अभान उसको व्यतिरेक कहतेहें ॥ ३८ ॥

लिंगाभाने सुषुप्तौ स्यादात्मनो भानमन्वयः ॥
व्यतिरेकस्तु तद्भाने लिंगस्याभानमुच्यते ॥ ३९ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार स्थूलदेहको आत्मासे भिन्नरूपके बोधक अन्वय व्यतिरेक दिखाकर लिंगदेहकोभी आत्मरूपसे भिन्नताके बोधक अन्वय व्यतिरेकोंको दिखा-तेहैं-कि सुषुप्ति अवस्थामें लिंगदेहकी अप्रतीति होनेपर जो आत्माका भानहै अर्थात् सुषुप्ति अवस्थाके साक्षिरूपसे जो आत्माका स्फुरणहै वह आत्माका अन्वय है और आत्माके भानमें जो लिंगदेहका अभान (अस्फुरण)है उसको व्यतिरेक कह-तेहैं अर्थात् आत्माका भानहै और लिंगदेहका नहीं इस भाव अभावकोही अन्वय व्यतिरेक कहतेहैं-भावार्थ यहहै कि सुषुप्तिमें लिंग देहके अभानमें जो आत्माका भान वह अन्वय और आत्माके भानमें जो लिंगदेहका अभान वह व्यतिरेक कहाताहै ॥ ३९ ॥

तद्विवेकाद्विविक्ताः स्युः कोशाः प्राणमनोधियः ॥
ते हि तत्र गुणावस्थाभेदमात्रात्पृथक्कृताः ॥ ४० ॥

भाषार्थ-पंचकोशोंके विवेकका प्रारंभ करके लिंगदेहका विवेचन प्रकरणविरुद्ध है यह आशंका करके यह कहतेहैं कि प्राणमय आदि कोशोंका लिंगदेहमेंही अं-तर्भाव होनेसे प्रकरणका विरोध नही है कि तिस लिंगशरीरके विवेकसे प्राणमय मनोमय विज्ञानमय कोशोंकाभी विवेक हुया ही समझना- क्योंकि तिस लिंगशरी-रमेंही सत्वगुण रजोगुणकी अवस्थाके भेदसेही अर्थात् गुणप्रधान भावसेही वे तीनों पूर्वोक्त कोश पृथक् दिखायेहै भावार्थ यहहै कि लिंगदेहके विवेकसे प्राण-मय मनोमय विज्ञानमय कोशोंकाभी विवेक समझना-क्योंकि वे तीनों कोश गुणोंकी अवस्थाके भेदसे पृथक् २ किये हैं ॥ ४० ॥

सुषुप्त्यभाने भानं तु समाधावात्मनोऽन्वयः ॥
व्यतिरेकस्त्वात्मभाने सुषुप्त्यनवभासनम् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ-अब जिसको आनंदमय कोश कहतेहैं ऐसे कारणके विवेकका उपाय कहतेहैं कि आगे वर्णनकरनेयोग्य समाधि अवस्थामें सुषुप्तिके अभान होनेपर अर्थात् सुषुप्ति शब्दसे उपलक्षित कारणशरीररूप अविद्याकी अप्रतीति होनेपर

केवल आत्माकाही जो भान (स्फुरण)है वह आत्माका अन्वयहै–और आत्माके भान होनेपर जो सुषुप्तिका अभान अर्थात् सुषुप्तिसे उपलक्षित अज्ञानकी अप्रतीति उसको व्यतिरेक कहते हैं–यहां यह अनुमानहै-कि प्रत्यगात्मा अन्नमय आदिसे भिन्नहै–अन्नमय आदिकोंकी व्यावृत्ति (अभाव) होनेपरभी स्वयं अव्यावृत्त होनेसे जिसकी जिनकी व्यावृत्ति होनेपरभी व्यावृत्ति नही होती वह उनसे भिन्न होताहै जैसे पुष्पोंसे सूत्र और गौ आदि खंड व्यक्तियोंसे गोत्वरूप जाति भिन्न नहीहोते भावार्थ यहहै कि समाधिमें सुषुप्तिके अभान होनेपर आत्माके भानको अन्वय और आत्माके भान होनेपर सुषुप्तिके अभानको व्यतिरेक कहते हैं ॥ ४१ ॥

यथा मुंजादिषीकैवमात्मा युक्त्या समुद्धृतः ॥
शरीरत्रितयाद्धीरैः परं ब्रह्मैव जायते ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–अन्वयव्यतिरेकोंसे पंचकोशोंसे कियाहै विवेक जिसका ऐसे जीवात्माको ब्रह्मकी प्राप्ति होतीहै यह कहआये–उसके कहनेवाली (अंगुष्ठमात्रःपुरुषोंतरात्मा०इत्यादि तं विद्याच्छुक्रममृतं इत्यंतां) जो यह कठकी श्रुतिहै उसके अर्थको पढतेहैं कि जैसे मुंज नामके तृण विशेषसे गर्भके कोमल तृणरूप इषीकाको युक्तिसे अर्थात् ऊपरके आच्छादक जो स्थूल २ पत्ते उनके छेदनरूप उपायसे उद्धार करलेतेहैं अर्थात् ईषीकाको मुंजमेंसे निकास लेते हैं इसी प्रकार आत्माकोभी अन्वय-व्यतिरेकरूप उपायसे पूर्वोक्ततीनों शरीरोंसे ब्रह्मचर्य आदि साधनोंसे युक्त धीर अधिकारी जन उद्धार करलेते हैं अर्थात् पृथक् जान लेते हैं और वह पृथक् किया जीवात्मा परब्रह्मरूपही होजाताहै क्योंकि चिदानंदरूप लक्षण दोनोंमें तुल्यहै भावार्थ यहहै कि जैसे युक्तिके द्वारा मुंजमेंसे ईषीकाको निकास लेते हैं ऐसेही धीरपुरुष तीनों शरीरोंसे आत्माको पृथक्करलेते हैं–और पृथक्किया वह परब्रह्मरूप होजाताहै ॥ ४२ ॥

परापरात्मनोरेवं युक्त्या संभावितैकता ॥
तत्त्वमस्यादिवाक्यैः सा भागत्यागेन लक्ष्यते ॥ ४३ ॥

भाषार्थ– इतने पूर्वोक्त ग्रंथके संदर्भसे सफल तत्त्वज्ञानका निरूपण हो चुका तो अग्रिम ग्रंथका आरंभ न होगा यह आशंका करके– ग्रंथकी आरंभसिद्धिके लिये वृत्तांतके कथन पूर्वक अग्रिमग्रंथके तात्पर्यको कहते हैं कि इस उक्त प्रकारसे जीव और परमात्म है और जो तत्त्वं पदोंके अर्थरूप परमात्मा जीवात्मा है उनकी एकता (अभिन्नता) लक्षणोंकी समानताके दिखाने आदि उपायरूप युक्तिसे

अंगीकार कराई–और वह एकता तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे– भाग (विरोधी अंश)के त्यागसे लक्षित होतीहै अर्थात् लक्षणरूप वृत्तिसे जानी जाती है–भावार्थ यह है कि युक्तसे अंगीकार कराई जो जीव परमात्माकी एकता वह तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके द्वारा विरुद्ध अंशोंके त्यागसे जानी जाती है अर्थात् जीव ब्रह्मके विरुद्ध २ भागोंका त्याग और चैतन्य मात्र जो धर्म दोनोंमें एकहैं उसके ग्रहणसे दोनोंका अभेद प्रतीत होजाताहै ॥ ४३ ॥

जगतो यदुपादानं मायामादाय तामसीम् ॥
निमित्तं शुद्धसत्त्वां तामुच्यते ब्रह्म तद्गिरा ॥ ४४ ॥

भाषार्थ– तत्त्वमसि आदि वाक्योंके अर्थका ज्ञान, तब होसकताहै जब तत् त्वं पदोंके अर्थोंका ज्ञानहो क्योंकि वाक्यके अर्थज्ञानमें पदोंके अर्थका ज्ञान कारण[1] होताहै इससे प्रथम तत् पदके अर्थको कहते हैं कि सत् चित् आनंद रूप जो ब्रह्म है वह तमोगुण है प्रधान जिसमें ऐसी मायाको लेकर अर्थात् मायारूप उपाधिको स्वीकार करके चर अचर रूप जगत्के कार्योंका उपादान होताहै अर्थात् भ्रमरूप जगत्का अधिष्ठान होताहै– और वही ब्रह्म विशुद्ध सत्त्वगुणहै प्रधान जिसमें ऐसी उसी मायाको उपाधि रूपसे स्वीकार करके उपादानआदिका ज्ञाता निमित्त होताहै– और वही निमित्त, उपादानरूप ब्रह्म तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके तत् शब्दसे कहा जाताहै अर्थात् तत् पदका निमित्त उपादनरूप ब्रह्म है– भावार्थ यह है कि सच्चिदानंदरूप ब्रह्म तमोगुणी मायारूप उपाधिसे जगत्का उपादान और शुद्ध सत्त्वगुणी मायारूप ब्रह्म तमोगुणी मायारूप उपाधिसे जगत्का निमित्त होताहै उसी निमित्त उपादानरूप ब्रह्मको तत् शब्द कहताहै ॥ ४४ ॥

यदा मलिनसत्त्वां तां कामकर्मादिदूषिताम् ॥
आदत्ते तत्परं ब्रह्म त्वंपदेन तदोच्यते ॥ ४५ ॥

भाषार्थ– अब त्वं पदके अर्थको कहतेहैं कि वही सच्चिदानंदरूप ब्रह्म- कुछ-मिले हैं तमोगुण रजोगुण जिसमें ऐसा मलिनसत्व है प्रधान जिसमें ऐसी और काम कर्म आदिसे दूषित उसी अविद्या नामकी मायाको जब स्वीकार करताहै अर्थात् अविद्यारूप उपाधिका वशीभूत होताहै तब वही ब्रह्म त्वंपदसे कहा जाताहै अर्थात् अविद्योपाधि जीव त्वंपदका अर्थ है ॥ ४५ ॥

---

[1] वाक्यार्थबुद्धौ पदार्थबुद्धिः कारणम् ।

त्रितयीमपि तां मुक्का परस्परविरोधिनीम् ॥
अखंडं सच्चिदानंदं महावाक्येन लक्ष्यते ॥ ४६ ॥

भाषार्थ– इस प्रकार तत् त्वं पदोंके अर्थोंको कहकर वाक्यके अर्थको कहते हैं कि तमोगुण प्रधान, मलिन सत्व प्रधान, विशुद्ध सत्व प्रधानरूप तीन प्रकारको भी परस्पर विरुद्ध २ उस मायाको छोडकर अखंड (भेदरहित) सत्‌चिदानंद रूप ब्रह्म महावाक्यसे लक्षित होताहै अर्थात् जाना जाताहै अर्थात् लक्षणवृत्तिसे परब्रह्म बोध होताहै ॥ ४६ ॥

सोऽयमित्यादिवाक्येषु विरोधात्तदिदंतयोः ॥
त्यागेन भागयोरेक आश्रयो लक्ष्यते यथा ॥ ४७ ॥

भाषार्थ– कदाचित् कोई कहै कि इस प्रकार लक्षणावृत्तिसे वाक्यके अर्थका ज्ञान कहां देखाहै इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि सोयं देवदत्तः (वह यह देवदत्त है) इत्यादि वाक्योंमें वह देश वह काल–और यह देश यह कालरूप विरुद्ध धर्मोंके विरोधसे–तत् और इदम् शब्दके अर्थोंकी एकता नहीं होसकती–इससे विरुद्ध अंशरूप भागोंके त्यागसे अर्थात् वह देशकाल और यह देशकाल इनके त्यागसे एक देवदत्तरूप आश्रय (देही) जैसे लखा जाताहै अर्थात् जो शरीरधारी दोनों देशकालोंमें एक है उसका बोध होताहै तिससे अभिन्न यह है ऐसी अभेद बुद्धि होतीहै–भावार्थ यह है कि सोयम् इत्यादी वाक्योंमें जैसे तत् और अयं के विरोधसे विरुद्ध २ भागोंके त्यागसे जैसे एक देवदत्त जाना जाताहै ॥ ४७ ॥

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः ॥
अखंडं सच्चिदानंदं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते ॥ ४८ ॥

भाषार्थ– अब दृष्टांतको कहकर– दार्ष्टांतिकको कहते हैं कि सोयं देवदत्तः इस वाक्यकेही अनुसार परब्रह्म जीवात्माकी उपाधि जो माया और अविद्याहैं उन पूर्वोक्त माया और अविद्याको त्यागकर अखंड सच्चिदानंद (भेदरहित परब्रह्म) महावाक्योंसे लखा जाताहै अर्थात् जीवकी अविद्या और परब्रह्मकी मायाके त्यागसे सच्चिदानंद-रूप ब्रह्मका ज्ञान हो जाताहै–भावार्थ यहहै कि तैसेही परब्रह्म, जीवकी माया अविद्या-रूप उपाधियोंकी त्यागकर महावाक्योंसे एक सच्चिदानंदरूप ब्रह्म लखा जाताहै ४८

सविकल्पस्य लक्ष्यत्वे लक्ष्यस्य स्यादवस्तुता ॥
निर्विकल्पस्य लक्ष्यत्वं न दृष्टं न च संभवि ॥ ४९ ॥

भाषार्थ– कदाचित् कोई वादी शंका करै कि महावाक्योंसे जो ब्रह्म लखा जाताहै यह सविकल्प (विकल्पसहित) है कि निर्विकल्पके प्रथम पक्षमें दोष कहते हैं कि विपरीतरूप माने नाम जाति आदि सहित जो हो उसे सविकल्प कहते हैं उसको महावाक्योंका लक्ष्य (जानने योग्य) मानोगे तो महावाक्योंके लक्ष्यको अवस्तुता (मिथ्यात्व) हो जायगी क्योंकि विकल्पसहित घट आदि सब मिथ्या होतेहैं– अब दूसरे पक्षमें दोष कहते हैं कि नाम जाति आदिसे रहित जो निर्विकल्प है उसको जगत्में कहीभी लक्ष्यत्व नही देखा और न उसे लक्ष्यत्व होनेकी संभावना है क्योंकि जो लक्ष्य होताहै वह निर्विकल्प नही हुआ करताहै– भावार्थ यह है कि विकल्पसहितको लक्ष्य मानोंगे तो लक्ष्य मिथ्या होजायगा और निर्विकल्प कहीं भी लक्ष्य नही देखा और न उसका लक्ष्य होनेकी संभावनाहै ॥ ४९ ॥

विकल्पो निर्विकल्पस्य सविकल्पस्य वा भवेत् ॥
आद्ये व्याहतिरन्यत्रानवस्थात्माश्रयादयः ॥ ५० ॥

भाषार्थ– अब सिद्धांती जातिउत्तर इसमें है इससे हे पूर्ववादी तू यह शंका मतकरै इससे विकल्प करके दोषको कहताहै कि सविकल्प लक्ष्यहै वा निर्विकल्प लक्ष्यहै यह जो विकल्प आपने कियाहै वह विकल्प निर्विकल्पमें कियाहै वा सविकल्पमें–निर्विकल्पमें कहोगे तो व्याघात दोषहै अर्थात् विकल्पसे रहितरूप निर्विकल्पमें विकल्पको कहना ऐसा है कि जैसा कोईकहै कि मेरे मुखमें जिह्वा नहीहै–और सविकल्पमें विकल्प माननेमें अनवस्था आदि दोषहैं– सोई दिखाते हैं कि विकल्पसहितमें विकल्प यहां पहिले और दूसरे विकल्पसे एकही विकल्पको लोगे वा दोनोंको पृथक् २ मानोंगे एकही मानोंगे तो आत्माश्रय दोषहै क्योंकि सविकल्पमें जो विशेषण विकल्प तिस सहितमें वही विकल्प रहा–और यदि दोनों विकल्पोंको पृथक् २ मानोंगे तो विकल्पसहितमें विकल्प, यहां पहिला विकल्पभी विकल्परूपहै उसकाभी आश्रय विकल्पसहित मानना पडेगा उस विकल्पसहितमें विशेषण जो विकल्पहै वह पूर्वोक्त (विकल्प) विकल्परूपहै वा उन दोनोंसे अन्यहै पहिले पक्षमें तो अन्योन्याश्रय दोषहै कि उसके आश्रय वह और उसके आश्रय वह होगा–और दोनोंसे अन्यहै इस दूसरे पक्षमेंभी विकल्प सहितमें विकल्प यहां विशेषणरूप जो पहिला विकल्पहै वह दूसरे विकल्परूपहै वा उन सबसे अन्यहै–दूसरे विकल्परूपही पहिलेको मानोगे तो चक्रकापत्ति दोषहै क्योंकि उसी विकल्पसे चलकर उसीपर समाप्ति हुई और उन सबसे अन्यही मानोंगे तो उसका अन्य और उसकाभी अन्य विकल्प मानना पडेगा इससे अनवस्था

दोषहै अर्थात् विकल्पोंकी संख्या समाप्त न होगी-सबको विकल्प सहितोंमेंही मानना पडेगा-भावार्थ यहहै कि विकल्परहितमें विकल्प करतेहो वा विकल्पसहितमें विकल्परहितमें विकल्प कहोंगे तो वदतोव्याघात दोषहै और निर्विकल्पमें कहोगे तो अनवस्था आत्माश्रय आदि दोषहै ॥ ५० ॥

इदं गुणक्रियाजातिद्रव्यसंबंधवस्तुषु ॥
समं तेन स्वरूपस्य सर्वमेतदितीष्यताम् ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-कुछ यह दूषण केवल यहांही नही है किंतु ऐसे स्थलोंमें सर्वत्र ऐसेही दूषण आसकते हैं अब यह विकल्पमें जो दूषणोंका समूहहै वह गुण क्रिया जाति द्रव्य संबंध इन पांच वस्तुओंमेंभी तुल्यहै-सोई दिखाते हैं कि निर्गुणमें गुण वर्तताहै वा सगुणमें-क्रियाभी क्रियारहितमें रहती है वा क्रियासहितमें-यहां पहिलेमें व्याघात और दूसरेमें आत्माश्रय आदिदोष इसी प्रकार समझने-कदाचित् कोई कहै कि यह उत्तर ठीक नहीहै तो ठीक उत्तर कोनसाहै इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि तिससे इस प्रकार विकल्पको असंगत होनेसे ये गुण आदि संपूर्ण स्वरूपके मानो अर्थात् संपूर्ण गुण आदि वस्तुके स्वरूपमें वर्तते हैं-भावार्थ यहहै कि यह विकल्पका दोष गुण आदि पांचोंमेंभी ऐसेहीहै तिससे ये सब गुण आदि वस्तुके स्वरूपमें मानो ॥ ५१ ॥

विकल्पतदभावाभ्यामसंस्पृष्टात्मवस्तुनि ॥
विकल्पितत्वलक्ष्यत्वसंबंधाद्यास्तु कल्पिताः ॥ ५२ ॥

भाषार्थ- कदाचित् कहो कि गुण आदिमें ऐसे रहो प्रकरणमें क्या आया अर्थात् प्रकरणकी पूर्वोक्त शंकाका समाधान न हुआ- इस लिये कहते हैं कि विकल्प और विकल्पके अभावका नहींहै स्पर्श जिसमें ऐसे परमात्मा स्वरूप वस्तुमें विकल्पितत्व- लक्ष्यत्व संबंध आदि कल्पितहैं उनमें विकल्पितत्व यह है कि सविकल्पको वा निर्विकल्पको विकल्प है इस पूर्वोक्त विकल्पका विषय होना-और लक्ष्यत्व यह है कि लक्षणा वृत्तिसे जनाने योग्य- और संबंध (संयोग आदि) आदि शब्दसे द्रव्य आदिलेने- यहां तु शब्द अवधारण (निश्चय)में वर्तताहै- उनमें गुणोंका आश्रय वा समवायि कारण जो हो उसे द्रव्य नैयायिक मानतेहैं- कर्मसे भिन्न होकर जाति मात्रका जो आश्रय वह गुण होताहै नित्य और एक होकर जो अनेकमें रहै वह जाति- संयोग- और विभागका जो असमवायि कारण वह कर्म (क्रिया) होताहै- ये सब गुण आदि वस्तु (ब्रह्म)के स्वरूपमें कल्पितहैं अर्थात् कल्पनामात्रहैं वस्तुतः नही हैं ॥ ५२ ॥

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत् ॥
युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ–इतने पूर्वोक्त ग्रंथसे जो कहा उसको कहते हैं–इस प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे तिन वाक्योंके अर्थका जो अनुसंधान अर्थात् जीव ब्रह्मकी ऐक्यताका जो ज्ञान उसे श्रवण कहते हैं–और शब्दस्पर्शादयो वेद्याः– इत्यादि ग्रंथसे कही पूर्वोक्त युक्तिसे परब्रह्म– और जीवात्माकी एकताकी संभावना जो सुनी है– उसकी सिद्धि (निर्णय) का ज्ञान– उसको मनन कहते हैं अर्थात्– एकत्वके अनुसंधानको श्रवण– और अन्तःकरणमें निश्चयको मनन कहते हैं–भावार्थ यह है कि– पूर्वोक्त वाक्योंसे- तत्त्वमसि आदि महावाक्योंके अर्थका जो अनुसंधान उसे श्रवण और युक्तिसे– महावाक्योंकी अर्थकी सिद्धिका जो अनुसंधान उसे मनन कहते हैं ॥ ५३ ॥

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसःस्थापितस्य यत् ॥
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥ ५४ ॥

भाषार्थ– निदिध्यासनको अब कहते हैं– कि उन श्रवण और मनन दोनोंसे संदेहरहित जो अर्थ (ब्रह्म) उसके विषै स्थापित (टिका) हुआ अर्थात् धारणवाला चित्त क्योंकि पतञ्जलिने[1] यह लिखाहै कि– एक देशमें चित्तका जो सम्बन्ध उसे धारणा कहते हैं उस पूर्वोक्त चित्तकी जो एकतानता अर्थात् एकाकारवृत्तिका प्रवाह होना– उसको निदिध्यासन कहते हैं– सोई योगशास्त्रमें[2] कहाहै कि उस अर्थमें जो– प्रतीतिकी एकतानता उसे ध्यान कहते हैं– भावार्थ यह है कि– श्रवण मननके द्वारा– संदेहरहित अर्थमें स्थिर चित्तकी जो एकाकार (तद्रूप) वृत्ति उसे निदिध्यासन कहते हैं ॥ ५४ ॥

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ॥
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥ ५५ ॥

भाषार्थ– अब उसी निदिध्यासनकी परिपाकरूप जो समाधि– उसका वर्णन करते हैं कि निदिध्यासनमें ध्यानका कर्ता– ध्यान– और ध्यान करने योग्य–ये– तीन भासते हैं– उसी निदिध्यासन करते करते जब चित्त अभ्यासकेवशसे ध्यानके कर्ता और ध्यान इन दोनोंको क्रमसे त्यागकर– केवल एक ध्येयको ही

---

१ देशबंधश्चित्तस्य धारणा । २ तत्रप्रत्ययैकतानताध्यानम् ।

विषय करता है अर्थात् ध्यान करने योग्य ब्रह्माकार वृत्तिहोजाता है- अर्थात्- वायुरहित- देशमें वर्तमान दीपकके समान निश्चल होजाता है- उस अवस्थाको समाधि कहते हैं- भावार्थ यह है कि ध्याता और ध्यान इन दोनोंके क्रमसे त्यागके अनन्तर केवल ब्रह्मको विषय करता हुआ चित्त पवनरहित देशके निश्चल दीपकके समान निश्चल जो होताहै उसको समाधि कहते हैं ॥ ५५ ॥

वृत्तयस्तु तदानीमज्ञाता अप्यात्मगोचराः ॥
स्मरणादनुमीयंते व्युत्थितस्य समुत्थितात् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ- कदाचित् कोई शंकाकरै कि समाधिमें- चित्तकी कोई भी वृत्ति नही मिलती इससे--ध्यानके योग्य जो ब्रह्म तदाकारवृत्तिकाभी निश्चय नही होगा सो ठीक नही क्योंकि समाधेमें भी वृत्तियोंका होना अनुमानसे जाना जाता है कि उस समाधिके कालमें आत्मा है विषय जिनका ऐसी वृत्ति अज्ञात भी हैं तोभी समाधिसे उठे मनुष्यको हुआ जो स्मरण अर्थात् इतने कालतक मैं समाधिमें रहा इस स्मरणरूप ज्ञानसे-वृत्तियोंका अनुमान होताहै-क्योंकि यह व्याप्ति लोक प्रसिद्धहै कि जिस जिसका स्मरण होताहै उस उसका अनुभव पूर्व हो चुकताहै भावार्थ यह है कि समाधिमें आत्मज्ञान विषयक जो वृत्तिहैं अज्ञातभी उनके समाधिसे उठे मनुष्यके स्मरणसे अनुमान होताहै ॥ ५६ ॥

वृत्तीनामनुवृत्तिस्तु प्रयत्नात्प्रथमादपि ॥
अदृष्टासकृदभ्याससंस्कारसचिवाद्भवेत् ॥ ५७ ॥

भाषार्थ-यद्यपि-समाधिमें वृत्तियोंका जनक कोई प्रयत्न नही इससे वृत्तियोंकी अनुवृत्ति असंभवहै तथापि-समाधिकालका प्रयत्न न होनेपरभी अदृष्टहै सहकारी जिसका ऐसे समाधिसे पूर्वकालीन प्रयत्नसे वृत्तियोंका होना वर्णन करते हैं कि केवल ब्रह्महै विषय जिनका ऐसी वृत्तियोंकी प्रवाहरूपसे अनुगतिरूप जो अनुरतिहै वह, समाधिसे पूर्वकालके पतंजलिके कहे अशुक्ल कृष्ण पुण्य विशेषरूप योगीके अदृष्टसे और वारंवार समाधिके अभ्याससे-पैदाहुए भावनाख्यसंस्कारसे-युक्त-अर्थात् इन दोनों सहकारी कारणों सहित जो समाधिसे पूर्वकालका प्रयत्न उससे होतीहै भावार्थ यहहै कि अदृष्ट और वारंवार अभ्याससे पैदा हुए संस्कार इन दोनोंसे युक्त जो समाधिसे पूर्व कालका प्रयत्न उससेही समाधिमें ब्रह्माकार वृत्तियोंकी अनुवृत्ति होती हैं-अर्थात् ब्रह्माकार वृत्ति चली जातीहै ॥ ५७ ॥

---

१ कर्माशुक्लकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।

यथा दीपो निवातस्थइत्यादिभिरनेकधा ॥
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥ ५८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि इस समाधिका निरूपण किसी आचार्यने नही किया इससे श्रीकृष्णचंद्र जो सबके गुरुहैं उनके निरूपणको कहते हैं कि हे अर्जुन जैसे वात रहित स्थानमें दीपक निश्चल रहताहै-वही उपमा समाधिमें स्थित योगीकीहै इत्यादि वचनोंसे अनेक प्रकार भगवान् (ज्ञानैश्वर्यसेयुक्त) ने इसी निर्विकल्पक समाधिरूप अर्थका अपने शिष्य अर्जुनके प्रति निरूपण कियाहै ॥ ५८ ॥

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः ॥
अनेन विलयं यांति शुद्धो धर्मो विवर्धते ॥ ५९ ॥

भाषार्थ- अब समाधिके अवांतर फलको कहते हैं कि इस अनादि संसारमें संचिताकिये जो कोटियों पुण्य-पाप रूप कर्म हैं वे सब इस समाधिसे नष्ट होजातेहैं-अर्थात् पूर्वसंचित अनंत कर्मोंका लय होजाताहै क्योंकि इन श्रुति और स्मृतियोंसे यही प्रतीत होताहै कि उस कार्य-कारण रूप ब्रह्मके ज्ञान होनेपर योगीके सब कर्म नष्ट होजातेहै ज्ञानरूप अग्नि सब कर्मोंको दग्ध करदेती है और पृथिवी आदि कार्योंसे युक्त जो अविद्या उसका निवर्तक जो ब्रह्मका साक्षात्कार-उसका हेतु धर्म बढ जाताहै-भावार्थ यह है कि इस समाधिसे अनादि संसारमें संचित किये पापोंका नाश और शुद्धधर्मकी वृद्धि होतीहै ॥ ५९ ॥

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः ॥
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥ ६० ॥

भाषार्थ–अब समाधिके पूर्व स्वरूपमें प्रमाण कहते हैं कि जो योगियोंमें श्रेष्ठहैं अर्थात् जिनको ब्रह्मका प्रत्यक्षहै वे इस निर्विकल्पक समाधिको धर्मका मेघ कहतेहैं क्योंकि यह सहस्रों धर्मरूप अमृतकी धाराओंको वर्षातीहै क्योंकि श्रुतिमें यह लिखाहै कि एकभी समाधिका क्षण सौ यज्ञोंके फलको देताहै ॥ ६० ॥

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते ॥
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये ॥ ६१ ॥

१ क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे । ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणिभस्मसात्कुरुतेतथा ।
२ क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि ।

भाषार्थ–अब समाधिके परम प्रयोजनको कहते हैं कि इस समाधिसे जब वासनाओंके जाल अर्थात् अहंकार ममता कर्ता आदिको अभिमानका हेतु संस्कारका जो समूह उस सबके निश्शेष (संपूर्ण) नाश होनेपर और पुण्य पापरूप कर्मोंका जो संचय उसके समूल (जडसे) उद्धार (नाश) होनेपर ॥ ६१ ॥

वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासिते ॥
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–श्रेष्ठकर्म और वासनारूप प्रतिबंधसे रहित हुआ जो तत्त्वमसि आदि महावाक्यहै वह समाधिसे पहिले परोक्ष रूपसे भासे (प्रकाशित) तत्वके ऐसे अपरोक्ष ज्ञानको पैदा करताहै जैसे हाथमें स्थित आमलेका प्रत्यक्ष होताहै अर्थात् तत्वके भासनमे समर्थ ज्ञान होताहै ॥ ६२ ॥

परोक्षं ब्रह्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ॥
बुद्धिपूर्वकृतं पापं कृत्स्नं दहति वह्निवत् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–अब परोक्ष ज्ञानके फलको कहते हैं कि गुरुके उपदेशसे मिला जो तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे पैदाहुआ परोक्ष (साक्षात्) ब्रह्मविज्ञान-वह बुद्धिपूर्वक (जानकर) किये संपूर्ण पापोंको अग्निके समान दग्ध (भस्म) करताहै॥ ६३॥

अपरोक्षात्मविज्ञानं शाब्दं देशिकपूर्वकम् ॥
संसारकारणाज्ञानतमसश्चंडभास्करः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–अब अपरोक्ष ज्ञानके फलको कहते है कि गुरुके उपदेशसे हुआ महावाक्योंके द्वारा जो अपरोक्ष आत्मका ज्ञान है–संशय और विपरीतसे रहित वह तम (अंधकार) रूप जो संसारका कारण अज्ञान (अविद्या) उसके लिये मध्याह्न कालका सूर्यरूप है अर्थात् जैसे सूर्यसे अंधकारका नाश होता है ऐसेही ब्रह्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति हो जाति है ॥ ६४ ॥

इत्थं तत्त्वविवेकं विधाय विधिवन्मनः समाधाय ॥
विगलितसंसृतिबंधः प्राप्नोति परं पदं नरो नचिरात् ॥ ६५ ॥

भाषार्थ-अबग्रंथके अभ्यासका फल कहते है कि मनुष्य इस पूर्वोक्त प्रकारसे ब्रह्म और आत्माकी एकता रूप तत्त्वके विवेक (पंचकोशसे भेद) को करके और उसतत्वमें शास्त्रोक्तरीतिसे मनको स्थिर करके-अपरोक्ष ब्रह्मज्ञानसे नष्ट हुआ है संसाररूप बंधन जिसका ऐसा होकर सबसे उत्तम परंपद (मोक्ष)को शीघ्रही प्राप्त हो जाता है अर्थात् सत्यज्ञान आनंदरूप ब्रह्मही हो जाता है-भावार्थ यह है कि इसप्रकार तत्वका विवेक और विधिपूर्वक मनके समाधानको करके नष्ट हुआ है संसाररूप बंधन जिसका ऐसा मनुष्य शीघ्रही परमपदको प्राप्त होता है- ॥ ६५ ॥

इति श्रीविद्यारण्य मुनिवर्यकृत पंचदशीभाषोद्धृतौ पं०मिहिरचंद्रकृतायां तत्त्वविवेकप्रकरणं समाप्तम्-

इति तत्त्वविवेक प्रकरणम् ॥ १ ॥
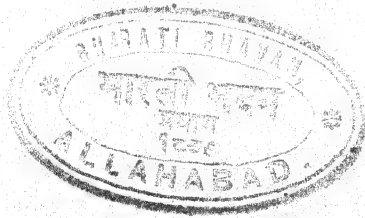
॥ श्रीः ॥

पंचदशी

भाषाटीकासमेता ।

अथ महाभूतविवेकप्रकरणम् २

सदद्वैतं श्रुतं यत्तत्पंचभूतविवेकतः ॥
बोद्धुं शक्यं ततो भूतपंचकं प्रविविच्यते ॥ १ ॥

भाषार्थ–हे सौम्य यह ब्रह्म जगत्की उत्पत्तिसे पूर्व कारणरूप सत् अद्वितीय जो सुनाथा वाणी और मनके अविषय उस ब्रह्मको स्वतः (स्वयं) नही जानसकते इससे ब्रह्मका कार्य उपाधिरूप पांचों भूतोंके विवेक द्वारा ब्रह्मज्ञानके लिये प्रथम उपोद्घात रूपसे पांचों भूतोंके विवेककी प्रतिज्ञा करते हैं कि जो सत् अद्वैत सुना है वह पांचोंभूतोंके विवेकसे जानने योग्य है इससे पंचभूत विवेकको कहते हैं ॥१॥

शब्दस्पर्शौ रूपरसौ गंधो भूतगुणा इमे ॥
एकद्वित्रिचतुःपंच गुणा व्योमादिषु क्रमात् ॥ २ ॥

भाषार्थ–उस विवेकमें प्रथम, आकाशआदि पांचोंभूतोंका गुणोंके द्वाराभेद जनानेके लिये पांचोंभूतोंके गुणोंको कहते हैं कि शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये पांच क्रमसे पांचोंभूतोंके गुण हैं और आकाशआदिमें क्रमसे एक दो तीन चार पांच–गुण रहते है ॥ २ ॥

प्रतिध्वनिर्वियच्छब्दो वायौ बीसीतिशब्दनम् ॥
अनुष्णाशीतसंस्पर्शो वह्नौ भुगुभुगुध्वनिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ–अब पांचोंभूतोंके असाधारण गुणोंका कहते है कि आकाशमें प्रतिध्वनि रूप शब्दही गुण है–वायुमें शब्द स्पर्श दो है–और वायुमें बीसी इस अनुकरणका शब्द होता है–इसी प्रकार आगेभी अनुकरण शब्द जानना और वायुमें स्पर्श अनुष्णाशीत है अर्थात् नशीत न उष्ण–है– और अग्निमें शब्द स्पर्श रूप तीन गुण क्रमसे है और अग्निमें शब्द भुगु भुगु इस अनुकरणका है– ॥ ३ ॥

उष्णः स्पर्शः प्रभारूपं जले बुलुबुलुध्वनिः ॥
शीतः स्पर्शः शुक्लरूपं रसो माधुर्यमीरितम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ–और पूर्वोक्त अग्निमें स्पर्श उष्ण है और रूप प्रकाशमान शुक्ल–है और जलमें शब्द स्पर्श रूप रस ये चार गुण है जिनमें बुलु बुलु शब्द है–स्पर्श शीतल और रूप शुक्ल और रस मधुरही कहा है ॥ ४ ॥

भूमौ कडकडाशब्दः काठिन्यं स्पर्श इष्यते ॥
नीलादिकं चित्ररूपं मधुराम्लादिको रसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ–भूमिमें शब्द स्पर्श रूप रस गंध ये पांच गुण है उनमें शब्द कडकडा अनुकरणका है और स्पर्श कठिन इष्ट (माना)है और नील पीत आदि चित्ररूप है और मधुर आम्लआदि छःप्रकारका रस है ॥ ५ ॥

सुरभीतरगंधौ द्वौ गुणाः सम्यग्विवेचिताः ॥
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चेंद्रियपंचकम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ–सुरभि असुरभि अर्थात् सुगंध और दुर्गंधरूप दो प्रकारका गंध है–इस पूर्वोक्त प्रकारसे गुणोंका भलीप्रकार विवेक किया–अब गुणोंसे भेदको कहकर कार्योंसे भेद कहनेके लिये भूतोंके कार्य जो ज्ञानेंद्रिय प्रथम उनको कहते हैं कि श्रोत्र त्वचा चक्षु जिव्हा घ्राण ये पांचों क्रमसे भूतोंसे पैदाहुई ज्ञान इंद्रिय हैं ॥ ६ ॥

कर्णादिगोलकस्थं तच्छब्दादिग्राहकं क्रमात् ॥
सौक्ष्म्यात्कार्यानुमेयं तत्प्रायो धावेद्बहिर्मुखम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ–अब इंद्रियोंके स्थान और व्यापार आदिको दिखाते है कि कर्ण आदि गोलकमें टिकी हुई वे इंद्रिय शब्द आदि अपने २ विषयको क्रमसे ग्रहण करती है अब इंद्रियोंके होनेमें कार्य है हेतु जिसमें ऐसे अनुमानरूप प्रमाणको कहते है वह इंद्रिय सूक्ष्म होनेसे कार्योंके द्वारा अनुमानकी जाती है वह अनुमान यहहै कि रूपकी उपलब्धि (ज्ञान) किसी कारणसे जन्य (उत्पन्न) है क्रिया होनेसे छेदन क्रियाके समान ये इंद्रिय पंचीकरण नही किये महाभूतोंका कार्य होनेसे सूक्ष्म होतीहै अब इंद्रियोंके स्वभावको कहतेहै कि प्रायः ये इंद्रिय बहिर्मुख होकर दौडतीहैं अर्थात् बाह्य विषयोंको ग्रहण करती है आत्माको नही सोई इस श्रुतिमें लिखाहै कि

---

१ परांचि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः ।

ब्रह्माने इंद्रियोंको परांचि रचाहै तिससे पराक् (विषय) को देखती है अंतरात्माको नही–भावार्थ यहहै कि कान आदि छिद्रोंमें टिकी वे इंद्रिय शब्द आदिको ग्रहण करतीहै और सूक्ष्म होनेसे कार्योंसे अनुमान की जातीहै और प्रायः बाह्यविषयोंको ग्रहणके लिये जातीहै ॥ ७ ॥

कदाचित्पिहिते कर्णे श्रूयते शब्द आंतरः ॥
प्राणवायौ जाठराग्नौ जलपानेऽन्नभक्षणे ॥ ८ ॥

भाषार्थ–प्रायःशब्दसे सूचित किया जो इंद्रियोंको अंतर विषयका ग्रहण करना भी दिखातेहै कि कदाचित् कानोंके आच्छादन करनेपर प्राणवायु और जठराग्निमें विद्यमानजो आंतर (भीतरका) शब्द सुना जाताहै और जलकेपीने और अन्नके भक्षणमें ॥ ८ ॥

व्यज्यंते ह्यांतराः स्पर्शा मीलने चांतरं तमः ॥
उद्गारे रसगंधौ चेत्यक्षाणामांतरग्रहः ॥ ९ ॥

भाषार्थ–अंतरके स्पर्श प्रकट होतेहै औरनेत्रों के मीलन (मीचना) करनेपर भीतरका अंधकार प्रतीत होता है–और उद्गार (वमन) करनेमें भीतरके रस और गंध–दोनों ग्रहण कियेजाते है–इस प्रकार सब इंद्रिय–भीतरके विषयों कोभी ग्रहण करती है ॥ ९ ॥

पंचोक्त्यादानगमनविसर्गानंदकाः क्रियाः ॥
कृषिवाणिज्यसेवाद्याः पंचस्वंतर्भवंति हि ॥ १० ॥

भाषार्थ–इस प्रकार ज्ञानेंद्रिय के व्यापारोंको बूहकर–जो कर्मेन्द्रियोंको नही मानता उसके प्रति कर्मेंद्रियोंकी सिद्धिके लिये प्रथम कर्मेन्द्रियोंके हेतु रूप व्यापारों का वर्णन करते हैं–कि वचन–आदान–गमन–विसर्ग–(मलका त्याग) विषयानंद ये जगत्‌में प्रसिद्ध पांचों कर्मेन्द्रियोंके व्यापार हैं और कृषि–व्यवहार–सेवा आदि का भी इन पांचोंके विषयही अंतर्भाव है इससे पांचही क्रिया कहनेमे कोई दोष नही–॥ १० ॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थैरक्षैस्तत्क्रियाजनिः ॥
मुखादिगोलकेष्वास्ते तत्कर्मेंद्रियपंचकम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ–अब क्रिया जनक उन्ही इंद्रियोंको कहतेहै कि-वाक् (वाणी) पाणि (हाथ) पाद (चरण) पायुः (गुदा) उपस्थ (लिंग) इन इंद्रियोंसे उन पूर्वो-

क्रियाओंकी उत्पत्ति होतीहै अब पांचोंके कर्मेंद्रियोंके स्थानोंको कहते हैं–कि ख आदि गोलकोंके विषै अर्थात् मुख चरण कर गुदा शिश्न इन पांचों स्थानोंमें पांचों कर्मेन्द्रिय रहतीहैं यहांभी इन पांचों कर्मेन्द्रियोंकी सिद्धिमें यह अनुमान प्रमाण जानना कि उक्ति आदि पांचोंकार्य किसी कारणसे जन्यहै क्रिया होनेसे छेदन क्रियाकी तुल्य भावार्थ यहहै कि वाणी–हाथ–चरण-गुदा-लिंग-इन ंद्रियोंसे उक्ति-ग्रहण-गमन-विसर्ग-आनंद-ये पांचों क्रिया क्रमसे उत्पन्न होतीहैं और ये पांचों कर्मेन्द्रिय मुख आदि गोलकोंमें होती हैं ॥ ११ ॥

मनो दशेंद्रियाध्यक्षं हृत्पद्मगोलके स्थितम् ॥
तच्चांतःकरणं बाह्येष्वस्वातंत्र्याद्विनेंद्रियैः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्त दशों इंद्रियोंका प्रेरक होनेसे प्रस्तुत-अर्थात् प्रकरणसे प्राप्त जो मन उसके कार्य स्थानको दिखाते हैं कि कमलरूप हृदयके गोलकमें टिका जो मन वह दशों इंद्रियोंका अध्यक्ष (स्वामी) है और वह मन इंद्रियोंके विना बाहिरके विषयोंमें अस्वतन्त्र होनेसे-अंतःकरणहै-अर्थात्-भीतरकी इन्द्रिय है॥ १२॥

अक्षेष्वर्थार्पितेष्वेतद्गुणदोषविचारकम् ॥
सत्वंरजस्तमश्चास्य गुणा विक्रियते हि तैः ॥ १३ ॥

भाषार्थ-अब मनकी दशों इंद्रियोंकी अध्यक्षताको दिखाते हैं–जब इंद्रिय अपने २ विषयोंमें स्थापित होजाती हैं– अर्थात् विषयोंपर पहुंचती हैं– उस समय यह मन गुण– दोषका विचार करताहै अर्थात् यह समीचीन (अच्छा) और यह असमीचीन इत्यादि विचारको करताहै– यहां यह भाव है कि आत्मा–सबका प्रमाताहै इससे सब ज्ञानोंमें साधारण है और चक्षुः आदि इंद्रिय रूप आदिकेही ज्ञानके पैदा करनेसे चरितार्थ हैं–इससे-प्रतीत हुआ कि जो उनके गुण दोषोंका विचार वह- मनके मानने विना नहीं होसकता इससे गुण दोषके विचारका कारण मन अवश्य मानना–और मनकी वैराग्य काम आदि अनेक प्रकारकी वृत्तियोंके दिखानेके लिये मनके सत्व आदि गुणोंको दिखाते हैं कि सत्व– रजः– तमः– ये तीनों मनके गुण हैं क्योंकि इनसेही मन विकारको प्राप्त होताहै– भावार्थ यह है कि इंद्रियोंको विषयपर पहूंचनेमें गुण दोषोंके विचारका कर्ता मनहै– और उसके सत्व–रजः–तम ये तीन गुण इससे हैं कि उनसे वह विकारको प्राप्त होताहै ॥ १३॥

वैराग्यं क्षांतिरौदार्यमित्याद्याः सत्त्वसंभवाः ॥
कामक्रोधौ लोभयत्नावित्याद्या रजसोत्थिताः ॥ १४ ॥

भाषार्थ– अब गुणोंसे मनके विकारको कहतेहै,–सत्वगुणसे वैराग्य–क्षमा–उदारता-आदि और रजोगुणसे-काम-क्रोध-लोभ-यत्न आदि-मनके विषे उत्पन्न होते हैं १४॥

आलस्यभ्रांतितंद्राद्या विकारास्तमसोत्थिताः ॥
सात्विकैः पुण्यनिष्पत्तिः पापोत्पत्तिश्च राजसैः ॥ १५ ॥

भाषार्थ– आलस्य–भ्रम–तंद्रा– आदि विकार, मनमें तमोगुणसे होते हैं अब–वैराग्य आदिके भिन्न २ कार्योंको दिखाते हैं कि–सत्वगुणी विकारोंसे पुण्यकी और रजोगुणी विकारोंसे पापकी उत्पत्ति होती है ॥ १५ ॥

तामसैर्नोभयं किंतु वृथायुःक्षपणं भवेत् ॥
अत्राहं प्रत्ययीकर्तेत्येवं लोकव्यवस्थितिः ॥ १६ ॥

भाषार्थ– और तमोगुणी– विकारोंसे न पुण्य होताहै–न पाप–किंतु-वृथाही अवस्थाका नाश होताहै–इन सबको बुद्धिमें स्थित होनेसे–अंतःकरण आदि सबके स्वामीका वर्णन करते हैं कि इन अंतःकरण आदि सबमें जो–अहंबुद्धिको करै वह कर्ता–(प्रभु) है–यह लोककी मर्यादा है अर्थात् जगत्‌में कार्यकारीको प्रभु कहतेहैं॥१६॥

स्पष्टशब्दादियुक्तेषु भौतिकत्वमतिस्फुटम् ॥
अक्षादावपि तच्छास्त्रयुक्तिभ्यामवधार्यताम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ– इस प्रकार जगत्‌की स्थितिको कहकर–अब जगत्‌भी भौतिक है–इस ज्ञानके उपायको कहते हैं स्पष्ट जो शब्द स्पर्श आदि गुण उनसे युक्त घट आदिकोंमें भूतोंकी कार्यता प्रकट दीखती हैं–इंद्रिय आदिकोंमें भी भूतोंकी कार्यताका निश्चय–आगम और अनुमानसे कहते हैं कि इंद्रिय आदिकोंमें भी शास्त्र और युक्तिसे भूतोंकी कार्यताका निश्चय–भो शिष्य तुम करो–क्योंकि यह वेदका वाक्य[1] है कि हे सौम्य मन–अन्नमय–प्राण–जलमय–और वाक् तेजोमयी है–और यह अनुमान भी है कि विवादके आश्रय जो श्रोत्र आदि हैं वे भूतोंका कार्य होने योग्य हैं–क्योंकि भूतोंके अन्वयव्यतिरेकोंके अनुविधायी (अनुकूल) होनेसे क्योंकि जो जिसके अन्वयव्यतिरेकका अनुविधायी होताहै–वह उसकाही कार्य होताहै–जैसे मिट्टीके अन्वयव्यतिरेकका अनुविधायी घट मट्टीका कार्य होताहै–ये श्रोत्र आदि भी भूतोंके अन्वयव्यतिरेकके अनुविधायी हैं तिससे भूतोंके कार्यहैं– और इस छांदोग्य श्रुति[2]में मनको भूतोंका अन्वय व्यतिरेकानुविधायी देखाहै कि–हे सौम्य–पुरुष

१ अन्नमयहि सौम्यमन आपोमयः प्राणः तेजोमयी वाक् ।२ षोडशकलः सौम्यपुरुषः ।

षोडश कलावान् है इसी प्रकार अन्यत्रभी जानना— भावार्थ यह है कि प्रकट शब्द आदिसे युक्त घट आदिमें—भौतिकता स्पष्टहै—और इंद्रिय आदिकोंमेंभी भो शिष्य शास्त्र और युक्तिसे तुम भौतिकता निश्चय करो ॥ १७ ॥

एकादशेंद्रियैर्युक्त्या शास्त्रेणाप्यवगम्यते ॥
यावत्किंचिद्भवेदेतदिदं शब्दोदितं जगत् ॥ १८ ॥

भाषार्थ— इस प्रकार भूत और भूतोंके कार्योंका विवेक करके अद्वितीय ब्रह्मकी बोधक श्रुतिकी व्याख्या करता हुआ ग्रंथकार उस श्रुतिके इदं पदके अर्थको कहताहै अर्थात् हे सौम्य यह जगत्के सृष्टिसे पहिले सत् रूपही हुआ इस प्रकृतश्रुतिके यह (इदं) पदका अर्थ वर्णन करते हैं कि एकादश इंद्रिय अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाण और अपि शब्दसे अर्थापत्ति आदि प्रमाण युक्ति, शास्त्र आदिसे जितना कुछ यह जगत् प्रतीत होताहै वह सब (सदेव सौम्येदमग्र आसीत्) इस श्रुतिके इदं (यह) शब्दसे कहा जानना ॥ १८ ॥

इदं सर्वं पुरा सृष्टेरेकमेवाद्वितीयकम् ॥
सदेवासीन्नामरूपे नास्तामित्यारुणेर्वचः ॥ १९ ॥

भाषार्थ— अब इदं शब्दके अर्थको पढकर उसी श्रुतिके अर्थको पढते हैं सृष्टिसे पूर्व यह संपूर्ण जगत्— अद्वितीय (एक) सत् ब्रह्म रूपही हुआ यह अरुणके पुत्र उद्दालक मुनिका वचन है ॥ १९ ॥

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः ॥
वृक्षांतरात्सजातीयो विजातीयःशिलादितः ॥ २० ॥

भाषार्थ— एकही अद्वितीय ब्रह्म था इन तीन पदोंसे स्वगत आदि तीन भेदोंका निवारण करनेके लिये प्रथम जगत्में स्वगत आदि भेदोंको दिखाते हैं कि अपने पत्र पुष्प फल आदिसे जो वृक्षका भेदहै वह स्वगत, और अन्य वृक्षसे जो भेदहै वह सजातीय और शिला आदिसे जो वृक्षका भेदहै वह विजातीय, भेद होताहै २०

तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते ॥
ऐक्यावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात् ॥ २१ ॥

भाषार्थ— इस प्रकार आत्मासे भिन्नमें तीनों भेदोंको दिखाकर—सत् वस्तुमेंभी प्राप्तहुये उन तीनोंभेदोंका श्रुतिके तीन पदोंसे निवारण करते हैं कि तैसेही

सत् वस्तुमेंभी आत्मासे भिन्नके समान पाये स्वगत-आदि तीनों भेद, एक एव अ-द्वितीय (एकही अद्वैत) रहा इन तीनोंमें पदोंसे निवारण किये हैं ॥ २१ ॥

सतो नावयवाः शंक्यास्तदंशस्यानिरूपणात् ॥
नामरूपे न तस्यांशौ तयोरप्यनुद्भवात् ॥ २२ ॥

भाषार्थ-सत् वस्तुको अवयव रहित होनेसे स्वगत भेदकी शंका नहीं कर सकते इसका वर्णन करते हैं कि नाम और रूपभी उस सत् वस्तुके अंश (अवयव) नहीं होसकते क्योंकि सृष्टिसे पूर्व सद्वस्तुमें नामरूपका अभाव था और अब भी प्रतीति मात्र होनेसे नामरूपका अभावही है ॥ २२ ॥

नामरूपोद्भवस्यैव सृष्टित्वात्सृष्टितः पुरा ॥
न तयोरुद्भवस्तस्मान्निरंशं सद्यथा वियत् ॥ २३ ॥

भाषार्थ- अब नाम रूपके अभावका कारण कहते हैं कि नाम रूपके होनेकोही सृष्टि कहते हैं अत एव सृष्टिसे पहिले नाम रूप नही होसकते इससे यह सिद्ध भया कि आकाशके समान निरवयवही सत् (ब्रह्म) है यहां यह अनुमानहै कि सत् वस्तु- स्वगतभेदशून्य है- अवयव रहित होनेसे-आकाशके समान ॥ २३ ॥

सदंतरं सजातीयं न वैलक्षण्यवर्जनात् ॥
नामरूपोपाधिभेदं विना नैव सतो भिदा ॥ २४ ॥

भाषार्थ- कदाचित् शंका करो कि स्वगतभेद मतहो सजातीय भेद क्यों नही होता इस शंकाके निवारणार्थ कहते है कि दूसरा सजातीय कोई सत्से विलक्षणताके अभावसे नही है इससे सजातीय भेद नही होसकता-कदाचित् कहो कि घटकी सत्ता पटकी सत्ता यहां सत्का भेद देखते हैं सोभी ठीक नही क्योंकि घटाकाश मठाकाशके समान नामरूप उपाधिके भेद विना सत्का भेद नहीं होसकता- और यहां यह अनुमान है कि सत् वस्तु-सजातीय भेदरहित होने योग्यहै-उपाधिके परामर्श विना भेदकी प्रतीति नहोनेसे गगनके समान- भावार्थ यह है कि विलक्षणताके अभावसे दूसरा सत् नही इससे सजातीय भेदभी सत्वस्तुमें नही है और नाम रूप उपाधिके भेद विना सत्का भेद कैसे होसकता है ॥ २४ ॥

विजातीयमसत्तत्तु न खल्वस्तीति गम्यते ॥
नास्यातः प्रतियोगित्वं विजातीयाद्भिदा कुतः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—अब विजातीय भेदका निषेध कहते हैं, कि सत्का विजातीय असत् है वह असत्—नहीं हैं इस निश्चयसे जाना जाता है इससे वह असत् सत्से भिन्न है इस—भेदका प्रतियोगी नही होसक्ता इससे ब्रह्ममें विजातीयसे भेद किस प्रकार होसक्ता है ॥ २५ ॥

एकमेवाद्वितीयं सत्सिद्धमत्र तु केचन ॥
विह्वला असदेवेदं पुरासीदित्यवर्णयन् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—इससे एक अद्वितीय सद्वस्तु सिद्ध भया अब यहां स्थूणाखननके न्यायसे अर्थात् थूनीको खोद खोद जैसे दृढ करते हैं—इस प्रकार सत् अद्वैतको दृढ करनेके लिये किसी वादीके पूर्वपक्षको कहते हैं कि इस अद्वितीयकी सिद्धिसे विह्वल हुए कोई पूर्वाचार्य—यह जगत्—असत् रूपही पहिले हुआ यह वर्णन करते भये— ॥२६॥

मग्नस्याब्धौ यथाऽक्षाणि विह्वलानि तथास्य धीः ॥
अखंडैकरसं श्रुत्वा निःप्रचारा बिभेत्यतः ॥ २७ ॥

भाषार्थ— अब उनके विह्वल होनेमें दृष्टांत देते हैं—कि जैसे समुद्रमें डूबे हुए मनुष्यके नेत्र विह्वल होते हैं—तिसी प्रकार इस असद्वादीकी बुद्धि भी—अखण्ड—एकरस वस्तुको सुनकर प्रचाररहित (न पहुंचती) होकर—इस वस्तुरूप ब्रह्मसे डरती है—क्योंकि उस बुद्धिका प्रचार साकार वस्तुओंमें ही रहाथा ॥ २७ ॥

गौडाचार्या निर्विकल्पे समाधावन्ययोगिनाम् ॥
साकारब्रह्मनिष्ठानामत्यंतं भयमूचिरे ॥ २८ ॥

भाषार्थ—अब उक्त अर्थमें आचार्योंकी सम्मति कहते हैं कि गौडाचार्योंनेभी निर्विकल्प समाधिके विषै उन अन्ययोगीयोंको अत्यंत भय कहा है जिनकी आकार सहित ब्रह्मके विषें स्थिति है ॥ २८ ॥

अस्पर्शयोगो नामैष दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ॥
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ २९ ॥

भाषार्थ—जिस वाक्यसे गौडाचार्योंने भय कहा उसी वाक्यको कहते हैं—कि यह अस्पर्श योगरूप जो निर्विकल्प समाधि है वह साकार ब्रह्ममें निष्ठ (स्थित) संपूर्ण योगीयोंको दुःखसे देखने योग्य है—अर्थात्—वे इस समाधिको नही लगासक्के क्योंकि द्वैतके दर्शी और भयसे रहित समाधिमें भय देखनेवाले योगीजन निर्जन देशमें

बालकके समान इस अस्पर्श समाधिसे डरते हैं भावार्थ यहहै कि सम्पूर्णयोगी इस अस्पर्श योगको नही प्राप्त होसक्ते क्योंकि अभयमें भय देखनेवाले वे इस समाधिसे डरते हैं ॥ २९ ॥

भगवत्पूज्यपादाश्च शुष्कतर्कपटूनमून् ॥
आहुर्माध्यमिकान् भ्रांतानचिंत्येऽस्मिन्सदात्मनि ॥ ३० ॥

भाषार्थ–श्रीमान् शंकराचार्योंनेभी यही कहाहै–कि भगवत्पूज्यपादों (श्रीशंकराचार्यके चरण) नेभी शुष्कतर्कमें चतुर इनको आचिन्त्य इस सदात्मामें-माध्यमिक (बीचके) भ्रान्त कहाहै ॥ ३० ॥

अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यादिमे बौद्धास्तमस्विनः ॥
आपेदिरे निरात्मत्वमनुमानैकचक्षुषः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ–ये तमोगुणी बौद्ध-एकअनुमानकोही मानकर और मूर्खतासे श्रुतिका अनादर करके निरात्मता (शून्य) काही वर्णन करते भये ॥ ३१ ॥

शून्यमासीदिति ब्रूषे सद्योगं वा सदात्मताम् ॥
शून्यस्य न तु तद्युक्तमुभयं व्याहतत्वतः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–अब विकल्प करके असद्वादमें दूषण देतेहैं कि शून्यहुआ इस वाक्यसे तू, शून्यको सत्ताका योग कहताहै वा सद्रूप कहताहै ये दोनों व्याघात होनेसे शून्य में युक्त नही होसक्ते क्योंकि शून्यकी सत्ता कदाचित् नही होसक्ती ॥ ३२ ॥

न युक्तस्तमसा सूर्यो नापि चासौ तमोमयः ॥
सच्छून्ययोर्विरोधित्वाच्छून्यमासीत्कथं वद ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–अब दृष्टांतपूर्वक व्याघातको दिखाते हैं जैसे सूर्य अन्धकारसे युक्तनही और न अंधकार रूपहै, इसी प्रकार सत् और शून्यके विरोधसे शून्यहुआ, यह, हे बौद्ध तू कैसे कहताहै ॥ ३३ ॥

वियदादेर्नामरूपे मायया सुविकल्पिते ॥
शून्यस्य नामरूपे च तथा चेज्जीव्यतां चिरम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–आकाश आदिकी निर्विकल्प ब्रह्ममें सत्ता तुमारे मतमेंभी तो व्याहतहै इस शंकाकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि जैसे हमारे मतमें आकाश आदिके नाम-

रूप मायासे कल्पित हैं इसी प्रकारके शून्यकेभी नामरूप तेरे मतमें होंय तो ऐसा शून्य चिरकाल तक जीवो अर्थात् कल्पितका मानना-हमारा सिद्धांत है ॥ ३४ ॥

सतोऽपि नामरूपे द्वे कल्पिते चेत्तदा वद ॥
कुत्रेति निरधिष्ठानो न भ्रमः क्वचिदीक्ष्यते ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कोई शंका करै कि शून्यके समान सत् वस्तुकेभी कल्पित नामरूपका अंगीकार क्यों नही करते क्योंकि तेरे मतमें वास्तविक (सच्चा) नामरूप कोई नही है सो ठीक नही क्योंकि यह पक्ष इस विकल्पसे नही होसक्ता कि सत्के नामरूपकी कल्पना सत्में करतेहो वा असत्में वा जगत्में-सत्में तो नही कह सक्ते क्योंकि रजत आदिके नामरूपकी कल्पना उससे अन्य शुक्ति आदिमें देखते हैं इससे सत्के नामरूपकी कल्पना सत्में नही होसक्ती और असत्मेंभी असत्को सत्ताशून्य होनेसे भ्रमकी अधिष्ठानताका असंभव है इससे नामरूपकी कल्पनाका असंभवहै और सत्से पैदाहुआ जगत् सत्के नामरूपका अधिष्ठान नही होसक्ता इससे जगत्मेंभी सत्के नामरूपकी कल्पना नहीकर सक्ते कदाचित् कहोकि विनाही अधिष्ठान नामरूपकी कल्पना क्यों नहो सो ठीक नही क्योंकि कहींभी विना अधिष्ठान भ्रम नही होता-भावार्थ यहहै कि सत्केभी नामरूप दोनों कल्पितहैं तो कहां कल्पित हैं यह कहो क्योंकि विना अधिष्ठान भ्रम कही नही देखा ॥ ३५ ॥

सदासीदितिशब्दार्थभेदेवैगुण्यमापतेत् ॥
अभेदे पुनरुक्तिः स्यान्मैवं लोके तथेक्षणात् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–अब यह जगत् सृष्टिसे पहिले असत् हुआ यहां जैसे तुमने व्याघात दोष कहा तैसेही हे सौम्य सृष्टिसे पहिले सत् हुआ-यहांभी दोष है कि सत् आसीत् (सत् हुआ) इन दोनों शब्दोंके अर्थका भेदहै वा नही यदि भेदहै तो तुमारा अद्वैतपक्ष सिद्ध नहोगा और यदि भेदहै तो पुनरुक्ति दोष होगा-इससे सत् हुआ यह कहना नही बनसक्ता ऐसा मतकहो क्योंकि तुमारे विकल्पमें कहे दूसरे पक्षको हम मानते हैं कि दोनों पदोंके अर्थका भेद नही और लोकमें ऐसेही देखनेसे पुनरुक्ति–दोष नहीं है ॥ ३६ ॥

कर्तव्यं कुरुते वाक्यं ब्रूते धार्यस्य धारणम् ॥
इत्यादिवासनाविष्टं प्रत्यासीत्सदितीरणम् ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–अब ऐसे प्रयोगोंमें पुनरुक्तिके दोषके अभावका स्थल दिखाते हैं-कर्तव्य

को करताहै-वाक्यको कहताहै-धारणकरने योग्यको धारताहै-इत्यादि वासनाओंसे युक्त शिष्यके प्रति सत् आसीत् (सत् हुआ) इस वाक्यका कथन (उपदेश)है ॥३७॥

कालाभावे पुरेत्युक्तिः कालवासनया युतम् ॥
शिष्यं प्रत्येव तेनात्र द्वितीयं न हि शंक्यते ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अद्वितीय वस्तुमें भूतकालका अभावहै इससे पहिले सत् हुआ-यह कहना नही बनसक्ता-सो ठीक नही-क्योंकि ब्रह्ममें कालका अभाव होनेपरभी-पहिले हुआ यह कहना कालकी वासनासे युक्त शिष्यकेही प्रतिहै-कदाचित् कोई कहै कि जगत्की उत्पत्तिके पहिले जगत्के अभावसे ब्रह्म सद्वितीय है अर्थात् दूसरा ब्रह्महै सो ठीक नही क्योंकि द्वैतकी वासनासे युक्त श्रोताओंके ज्ञानार्थ श्रुतिकी प्रवृत्तिहै इससे ब्रह्ममें द्वितीयकी शंका नही हो सक्ती ॥ ३८ ॥

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया ॥
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ– अब सिद्धांतके तत्वको कहते है कि द्वैत भाषा (व्यवहारमें) से चोद्य (शंका) वा समाधान करो और अद्वैत भाषा (परमार्थ) से न शंकाहै और न उसका उत्तरहै किंतु एक अद्वैतब्रह्मरूप तत्वहीहै ॥ ३९ ॥

तदा स्तिमितगंभीरं न तेजो न तमस्ततम् ॥
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते ॥ ४० ॥

भाषार्थ– अब परमार्थसे द्वैतके अभावमें स्मृति प्रमाणको कहते हैं कि उस परमार्थ अवस्थामें स्तिमित (निश्चल) और गंभीर अर्थात् मनसे भी जाननेको अशक्य तेज नही है और न तेजका विरोधी तम (अंधकार) है–इससे तमसे विलक्षण और जिसका आवरण (ढकना) स्वभाव नही ऐसा व्यापक–कहनेके अयोग्य अप्रकट अर्थात् चक्षु आदिसे जाननेके अयोग्य सत् अर्थात् शून्यसे विलक्षण और इसीसे किंचित् रूप, जिसको यहहै, ऐसे कह कर नही दिखा सक्के ऐसा द्वैतके निषेधका अवधिरूप जो शेष रहताहै वही ब्रह्महै– भावार्थ यहहै कि उस समय निश्चल गंभीर न तेजहै न तम है किंतु कथनके अयोग्य अप्रकट सत् व्यापक जो कुछ शेष रहताहै वही ब्रह्महै ॥ ४० ॥

ननु भूम्यादिकं मा भूत्परमाण्वंतनाशतः ॥
कथं ते वियतोऽसत्त्वं बुद्धिमारोहतीति चेत् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ- परमाणु पर्यंतके नाश होनेसे अनित्य भूमि आदि मतहों परंतु नित्य आकाशकी असत्ता (अनित्यता) तेरी बुद्धिमें कैसे आरूढ होती है अर्थात् आकाश तो सत् है ऐसा कोई कहै तो ॥ ४१ ॥

अत्यंतं निर्जगद्व्योम यथा ते बुद्धिमाश्रितम् ॥
तथैव सन्निराकाशं कुतो नाश्रयते मतिम् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ- दृष्टांतसे उक्तशंकाका परिहार करते हैं कि अत्यंत जगत्से रहित आकाश जैसे तेरी बुद्धिमें स्थित हुआहै ऐसेही आकाशसे रहित सत् (ब्रह्म) तेरी बुद्धिमें क्यों नही आता ॥ ४२ ॥

निर्जगद्व्योम दृष्टं चेत्प्रकाशतमसी विना ॥
क्व दृष्टं किं च ते पक्षे न प्रत्यक्षं वियत्खलु ॥ ४३ ॥

भाषार्थ- कदाचित् कहो कि जगत्से रहित आकाश देखाहै सो ठीक नही क्योंकि प्रकाश और अंधकारके विना कहां देखाहै सो कहो-और क्या तेरे पक्षमें निश्चयसे आकाश प्रत्यक्ष है अर्थात् आकाशका प्रत्यक्ष नही हो सक्ता ॥४३॥

सद्वस्तु शुद्धं त्वस्माभिर्निश्चितैरनुभूयते ॥
तूष्णीं स्थितौ न शून्यत्वं शून्यबुद्धेश्च वर्जनात् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ- कदाचित् कहो कि दर्शनका अभावतो सत् वस्तुके विषैभी तुल्यहै अर्थात् सत्का भी प्रत्यक्ष नही है सो ठीक नही क्योंकि सत् तो सबके अनुभवसे सिद्धहै कि सत् शुद्ध वस्तुका तो हम निश्चित होकर अनुभव करते हैं अर्थात् जानते हैं कदाचित् कहो कि तूष्णींभाव दशामें शून्यसे इतर किसीकी भी प्रतीति नही हो सक्ती इससे शून्य कोही क्यों नही मानते सो ठीक नही क्योंकि शून्यकी बुद्धिमें प्रतीतिके अभावसे तूष्णीं स्थितिमें शून्यको नही कह सक्ते-भावार्थ यहहै कि निश्चय दशामें सत् शुद्ध वस्तुका तो हमे अनुभव होताहै और शून्य बुद्धिके वर्जन (निषेध)से तूष्णीं स्थितिमें शून्यता नही हो सकती ॥ ४४ ॥

सद्बुद्धिरपि चेन्नास्ति मास्त्वस्य स्वप्रभत्वतः ॥
निर्मनस्कत्वसाक्षित्वात्सन्मात्रं सुगमं नृणाम् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ- कदाचित् कहो कि परमार्थदशामें सत् बुद्धिकाभी अभावहै इससे सत् भी न घट सकेगा सो ठीक नही है क्योंकि यादि सत् बुद्धि भी नही है तो मत

हो—इस सत्को स्वप्रकाश होनेसे सत्का ज्ञान होजायगा कदाचित् कहो कि स्व (सत्) विषयक बुद्धिके अभावमें कैसे सत्वस्तुका ज्ञान होगा—सो ठीक नहीं क्योंकि मनसे रहित सबका साक्षीरूप सत् मनुष्योंको सुगम है अर्थात् सुगमतासे सत्का ज्ञान होसकताहै भावार्थ यह है कि सत्-बुद्धिभी नहीं है तो न हो इस सत् को स्वप्रकाश—मन रहित—साक्षी रूप—होनेसे सत्का ज्ञान मनुष्योंको सुगमहै॥ ४५॥

मनो जृंभणराहित्ये यथा साक्षी निराकुलः ॥
मायाजृंभणतः पूर्वं सत्तथैव निराकुलम् ॥ ४६ ॥

भाषार्थ— अब प्रपंचसे रहित साक्षीका तूष्णीं स्थितिमें भान दिखाकर इसी दृ-ष्टांत केवलसे सृष्टिसे पूर्वभी सत् वस्तुके ज्ञानको कहते है कि जब मन जृंभा (जंभाई आलस्य) से रहित होताहै उस समय जैसे साक्षी निराकुल (स्वस्थ) रहताहै इसी प्रकार मायाकी जृंभा (फैलाव) से पूर्व अर्थात् सृष्टिसे पहिले सत् भी निराकुल (शुद्ध) होताहै ॥ ४६ ॥

निस्तत्त्वाकार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिवत् ॥
न हि शक्तिः क्वचित्कैश्चिद्बुध्यते कार्यतः पुरा ॥ ४७ ॥

भाषार्थ— अब मायाके लक्षणको कहते है कि निस्तत्त्व अर्थात् जगत्के कारण रूप सत् वस्तुसे पृथक्, तत्वसे रहित और कार्यके द्वारा जानने योग्य अर्थात् आ-काश आदि कार्योंकी उत्पत्तिका जो सामर्थ्यरूप शक्ति, उसको माया कहते हैं अब वस्तुके स्वरूपसे भिन्नशक्तिके होनेमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे अग्निके स्वरू-पसे भिन्न और स्फोट आदि कार्यसे जानने योग्य अग्निका सामर्थ्य होताहै ऐसेही वस्तुकी शक्ति माया है-अब शक्तिका कार्यसे ज्ञान, व्यतिरेक (निषेध) के द्वारा दिखाते हैं कि कार्यके पूर्व समयमें किसीने भी कहीं शक्तिको जाना है अर्थात् कार्यसे पहिले कारणकी शक्तिका ज्ञान नही हुआ करता—भावार्थ यह है कि वस्तुके तत्वसे अभिन्न, और कार्यसे अनुमित—जो अग्निकी शक्तिके तुल्य, वस्तुकी शक्ति, वह मायाहै क्योंकि कहीभी कार्यसे पहिले किसीने शक्तिको नही जाना ॥ ४७ ॥

न सद्वस्तु सतः शक्तिर्न हि वह्नेः स्वशक्तिता ॥
सद्विलक्षणतायां तु शक्तेः किं तत्त्वमुच्यताम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ— इस प्रकार शक्तिको कार्यमें गम्य कहकर निस्तत्वरूपताको सिद्ध

करते हैं कि यहां यह भावहै कि सत्वस्तुकी शक्ति सत् है वा असत् है-सत् तो नही कह सकते क्योंकि सत् रूप होनेसे सत्की शक्ति नही हो सक्ती जैसे अग्निकी शक्ति अग्नि रूप नही होती सत्से भिन्न कहोगे तो वह मनुष्यके शृंगकी तुल्यहै वा सत्से विलक्षणहै इस विकल्पके अभिप्रायसे पूछते है कि सत्से विलक्षणहै तो उस शक्तिका क्या तत्व है उसको कहो—भावार्थ यह है कि अग्निकी शक्तिके समान सत्की शक्ति सत् वस्तु नही है सत्से विलक्षण मानोगे तो शक्तिका क्या तत्व है उसको कहो ॥ ४८ ॥

शून्यत्वमिति चेच्छून्यं मायाकार्यमितीरितम् ॥
न शून्यं नापि सद्यादृक्तादृक्तत्त्वमिहेष्यताम् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ— उन दोनों पक्षोंमें प्रथम पक्षको कहकर दूषण देते हैं कि शून्यक होगे तो शून्य तो मायाका कार्य है यह पहिले ३४ के श्लोकमें कह आये अर्थात् शून्यकेभी कल्पित नामरूप माननेमें कुछ दोष नहीं है तिससे सत्से विलक्षणहै यह दूसरा पक्षही शेष रहा— उसकोही कहते हैं कि जो न शून्यहै न सत् है ऐसा जो हो वही अनिर्वचनीय मायाका रूपहै अर्थात् न सत् कह सकते है न असत् कह सकते है—भावार्थ यह है कि शून्य मानोगे तो वह मायाका कार्य है यह कह आये तिससे जो न शून्यहो न सतहो ऐसा कहनेके अयोग्य मायाका रूप होताहै ॥ ४९॥

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं किं त्वभूत्तमः ॥
सद्योगात्तमसः सत्वं न स्वतस्तन्निषेधनात् ॥ ५० ॥

भाषार्थ—उस सृष्टिके पूर्व समयमें न असत् था न सत् था किंतु पहिले तमसे गूढ (छिपा) ब्रह्म था इस[1] श्रुतिके प्रमाणसे तमही रहा इससे तुम सत्हुआ यह कैसे कहतेहो इस शंकाके दूर करनेके लिये कहते हैं कि सत्के संबंधसेही तमकी सिद्धिहै स्वतः नही क्योंकि तमकी स्वतः (स्वयं) सिद्धिका निषेधहै ॥ ५० ॥

अत एव द्वितीयत्वं शून्यवन्न हि गण्यते ॥
न लोके चैत्रतच्छक्त्योर्जीवितं लिख्यते पृथक् ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—जिससे मायाकी स्वतः सत्ता नहीहै इससे शून्यके समान मायाको द्वितीय (दूसरी) नही मान सकते क्योंकि जगत्में चैत्र और उसकी शक्तिके पृथक्२ जीवनको कोई नही लिखताहै अर्थात् मिथ्या वस्तुको दूसरी नही कह सकते ॥५१॥

1 तम आसीत्तमसागूढमग्रे प्रकेतम् ।

शक्त्याधिक्ये जीवितं चेद्वर्धते तत्र वृद्धिकृत् ॥
न शक्तिः किंतु तत्कार्यं युद्धकृष्यादिकं तथा ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि शक्तिकी अधिकतासे जीवनकी अधिकताको देखते हैं इससे शक्तिकाभी पृथक् जीवनहै यह शंका ठीक नही क्योंकि उसमें वृद्धिके कर्ता शक्तिके कार्य और युद्ध कृषि आदि हैं शक्ति नहीं है ॥ ५२ ॥

सर्वथा शक्तिमात्रस्य न पृथग्गणना क्वचित् ॥
शक्तिकार्यं तु नैवास्ति द्वितीयं शंक्यते कथम् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहोकि शक्तिसे सत्को द्वितीययुक्तता (द्वैतता) मतहो शक्तिके कार्यसे तो होजायगा सो ठीक नही क्योंकि वह उस समय नही है इससे उससेभी द्वैतनही होसकता कि केवल शक्तिकी तो कहीभी पृथक् गिनती नहींहै और शक्तिका कार्य है ही नही इससे द्वितीयकी शंका कैसे करतेहो ॥ ५३ ॥

न कृत्स्नब्रह्मवृत्तिः सा शक्तिः किंत्वेकदेशभाक् ॥
घटशक्तिर्यथा भूमौ स्निग्धमृद्येव वर्तते ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—वह सत्की शक्ति संपूर्ण ब्रह्ममें है वा ब्रह्मके एकदेशमें सर्वत्र कहोगे तो मुक्तोंकी प्राप्तिके योग्य ब्रह्मका अभाव होजायगा और एकदेशमेंभी ब्रह्मको निरवयव होनेसे नही कह सकते यह आशंका करके प्रथम पक्षके अस्वीकार (न मानना) से दूसरे पक्षका समाधान कहेंगे इस अभिप्रायसे कहतेहैं कि वह शक्ति संपूर्ण ब्रह्ममें नही रहती किंतु एकदेशमें इस प्रकार रहतीहै कि जैसे घटकी शक्ति स्निग्ध (चिकनी) मिट्टीमेंही देखते है ॥ ५४ ॥

पादोस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्ति स्वयंप्रभः ॥
इत्येकदेशवृत्तित्वं मायाया वदति श्रुतिः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—अब शक्ति एक देशमें वृत्तितामें प्रमाण कहतेहैं कि संपूर्णभूत इस ब्रह्मका पादहै और वह स्वयंप्रभ त्रिपादहै इस प्रकार मायाकी एकदेश वृत्तिताको श्रुति कहतीहै ॥ ५५ ॥

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥
इति कृष्णोऽर्जुनायाह जगतस्त्वेकदेशताम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—केवल श्रुतिही प्रमाण नही किंतु स्मृतिभी प्रमाणहै कि इस संपूर्ण जग-

तूको एक अंश (भाग) से व्याप्त होकर में स्थितहूं इस वचनसे श्रीकृष्णचंद्र-जीने अर्जुनके प्रति जगत्‌को एकदेशरूप कहाहै ॥ ५६ ॥

स भूमिं विश्वतो वृत्त्वा ह्यत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ॥
विकारावर्ति चात्रास्ति श्रुतिसूत्रकृतोर्वचः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—अब मायारहित स्वरूप होनेमें प्रमाणको कहते हैं कि वह ब्रह्म सर्वत्र भूमिमें और विकारमात्रमें व्यापक होकर दशअंगुल अतिक्रांत (अधिक) टिकताभया-यह श्रुति और सूत्रकारका वचनहै ॥ ५७ ॥

निरंशेऽप्यंशमारोप्य कृत्स्नेंऽशे वेति पृच्छतः ॥
तद्भाषयोत्तरं ब्रूते श्रुतिः श्रोत्राहितैषिणी ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहोकि ऐसा कहनेमें ब्रह्म निरवयवहै इसका विरोध होगा इस शंकाका परिहार वास्तविक निरवयव माननेसे कहते हैं कि अंशरहित ब्रह्ममेंभी अंश-का आरोप करके-संपूर्ण अंशमेंहै वा एकअंशमें ऐसे पूछते शिष्यके प्रति उसकीही भाषासे श्रोताकी हितकारिणी श्रुति उत्तर देतीहै वस्तुतः तो ब्रह्म निरवयवहै ॥५८॥

सत्तत्त्वमाश्रिता शक्तिः कल्पयेत्सति विक्रियाः ॥
वर्णा भित्तिगता भित्तौ चित्रं नानाविधं तथा ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—जिसके लिये मायाको सिद्धकिया उसको कहतेहैं कि सत्तत्त्वमें रहती हुयी शक्ति सत्वस्तुके विषै नानाप्रकारके विकारों (कार्य विशेष) की इस प्रकार कल्पना करतीहै जैसे भित्ति (भींत) में रहते रक्तपीत आदिवर्ण भित्तिमें नानाप्रका-रके चित्रोंको करते हैं तात्पर्य यहहै हि चित्रोंसे पृथक् भित्तिके समान सत् वस्तुभी कार्योंसे पृथक्‌है ॥ ५९ ॥

आद्यो विकार आकाशः सोऽवकाशस्वरूपवान् ॥
आकाशोऽस्तीति सत्तत्त्वमाकाशेप्यनुगच्छति ॥ ६० ॥

भाषार्थ— शक्तिका प्रथम विकार आकाशहै उस आकाशस्वरूप आकाशवालाहै आकाशहै यह सत्वस्तुका तत्व आकाशमें भी अनुगत होताहै अर्थात् है यह सत् वस्तु प्रतीत होतीहै ॥ ६० ॥

एकस्वभावं सत्तत्त्वमाकाशो द्विस्वभावकः ॥
नावकाशः सति व्योम्नि स चैषोऽपि द्वयं स्थितम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ- इससे सत्तत्त्वका एक सत्ताही स्वभावहै और आकाशके अवकाश और सत्ता दो स्वभावहैं क्योंकि सत् वस्तुमें अवकाश नहींहै केवल सत् स्वभावहीहै और आकाशमें तो तत् स्वभाव और यह आकाश ये दोनों स्थित हैं ॥ ६१ ॥

यद्वा प्रतिध्वनिर्व्योम्नो गुणो नासौ सतीक्ष्यते ॥
व्योम्नि द्वौ सद्ध्वनी तेन सदेकं द्विगुणं वियत् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ- अब सत् और आकाशके एक दो स्वभाव प्रकारांतर (अन्य)से कहते हैं कि आकाशमें प्रतिध्वनिरूप गुण जो कह आये हैं वह है और सत् वस्तुमें यह प्रतीत नही होता और आकाशमें सत् और ध्वनि दोनों प्रतीत होते हैं इससे सत्का एक गुण है और आकाशके दो गुण हैं ॥ ६२ ॥

या शक्तिः कल्पयेद्व्योम सा सद्व्योम्नोरभिन्नताम् ॥
आपाद्य धर्मधर्मित्वं व्यत्ययेनावकल्पयेत् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ- कदाचित् कोई शंका करै कि यदि आकाश सत् ब्रह्मका कार्य है तो आकाशकी सत्ता यह सत् आकाशका धर्म कैसे प्रतीत होताहै सो ठीक नही कि जिस मायारूप शक्तिने सत् वस्तुमें आकाकी कल्पना कीहै वही शक्ति प्रथम सत् वस्तु और आकाशके अभेदकी कल्पना करतीहै फिर विपरीत (उलटा) रूपसे धर्म और धर्मी भावको कल्पना करतीहै अर्थात् आकाशको धर्मी और सत्को धर्म बना देती है इससे आकाशकी सत्ता ऐसा भान सिद्ध होता है-भावार्थ यह है कि जिस शक्तिने आकाशकी कल्पना की है वह सत् और आकाशके अभेदको कहकर विपरीत रूपसे धर्मधर्मिभावकी कल्पना करती है ॥ ६३ ॥

सतो व्योमत्वमापन्नं व्योम्नः सत्तां तु लौकिकाः ॥
तार्किकाश्चावगच्छंति मायाया उचितं हि तत् ॥ ६४ ॥

भाषार्थ- अब मायाकी विपरीत रीतिको दिखातेहैं कि वस्तुके तत्वका विचार करनेपर जैसे मिट्टी घट रूपहै इसी प्रकार सत् वस्तुही आकाश रूप होजाती है इस प्रकार सत् वस्तुकी आकाश रूपताको लौकिक मनुष्य मानते हैं और शास्त्रोंके विषै नैयायिक भी उससे विपरीत रूपसे धर्मिरूप आकाशकी सत्ता (सत् रूप धर्म) को जानते हैं कि आकाशकी सत्ताहै-कदाचित् कहो अन्यकी अन्यथा प्रतीति नही होसकती अर्थात् धर्मी, धर्मरूप नही होगा सो ठीक नही क्यों मायामें वह उचितहै विपरीत दिखाना मायाके योग्यहै-भावार्थ यह है कि पू-

वोक्त प्रकारसे सत् व्योमरूप हुआ और व्योमकी सत्ताको लौकिक और ...ायिक मानते हैं क्योंकि वह विपरीत ज्ञान मायाको उचित है ॥ ६४ ॥

यद्यथा वर्तते तस्य तथात्वं भाति मानतः ॥
अन्यथात्वं भ्रमेणेति न्यायोऽयं सार्वलौकिकः ॥ ६५ ॥

भाषार्थ– अब लौकिक न्यायको दिखाकर मायाको विपरीत प्रतीतिका कारण दिखाते हैं कि जो शुक्ति आदि वस्तु जिस शुक्ति आदि रूपसे वर्तती है उसका वह रूप प्रमाणसे प्रतीत होताहै और जो उसीमें रजत आदि अन्यथा रूप प्रतीत होताहै वह भ्रमसे होताहै यह न्याय संपूर्ण लोकोंमें प्रसिद्ध है यही भ्रांतिका धर्म है ६५

एवं श्रुतिविचारात्प्राग्यथा यद्वस्तु भासते ॥
विचारेण विपर्येति ततस्तच्चिंत्यतां वियत् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार भ्रांतिसे विपरीत भानको दिखाकर अब भ्रांतिकी निवृत्तिका उपाय कहते हैं कि इस पूर्वोक्त रीतिसे जो श्रुतिके अर्थका विचार उससे प्रथम जो सत्रूप वस्तु जिस आकाश आदि रूपसे भासती थी वही वस्तु श्रुतिके अर्थका पर्यालोचन (देखना वा विचार) से विपरीत होजातीहै अर्थात् आकाश आदिरूपको त्यागकर सत् ब्रह्मरूप होजातीहै तिस श्रुतिके विचारसे वस्तुके यथार्थ (सच्चे)रूपका ज्ञान होनेसे हे वादी अब तू उस आकाशको विचारले कि क्याहै-भावार्थ यहहै कि इसप्रकारश्रुतिके विचारसे पहिले जो वस्तु जैसी भासैथी वह विचारके अनंतर विपरीतहो जातीहै इससे तू आकाशकोभी विचारलै कि सत्रूपहै कि नही ॥ ६६ ॥

भिन्ने वियत्सती शब्दभेदाद्बुद्धेश्च भेदतः ॥
वाय्वादिष्वनुवृत्तं सन्नतु व्योमेति भेदधीः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ–अब विचारके स्वरूपको दिखातेहैं कि शब्द (वियत् सत्) के भेद और बुद्धिके भेदसे आकाश और सत् भिन्न२हैं क्योंकि वायुआदि भूतोंमें वायु सत्है तेज सत्है इसप्रकार सत्की अनुवृत्तिहै आकाशकी नही ज्ञानकी भेदबुद्धि कहतेहैं अर्थात् सत् सर्वत्रहै आकाश आदि नही ॥ ६७ ॥

सद्वस्त्वधिकवृत्तित्वाद्धर्मि व्योम्नस्तु धर्मता ॥
धिया सतः पृथक्कारे ब्रूहि व्योम किमात्मकम् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ–इसप्रकार सत् और आकाशके भेदको सिद्ध करके भ्रमसे जो यह प्रतीति होतिहैकि आकाशकी सत्ताहै विचारसे विपरीत उस धर्मधर्मिभावका व्यत्यय

(उलटजाना) दिखातेहैं कि रूपरस आदिमें अधिकमें अनुवृत्त द्रव्यके समान आकाश वायु आदिमें अनुवृत्त सत् धर्मीहै और रस आदिसे भिन्नरूपके समान वायु आदिसे भिन्न आकाश धर्महै-कदाचित् कहो कि घटसे भिन्नभी रूप जैसे वास्तविक (यथार्थ) है तैसेही सत्से भिन्न आकाशभी वास्तविक होजागया सो ठीक नही क्योंकि बुद्धिके द्वारा सत्के पृथक् करनेपर हे वादी तू कह कि व्योम किंस्वरूपहै- भावार्थ यहहै कि अनुवृत्तहोनेसे सत्वस्तु धर्मि और व्योम धर्म है और बुद्धिसे सत्के पृथक्करनेपर कहो कि व्योम किंरूपहै ॥ ६८ ॥

अवकाशात्मकं तच्चेदसत्तदिति चिंत्यताम् ॥
भिन्नं सतोऽसच्च नोति वक्षि चेद्व्याहतिस्तव ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—आकाशके दुर्निरूपहोनेमें शंका करतेहैं कि वह आकाश अवकाशरूपहै ऐसा कहोगे तो वह सत्से विलक्षण होनेसे असत्ही होजायगा यह निश्चय करो कदाचित् कहो सत्से विलक्षण असत् नही होता सोभी ठीक नही क्योंकि सत्से भिन्नहै परंतु असत् नहीहै ऐसा तू कहैगा तो तेरे मतमें व्याघात दोषहै क्योंकि सत्से भिन्न असत्ही होताहै अन्य नही-भावार्थ यहहै कि अवकाशरूप आकाशको कहोगे तो वह असत् (मिथ्या) है और सत्से भिन्नहै यह असतनही ऐसा कहते तेरे मतमें व्याघातदोष है ॥ ६९ ॥

भातीतिचेद्भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ॥
यदसद्भासमानं तन्मिथ्या स्वप्नगजादिवत् ॥ ७० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि भान न होगा सो ठीक नही क्योंकि तुच्छसे विलक्षणके भानमें कोई विरोध नहीहै कि भासताहै तो भासो क्योंकि भासना मायिक पदार्थका भूषण होताहै क्योंकि जो असत् होकर भासता है वह स्वप्नके गज (हाथी) आदिकीतुल्य मिथ्याहै अर्थात् स्वरूपसे अविद्यमानभी वस्तु भासा करती है ॥ ७० ॥

जातिव्यक्ती देहिदेहौ गुणद्रव्ये यथा पृथक् ॥
वियत्सतोस्तथैवास्तु पार्थक्यं कोऽत्र विस्मयः ॥ ७१ ॥

भाषार्थ— कदाचित् कहो कि नियमसे जो संग देखे हैं उनका भेद नही देखा सोभी ठीक नही क्योंकि जाति व्यक्ति–देह देही– गुण द्रव्य–ये जैसे भिन्न २ हैं तिसी प्रकार आकाश और सत्भी भिन्न २ हैं इसमें कोन आश्चर्य है ॥ ७१ ॥

बुद्धोऽपि भेदो नो चित्ते निरूढिं याति चेत्तदा ॥
अनैकाग्र्यात्संशयाद्वा रूढ्यभावोऽस्य ते वद ॥ ७२ ॥

भाषार्थ- कदाचित् कहो कि जाने हुये भी भेदका निश्चय नहीं होता, सो ठीक नहीं क्योंकि यदि ज्ञात भी भेद तेरी बुद्धिमें आरूढ नहीं होता तो उस भेदका आरूढ न होना चित्तकी एकाग्रताके अभावसे है वा संशयसे है यह तू कह अर्थात् इन दोनोंसे अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं होता ॥ ७२ ॥

अप्रमत्तो भव ध्यानादाद्येऽन्यस्मिन्विवेचनम् ॥
कुरु प्रमाणयुक्तिभ्यां ततो रूढतमो भवेत् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ- यदि चित्तकी एकाग्रताके अभावसे है तो ध्यानसे अर्थात् मनको लगाकर प्रमत्तताको छोड और यदि संशयसे भेदकी प्रतीति नहीं होती तो प्रमाण और युक्तियोंसे विवेक कर तिससे तू भेदके ज्ञानमें भलीप्रकार आरूढ होजायगा ॥७३॥

ध्यानान्मानाद्युक्तितोऽपि रूढे भेदे वियत्सतोः ॥
न कदाचिद्वियत्सत्यं सद्वस्तुच्छिद्रवन्न च ॥ ७४ ॥

भाषार्थ- अब ध्यानके फलको कहते हैं कि शब्द और बुद्धिके भेदसे आकाश और सत् भिन्न २ हैं-इस मानसे और पूर्वोक्त ध्यानसे और अधिक वृत्ति होनेसे सत् वस्तु धर्मी है इस पूर्वोक्त युक्तिसे जब आकाश और सत्का भेद चित्तमें आरूढ हो जायगा तो आकाश कदाचित् भी सत्य नहीं प्रतीत होगा किंतु मिथ्याही प्रतीत होगा और वस्तुभी छिद्रवाली प्रतीत न होगी भावार्थ यह है कि ध्यान मान और युक्तिसे आकाश सत् का भेदज्ञान होनेपर आकाश सत्य, और सद्वस्तु अवकाशवाली प्रतीत नहीं होगे ॥ ७४ ॥

ज्ञस्य भाति सदा व्योम निस्तत्त्वोल्लेखपूर्वकम् ॥
सद्वस्त्वपि विभात्यस्य निश्छिद्रत्वपुरःसरम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ- अब आकाश और सत्के विवेकका फल कहते हैं कि भेदके ज्ञाताको आकाश सदैव निस्तत्व (मिथ्या) और नाम मात्र प्रतीत होताहै और सद्वस्तुभी इसको छिद्र (अवकाश) से रहित, प्रतीत होती है ॥ ७५ ॥

वासनायां प्रवृद्धायां वियत्सत्यत्ववादिनम् ॥
सन्मात्राबोधयुक्तं च दृष्ट्वा विस्मयते बुधः ॥ ७६ ॥

भाषार्थ– आकाशको मिथ्या और सत्को सत्य मानता हुआ जो बुध है वह वासनाके अत्यंत बढनेपर आकाशके सत्य वादीको और सद्वस्तुको अज्ञानसे युक्त देखकर आश्चर्यको प्राप्त होता है ॥ ७६ ॥

एवमाकाशमिथ्यात्वे सत्सत्यत्वे च वासिते ॥
न्यायेनानेन वाय्वादेः सद्वस्तु प्रविविच्यताम् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ– इस प्रकार आकाशके मिथ्यात्व (झूठे) और सत्की सत्यतामें जब वासना बढगई अर्थात् दृढ निश्चय होगया, तब इसी न्यायसे वायु आदिकोंसे भी सद् वस्तुका भली प्रकार विवेक करना ॥ ७७ ॥

सद्वस्तुन्येकदेशस्था माया तत्रैकदेशगम् ॥
वियत्तत्राप्येकदेशगतो वायुः प्रकल्पितः ॥ ७८ ॥

भाषार्थ– कदाचित् शंका करो कि आकाशका कार्य जो वायु उसके अकारण रूप सद् वस्तुसे वायुकी एकताकी प्रतीत अयुक्तहै इससे वायुसे सत्का विवेक करना निष्प्रयोजक है सो ठीक नहीं है–क्यों कि साक्षात् सम्बधका अभाव होनेपर भी परंपरा सम्बधहै कि सद् वस्तुके एक देशमें स्थित मायाहै और मायाके एक देशमें आकाश और उस आकाशके भी एक देशमें स्थित वायुकी कल्पना, कीहै ॥ ७८ ॥

शोषस्पर्शौ गतिर्वेगो वायुधर्मा इमे मताः ॥
त्रयःस्वभावाः सन्मायाव्योम्नां ये तेऽपि वायुगाः ॥ ७९ ॥

भाषार्थ– इस प्रकार सत् और वायुके परम्परा सम्बधको दिखाकर उन दोनोंके धर्मसे भेद ज्ञानके लिये वायुमें प्रतीत हुये धर्मोंको कहते हैं कि शोष (सुकाना) स्पर्श–गति वेग ये वायुके धर्म माने हैं और सत् माया व्योम इनके जो तीन स्वभाव हैं वे भी वायुमें रहतेहैं अर्थात् चार धर्म स्वाभाविक और तीन धर्म कारणोंके द्वारा वायुमें होते हैं ॥ ७९ ॥

वायुरस्तीति सद्भावः सतो वायौ पृथक्कृते ॥
निस्तत्त्वरूपता मायास्वभावो व्योमगो ध्वनिः ॥ ८० ॥

भाषार्थ–अब उन्हीं कारणोंके धर्मोंको कहते हैं कि वायु है यह सत्का रूप (धर्म) वायुमें है और सत्से वायुको पृथक् करनेपर निस्तत्त्व (मिथ्या) रूपता वायुमें मायाका

स्वभावहै और शब्द जो वायुमें प्रतीत होताहै वह आकाशका स्वभावहै अर्थात् आकाशके सम्बधसे प्रतीत होताहै ॥ ८० ॥

सतोऽनुवृत्तिः सर्वत्र व्योम्नो नेति पुरेरितम् ॥
व्योमानुवृत्तिरधुना कथं न व्याहतं वचः ॥ ८१ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि क्या व्योमके विवेक प्रकरणमें वायु आदिमें सत्की अनुवृत्तिहै आकाशको नहीं इस ६७ के श्लोकमें वायु आदिमें आकाशको अनुवृत्तिका निषेध किया और अब आकाशकी अनुवृत्तिके कहनेमें पूर्वापरके विरोधकी शंका करते हैं कि सत्की अनुवृत्ति सर्वत्र होतीहै आकाशकी नहीं यह पहिले कह आये और अब आकाशकी अनुवृत्ति को कहतेहुये तेरे वचनमें व्यावात दोष क्यों नही होगा ॥ ८१ ॥

छिद्रानुवृत्तिर्नेतीति पूर्वोक्तिरधुना त्वियम् ॥
शब्दानुवृत्तिरेवोक्ता वचसो व्याहतिः कुतः ॥ ८२ ॥

भाषार्थ—प्रथम लक्षण स्वरूपकी अनुवृत्तिका निषेध किया अब धर्मकी अनुवृत्ति कहते हैं स्वरूपकी नहीं इस प्रकार व्याघात दोष नहीं कि छिद्रकी अनुवृत्ति नहीं यह पूर्व कहा और अब यह शब्दकी ही अनुवृत्ति कही इससे वचनमें व्याघात दोष कैसे होसकताहै ॥ ८२ ॥

ननु सद्वस्तुपार्थक्यादसत्त्वं चेत्तदा कथम् ॥
अव्यक्तमायावैषम्यादमायामयतापि नो ॥ ८३ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कोई कहै कि सत् रूप ब्रह्मसे विलक्षण होनेसे वायुको असत् रूप मायामय कहोगे तो अव्यक्त रूप मायासे विलक्षण होनेसे वायु अमायामय भी हो जायगी कि सद्व वस्तुसे पृथक् होनेसे वायु असत्है तो अव्यक्त मायाकी विषमतासे अमायामय भी क्यों नहीं मानते ॥ ८३ ॥

निस्तत्त्वरूपतैवात्र मायात्वस्य प्रयोजिका ॥
सा शक्तिकार्ययोस्तुल्या व्यक्ताव्यक्तत्वभेदिनोः ॥ ८४ ॥

भाषार्थ— अब उक्त शंकाका समाधान करते हैं कि मायामयका हेतु अव्यक्त तत्व नहीं किंतु निस्तत्व है वह मायाके समान वायु आदिमें भी तुल्यहै इससे मायामय माननेमें कुछ हानी नही भावार्थ यहहै कि मायात्वका प्रयोजक निस्तत्व

(मिथ्यात्व) है और वह व्यक्त और अव्यक्त मात्रहै भेद जिनका ऐसी माया और कार्य्य दोनोंमें तुल्यहै ॥ ८४ ॥

सदसत्त्वविवेकस्य प्रस्तुतत्वात्स चिंत्यताम् ॥
असतोऽवांतरो भेद आस्तां तच्चिंतयात्र किम् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कोई शंका करै कि जब शक्ति और कार्य निस्तत्व हैं तो एक व्यक्त और एक अव्यक्त यह भेद कहांसे हुआ इसशंकाका परिहार प्रकरणविरुद्ध होनेसे करते हैं कि प्रकरणका उपयोगी होनेसे सत् और असत्के विवेकका विचार करो और असत्के व्यक्त अव्यक्त रूप अवांतर (मध्य) भेदको रहने दो, यहां उसके विचारका क्या फलहै ॥ ८५ ॥

सद्वस्तु ब्रह्म शिष्टोंऽशो वायुर्मिथ्या यथा वियत् ॥
वासयित्वा चिरं वायोर्मिथ्यात्वं मरुतं त्यजेत् ॥ ८६ ॥

भाषार्थ—वायुमें जो सत्का अंशहै वह ब्रह्मरूपहै और शेष अंश वायुहै-वह आकाशके समान मिथ्याहै इसप्रकार चिरकालतक वायुके मिथ्यात्वका निश्चय करके वायु सत्यहै इस बुद्धिको त्यागदे ॥ ८६ ॥

चिंतयेद्वह्निमप्येवं मरुतो न्यूनवर्तिनम् ॥
ब्रह्मांडावरणेष्वेषा न्यूनाधिकविचारणा ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—इसीप्रकार पवनकी अपेक्षा न्यून देशमें वर्तमान अग्निकीभी चिन्ताकरै अर्थात् मिथ्या समझै-कदाचित् कहो कि सद्वस्तुके एकदेशमें मायाहै और मायाके एकदेशमें आकाशहै इसप्रकार ७८ के श्लोकमें आकाश आदिका जो न्यूनाधिक भाव कहाहै वह जगत्में कहीं नहीं देखा सो ठीक नहीं-क्योंकि ब्रह्माण्डके आवर्णोंमेंभी यही न्यून अधिकका विचारहै ॥ ८७ ॥

वायोर्दशांशतो न्यूनो वह्निर्वायौ प्रकल्पितः ॥
पुराणोक्तं तारतम्यं दशांशैर्भूतपंचके ॥ ८८ ॥

भाषार्थ—वायुसे दशांश न्यून अग्नि वायुके विषय कल्पितहै अर्थात् मिथ्याहै कदाचित् कहोकि यह न्यूनाधिक भाव कपोलकल्पितहै सो ठीकनहीं कि पांच भूतोंमें जो दशांशसे न्यूनाधिक भावहै वह पुराणोंमें कहाहै ॥ ८८ ॥

वह्निरुष्णः प्रकाशात्मा पूर्वानुगतिरत्र च ॥
अस्ति वह्निः स निस्तत्त्वः शब्दवान् स्पर्शवानपि ॥ ८९ ॥

भाषार्थ–अब अग्निके स्वरूपको कहतेहैं कि अग्नि ऊष्ण और प्रकाशरूपहै और इस अग्निमेंभी ये कारणके धर्म वायुके समान माने जातेहैं कि वन्हि निस्तत्व शब्द और स्पर्शवालीहै ॥ ८९ ॥

सन्मायाव्योमवाय्वंशैर्युक्तस्याग्नेर्निजो गुणः ॥
रूपं तत्र सतः सर्वमन्यद्बुद्ध्या विविच्यताम् ॥ ९० ॥

भाषार्थ–इसी प्रकार कारणके धर्मोंसे युक्त अग्निके स्वाभाविक धर्मको कहतेहैं कि सत्माया, व्योम, वायु, इनके अंशोंसे युक्त अग्निका निजगुण रूपहै उनमें सत्से भिन्न जो धर्म हैं उनको बुद्धिसे पृथक् करै अर्थात् मिथ्या समझे ॥ ९० ॥

सतो विवेचिते वह्नौ मिथ्यात्वे सति वासिते ॥
आपो दशांशतो न्यूनाः कल्पिता इति चिंतयेत् ॥ ९१ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार जब वह्निका सत्से विवेक करनेपर मिथ्यात्वका निश्चय हो-गया तो अग्निसे दशांश न्यून जल अग्निके विषय कल्पितहै यह चिन्ताकरै अर्थात् जलोंकोभी मिथ्या समझे ॥ ९१ ॥

संत्यापोऽमूः शून्यतत्त्वाः सशब्दस्पर्शसंयुताः ॥
रूपवत्योऽन्यधर्मानुवृत्त्या स्वीयो रसो गुणः ॥ ९२ ॥

भाषार्थ–अब जलोंमेंभी कारणके और अपने गुणोंको कहतेहै कि ये जल तत्वसे शून्य (मिथ्या) शब्द स्पर्श रूपवाले अन्यके धर्मोंकी अनुवृत्ति(आना) से हैं और इनमें अपना गुण रसहै ॥ ९२ ॥

सतो विवेचितास्वप्सु तन्मिथ्यात्वे च वासिते ॥
भूमिर्दशांशतो न्यूना कल्पिताप्स्विति चिंतयेत् ॥ ९३ ॥

भाषार्थ–अब विवेक और ध्यानसे जलोंके मिथ्यात्वका निश्चय होनेपर भूमिके मिथ्यात्वकी चिंताको कहतेहैं कि सद्वस्तुसे जलका विवेक और मिथ्यात्वका निश्च-य होनेपर उन जलोंमें दशांश न्यून, और कल्पित, भूमिकी चिंता करै अर्थात् मिथ्या समझै ॥ ९३ ॥

अस्ति भूस्तत्त्वशून्यास्यां शब्दस्पर्शौ सरूपकौ ॥
रसश्च परतो गंधो नैजः सत्ता विविच्यताम् ॥ ९४ ॥

भाषार्थ–अब भूमिमें मिथ्यात्व निश्चयके लिये भूमिके धर्मोंका विभाग करतेहैं

कि भूमि तत्वसे शून्यहै और इस भूमिमें शब्द स्पर्श रूपरस ये चार गुण अन्यभूतोंकेहैं और अपना गुण एक गन्धहै इन सबसे सत्ताका विवेक करो अर्थात् इन सबको मिथ्या समझो ॥ ९४ ॥

पृथक्कृतायां सत्तायां भूमिर्मिथ्याऽवशिष्यते ॥
भूमेर्दशांशतो न्यूनं ब्रह्मांडं भूमिमध्यगम् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ-सोई कहते हैं कि जब सत्ता पृथक् करली तो भूमि मिथ्याही शेष रहगई अब ब्रह्माण्ड आदि भौतिक पदार्थोंसे सद्वस्तुके विवेकार्थ उनकी स्थितिका प्रकार दिखातेहै कि भूमिसे दशांश न्यून ब्रह्माण्डहै ॥ ९५ ॥

ब्रह्मांडमध्ये तिष्ठंति भुवनानि चतुर्दश ॥
भुवनेषु वसंतेषु प्राणिदेहा यथायथम् ॥ ९६ ॥

भाषार्थ-ब्रह्माण्डके मध्यमें चौदह भुवन टिकरहे हैं और इन भुवनोमें अपने २ कर्मोंके अनुसार प्राणियोंके देह वसते हैं ॥ ९६ ॥

ब्रह्मांडलोकदेहेषु सद्वस्तुनि पृथक्कृते ॥
असंतोंऽडादयो भांतु तद्भानेऽपीह का क्षतिः ॥ ९७ ॥

भाषार्थ-ब्रह्माण्ड और लोकके देहोंमेंसे जब सद्वस्तुको पृथक्कर लिया तो मिथ्यारूप ब्रह्माण्ड आदि भासें तो भासो उनके भान होनेमें हमारी कोई हानि नहींहै ॥ ९७ ॥

भूतभौतिकमायानामसत्त्वेऽत्यंतवासिते ॥
सद्वस्त्वद्वैतमित्येषा धीर्विपर्येति न क्वचित् ॥ ९८ ॥

भाषार्थ-भूत भौतिक (कार्य) माया इनका मिथ्यात्व जब विवेक और ध्यानसे भली प्रकार निश्चित, होगया तो सद्वस्तु अद्वैतरूपहै यह बुद्धि कदाचित्भी विपरीत भावको प्राप्त नही होती अर्थात् सदैव बनी रहतीहै ॥ ९८ ॥

सदद्वैतात्पृथग्भूते द्वैते भूम्यादिरूपिणि ॥
तत्तदर्थक्रिया लोके तथा दृष्टा तथैव सा ॥ ९९ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कोई शंका करे कि जब भूमि आदि मिथ्याहै तो विद्वान्के व्यवहारका लोप हो जायगा सो ठीक नही है कि जब भूमि आदिस्वरूप, द्वैतका सत् अद्वैतसे पृथक् भाव होगया तोभी तिस २ अर्थका कार्य जैसा जगत्में देखाहै

वैसाही विद्वान्‌कोभी प्रतीत होगा क्योंकि ज्ञानीको मिथ्यात्वका निश्चय होनेसे कुछ भूमि आदिके स्वरूपका नाश नही होजाता इससे व्यवहारका लोपभी नहीं होताहै ॥९९॥

सांख्यकाणादबौद्धाद्यैर्जगद्भेदो यथा यथा ॥
उत्प्रेक्ष्यतेऽनेकयुक्त्या भवत्वेष तथा तथा ॥ १०० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कोई शंका करै कि यदि सद्रूपतत्व अद्वैत रूपहै तो सांख्य आदिके कहे भेदका खंडन क्यों नही करते सो ठीक नहीं कि सांख्य, काणाद, बौद्ध, आदि जैसे २ जगत्‌के भेदको अनेक युक्तियोंसे वर्णन करतेहै वह भेद तैसे २ ही रहो क्योंकि हमभी व्यावहारिक भेदको मानते हैं इससे उसके खण्डन करनेमें यत्न नही करते ॥ १०० ॥

अवज्ञातं सदद्वैतं निःशंकैरन्यवादिभिः ॥
एवं का क्षतिरस्माकं तद्वैतमवजानताम् ॥ १०१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् शंका करो कि प्रमाणोंसे सिद्ध सत्वके भेद की अवज्ञा (तिरस्कार) नही हो सकती सो ठीक नही कि जैसे अन्य सांख्यवादियोंने निः शंक होकर श्रुति आदिसे सिद्ध सत् अद्वैतकी अवज्ञा कीहै ऐसेही श्रुति युक्ति अनुभव इनके बलसे उनके द्वैतका तिरस्कार करनेमें हमारी क्या हानिहै ॥१०१॥

द्वैतावज्ञा सुस्थिता चेदद्वैते धीः स्थिरा भवेत् ॥
स्थैर्ये तस्याः पुमानेष जीवन्मुक्त इतीर्यते ॥ १०२ ॥

भाषार्थ–अब द्वैतकी अवज्ञा का फ लजो जीवन्मुक्ति उसका वर्णन करतेहै कि यदि द्वैत की अवज्ञा भली प्रकार अंतःकरणमें स्थित होजायगी तो अद्वैतमें बुद्धि स्थिर होजायगी और उसके स्थिर होनेपर यह पुरुष जीवन्मुक्त कहाताहै ॥१०२॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ॥
स्थित्वाऽस्यामंतकालेऽपि ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ॥ १०३ ॥

भाषार्थ–केवल जीवन्मुक्तिही फल नही किंतु श्रीकृष्ण चंद्रजी की कही यह विदेहमुक्तिभी इसका फलहै कि हे अर्जुन यह ब्रह्ममें स्थिति है इसको प्राप्त होकर मोह को प्राप्तनही होता और अंत समयमें भी इसमें टिक कर ब्रह्म ‘ निर्वाण ’ पदको प्राप्त होताहै ॥१०३॥

सदद्वैतेऽनृतद्वैते यदन्योन्यैक्यवीक्षणम् ॥
तस्यांतकालस्तद्भेदबुद्धिरेव न चेतरः ॥ १०४ ॥

भाषार्थ–यहां अंतकाल शब्दसे देहका पात नही लेना किंतु सत् अद्वैत और मिथ्याद्वैत इनकी जो परस्पर अध्यासरूप एकता देखनी उसका अंतकाल इन दोनों की भेद बुद्धिही है अर्थात् अध्यासका त्यागहै अन्य नही अर्थात् दोनों के भिन्न २ समझनेकोही अंतकाल कहतेहै देह मरणको नही ॥ १०४ ॥

यद्वांऽतकालः प्राणस्य वियोगोऽस्तु प्रसिद्धितः ॥
तस्मिन् कालेऽपि न भ्रांतेर्गतायाः पुनरागमः ॥ १०५ ॥

भाषार्थ–अब जगत्में प्रसिद्ध अंतकालके लेनेमें दोषके अभावको कहतेहैं कि अथवा जगत् की प्रसिद्धिसे प्राणोंका वियोग भी अंतकाल रहो उसकालमें भी गई हुई भ्रान्तिका फिर आगमन नही होता ॥ १०५ ॥

नीरोग उपविष्टो वा रुग्णोवा विलुठन् भुवि ॥
मूर्छितो वा त्यजत्वेष प्राणान् भ्रांतिर्न सर्वथा ॥१०६ ॥

भाषार्थ–रोगरहितहो वा उपविष्ट (बैठा) हो रोगीहो वा भूमिपर लौटताहो वा मूर्च्छा को प्राप्तहो- ऐसा होकरभी यह पुरुष प्राणोंको त्यागो तोभी यह भ्रांति नही रहती अर्थात् मरण समयमें सर्वथा भ्रमकी निवृत्ति होजातीहै ॥ १०६ ॥

दिने दिने स्वप्नसुप्त्योरधीते विस्मृतेऽप्ययम् ॥
परे द्युर्नानधीतः स्यात्तद्वद्विद्या न नश्यति ॥ १०७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि प्राण वियोगके समय मूर्च्छा आदिसे ज्ञानका नाश होनेपर भ्रांति हो जायगी सो ठीक नही क्योंकि जैसे प्रतिदिन स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओंमें पठित वेदका विस्मरण होने परभी पर (अगले) दिनमें वह वेद अनधीत (अपठित) नही होता अर्थात् उसकी स्मृति बनी रहतीहै तैसेही मरणकालमें भी तत्वका अनुसंधान न होनेपरभी विद्या (ज्ञान) का नाश नही होता ॥ १०७ ॥

प्रमाणोत्पादिता विद्या प्रमाणं प्रबलं विना ॥
न नश्यति न वेदांतात्प्रबलं मानमीक्ष्यते ॥ १०८ ॥

भाषार्थ–प्रमाणोंसे उत्पन्नहुई विद्या, प्रबल प्रमाणके विना नष्ट नही होती और वदांतके विना अन्य कोई दूसरा प्रबल प्रमाणभी नही दीखता ॥ १०८ ॥

तस्माद्वेदांतसंसिद्धं सदद्वैतं न बाध्यते ॥
अंतकालेऽप्यतो भूतविवेकान्निर्वृतिः स्थिता ॥ १०९ ॥

भाषार्थ—तिससे वेदांतरूप प्रमाणसे सिद्ध सत् अद्वैतको कोई नही बाधसकता, तिससे अंतकालमें भी पांच भूतोंके विवेकसे निर्वृति (ज्ञान) स्थित रहताहै ॥ १०९ ॥

इति श्रीपं॰मिहिरचंद्रकृत भाषोद्धातिसहित श्रीविद्यारण्यमुनिरचित, पंचदश्यां महाभूतविवेकः समाप्तः ॥ २ ॥

इति महाभूतविवेकप्रकरणम् ॥ २ ॥

॥ श्रीः ॥

पंचदशी

भाषाटीकासमेता ।

अथ पंचकोशविवेकप्रकरणम् ३

गुहाहितंब्रह्म यत्तत् पंचकोशविवेकतः ॥
बोद्धुं शक्यं ततः कोशपंचकं प्रविविच्यते ॥ १ ॥

भाषार्थ–अब तैत्तिरीय उपनिषद्के तात्पर्यका व्याख्यान रूप जो पंचकोश विवेक प्रकरण उसका आरंभ करताहुये और उसमें श्रोताओंकी प्रवृत्तिके लिये प्रयोजन अभिधेयोंकों सूचित करते हुये ग्रंथकार मुखसे कहनेयोग्य ग्रंथकी प्रतिज्ञा करते हैं किजो परम आकाश रूप गुहामें छिपे ब्रह्मको जानताहै इस[1] श्रुतिमें कहा जो गुहाहित ब्रह्महै वह गुहा शब्दके अर्थ जो पंच (अन्नमयआदि) कोश उनके विवेकसे जाननेको शक्यहै इससे पंचकोशोंके, प्रत्यगात्मासे विवेकको कहतेहैं ॥ १ ॥

देहादभ्यंतरः प्राणः प्राणादभ्यंतरं मनः ॥
ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहा सेयं परंपरा ॥ २ ॥

भाषार्थ–अब उस गुहा के अर्थ को कहतेहैं जिसमें स्थित ब्रह्म पंचकोशोंके विवेक से जाना जाताहैं कि अन्नमयरूप देहसे आंतर (भीतर) प्राण और प्राणमयसे आंतर मन और मनोमयसे आंतर कर्ता (विज्ञानमय) और विज्ञानमयसे आंतर भोक्ता (आनंदमय) कोशहै सो यहजो अन्नमयकोशसे आनंदमय पर्यंतको शोंकी परंपराहै यही गुहाहै अर्थात् यह गुहा अपनी २ एकताके द्वारा ब्रह्मको छिपा लेतीहै ॥ २ ॥

पितृभुक्तान्नजाद्वीर्याज्जातोऽन्नेनैव वर्धते ॥
देहः सोऽन्नमयो नात्मा प्राक् चोर्ध्वं तदभावतः ॥ ३ ॥

---

१ यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् ।

भाषार्थ–अब अन्नमयका रूप और उसको आत्मासे भिन्न दिखाते हैं कि पिता-और माताके भक्षण किये अन्नसे पैदाहुये वीर्यसे उत्पन्न हुआ देह अन्नसेही बढताहै अर्थात् दूध आदि, अन्नसे पुष्ट होताहै वह देह अन्नमय (अन्नका विकार) है आत्मा नहीहै क्योंकि जन्मसे पूर्व और मरणके अनंतर उस देहका अभावहै यहां यह अनु-मानहै कि देह आत्मा नही-कार्य होनेसे घटके समान–भावार्थ यहहै कि पिता माताके भक्षित अन्नसे उत्पन्नवीर्यसे पैदा हुआ देह अन्नसे बढताहै इससे अन्नमयहै आत्मरूप नही क्योंकि जन्मसे पूर्व और मरणके पीछे देहका अभावहै ॥ ३ ॥

पूर्वजन्मन्यसन्नेतज्जन्म संपादयेत्कथम् ॥
भाविजन्मन्यसन्कर्म न भुंजीतेह संचितम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कोई शंका करै कि देहमें कार्यत्वरूप हेतुको तो मानेंगे और आत्मासे भिन्नरूप साध्य कोन मानेंगे क्योंकि इसके विपक्ष (न मानना) में कोई बाधक नही इस शंकामें अकृतकी प्राप्ति और कृतके नाशरूप बाधकको कहतेहैं कि इस देहरूप आत्माको पूर्व जन्ममें न होनेसे और इस जन्मके हेतु अदृष्टके असंभव-मेंभी इस जन्मको स्वीकार करोगे तो अकृतका अभ्यागम (प्राप्ति) होगी और तैसे-ही भावी (होनेवाला) जन्ममेंभी यह देहरूप आत्मा न रहैगा तो इस देहके द्वारा कियेहुये पुण्यपापोंके फलका कोई भोक्ता ही न होगा इससे भोगके विनाही किये हुये कर्मोंका क्षयरूप कृतप्रणाश हो जायगा इससे कृतनाश अकृतका अभ्यागम रूप बाधक होनेसे आत्माको कार्य न मानना चाहिये भावार्थ यहहै कि पूर्वजन्ममें असत् देह इस जन्मको कैसे पैदा करैगा और भावी (भविष्य) जन्ममें असत् देह इस देहमें संचित कर्मोंको कैसे भोगेगा ॥ ४ ॥

पूर्णो देहे बलं यच्छन्नक्षाणां यः प्रवर्तकः ॥
वायुः प्राणमयो नासावात्मा चैतन्यवर्जनात् ॥ ५ ॥

भाषार्थ–अब अन्नमयकोशका आत्मासे भेद दिखाकर प्राणमय कोशके स्वरूप और आत्मासे भेदको दिखाते हैं कि जो वायु देहमें पादसे मस्त-क पर्यंत व्यापक, और व्यान रूपसे बलका दाता, और चक्षु आदि इंद्रियोंका तिस २ विषयमें प्रेरक जो वायु है वह प्राणमयकोशरूप वायु चैतन्यसे रहित हो-नेसे आत्मा नही होसकता यहां यह अनुमानभी है कि विवादका आश्रय प्राण–आत्मा नही है– जड होनेसे–घटके समान–भावार्थ यह है कि देहमें पूर्ण–बलका दाता–इंद्रियोंका प्रेरक प्राणमयकोशरूप वायु–चैतन्यके नही होनेसे आत्मा नहीहै॥५॥

अहंतां ममतां देहे गेहादौ च करोति यः ॥
कामाद्यवस्थया भ्रांतो नासावात्मा मनोमयः ॥ ६ ॥

भाषार्थ– अब मनोमय कोशके रूप और आत्माके भेदको कहते हैं कि देहमें अहंता (देह मैं हूं) बुद्धिको और घर आदिकोंमें ममता (मेरे हैं) बुद्धिको जो करै वह मनोमय कोश रूप मन आत्मा नही है क्योंकि वह मन कामक्रोध आदि वृत्तियोंसे–अस्थिर स्वभाव है अर्थात् सदा एक रस नही रहता–यहां यह है कि मनोमय कोश–आत्मा नही–विकारी होनेसे– देहके समान–भावार्थ यह है कि देहमें अहंकार और घर आदिमें ममताको जो करै वह मनोमय– काम आदि अवस्थासे भ्रांतहै इससे आत्मा नही है ॥ ६

लीना सुप्तौ वपुर्बोधे व्याप्नुयादानखाग्रगा ॥
चिच्छायोपेतधीर्नात्मा विज्ञानमयशब्दभाक् ॥ ७ ॥

भाषार्थ– अब कर्ता रूप विज्ञानमयके रूप और आत्मासे भेदको दिखाते हैं कि जो चैतन्यकी छायासे युक्त अर्थात् चिदाभास सहित बुद्धि है वह शयनके समयमें लीन (छिपी) हुई भी जाग्रत् अवस्थामें नखोंके अग्रभाग पर्यंत संपूर्ण शरीरमें व्याप्त होजाती है वह विज्ञानमय कोशरूप बुद्धि आत्मा नही हो सकती क्योंकि वह लय अवस्थावाली है यहां भी यह अनुमान है कि बुद्धि–आत्मा नहीहै लीन होनेसे–घटके समान–भावार्थ यह है कि सोनेके समय लीन और जाग्रत्में नखाग्रपर्यंत व्यापक जो चिदाभाससे युक्त बुद्धि विज्ञानमय कोश रूप वहभी विलय–होनेसे आत्मा नहीहै ॥ ७ ॥

कर्तृत्वकरणत्वाभ्यां विक्रियेतांतरिंद्रियम् ॥
विज्ञानमनसी अंतर्बहिश्चैते परस्परम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ– कदाचित कोई कहै कि मन बुद्धि ये दोनों अंतःकरण रूपहै इससे मनोमय विज्ञानमय दो कोशोंकी कल्पना नहीं हो सकती इसशंकाकी निवृत्तिके लिये कर्तृत्व करणत्व रूपसे उनके भेदको कहते हैं कि एकभी अंतः इंद्रिय (अंतःकरण) कर्तारूप और करण रूपसे विकारको प्राप्त होती हैं और ये दोनों कर्ता और करण विज्ञान और मन कहे जाते हैं और ये दोनों परस्पर अंतः (भीतर) बहिः (बाहिर) रूपसे वर्ततेहैं अर्थात् विज्ञानमय अंतः और मनोमय बहिः होताहै–इससे दो कोश हो सकते हैं–भावार्थ यह है कि कर्ता करण रूपसे अंतःकरणसे जो दो विकार उनको विज्ञान और मन कहते हैं और ये दोनों अंतः बहिः रूपसे परस्पर भिन्न हैं ॥ ८ ॥

काचिदंतर्मुखा वृत्तिरानंदप्रतिबिंबभाक् ॥
पुण्यभोगेभोगशांतौ निद्रारूपेण लीयते ॥ ९ ॥

भाषार्थ– अब भोक्ता शब्दके अर्थ आनंदमय कोशका स्वरूप और आत्मासे भेदको कहते हैं कि पुण्य कर्मके फल भोग कालमें कोई बुद्धिकी वृत्ति अंतर्मुख हुई आत्माके स्वरूप आनंदके प्रतिबिंबको भजती है अर्थात् उस वृत्तिमें आनंदका प्रतिबिंब पडताहै–और वही वृत्ति–पुण्यकर्म फल भोगकी शांतिके समयमें निद्रा रूपसे लीन होजाती उस वृत्तिको आनंदमय कोश कहते हैं–भावार्थ यह है कि पुण्य भोगके कालमें किसी अंतर्मुखी बुद्धिकी वृत्तिमें जो आनंदका प्रतिबिंब पडताहै और उक्तभोगकी शांतिके समय वह वृत्ति निद्रारूपसे लीन हो जाती है उसको आनंदमय कोश कहते हैं ॥ ९ ॥

कादाचित्कत्वतोऽनात्मा स्यादानंदमयोऽप्ययम् ॥
बिंबभूतो य आनंद आत्माऽसौ सर्वदास्थितेः ॥१०॥

भाषार्थ– अब आनंदमय कोशको आत्मासे भिन्न कहते हैं कि यह आनंदमय-भी मेघ आदिके समान कदाचित्ही होनेसे आत्मा नहीं है कदाचित् शंका करोकि विद्यमान् आनन्दमय आदि सबको आत्मा न मानोंगे तो जगत्में कोई आत्माही न रहेगा सो ठीक नहीं क्योंकि बुद्धि आदिमें स्थित जो प्रतिविम्ब प्रिय आदि शब्दोंके अर्थ आनन्दमय उसका जो बिम्ब (कारण) रूप आनन्द वही आ-त्माहै–क्यों कि वह सर्वदा स्थित (नित्य) है यहां यह अनुमानहै कि विवादका आश्रय आनंद–आत्मा होने योग्यहै– नित्य होनेसे, जो आत्मा नही वह नित्य भी नहीं– जैसे देह आदि इस अनुमानमें आकाश आदि उत्पत्तिमान् होनेसे अनि-त्यहै इससे हेतुमें व्यभिचार दोष नहीं–भावार्थ यह है कि कदाचित् होनेसे यह आनन्दमय भी आत्मा नहीं किंतु इसका बिम्ब जो आनन्द वही नित्य होनेसे आत्माहै ॥ १० ॥

ननु देहमुपक्रम्य निद्रानंदांतवस्तुषु ॥
मा भूदात्मत्वमन्यस्तु न कश्चिदनुभूयते ॥ ११ ॥

भाषार्थ– यहां वादी शंका करता है कि देहसे लेकर आनन्दमय निद्रामय पर्यंत, कोशोंको पूर्वोक्त कारणोंसे आत्मत्व नहीं घटताहै तो मत घटो परंतु इनसे अन्यभी कोई आत्मा प्रतीत नहीं होता अर्थात् इनसे अन्य कोई पदार्थ नहीं है ॥ ११ ॥

बाढं निद्रादयः सर्वेऽनुभूयंते न चेतरः ॥
तथाप्येतेऽनुभूयंते येन तं को निवारयेत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ– अब उक्त शंकाका परिहार करते हैं कि निद्रा आदि देह पर्य्यंत जगत्-में मिलते हैं और इनसे अन्य कोई अनुभवमें नही आता यह जो तुमने कहा सो सत्य है–यहां निद्रा शब्दसे निद्रानन्द लेना कदाचित् कहो कि उनसे भिन्न आत्मा की किसप्रकार सिद्धि होगी सो ठीक नही कि यद्यपि देह आदिसे अन्य कोई नहीं मिलता– तथापि जिस केवलसे ये आनन्दमय आदि जाने जाते हैं उस अनु-भवका (ज्ञान) निवारणको न कर सक्ता है अर्थात् वह मानना पडेगा अर्थात् वही आत्मा है भावार्थ यह है कि निद्रा आदि सबका अनुभव होता है इनसे अन्यका नहीं यह यद्यपि सत्य है–तथापि जिससे इनका ज्ञान होताहै उसको कौन हटा सकता है ॥ १२ ॥

स्वयमेवानुभूतित्वाद्विद्यते नानुभाव्यता ॥
ज्ञातृज्ञानांतराभावादज्ञेयो न त्वसत्तया ॥ १३ ॥

भाषार्थ– कदाचित् कोई शंका करै कि पूर्वोक्त देह आदिसे अन्य आत्मा यदि होता तो मिलता जिससे नहीं मिलता है–इससे जाना जाता है कि नहीं है सो ठीक नही कि आनंदमय आदिकोंके साक्षीको स्वयं अनुभवरूप होनेसे–अनुभा-व्यता नहीं है अर्थात् उसका ज्ञाता कोई अन्य नहीं है, किन्तु वह स्वप्रकाशरूप है कदाचित् शंका करो कि अनुभव रूप भी उसको ज्ञानका विषय क्यों नहीं मानते सो ठीक नहीं क्योंकि वह अनुभव आत्मा अपनेसे अन्य ज्ञाता और ज्ञानके अभावसे ज्ञानका विषय नहीं होता कदाचित् शंका करो कि तुम कहते हो ज्ञाता आदिके अभावसे नहीं जाना जाता हम कहते हैं अपनी असत्तासे नहीं जाना जाता इन दोनोंमें निश्चयका क्या कारण है सो ठीक नहीं क्योंकि असत्तासे नहीं कह सकते जब निद्रा आदिका वह साक्षी है तो असत् नहीं हो सकता– भावार्थ यह हैकि उसको स्वयं अनुभवरूप होनेसे ज्ञेयरूपता नहीं है और वह अपनेसे भिन्न ज्ञाता और ज्ञानके अभावसे अज्ञेय है असत्‌रूपसे नहीं ॥ १३ ॥

माधुर्यादिस्वभावानामन्यत्र स्वगुणार्पिणाम् ॥
स्वस्मिस्तदर्पणापेक्षा नो न चास्त्यन्यदर्पकम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ–अब अनुभवरूप आत्माकी अनुभाव्यताके अभावमें दृष्टांत देतेहैं कि अन्य पदार्थोंमें अर्थात् चणक आदिमें अपने माधूर्य्य (मिष्टता) आदिका अर्पण

करनेवाले जो माधूर्य्य वा अम्ल आदि स्वभावके गुड आदि पदार्थ हैं उनको अपने गुड आदि स्वरूपमें माधुर्य्यके अर्पण करनेकी अपेक्षा नहींहै अर्थात् यह आकांक्षा नहींहै कि हमारेमें कोई माधुर्यको संपादन करै और गुड आदिमें मधुरताका संपादक कोई अन्यवस्तुभी जगत्में नहींहै ॥ १४ ॥

अर्पकांतरराहित्येऽप्यस्त्येषां तत्स्वभावता ॥
मा भूत्तथानुभाव्यत्वं बोधात्मा तु न हीयते ॥ १५ ॥

भाषार्थ—जब कोई अन्य मधुरताका अर्पक (दाता) नहींहै और गुड आदिका स्वाभाविक माधुर्य्य आदि स्वभाव जैसेहै—तैसेही आत्माभी ज्ञानका विषय नहो—परन्तु ज्ञानरूप आत्माको कौन हटा सकता है—अर्थात् आत्मा अनुभवरूपहै ॥ १५ ॥

स्वयंज्योतिर्भवत्येष पुरोऽस्माद्भासतेऽखिलात् ॥
तमेव भांतमन्वेति तद्भासा भास्यते जगत् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्त अर्थमें प्रमाण कहते हैं कि—यह आत्मा स्वयंज्योतिहै इस संपूर्ण जगत्से पहिले प्रकाशित होताहै और उसका प्रकाश होनेपर उसीके प्रकाशसे इस जगत्का प्रकाश होताहै—यह श्रुति[1] आत्माको स्वप्रकाश कहती है ॥ १६ ॥

येनेदं जानते सर्वं तत्केनान्येन जानताम् ॥
विज्ञातारं केन विद्याच्छक्तं वेद्ये तु साधनम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—अब जिससे इस सबको जानता है उसको किससे जाने अरे गार्गी विज्ञाताको किससे जाने इस श्रुति[2]के अर्थको श्लोकमें पढतेहैं कि जिस चैतन्य रूप साक्षी आत्मासे संपूर्ण प्राणी इस जगतको जानते हैं—उस साक्षी आत्माको कौनसे जड पदार्थसे जाने अर्थात् नहीं जान सकतेहैं फिर इसी वाक्यके तात्पर्यको कहतेहैं कि इस दृश्य (देखनेयोग्य) जगत्के ज्ञाताको कौनसे दृश्य पदार्थसे जाने अर्थात् किसीसेभी नहीं जान सकतेहैं कदाचित् कहोकि मनसे जानलेंगे सोभी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानका साधन जो मन वह जाननें योग्य विषयमें समर्थहै ज्ञातारूप आत्मामें नहीं क्योंकि वाणी और मनसे आत्मा नही जानाजाता यह श्रुति[3]में लिखाहै और आत्माकोभी ज्ञेय मानोंगे तो उसीको कर्ता और उसीको कर्म माननेमें विरोध होगा—भावार्थ यहहै कि जिससे इस सबको जानते हैं उसको सम्पूर्ण प्राणी किस

१ अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति अस्मात्सर्वस्यपुरतः । सुविभाति तमेव भांतमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति । २ येनेदं सर्वं विनाजाति तं केन विजानियाद्विज्ञातारमरेकेनविजानीयात् । ३ नैव वाचा न मनसा इति ।

अन्यसे जानें सबके ज्ञाताको किससे जाने क्योंकि ज्ञानका साधन मन जानने योग्यको जान सकताहै ज्ञाताको नही ॥ १७ ॥

सवेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता ॥
विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरूपकम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ–अब आत्माके स्वप्रकाश होनेमें इन दो श्रुति वाक्योंको प्रमाण मानकर श्लोकमें पढते हैं कि वह आत्मा जो २ जानने योग्यहै उस उस सबको जानताहै उस आत्माका ज्ञाता आत्मासे अन्य कोई नहींहै और वह ज्ञानरूप ब्रह्मविदित (ज्ञानका विषय) और अविदित (अज्ञानसे युक्त) इन दोनोंसे पृथक् (विलक्षण) बोधरूपहै-भावार्थ यहहै कि वह आत्मा सम्पूर्ण वेद्यको जानताहै उसका ज्ञाता कोई अन्य नही इसीसे ज्ञात और अज्ञातसे विलक्षण वह आत्मा बोधरूपहै ॥ १८ ॥

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते ॥
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्ठं नरसमाकृतिम् ॥ १९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कोई शंका करै कि विदित और अविदितसे भिन्न कोई बोध देखाही नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि विदित (बोधका विषय) में विशेषण जो वेदन उसकोही बोध कहते हैं बोधके अज्ञानमें विदितकाभी अज्ञान होगा इससे बोधका अनुभव अवश्यमानना पडेगा इससे उस वादीको उपहाससे उत्तर देते हैं कि जिस मंदको घट आदिके स्मरणरूप बोधमेंभी अनुभव (साक्षात्कार) किसी प्रकारभी नही होता मनुष्यके समान है आकार जिसका ऐसे उस लोष्ठ (डेला) अर्थात् जडको शास्त्र कैसे बोधन करावै अर्थात् उस मूर्खको ज्ञान होना असंभवहै ॥१९॥

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा ॥
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ॥ २० ॥

भाषार्थ–अब बोध नही जाना जाता इस उक्तिमें व्याघात दोष देतेहैं कि जैसे मेरे मुखमें जिव्हा है कि नही यह उक्ति (वचन) केवल लज्जाकेही लियेहै बुद्धिमानीके लिये नही क्योंकि जिव्हाके विना भाषणही नही होसकता इसी प्रकार मैं बोधको नही जानता अबसे आगे जानूंगा यह उक्तिभी लज्जाकाही हेतुहै क्योंकि बोधके विना वह व्यवहारही नही होगा ॥ २० ॥

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे ॥
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवंधीर्ब्रह्मनिश्चयः ॥ २१ ॥

---

१ सवेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता ।

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि वह बोध ऐसा रहो, प्रकरण (यहां) के ब्रह्मावबोधको ऐसा न मानेंगे सो ठीक नही क्योंकि जगत्के विषै जिस २घटादि रूप पदार्थ में बोध (ज्ञान) है उस उस घटआदि विषयके उपेक्षण (अनादर) करनेपर जो बोधरूप घट आदि सब विषययोंमे व्यापकरूप स्फुरताहै वही ब्रह्महै इस निश्चयात्मक बुद्धिको ही ब्रह्म कहते हैं ॥ २१ ॥

पंचकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः ॥
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ॥ २२ ॥

भाषार्थ–यदि घटआदि विषयकी उपेक्षा करने पर तिस २ अर्थका ज्ञानरूप ब्रह्म जाना जाताहै तो पंचकोशका विवेक करना वृथा है सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्मकी प्रत्यक् रूपताके ज्ञानविना संसारकी निवृति नही होसकती और पंचकोश विवेकभी प्रत्यग्रूप ज्ञानका हेतु है इससे व्यर्थ नही है कि अन्नमय आदि पंचकोशोंके परित्याग अर्थात् बुद्धिसे अनात्माके निश्चय होनेपर उनका साक्षीरूप बोधही शेष रहता है वह साक्षीरूप बोध अपना स्वरूप ब्रह्मही है-कदाचित् कहो कि अनुभवसे सिद्ध अन्नमय आदिके परित्यागमें शून्य होजायगा सो ठीक नही क्योंकि साक्षीरूप उस बोधको शून्यरूपता नही घटसकती–भावार्थ यह है कि पंचकोशोंके परित्यागमें जो साक्षीरूप बोध शेष रहता है वह निजरूप ब्रह्मही है और उसको शून्यता नहीहो सकती ॥ २२ ॥

अस्ति तावत्स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः ॥
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत्प्रतिवाद्यत्र को भवेत् ॥ २३ ॥

भाषार्थ–दुर्घटताको ही कहते हैं कि विवादका अविषय होनेसे संपूर्ण लौकिक वैदिकोंके मतमें कोई स्वयं शब्दका अर्थ अपना रूप है और विवादमें दोषभी है की अपने आत्मामेंभी यादि विवाद होगा तो इसमें प्रतिवादीकौ न होगा अर्थात् कोईभी नही होगा ॥ २३ ॥

स्वासत्त्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना ॥
अत एव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चासत्त्ववादिनः ॥ २४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् अपना असत्ववादीही प्रतिवादी होजायगा सोभी ठीक न क्योंकि अपनी असत्ता, भ्रमके विना किसीकोभी नही रुचती अर्थात् भ्रांतिके विना अपने अभावको कोई नही मानता जिससे किसीको भी नही रुचता इसीसे श्रुति असत्ववादीके मतमें बाध दोषको कहती है ॥ २४ ॥

अन्यसे जानें सबके ज्ञाताको किससे जाने क्योंकि ज्ञानका साधन मन जानने योग्यको जान सकताहै ज्ञाताको नही ॥ १७ ॥

सवेत्ति वेद्यं तत्सर्वं नान्यस्तस्यास्ति वेदिता ॥
विदिताविदिताभ्यां तत्पृथग्बोधस्वरूपकम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ–अब आत्माके स्वप्रकाश होनेमें इन दो श्रुति वाक्योंको प्रमाण मानकर श्लोकमें पढते हैं कि वह आत्मा जो २ जानने योग्यहै उस उस सबको जानताहै उस आत्माका ज्ञाता आत्मासे अन्य कोई नहींहै और वह ज्ञानरूप ब्रह्मविदित (ज्ञानका विषय) और अविदित (अज्ञानसे युक्त) इन दोनोंसे पृथक् (विलक्षण) बोधरूपहै-भावार्थ यहहै कि वह आत्मा सम्पूर्ण वेद्यको जानताहै उसका ज्ञाता कोई अन्य नही इसीसे ज्ञात और अज्ञातसे विलक्षण वह आत्मा बोधरूपहै ॥ १८ ॥

बोधेऽप्यनुभवो यस्य न कथंचन जायते ॥
तं कथं बोधयेच्छास्त्रं लोष्टं नरसमाकृतिम् ॥ १९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कोई शंका करै कि विदित और अविदितसे भिन्न कोई बोध देखाही नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि विदित (बोधका विषय) में विशेषण जो वेदन उसकोही बोध कहते हैं बोधके अज्ञानमें विदितकाभी अज्ञान होगा इससे बोधका अनुभव अवश्यमानना पडेगा इससे उस वादीको उपहाससे उत्तर देते हैं कि जिस मंदको घट आदिके स्मरणरूप बोधमेंभी अनुभव (साक्षात्कार) किसी प्रकारभी नही होता मनुष्यके समान है आकार जिसका ऐसे उस लोष्ठ (डेला) अर्थात् जडको शास्त्र कैसे बोधन करावै अर्थात् उस मूर्खको ज्ञान होना असंभवहै ॥१९॥

जिह्वा मेऽस्ति न वेत्युक्तिर्लज्जायै केवलं यथा ॥
न बुध्यते मया बोधो बोद्धव्य इति तादृशी ॥ २० ॥

भाषार्थ–अब बोध नही जाना जाता इस उक्तिमें व्याघात दोष देतेहैं कि जैसे मेरे मुखमें जिव्हा है कि नही यह उक्ति (वचन) केवल लज्जाकेही लियेहै बुद्धिमानीके लिये नही क्योंकि जिव्हाके विना भाषणही नही होसकता इसी प्रकार मैं बोधको नही जानता अबसे आगे जानूंगा यह उक्तिभी लज्जाकाही हेतुहै क्योंकि बोधके विना वह व्यवहारही नही होगा ॥ २० ॥

यस्मिन्यस्मिन्नस्ति लोके बोधस्तत्तदुपेक्षणे ॥
यद्बोधमात्रं तद्ब्रह्मेत्येवंधीर्ब्रह्मनिश्चयः ॥ २१ ॥

---
१ सवेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता ।

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि वह बोध ऐसा रहो, प्रकरण (यहां) के ब्रह्मावबोधकी ऐसा न मानेंगे सो ठीक नही क्योंकि जगत्के विषै जिस २घटादि रूप पदार्थ में बोध (ज्ञान) है उस उस घटआदि विषयके उपेक्षण (अनादर) करनेपर जो बोधरूप घट आदि सब विषययोंमे व्यापकरूप स्फुरताहै वही ब्रह्महै इस निश्चयात्मक बुद्धिको ही ब्रह्म कहते हैं ॥ २१ ॥

पंचकोशपरित्यागे साक्षिबोधावशेषतः ॥
स्वस्वरूपं स एव स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम् ॥ २२ ॥

भाषार्थ–यदि घटआदि विषयकी उपेक्षा करने पर तिस २ अर्थका ज्ञानरूप ब्रह्म जाना जाताहै तो पंचकोशका विवेक करना वृथा है सो ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्मकी प्रत्यक् रूपताके ज्ञानविना संसारकी निवृति नही होसकती और पंचकोश विवेकभी प्रत्यग्रूप ज्ञानका हेतु है इससे व्यर्थ नही है कि अन्नमय आदि पंचकोशोंके परित्याग अर्थात् बुद्धिसे अनात्माके निश्चय होनेपर उनका साक्षीरूप बोधही शेष रहता है वह साक्षीरूप बोध अपना स्वरूप ब्रह्मही है-कदाचित् कहो कि अनुभवसे सिद्ध अन्नमय आदिके परित्यागमें शून्य होजायगा सो ठीक नही क्योंकि साक्षीरूप उस बोधको शून्यरूपता नही घटसकती–भावार्थ यह है कि पंचकोशोंके परित्यागमें जो साक्षीरूप बोध शेष रहता है वह निजरूप ब्रह्मही है और उसको शून्यता नहीहो सकती ॥ २२ ॥

अस्ति तावत्स्वयं नाम विवादाविषयत्वतः ॥
स्वस्मिन्नपि विवादश्चेत्प्रतिवाद्यत्र को भवेत् ॥ २३ ॥

भाषार्थ–दुर्घटताको ही कहते हैं कि विवादका अविषय होनेसे संपूर्ण लौकिक वैदिकोंके मतमें कोई स्वयं शब्दका अर्थ अपना रूप है और विवादमें दोषभी है की अपने आत्मामेंभी यादि विवाद होगा तो इसमें प्रतिवादीकौ न होगा अर्थात् कोईभी नही होगा ॥ २३ ॥

स्वासत्त्वं तु न कस्मैचिद्रोचते विभ्रमं विना ॥
अत एव श्रुतिर्बाधं ब्रूते चासत्त्ववादिनः ॥ २४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् अपना असत्ववादीही प्रतिवादी होजायगा सोभी ठीक न क्योंकि अपनी असत्ता, भ्रमके विना किसीकोभी नही रुचती अर्थात् भ्रांतिके विना अपने अभावको कोई नही मानता जिससे किसीको भी नही रुचता इसीसे श्रुति असत्ववादीके मतमें बाध दोषको कहती है ॥ २४ ॥

असद्ब्रह्मेति चेद्वेद स्वयमेव भवेदसत् ॥
अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्वं स्वसत्त्वं त्वभ्युपेयताम् ॥ २५ ॥

भाषार्थ—अब उसी श्रुतिके अर्थको श्लोकमें पढतेहैं कि यदि ब्रह्मको असत् जानेगा तो आपही असत् हो जायगा इससे इस ब्रह्मको वेद्यमत मानो परंतु अपना स्वरूपका तो स्वीकार करो वही स्वब्रह्म है ॥ २५ ॥

कीदृक् तर्हीति चेत्पृच्छेदीदृक्ता नास्ति तत्र हि ॥
यदनीदृगताद्दृक् च तत्स्वरूपं विनिश्चिनु ॥ २६ ॥

भाषार्थ—अब आत्माको स्वप्रकाश कहनेकी अभिलाषासे वेद्य न माननेमें ब्रह्मके रूपमें प्रश्न करते हैं कि वह ब्रह्मकैसा है ऐसा कोई पूछे तो यह उत्तरहै कि आत्मामें ईदृशता नहीहै अर्थात् ईदृक्त्व आदि किसी रूपका आत्मामें संबंध मानोगे तो उसीरूपसे आत्मा वेद्य होगा- वह न मानोगे तो शून्य होजायगा यह सत्य है ईदृशताके अंगीकारमें तैसे ही वेद्यत्वको न मानेंगे ऐसेही तादृश रूप भी नही है कि उस ब्रह्ममें ईदृक्ता नही है किंतु जो ईदृश (ऐसा) तादृश (वैसा) नही है वही ब्रह्मस्वरूप है यह निश्चय करो—भावार्थ यह है कि ब्रह्मकैसा है यह पूछोगे तो ब्रह्ममें ईदृशता नही है किंतु जो ईदृश और तादृश नही है अर्थात् जिसको ऐसा तैसा नही कह सकते उस ब्रह्मके स्वरूपको तू निश्चय कर ॥ २६ ॥

अक्षाणां विषयस्त्वीदृक् परोक्षस्तादृगुच्यते ॥
विषयी नाक्षविषयः स्वत्वान्नास्य परोक्षता ॥ २७ ॥

भाषार्थ— अब ईदृक् तादृक् शब्दके अर्थको कहते हुये ग्रंथकार यह कहते हैं कि ईदृक् तादृक् शब्दका भी अर्थ ब्रह्म नही है—क्योंकि नेत्र आदि इंद्रियोंके विषय जो घट आदि वेही ईदृक् शब्दके अर्थ होते हैं और इंद्रियोंके परोक्ष (धर्म आदि) को तादृग् कहते हैं और सबका द्रष्टा आत्मा इंद्रियोंके ज्ञानका अविषय होनेसे ईदृक् नही है और स्व (अपना) रूप होनेसे परोक्ष भी नही होसकता इससे तादृक् नही है—भावार्थ यह है कि इंद्रियोंको ईदृक् और परोक्षको तादृक् कहते हैं आत्मा विषय होनेसे इंद्रियोंका विषय नही और स्व होनेसे परोक्ष नही है इससे न ईदृक् है न तादृक् ॥ २७ ॥

अवेद्योऽप्यपरोक्षोऽतः स्वप्रकाशो भवत्ययम् ॥
सत्यं ज्ञानमनंतं चेत्यस्तीह ब्रह्मलक्षणम् ॥ २८ ॥

भाषार्थ–अब फल दिखातेहुये शून्यरूपदूसरे पक्षका खंडन करते हैं कि आत्मा अवेद्य होनेसे अपरोक्ष है अर्थात् इंद्रियजन्य ज्ञानका अविषय होनेपरभी अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) रूप है इससे यह आत्मा स्वप्रकाशरूप है यहां यह अनुमान है कि आत्मा–स्वप्रकाश है– ज्ञानकाविषय न होनेपर भी अपरोक्ष होनेसे–ज्ञानके समान–कदाचित् कहोकि ज्ञानका विषय है इससे तुमारा हेतु विशेषणाऽसिद्ध है सो ठीक नही क्योंकि आत्माको ज्ञानका विषय मानोगे आत्माहीको कर्ता कर्म दोनौंके माननेमें विरोध होगा–कदाचित् कहो कि स्वस्वरूपसे कर्ता और विशिष्ट-रूपसे कर्म हो जायगा सो ठीक नही क्योंकि गमनक्रियामें भी स्वस्वरूपसे कर्ता और विशिष्टरूपसे कर्म होजायगा–कदाचित् कहो कि तुमारे ज्ञानरूप दृष्टांतमें हेतु नहीहै अर्थात् ज्ञान, ज्ञानका विषय न होनेपर अपरोक्ष नही है सो ठीक नही क्योंकि ज्ञानको भी अन्यज्ञानकी अपेक्षा मानोगे तो अनवस्था दोष होजायगा कदा-चित् शंका करो कि न्यायके मतमें, घटका भान घटके ज्ञानसे और घट ज्ञानका भान अनुव्यवसायसे इससे संवदनके समान यह स्वप्रकाशका दृष्टांत साधनसे रहित है सो भी ठीक नही–क्योंकि ज्ञानका दूसरे ज्ञानसे भान नहीहै इससे साधनसे विकल (रहित) नही है कदाचित् शंका करो कि स्वप्रकाशरूपसे सिद्धभी आत्मामें ब्रह्मके लक्षण नही हैं इससे ब्रह्मकी सिद्धि न होगी सो ठीक नही क्योंकि सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है इस श्रुतिमें जो ब्रह्मका लक्षण कहाहै वह आत्मामें विद्यमान होनेसे आत्मा ब्रह्म रूप है–भावार्थ यह है कि अवेद्यभी ब्रह्म अपरोक्ष है इससे यह स्वप्रकाश है और आत्मामें सत्यज्ञान अनंतरूप ब्रह्मके लक्षण हैं ॥ २८ ॥

सत्यत्वं बाधराहित्यं जगद्बाधैकसाक्षिणः ॥
बाधः किंसाक्षिको ब्रूहि न त्वसाक्षिक इष्यते ॥ २९ ॥

भाषार्थ– अब आत्माको सत्य कहनेके लिये सत्यका लक्षण कहते हैं कि बाधसे शून्यको सत्य कहते हैं क्योंकि पहिले आचार्योंने यह कहा है कि अबाध्य सत्य और बाध्य मिथ्या होता है यह सत्य असत्यका विवेक है कदाचित् कहो कि ऐसा कहनेसे प्रकरणमें क्या फल हुआ सो ठीक नहीं क्योंकि स्थूल सूक्ष्म शरीरआदि रूप जो जगत् उसके बाध अर्थात् स्वप्न सुषुप्तिआदिमें न होना उसके साक्षीरू-पसे वर्तमान जो आत्मा उसके बाधमें साक्षी कहोको न होगा अर्थात् कोईभी साक्षी नही है कदाचित् कहो कि साक्षीके विना ही आत्माका बाध क्यों नहो सो भी ठीक नही क्योंकि साक्षीसे रहितभी बाधको मानोगे तो अनेक दोषहोंगे इससे साक्षीके विना बाध नही मानना–भावार्थ यह है कि बाधसे रहित सत्य होता है और जगत्

के बाधका एक साक्षी जो आत्मा उसके बाधमें कहो कोन साक्षी होगा और साक्षीके विना बाध नही होता है ॥ २९ ॥

अपनीतेषु मूर्तेषु ह्यमूर्तं शिष्यते वियत् ॥
शक्येषु बाधितेष्वंते शिष्यते यत्तदेव तत् ॥ ३० ॥

भाषार्थ– अब पूर्वोक्त अर्थको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि जैसे घटआदि मूर्त पदार्थोंका अपनयन, अर्थात् घरसे बाहिर निकासने, पर लेजानेके अयोग्य एक आकाशही शेष रहजाता है इसी प्रकार आत्मासे भिन्न मूर्त अमूर्त अर्थात् देह इंद्रिय आदि जो निषेध करने योग्य है उनका जब नेति नेति श्रुतिसे निराकरण कर दिया तब अंतमें जो सबके निषेधका साक्षी बोधरूप शेष रहता है वही बाध रहित आत्मा है ॥ ३० ॥

सर्वबाधेन किंचिच्चेद्यन्न किंचित्तदेव तत् ॥
भाषा एवात्र भिद्यंते निर्बाधं तावदस्ति हि ॥ ३१ ॥

भाषार्थ– कदाचित् कहोकि प्रतीतहुये सबके निषेधसे किंचित् भी शेष न रहैगा इससे कैसे कहते हो कि जो शेषरहै वह आत्मा है इसका उत्तर यह है कि कुछ शेष न रहैगा ऐसा कहनेवालेको भी सबके अभावका ज्ञान अवश्य मानना पडेगा इससे ज्ञानरूपही हमारे मतमें आत्मा है क्योंकि न किंचित् इस शब्दसे जो चैतन्य कहा जाता है वही ब्रह्म है कदाचित् कहो कि अभावके वाचक न किंचित् शब्दसे चैतन्य कैसे कहा जाता है सो ठीक नही क्योंकि बाधका साक्षी तो अवश्यही स्वीकारके योग्य है इससे वाचक शब्दोंमें ही विवाद है अर्थमें नही अर्थात् भाषाओंका ही वहां भेद है अर्थात् न किंचित्, साक्षी, इत्यादि शब्द ही भिन्न २ हैं बाधसे रहित साक्षी रूप चैतन्य तो सर्वत्र विद्यमान है–भावार्थ यह है कि सबके बाधमें न किंचित् कहोगे तो जो न किंचित् है वही आत्मा है और यहां भाषा (शब्द) औंका ही भेद है बाधरहित आत्मा तो सर्वत्र है ॥ ३१ ॥

अत एव श्रुतिर्बाध्यं बाधित्वा शेषयत्यदः ॥
स एष नेति नेत्यात्मेत्यतद्व्यावृत्तिरूपतः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ– उक्त अर्थको श्रुतिके अनुकूल दिखाते हैं कि इसीसे अर्थात् साक्षी चैतन्यको अबाध्य होनेसे (स एव नेतिनेत्यात्मा) वही नेति २ श्रुतिबाध्य वस्तुका निषेध करके अर्थात् आत्मासे भिन्नवस्तुके निराकरण करनेसे इसी निषेध करनेके अयोग्य प्रत्यक्स्वरूप ब्रह्मको शेष रखती है अर्थात् नेति २ से जो शेष रहै वही आत्मा है ॥ ३२ ॥

इदं रूपं तु यद्यावत्तत्त्यक्तुं शक्यतेऽखिलम् ॥
अशक्यो ह्यनिदंरूपः स आत्मा बाधवर्जितः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ– अब नेति२ श्रुतिसे बाधकरने योग्य और बाधके अयोग्य इन दोनोंको पृथक् २ दिखाते हैं यह रूप हैं इस प्रकार दृश्यरूपसे दीखता जो संपूर्ण देहआदि है वह इदं रूप कहाता है वह सब त्यागनेको शक्य है–और जो अनिदंरूप अर्थात् यह है इस इदं रूपसे ज्ञानके अयोग्य (साक्षी) रूप है वह त्यागनेको अशक्य है–यहां हि इस प्रसिद्धिके द्योतक और त्यागके कर्ता चैतन्यरूप निश्चयके बोधक–निपातसे त्यागकी अयोग्यता सूचन की है और वही बाधसे वर्जित अनिदंरूप आत्मा है–भावार्थ यह है कि जितना इदं रूप जगत् है उस सबका त्याग (निषेध) हो सकता है और जो अनिदंरूप है उसका त्याग नही होसकता–इससे बाध रहित वही आत्मा है ॥ ३३ –

सिद्धं ब्रह्मणि सत्यत्वं ज्ञानत्वं तु पुरेरितम् ॥
स्वयमेवानुभूतित्वादित्यादिवचनैः स्फुटम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ– कदाचित् कहोकि आत्मा अबाध्य रहो, प्रकरणमें क्या आया सो ठीक नही क्योंकि ब्रह्ममें जो सत्यत्व कहा है वह आत्मामें सिद्ध होगया–कदाचित् कहो कि सत्यत्वरहो ज्ञानत्व न रहैगा सो भी ठीक नही क्योंकि स्वयं अनुभवरूप होनेसे आत्मा ज्ञानरूप है इत्यादि पूर्वोक्त वचनोंसे आत्माको ज्ञानस्वरूप पहिलेकह आये हैं ३४

न व्यापित्वाद्देशतोऽतो नित्यत्वान्नापि कालतः ॥
न वस्तुतोऽपि सार्वात्म्यादानंत्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि सत्यत्व ज्ञानत्व ये दोनों आत्मामें सिद्ध रहो परंतु आनंत्य न घटैगा क्योंकि ब्रह्ममें भी आनंत्य नही है यहआशंका करके प्रथम ब्रह्ममें आनंत्यको सिद्ध करते हैं कि नित्य विभु सर्वगत अत्यंतसूक्ष्म आकाशके समान सर्वगत, नित्य नित्योंका नित्य चेतनोंका चेतन और जो यह सब है वह आत्मा है यह संपूर्ण ब्रह्म है–ब्रह्म ही यह सब है इत्यादि[1]श्रुतियोंमें व्यापक नित्यत्व सबका आत्मत्व आदि ब्रह्मको कहनेसे तीन प्रकारकी भी आनंत्य कहा है अर्थात् देश, काल, वस्तुके किये परिच्छेद (अभाव) से रहित आत्मा स्वरूप ब्रह्म स्वीकार करना–भावार्थ यह है कि ब्रह्मको व्यापकहोनेसे देशतः अंत नही अर्थात् यह नही है कि इस देशमें है इसमें नही–

१ नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं आकाशवत्सर्वगतश्चनित्यः नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानां इदं सर्वं यदयमात्मा सर्वं ह्येतद्ब्रह्म ब्रह्मैवेदं सर्वं ।

और नित्य होनेसे कालसे भी अंत नही है और सबका आत्मा होनेसे वस्तुसेभी अंत नही है इससे ब्रह्ममें तीन प्रकारका आनंत्य है ॥ ३५ ॥

**देशकालान्यवस्तूनां कल्पितत्वाच्च मायया ॥
न देशादिकृतोऽतोस्ति ब्रह्मानंत्यं स्फुटं ततः ॥ ३६ ॥**

भाषार्थ-केवल श्रुतिसे ही ब्रह्म अनंत्य नहीं किंतु युक्तिसे भी अनंत्य है कि देश काल अन्य वस्तु ये सब मायासे कल्पित हैं इससे गंधर्व नगरआदिसे आकाशके समान देश आदिकोंका किया ब्रह्ममें वास्तविक परिच्छेद नहीं है जिससे इस कारण ब्रह्मके विषय आनंत्य प्रकट है कि वह यह आत्मा सत्यब्रह्म है और ब्रह्म ही आत्मा है-ऐसा संदेह नहीं करना कि आत्मा असत्य है नृसिंहदेव ब्रह्म है यह आत्मा ब्रह्म है-इत्यादि[1] श्रुति आत्माको ब्रह्मसे अभिन्न कहती है इससे आत्माभी अनंत सिद्ध हुआ-भावार्थ यह है कि देश, काल, वस्तु, मायासे कल्पित हैं इससे देश आदिकाकिया अंत ब्रह्ममें नहीं है तिससे प्रकट है कि ब्रह्म अनंत है ॥ ३६ ॥

**सत्यं ज्ञानमनंतं यद्ब्रह्म तद्वस्तु तस्य तत् ॥
ईश्वरत्वं च जीवत्वमुपाधिद्वयकल्पितम् ॥ ३७ ॥**

भाषार्थ-कदाचित् शंका करोकि जडरूप जगत् ब्रह्ममें आरोपित है इससे ब्रह्मका परिच्छेद न हो परंतु चेतन जीव ईश्वर तो आरोपित नहीं है इससे उनका किया परिच्छेदवाला होनेसें ब्रह्म अनंत न होगा सो ठीक नहीं-क्योंकि जो सत्य, ज्ञान, अनंत-ब्रह्म है वही वस्तु है और वही उसका पारमार्थिकरूप है और जगत्में प्रसिद्ध ईश्वरत्व और जीवत्व ये दोनों वक्ष्यमाण दो उपाधियोंसे ब्रह्ममें कल्पित हैं इससे औपाधिक और कल्पित होनेसे पारमार्थिक (सच्चे) नहीं हैं इससे जडके समान जीव ईश्वरभी ब्रह्मके परिच्छेदक नहीं हो सकते-भावार्थ यह है कि जो ब्रह्म सत्यज्ञान अनंतरूप है वह वस्तु है और वही पारमार्थिक है और ईश्वर जीव दो उपाधियोंसे ब्रह्ममें कल्पित है ॥ ३७ ॥

**शक्तिरस्त्यैश्वरी काचित्सर्ववस्तुनियामिका ॥
आनंदमयमारभ्य गूढा सर्वेषु वस्तुषु ॥ ३८ ॥**

भाषार्थ-उन दोनों उपाधियोंको दिखाते हुये प्रथम ईश्वरकी उपाधिशक्तिका निरूपण करते हैं कि ईश्वरकी उपाधि होनेसे ईश्वर सम्बंधिनी सत् असत् रूपसे कहनेके

---

[1] तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्मात्मैवात्र ह्येवं न विचिकित्स्यमित्यो सत्यमात्मैव नृसिंहोदेवो ब्रह्मभवति अयमात्मा ब्रह्म ।

अयोग्य पृथिवी आदि, नियम न करने योग्य सब वस्तुवोंकि नियामक कोई शक्ति है—और वह आनन्दमय आदि ब्रह्माण्डपर्यंत सब वस्तुओंमें गूढ (छिपी) है इससे प्रतीत नहीं हो सकती है ॥ ३८ ॥

वस्तुधर्मा नियम्येरन् शक्त्या नैव यदा तदा ॥
अन्योन्यधर्मसांकर्याद्विप्लवेत जगत्खलु ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि वह शक्ति नियमसे प्रतीत नहीं होगी तो उसकी असत्ता (अभाव) ही क्यों न होजाय सो ठीक नहीं—क्योंकि पृथिवी आदि वस्तुओंके जो काठिन्य द्रवत्वआदि धर्म हैं—यदि उनकी व्यवस्था शक्ति न करै अर्थात् जिसका जो धर्म हो उसको उसमें न रक्खै तो परस्पर धर्मोंका संकर होनेसे अर्थात् मिलजानेसे जगत् अवश्य नष्ट होजायगा अर्थात् व्यवहारका नियम न रहेगा ॥ ३९ ॥

चिच्छायावेशतः शक्तिश्चेतनेव विभाति सा ॥
तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद्ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत् ॥ ४० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि जडरूप शक्ति जगतका नियामक न होगी, सो ठीक नहीं वह शक्ति चिदाभासके प्रवेशसे—चेतनके समान प्रतीत होती है इससे नियामक हो सकती है—और उसशक्तिरूप उपाधिके संयोगसे सत्यआदि स्वरूप ब्रह्म ही ईश्वरभावको प्राप्त होजाता है अर्थात् सर्वज्ञ ईश्वर कहाता है ॥ ४० ॥

कोशोपाधिविवक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम् ॥
पिता पितामहश्चैकः पुत्रपौत्रौ यथा प्रति ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—पूर्व कहेहुये अन्नमय आदि पंचकोशरूप जो जीवकी उपाधि हैं उनकी विवक्षा विवेक करने पर सत्यआदि रूप वही ब्रह्म जीवभावको प्राप्त होता है कदाचित् कहो कि एक ही ब्रह्म जीव ईश्वरभावको कैसे प्राप्त होसकता है अर्थात् एकमें विरुद्ध दो धर्मोंका योग नही देखा है—सो ठीक नही क्योंकि जैसे एक ही देवदत्त एक ही समयमें पुत्रके प्रति पिता और पौत्रके प्रति पितामह है इसी प्रकार ब्रह्मभी कोशरूप उपाधिकी विवक्षामें जीव और शक्तिरूप उपाधिकी विवक्षामें ईश्वर हो जाता है ॥ ४१ ॥

पुत्रादेरविवक्षायां न पिता न पितामहः ॥
तद्वन्नेशो नापि जीवः शक्तिकोशाविवक्षणे ॥ ४२ ॥

भाषार्थ-अब यह कहते हैं कि वस्तुतः ब्रह्म न जीव है न ईश्वर है कि जैसे पूर्वोक्त देवदत्त पुत्र आदि की अविवक्षामें न पिता है और न पितामह है इसी प्रकार शक्ति और कोशकी अविवक्षामें ब्रह्म न ईश्वर है और न जीव है ॥ ४२ ॥

य एवं ब्रह्म वेदैष ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥
ब्रह्मणो नास्ति जन्मातः पुनरेष न जायते ॥ ४३ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त ज्ञानके फलका वर्णन करते हैं कि जो चारों साधनोंसे संपन्न पुरुष इस उक्तप्रकारसे पंचकोशोंके विवेक द्वारा प्रत्यक्रूप ब्रह्मको जानता है अर्थात् साक्षात् करता है वह स्वयं ब्रह्म ही होता है-और श्रुतिमें[1] भी कहा है कि जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही होता है ब्रह्मका ज्ञाता परंपदको प्राप्त होता है-कदाचित् कहो कि फिर उससे क्या होता है इसका उत्तर देतेहैं कि ज्ञानी न जन्मता है और न मरता है इस[2] श्रुतिके प्रमाणसे ब्रह्म रूपका जन्म नही है इससे यह ज्ञानीभी फिर जन्म नही लेता है क्योंकि ज्ञानीको भी ब्रह्मरूप अपनी आत्माका ज्ञान होजाता है अर्थात् आत्माको ब्रह्म समझता है-भावार्थ यह है कि जो इस प्रकार ब्रह्मको जानता है वह स्वयंभी ब्रह्मही होता है और जिस प्रकार ब्रह्मका जन्म नही है इससे यह ज्ञानीभी फिर नही जन्मता ॥ ४३ ॥

इति पं॰मिहिरचंद्रकृतभाषोद्धृति सहितविद्यारण्यस्वामिरचितपंचदश्यां पंचकोशविवेकः ॥ ३ ॥

---

१ स यो हवै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति- ब्रह्मविदाप्नोति परम् । २ न जायते म्रियते वा विपश्चित् ।

इति पंचकोशविवेकप्रकरणम् ॥ ३ ॥

॥ श्रीः ॥

पंचदशी

भाषाटीकासमेता ।

अथ द्वैतविवेकप्रकरणम् ४

ईश्वरेणापि जीवेन सृष्टं द्वैतं विविच्यते ॥
विवेके सति जीवेन हेयो बंधः स्फुटी भवेत् ॥ १ ॥

भाषार्थ–करनेको इष्ट ग्रंथकी निर्विघ्न पूर्त्ति (पूरा होना) के लिये इष्टदेवका स्मरणरूप मंगल करते हुये आचार्य ग्रंथका प्रारंभ करते हैं कि कारणोपाधी अंतर्यामिरूप ईश्वरने और कार्योपाधी अहंप्रतीतिके विषय जीवने रचा जो द्वैत (जगत्) उसका विवेक करते हैं अर्थात् पृथक् २ वर्णन करते हैं-कदाचित् कहो कि यह द्वैतका विवेक, काकके दांतोंकी परीक्षाके समान निष्प्रयोजन है सो ठीक नही क्योंकि जीव ईश्वरके रचे द्वैतोंके विवेक होनेपर पूर्वोक्तजीवको त्यागने योग्य जो बंधनका हेतु द्वैत वह स्पष्ट होजायगा अर्थात् जीवको इतना त्यागने योग्य है, इसका निश्चय होजायगा-भावार्थ यह है कि ईश्वर और जीवके रचे द्वैतका विवेक इस लिये करते हैं कि इस विवेकके अनंतर जीवका त्यागने योग्य, बंधन स्पष्ट हो जायगा ॥ १ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥
स मायी सृजतीत्याहुः श्वेताश्वतरशाखिनः ॥ २ ॥

भाषार्थ–यहां यह शंका नही करनी कि अदृष्टके द्वारा जीव ही जगतके हेतु हैं इससे जगतको ईश्वरका रचा कैसे कहतेहो सो ठीक नही क्योंकि इसमें अनेक श्रुति-योंका विरोध है इससे श्वेताश्वतर श्रुतिके वाक्यका अर्थ पढते हैं कि मायाको हि प्रकृति जानै और मायी महेश्वरको जानै वह मायी (ईश्वर) ही रचता है यह श्वेता-श्वतर शाखावाले कहते हैं ॥ २ ॥

आत्मा वा इदमग्रेऽभूत्स ईक्षत सृजा इति ॥
संकल्पेनासृजल्लोकान्स एतानिति बह्वृचाः ॥ ३ ॥

१ मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् मायी सृजते विश्वमेतत् ।

भाषार्थ—अब ऐतरेय उपनिषद्के वाक्यका अर्थ पढते हैं कि यह जगत् एक आत्मारूप ही सृष्टिसे पहिले था अन्य कुछ नही वह किंचित् ईक्षण (देखना) करताभया कि मैं लोकोंको रचों वह आत्मा अपने संकल्प (इच्छारूप)से इन लोकोंको रचताभया इस वाक्यसे बहूच शाखाके वेदपाठी परमात्माको ही जगत्का स्रष्टा (रचनेवाला) कहते हैं ॥ ३ ॥

खं वाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाः क्रमादमी ॥
संभूता ब्रह्मणस्तस्मादेतस्मादात्मनोऽखिलाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—अब ईश्वर ही जगत्को रचता है इसमें तैत्तिरीय श्रुतिकोभी प्रमाणके लिये उसके वाक्यका अर्थ पठते हैं कि आकाश वायु अग्नि जल पृथिवी ओषधि अन्न देह ये सब क्रमसे इसी ब्रह्मरूप आत्मासे उत्पन्न हुये हैं ॥ ४ ॥

बहुस्यामहमेवातः प्रजायेयेति कामतः ॥
तपस्तप्त्वाऽसृजत्सर्वं जगदित्याह तित्तिरिः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—अब-सत्यज्ञानअनंतब्रह्म है यह प्रारंभ करके तिस इस आत्मासे आकाश हुआ इत्यादि और अन्नसे पुरुष हुआ यहांतक के वाक्योंसे-गुहामें छिपे प्रत्यक्रूप ब्रह्मसे आकाशसे देहपर्यंत जगत्की उत्पत्तिको कहकर पीछे जो यह कहा है कि उसने इच्छाकी कि एक मैं बहुत प्रकारकाहूं और जन्मधारण करूं इससे उसने तपकिया वह तप करके जो कुछ यह जगत् है इस सबको रचताभया इस वाक्यसे उस ब्रह्मकोही इच्छापूर्वक जगत्का स्रष्टा तित्तिरिने कहा है—भावार्थ यह है कि मैं बहुतहूं और जन्मधारों-इस इच्छासे वह तप करके सब जगत्को रचताभया यह तित्तिरीने कहा है ॥ ५ ॥

इदमग्रे सदेवासीद्बहुत्वाय तदैक्षत ॥
तेजोऽबन्नांडजादीनि ससर्जेति च सामगाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—छांदोग्य उपनिषदमें भी ब्रह्म ही जगतका स्रष्टा कहा है कि हे सौम्य पहिले यह जगत् सत्रूप एक अद्वितीय हुआ यह प्रारंभ करके कहा है कि उसने देखाकि मैं अनेक प्रकारका हों और जन्मधारों फिर उसने तेजको रचा इत्यादि वचनोंसे ब्रह्मको ही दर्शनपूर्वक तेज अन्न आदिका कर्ता कहकर उन इन सब भूतोंके तीन ही बीज होते हैं कि-अण्डज-जीवज-उद्भिज्ज-इत्यादि ग्रंथसे अण्डजादि शरीरोंका निर्माताभी ब्रह्मको ही सामगोने वर्णन किया है-भावार्थ यह है कि यह जगत् सृष्टिसे

प्रथम सत्‌रूप रहा और ब्रह्मने ही बहुत होनेके लिये देखा और तेज जल अण्डज आदिको रचा-यह सामवेदी कहते हैं ॥ ६ ॥

विस्फुलिंगा यथा वह्नेर्जायंतेऽक्षरतस्तथा ॥
विविधाश्चिज्जडा भावा इत्याथर्वणिका श्रुतिः ॥ ७ ॥

भाषार्थ-अब मुण्डकोपनिषदके वाक्यसे जगत्‌की उत्पत्तिको कहते हैं कि जैसे भली प्रकार-जलती हुई अग्निसे सहस्रों विष्फुलिंग सजातीय होते हैं इसी प्रकार अक्षयरूपब्रह्मसे हे सौम्य-ये सब भाव पैदा होते हैं और उसमें ही सब लीन होजाता हैं यह अथर्वण वेदकी श्रुति है भावार्थ यह है कि जैसे अग्निसे विष्फुलिंग (पतंगा) होते हैं इसी प्रकार ब्रह्मसे अनेक प्रकारके चित् जडरूप अनेक प्रकारके भाव पदार्थ होते हैं यह अथर्वणवेदमें लिखा है ॥ ७ ॥

जगदव्याकृतं पूर्वमासीद्व्याक्रियताधुना ॥
दृश्याभ्यां नामरूपाभ्यां विराडादिषु ते स्फुटे ॥ ८ ॥
विराण्मनुर्नरा गावः खराश्वाजावयस्तथा ॥
पिपीलिकावधिद्वंद्वमिति वाजसनेयिनः ॥ ९ ॥

भाषार्थ-इसी प्रकार बृहदारण्यकमें भी अव्याकृतरूप ब्रह्मसे नाम रूप जगत्‌की उत्पत्ति कही है कि वह यह जगत् पहिले अव्याकृतरहा फिर नाम रूपसे अनेक प्रकारका हुआ तिसका यह नाम रूप है-इस वाक्यसे सृष्टिसे पहिले अप्रकट नामरूप होनेसे अव्याकृत मायोपाधि ब्रह्मसे नामरूप स्पष्ट करना यह सृष्टि कही और वे नाम रूप विराट् आदिमें प्रकट हैं कि विराट् मनु नर-गौ खर-अश्व-अजा-भेड-चैंटी पर्यंत यह सब द्वैत अनेकप्रकारके नाम रूपसे उत्पन्न हुआ-यह वाजसनेयी कहते हैं अर्थात् जो कुछ यह पिपीलिका पर्यंत जगत् है वह सब सृष्टिसे पहिले नामरूपसे रहित अव्याकृत जो ब्रह्म है उससे उत्पन्न हुआ ॥ ८ ॥ ९ ॥

कृत्वा रूपांतरं जैवं देहे प्राविशदीश्वरः ॥
इति ताः श्रुतयः प्राहुर्जीवत्वं प्राणधारणात् ॥ १० ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त श्रुतियोंसे द्वैतसृष्टिके अनंतर जीवरूपसे ब्रह्मका जो प्रवेश देहआदिमें कहा है उसका वर्णन करते हैं कि जीव सम्बंधी भिन्नरूप अर्थात् अविकारी ब्रह्मसे विलक्षण विकारीरूपको करके वह ईश्वर देहमें प्रविष्ट हुआ और प्राणआदिकोंकी प्रेरणा करनेसे उसे जीव कहतेहैं यह श्रुति कहती है ॥ १० ॥

चैतन्यं यदधिष्ठानं लिंगदेहश्च यः पुनः ॥
चिच्छाया लिंगदेहस्था तत्संघो जीव उच्यते ॥ ११ ॥

भाषार्थ-लिंगदेहका अधिष्ठान चैतन्य और लिंगदेह और लिंगदेहनें वर्तमान चित्त-की छाया (चिदाभास) अर्थात् प्रतिबिम्ब-इन तीनोंके समूहको जीव कहते हैं॥ ११॥

माहेश्वरी तु माया या तस्या निर्माणशक्तिवत् ॥
विद्यते मोहशक्तिश्च तं जीवं मोहयत्यसौ ॥ १२ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कोई शंका करै कि यादि ईश्वर ही जीवरूपसे प्रविष्ट है तो वह अज्ञता और दुःख आदि विरुद्ध धर्मोंका आश्रय कैसे होगया सो ठीक नहीं क्योंकि महेश्वरकी जो माया है उसमें जैसे रचनेका सामर्थ्य है इसी प्रकार मोहन करनेका भी सामर्थ्य है वह मायाकी मोहनशक्ति इस जीवको मोहित कर देती है अर्थात् चिदानंदरूप ब्रह्मके ज्ञानसे रहित करती है ॥ १२ ॥

मोहादनीशतां प्राप्य मग्नो वपुषि शोचति ॥
ईशसृष्टमिदं द्वैतं सर्वमुक्तं समासतः ॥ १३ ॥

भाषार्थ-फिर यह जीव-मोहसे अनीश होकर अर्थात् इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिमें असमर्थ होकर देहमें मग्नहुआ शोचता है अर्थात् देहोहं (देह मैं हूं) इस अभिमानसे दुःखी होता है ईश्वरका रचाहुआ जो द्वैत (जगत्) वह सम्पूर्ण संक्षेप से यहांतक वर्णन किया ॥ १३ ॥

सप्तान्नब्राह्मणे द्वैतं जीवसृष्टं प्रपंचितम् ॥
अन्नानि सप्तज्ञानेन कर्मणाऽजनयत्पिता ॥ १४ ॥

भाषार्थ- अब जीवको द्वैतके स्रष्टा होनेमें प्रमाणको कहते है कि सप्तान्न ब्राह्म-णमें -अर्थात् द्वैतसृष्टिके बोधक ब्राह्मणमें जीवके रचे द्वैतका विस्तारसे वर्णन किया है कि- पिता अर्थात् अपने अदृष्टद्वारा जगत्की उत्पत्तिसे सब लोकका पालक जीव-सात भेदसे-कर्मके द्वारा अन्नोंको पैदा करता भया ॥ १४ ॥

मर्त्यान्नमेकं देवान्ने द्वे पश्वन्नं चतुर्थकम्
अन्यत्रितयमात्मार्थमन्नानां विनियोजनम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ- अब सातोंअन्नोंके अधिकारीयोंका वर्णन करते हैं-एक अन्न मर्त्यों (मनुष्य) का दो अन्न देवताओंके-चौथा अन्न पशुओंका-और शेष तीन अन्न

आत्माके लिये-इस प्रकार उन सात अन्नोंका विनियोजन (विभाग) किया-अर्थात् बाट दिये ॥ १५ ॥

व्रीह्यादिकं दर्शपूर्णमासौ क्षीरं तथा मनः ॥
वाक् प्राणश्चेति सप्तत्वमन्नानामवगम्यताम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ-वे सात अन्न-ये हैं-कि व्रीहि आदि दर्श-पूर्णमास-क्षीर-मन-वाणी-प्राण-इन सात अन्नोंको जानों ॥ १६ ॥

ईशेन यद्यप्येतानि निर्मितानि स्वरूपतः ॥
तथापि ज्ञानकर्मभ्यां जीवोऽकार्षीत्तदन्नताम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ- कदाचित् कोई शंका करै कि ये सातोंअन्न जगत्के अंतर्गत हैं इससे जीवके निर्मित कहना अयुक्त है सो ठीक नही क्योंकि ईश्वरने-स्वरूपसे रचे हैं और जीवने भोग्यरूपसे इससे कुछ दोष नहीं-अर्थात् यद्यपि ईश्वरने ये अन्न स्वरूपसे रचे हैं-तथापि जीवने विहित और निषिद्धदेवता और परस्त्रीके ध्यानरूप ज्ञान और विहित और निषिद्ध यज्ञ हिंसादिरूप कर्म इनके द्वारा व्रीहि आदि प्राणपर्यन्त अन्नोंकों रचा है ॥ १७ ॥

ईशकार्यं जीवभोग्यं जगद्वाभ्यां समन्वितम् ॥
पितृजन्या भर्तृभोग्या यथा योषित्तथेष्यताम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ- यह जगत् अर्थात् सात व्रीहि आदि रूप अन्न ईश्वरका कार्य-और जीवका भोग्य इस प्रकार इष्ट है-अर्थात् ईश्वर इसको रचता है और जीव भोगता है जैसे एक ही स्त्री पिताकी जन्य (पैदा की) है और भर्ताकी भोग्य (भोगके योग्य) है॥ १८॥

मायावृत्त्यात्मको हीशसंकल्पः साधनं जनौ ॥
मनोवृत्त्यात्मको जीवसंकल्पो भोगसाधनम् ॥ १९ ॥

भाषार्थ- अब ईश्वर और जीवकी जगत् सृष्टिके हेतुको कहते हैं-कि मायावृत्तिरूप ईश्वरका संकल्प उत्पत्तिका साधन है और मनोवृत्तिरूप जीवका संकल्प भोगका साधन है ॥ १९ ॥

ईशनिर्मितमण्यादौ वस्तुन्येकविधे स्थिते ॥
भोक्तृधीवृत्तिनानात्वात्तद्भोगो बहुधेष्यते ॥ २० ॥

भाषार्थ- कदाचित् कहो कि ईश्वरकी रचीवस्तुसे भिन्न कोई भोग्यका ऐसा आ-

कारही नही–जिसको जीव रचै सो ठीक नही क्योंकि जैसे ईश्वरकी रची–और एकरूपसे स्थित मणि आदि वस्तुमें–भोक्ताओंकी बुद्धिकी नानावृत्तियोंके अनुसार उसका भोग अनेकप्रकारका इष्ट है–इसी प्रकार–यहां भी उपभोगभोग्यके भेदको जनाता है ॥ २० ॥

हृष्यत्येको मणिं लब्ध्वा क्रुध्यत्यन्यो ह्यलाभतः ॥
पश्यत्येव विरक्तोऽत्र न हृष्यति न कुप्यति ॥ २१ ॥

भाषार्थ– कदाचित् शंका करो कि भोगके भेदविना भोग्यका भेद– है सो ठीक नही क्योंकि भोगके भेदसे भोग्यका भेद देखते हैं–कि–मणिका अभिलाषी एक पुरुष–मणिको पाकर आनंद होता है–और अन्यको न मिलनेसे क्रोध होता है–और इस मणिके विषय जो विरक्त है वह मणिको देखता है–न क्रोध होता न आनंद होता है अर्थात् मिलने न मिलनेसे उसे हर्ष–क्रोध नही होते ॥ २१ ॥

प्रियोऽप्रिय उपेक्ष्यश्चेत्याकारा मणिगास्त्रयः ॥
सृष्टा जीवैरीशसृष्टं रूपं साधारणं त्रिषु ॥ २२ ॥

भाषार्थ– अब जीवके रचे आकारोंके भेद–जो भोगके भेदसे होते हैं–उनको कहते हैं कि–प्रिय–अप्रिय–उपेक्ष्य अर्थात् प्यारी कुप्यारी–न प्यारी न कुप्यारी–ये तीन आकार मणिमें रचे हैं–और ईश्वरका रचा जो मणिका रूप है वह तीनोंमें साधारण है ॥ २२ ॥

भार्या स्नुषा ननांदा च याता मातेत्यनेकधा ॥
प्रतियोगिधिया योषिद्भिद्यते न स्वरूपतः ॥ २३ ॥

भाषार्थ– अब जीवके रचे आकारका भेद–दूसरे उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं–जैसे भार्या–स्नुषा–ननांदा–याता–माता–आदि अनेकप्रकारसे प्रतियोगी (सम्बधी) की बुद्धिके अनुसार एक ही स्त्रीका भेद होता है–और स्वरूपसे–भेद नही है अर्थात्–पतिकी अपेक्षा भार्या–श्वशुरकी अपेक्षा–स्नुषा भोजाईकी अपेक्षा ननंद–दो रानीकी अपेक्षा याता और पुत्रकी अपेक्षा माता होती है ॥ २३ ॥

ननु ज्ञानानि भिद्यंतामाकारस्तु न भिद्यते ॥
योषिद्वपुष्यतिशयो न दृष्टो जीवनिर्मितः ॥ २४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि स्त्री है विषय जिनका ऐसे ज्ञानोंका भेद रहो स्त्रीके आकारका कोई भेद नही–इससे प्रतियोगीकी बुद्धिसे स्त्रीका भेद अयुक्त है सो ठीक नही

कि यद्यपि ज्ञानोंका भेद है आकारका नही क्योंकि स्त्रीके शरीरमें जीवकी रची कोई अधिकता नही देखी—तथापि ॥ २४ ॥

मैवं मांसमयी योषित्काचिदन्या मनोमयी ॥
मांसमय्या अभेदेऽपि भिद्यते हि मनोमयी ॥ २५ ॥

भाषार्थ— ज्ञेयकी विलक्षणताके विना ज्ञानकी विलक्षणता नही हो सकती इससे ज्ञेयके आकारका भेद अवश्य मानना पडेगा इस आशयसे उत्तर देते हैं कि ऐसा मतकहो कि विषयका भेद नही क्योंकि एक स्त्री तो मांसमयी है और दूसरी मनोमयी है उनमें यद्यपि मांसकी स्त्रीका भेद नही परंतु मनोमयीका भेद है॥२५॥

भ्रांतिस्वप्नमनोराज्यस्मृतिष्वस्तु मनोमयम् ॥
जाग्रन्मानेन मेयस्य न मनोमयतेति चेत् ॥ २६ ॥

भाषार्थ— कदाचित् कहोकि भ्रांति स्वप्न मनोराज्य स्मृति आदिमें बाह्य विषयके अभावसे मनोमय पदार्थ रहो जाग्रत् अवस्थामें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाह्य वस्तुके विद्यमान रहते—प्रमेय पदार्थ मनोमय नही हो सकता ॥ २६ ॥

बाढं माने तु मेयेन योगात्स्याद्विषयाकृतिः ॥
भाष्यवार्तिककाराभ्यामयमर्थ उदीरितः ॥ २७ ॥

भाषार्थ— सो ठीक नही क्योंकि यह सत्य है कि प्रमितिके स्थलमें बाह्य विषय रहताहै तथापि मानमें मेय पदार्थके संबंधसे उस ज्ञानका विषय जो मेय है वह मनोमय और विषयाकार ज्ञान हो जाता है और यही अर्थ भाष्य और वार्तिककारोंने कहा है कुछ कल्पित नही है ॥ २७ ॥

मूषासिक्तं यथा ताम्रं तन्निभं जायते तथा ॥
रूपादीन् व्याप्नुवच्चित्तं तन्निभं दृश्यते ध्रुवम् ॥ २८ ॥

भाषार्थ— प्रथम भाष्यकारके वचनको ही कहते हैं कि जैसे मूषा (कठोठी आदि पात्र)में डाला हुआ द्रुत (गलाया) सुवर्ण वा ताम्र आदि द्रव्य मूषाके आकारकी तुल्य होजाता है तिसी प्रकार रूप आदिमें प्राप्त हुआ चित्तभी निश्चयसे रूप आदिके आकारका हो जाता है ॥ २८ ॥

व्यंजको वा यथाऽऽलोको व्यंग्यस्याकारतामियात् ॥
सर्वार्थव्यंजकत्वाद्धीरर्थाकारा प्रदृश्यते ॥ २९ ॥

भाषार्थ– कदाचित् कोई कहै कि अग्निमें तपानेसे द्रुत हुये ताम्र आदिको मूषामें सींचनेसे कठिन मूषामें पडनेके वश शीतल होनेपर मूषाका आकार होजाओ–और ताम्र आदिसे विलक्षण अमूर्तिमान् पदार्थ रूप, बुद्धि, विषयकार कैसे हो सकती है यह शंका करके अन्य दृष्टांत देतेहैं कि जैसे प्रकाशक आलोक (धूप आदि) व्यंग्य अर्थात् प्रकाश करने योग्य घट आदिके आकारको प्राप्त होजाताहै इसी प्रकार संपूर्ण पदार्थोंकी प्रकाशक, बुद्धिभी पदार्थके आकारको प्राप्त होजाती है यहभी भलीप्रकार देखते हैं ॥ २९ ॥

मातुर्मानाभिनिष्पत्तिर्निष्पन्नं मेयमेति तत् ॥
मेयाभिसंगतं तच्च मेयाभत्वं प्रपद्यते ॥ ३० ॥

भाषार्थ– अब वार्तिककारके वचनको कहते हैं कि अधिष्ठानसहित बुद्धिमें स्थित चिदाभासरूप जो प्रमाता (ज्ञाता) उससे मानकी निष्पत्ति अर्थात् आभास सहित अंतःकरणकी उत्पत्ति, होती है और उत्पन्नहुआ वह मेय, मानमें प्राप्त हो जाता है अर्थात् घट आदि रूप हो जाता है और वह मानभी मेय (प्रमेय) से संबद्ध हुआ मेयकी समान आकार प्रतीत होताहै ॥ ३० ॥

सत्येवं विषयौ द्वौ स्तो घटौ मृन्मयधीमयौ ॥
मृन्मयो मानमेयः स्यात्साक्षिभास्यस्तु धीमयः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ– इसै प्रकार होनेसे दो प्रकारके विषय हुये एक मृन्मय (मिट्टीका) दूसरा धीमय (बुद्धिस्थ) उन दोनोंमें मृन्मय घट, प्रमाणसे मेय होता (ज्ञात) है और जो घट धीमय है वह साक्षीसे भासमे योग्य होता है अर्थात् उसे साक्षी जानता है इससे यहां यह शंका न करनी कि मिट्टीके घटकी तुल्य मनोमय घटको वही मन ग्रहण नही कर सकता और दूसरा कोई ग्राहक है नही इससे मनोमयकी सिद्धि न होगा ॥ ३१ ॥

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां धीमयो जीवबंधकृत् ॥
सत्यस्मिन् सुखदुःखे स्तस्तस्मिन्नसति न द्वयम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि इस प्रकार दो प्रकारका द्वैत रहो इनमें कौन त्यागने योग्य है और कौन अत्याज्य है –यह ज्ञान नही हो सकता यह शंका करके जीवके रचे द्वैतको त्याज्य मान कर उसे बंधका हेतु कहते हैं कि अन्वय और व्यतिरेकसे धीमय जगत् जीवको बंधनका कर्ता है क्योंकि इस जीवके रचे मानसप्रपंचके विद्यमान होते सुख दुःख होते हैं और इसके न होनेपर सुख दुःख दोनों नही होते इसकाही नाम अन्वयव्यतिरेक है ॥ ३२ ॥

असत्यपि च बाह्यार्थे स्वप्नादौ बध्यते नरः ॥
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु सत्यप्यस्मिन्न बध्यते ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरेक बाह्य अर्थके विषैही मानेंगे सो ठीक नही क्योंकि स्वप्न और स्मृति आदिके विषय बाह्य अर्थके अर्थात् अनुकूल स्त्री और प्रतिकूल व्याघ्र आदिके पारमार्थिक (सच्चे) न होने-परभी मनुष्य बंधनको प्राप्त होताहै अर्थात् उनके सुखदुःखका भोक्ता होताहै और समाधि सुषुप्ति मूर्च्छाओंमें बाह्य विषयके होनेपरभी सुखदुःखरूप बंधनको प्राप्त नही होता-इससे बाह्य अर्थके अन्वय व्यतिरेक नही होसकते ॥ ३३ ॥

दूरदेशं गते पुत्रे जीवत्येवात्र तत्पिता ॥
विप्रलंभकवाक्येन मृतं मत्वा प्ररोदिति ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–अब मनोमय प्रपंचकोही बंधक होनेसे अन्वय व्यतिरेकोंको उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि दूर देशमें गयाहुआ पुत्र वहां जीवताभी है और किसी मिथ्यावादीके-तेरा पुत्र मरगया-इस मिथ्यावचनसे अपने पुत्रको मरा मानकर अपने घरमें स्थित उसका पिता रोदन करताहै अर्थात् पिताके मनमें स्थित वही मनका रोदनका जनक हुआ बाह्यपुत्र जीवता परदेशमें विद्यमानहै ॥ ३४ ॥

मृतेऽपि तस्मिन् वार्तायामश्रुतायां न रोदिति ॥
अतः सर्वस्य जीवस्य बंधकृन्मानसं जगत् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–और उस पुत्रके परदेशमें मरनेपरभी पिता मरनेकी वार्ता न सुनै तो रोदन न करैगा। इससे संपूर्ण जगत्को मानस जगत्ही बंधका कर्ता है ॥ ३५ ॥

विज्ञानवादो बाह्यार्थवैयर्थ्यात्स्यादिहेति चेत् ॥
न ह्याकारमाधातुं बाह्यस्यापेक्षितत्त्वतः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि मानस जगत्कोही बंधका हेतु मानोंगे तो बाह्य जगत्का सर्वथा अपलापही होजायगा इससे सिद्धांतकाही भंग होगा सो ठीक नही कि बाह्य अर्थके व्यर्थ होनेसे यहां विज्ञानवाद (ज्ञानरूप जगत् मानना) हो जायगा सोभी नही क्योंकि यद्यपि मानस प्रपंचही बंधका हेतुहै तथापि उस मानस प्रपंचको बाह्य अर्थकीभी अपेक्षाहै इससे विज्ञानवादका प्रसंग नही होसकता ॥ ३६ ॥

वैयर्थ्यमस्तु वा बाह्यं न वारयितुमीश्महे ॥
प्रयोजनमपेक्षंते न मानानीति हि स्थितिः ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि हृदयमें आकार समर्पण करनेके लिये बाह्य पदार्थोंकी अपेक्षा करनी योग्य नही क्योंकि पूर्व २ मानस प्रपंचका संस्कारही उत्तर २ मानस प्रपंचका हेतु माननेसे कार्यसिद्धि होजायगी सो ठीक नहीं क्योंकि बाह्य अर्थ चाहै व्यर्थभी हो परंतु उसका हम वारण (निषेध) करनेको समर्थ नहीं जैसे कि विज्ञानवादी बाह्य अर्थका निषेध करते हैं कदाचित् कहोकि प्रयोजनशून्य बाह्य अर्थका माननाही वृथाहै सोभी ठीक नही क्योंकि मान (प्रमाण) प्रयोजनकी अपेक्षा नही करते यह मर्यादाहै अर्थात् प्रमाणके आधीन वस्तुकी सिद्धिहै प्रयोजनके आधीन नही मानसे सिद्ध हुआ पदार्थ प्रयोजनशून्य होनेसे कुछ असत् नही होजाता यह लौकिक वादी मानते हैं भावार्थ यह है कि बाह्य व्यर्थहो हम वारण नहीकरसकते परंतु यह मर्यादाहै कि मान प्रयोजनकी अपेक्षा वस्तुकी सिद्धिमें नही करते ॥ ३७ ॥

बंधश्चेन्मानसद्वैतं तन्निरोधेन शाम्यति ॥
अभ्यसेद्योगमेवातो ब्रह्मज्ञानेन किं वद ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–यहां वादी शंका करताहै कि यदि मानस द्वैत (प्रपंच) बंधनका हेतु है तो वह मनके निरोधरूप योगसेही उसकी शांति (निवृत्ति) होजायगी इससे योगकाही अभ्यास करै ब्रह्मज्ञानसे क्या फल होगा यह तुम कहो अर्थात् ब्रह्मज्ञान निरर्थक है ॥ ३८ ॥

तात्कालिकद्वैतशांतावप्यागामिजनिक्षयः ॥
ब्रह्मज्ञानं विना न स्यादिति वेदांतडिंडिमः ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–योगसे द्वैतकी शांति तात्कालिकी होगी वा आत्यंतिकी (सर्वथा) इस विकल्पमें प्रथमका स्वीकार करके दूसरे पक्षमें दूषण देते हैं कि तत्कालके द्वैतकी शांति होनेपरभी भविष्यत्कालके द्वैतकी उत्पत्तिका नाश ब्रह्मज्ञानके विना नही हो- सकता यह वेदांतका डिंडिम (घोष वा ढंढोरा) है क्योंकि ये श्रुति ब्रह्मज्ञानसेंही बंधका नाश अन्वय व्यतिरेकसे कहती है कि देव (ब्रह्म)को ज्ञान कर सब बंध- नोंसे छुटताहै-शिव (सुखरूपब्रह्म) को जानकर अत्यंत शांतिको प्राप्त होताहै और जब चर्मके समान आकाशको मनुष्य लपेटते हैं तब (मरण समयमें) देवके विना ज्ञान- भी दुःखका अंत होजायगा अर्थात् मरनेपर संसारके दुःख प्रतीत न होंगे परंतु

---

१ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैर्ज्ञात्वा शिवं शांतिमत्यंतमेति ॥ यदाचर्मवदाकाशं वेष्टयंतिहिमानवाः । तदा दे- वमवि ज्ञाय दुःखस्यांतोभविष्याति ॥

सर्वथा दुःखका नाश ब्रह्मज्ञानसेही होताहै भावार्थ यहहै कि योगसे तत्कालके नाश होभी जाओ पर भविष्यकालके द्वैतका नाश ब्रह्मज्ञान विना नही होत वेदांतका सिद्धांतहै ॥ ३९ ॥

अनिवृत्तेऽपीशसृष्टे द्वैते तस्य मृषात्मताम् ॥
बुद्ध्वा ब्रह्माद्वयं बोद्धुं शक्यं वस्त्वैक्यवादिनः ॥ ४० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि बाह्य द्वैतकी निवृत्तिके विना अद्वितीय ब्रह्मज्ञान न होगा सो ठीक नही क्योंकि ईश्वरके रचे द्वैतकी निवृत्तिके विनाभी उसको मिथ्य रूप जानकर अद्वैतवादी अर्थात् एक वस्तुरूप ब्रह्मका ज्ञाता अद्वितीय ब्रह्मक जान सक्ताहै–सिद्धान्त यह है कि ब्रह्मज्ञानमें द्वैतका मिथ्यात्व निश्चय हेतुहै–सर्वथ निवृत्ति नही ॥ ४० ॥

प्रलये तन्निवृत्तौ तु गुरुशास्त्राद्यभावतः ॥
विरोधिद्वैताभावेऽपि न शक्यं बोद्धुमद्वयम् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि द्वैतका मिथ्यात्वज्ञान ब्रह्म (अद्वैत) ज्ञानका हेतु नही किन्तु द्वैतका निषेधहीहै सोभी ठीक नही क्योंकि प्रलय अवस्थामें द्वैतकी निवृत्ति होनेपरभी अद्वैतका विरोधी जो द्वैत–उसका अभाव अर्थात् निवारण होने-परभी गुरु और शास्त्र आदि जो ज्ञानके साधनहैं उनके अभावसे अद्वैत वस्तुको कोई नही जानसक्ता इससे द्वैतका निवारण अद्वैत ब्रह्मज्ञानका हेतु नही होसक्ता ॥ ४१ ॥

अबाधकं साधकं च द्वैतमीश्वरनिर्मितम् ॥
अपनेतुमशक्यं चेत्यास्तां तद्विष्यते कुतः ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि द्वैतके रहते किस प्रकार अद्वैतका ज्ञान होगा सो ठीक नही ईश्वरका रचाहुआ द्वैत अबाधकहै क्योंकि उसके मिथ्यात्व ज्ञानसेही अद्वैत ज्ञान होसक्ताहै इससे उसके माननेमें कोई बाधा नही और गुरुशास्त्र आदिरूप जो द्वैतहै वह ज्ञानका साधन होनेसे आकाश आदिरूप साधक द्वैत दूर करनेको अशक्यहै–इससे अबाधक और साधकरूप ईश्वरका रचा दो प्रकारका जो द्वैतहै उसका द्वेष क्यों करतेहो अर्थात् उसके रहनेसे हमारी कुछ हानि नहीं हमें ब्रह्मज्ञानसे प्रयोजनहै ॥ ४२ ॥

जीवद्वैतं तु शास्त्रीयमशास्त्रीयमिति द्विधा ॥
उपाददीत शास्त्रीयमा तत्त्वस्यावबोधनात ॥ ४३ ॥

पर
भाषार्थ–अब जीवके रचे द्वैतका विभाग करते हैं कि जीवका रचा शास्त्रोक्त व अशास्त्रोक्त भेदसे दो प्रकारका द्वैतहै उन दोनोंमें शास्त्रीय द्वैतको तो तबतक ...ार करले जबतक अद्वैतका ज्ञान नहो ॥ ४३ ॥

आत्मब्रह्मविचाराख्यं शास्त्रीयं मानसं जगत् ॥
बुद्धे तत्त्वे तच्च हेयमिति श्रुत्यनुशासनम् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–अब शास्त्रीय द्वैतको कहते हैं–कि आत्मस्वरूप ब्रह्मका जो श्रवण आदि ...वार वह शास्त्रीय मानस जगत्है–तत्वज्ञान होनेपर वहभी श्रुतिकी आज्ञासे ...ागने योग्यहै कदाचित् कोई कहै कि शयन और मरणपर्यंतके कालको वेदान्तकी ...न्तासे व्यतीत करै–इस वाक्यकी क्या गति होगी सो ठीक नही क्योंकि इसी ...क्यका पूर्व अर्द्ध जो किंचित्भी काम आदिके अवसर देनेका निषेध करताहै ...सके लियेही यह वाक्यहै कुछ इस लिये नहीहै कि अद्वैत अवस्थामेंभी वेदान्तका ...याग न करै ॥ ४४ ॥

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ॥
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् ॥ ४५ ॥
ग्रंथमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ॥
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रंथमशेषतः ॥ ४६ ॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रोंको पढकर और वारंवार उनका अभ्यास करके परब्रह्म ज्ञानके अनंतर उनको उल्काके समान त्यागदे–ज्ञान विज्ञानमें तत्पर बुद्धिमान् मनुष्य उन सब ग्रंथोंको इस प्रकार त्यागदे कि जैसे धान्यका अर्थी पलालको त्याग देताहै धीर ब्राह्मण उसी ब्रह्मको जानकर स्थिर बुद्धिकरै और बहुत शब्दोंका उच्चारण न करै क्योंकि वह वाणी विग्लापन (नाशन) है ये सब श्रुति तत्वज्ञानके अनन्तर शास्त्रके त्यागको कहती हैं ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुंचथ ॥
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञ इत्याद्याः श्रुतयः स्फुटाः ॥ ४८ ॥

त्यागावसरं किंचित्कामादीनांमनागपि । आसुप्तेरामृतेःकालंनयेद्वेदान्तचिन्तया ॥

भाषार्थ–क्योंकि उसी एक ब्रह्मको तुम जानो और अन्यवाणीयोंको छो बुद्धिमान् मनुष्य वाणी और मन इन दोनोंको वशमें रक्खै इत्यादि श्रुति प्रकट रीतिसे शास्त्रोंका, ज्ञानके अनंतर, त्याग लिखा है ॥ ४८ ॥

अशास्त्रीयमपि द्वैतं तीव्रं मंदमिति द्विधा ॥
कामक्रोधादिकं तीव्रं मनोराज्यं तथेतरत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–और अशास्त्रीयभी द्वैत तीव्र और मंद भेदसे दो प्रकारका है–उ काम क्रोध आदि तीव्र (भयानक) है–और मनोराज्य मंदरूप है ॥ ४९ ॥

उभयं तत्त्वबोधात्प्राङ्निवार्यं बोधसिद्धये ॥
शमः समाहितत्वं च साधनेषु श्रुतं यतः ॥ ५० ॥

भाषार्थ–ये दोनोंभी द्वैत–बोध (ज्ञान) सिद्धिके लिये तत्वज्ञानसे पहिले–निवारण करने योग्य हैं क्योंकि नित्यानित्यविवेकरूप जो ब्रह्मज्ञानके साधन हैं–उनमें शांति–और–समाधि दोनोंकारणभी सुनेहैं–अर्थात् इनसेभी ब्रह्मज्ञान होता है ॥५०॥

बोधादूर्ध्वं च तद्धेयं जीवन्मुक्तिप्रसिद्धये ॥
कामादिक्लेशबंधेन युक्तस्य नहि मुक्तता ॥ ५१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कोई कहै कि बोधसे पहिले त्यागने योग्य हैं तो उत्तरकालमें इनका स्वीकार हो जायगा–सो ठीक नही–क्योंकि बोधके अनंतर भी–ये–जीवन्मुक्तिके लिये त्यागने योग्य है–क्योंकि काम क्रोध आदि क्लेशसे जो बंधा मनुष्य है वह मुक्त नही हो सक्ता ॥ ५१ ॥

जीवन्मुक्तिरियं मा भूज्जन्माभावे त्वहंकृती ॥
तर्हि जन्मापि तेऽस्त्वेव स्वर्गमात्रात्कृती भवान् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् शंका करोकि जन्मआदि संसारसे जिसका उद्विग्नचित्त है वह आत्यंतिक पुरुषार्थरूप विदेहमुक्तिसेही–पूर्ण होजायगा–तो देहपातपर्यन्त जो स्थिर रहै–उस जीवन्मुक्तिका क्या प्रयोजन है–अर्थात् जीवन्मुक्ति मत हो जन्मके अभावमें ही कृतार्थ है ऐसा कहोगे तो इस लोकके भोगोंको निवृत्तिके–भयसे तुमनें जीवन्मुक्तिका त्याग किया तो परलोकके भोगोंकी निवृत्तिके भयसे विदेहमुक्तिभी आपको त्यागने योग्य हो जायगी इससे आपको तो जन्मकाभी स्वीकार रहो–और स्वर्गमात्रकी प्राप्तिसेही अपने आपेको कृतार्थ मानों ॥ ५२ ॥

क्षयातिशयदोषेण स्वर्गो हेयो यदा तदा ॥
स्वयं दोषतमात्माऽयं कामादिः किं न हीयते ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहोकि क्षय और अतिशयके दोषसे अर्थात् नष्ट-होना और क्यरूपसे स्वर्गत्यागने योग्य है—तो स्वयं—अत्यंत दूषितरूप काम आदिको ने योग्य क्यों नही मानते ॥ ५३ ॥

तत्त्वं बुद्ध्वाऽपि कामादीन्निःशेषं न जहासि चेत् ॥
यथेष्टाचरणं ते स्यात्कर्मशास्त्रातिलंघिनः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि-वैराग्यके संपादनसे अत्यंत अनर्थके हेतु काम दिका त्याग है—इस लोकमें भोगके हेतु काम आदिके स्वीकारमें क्या दोष है—ठीक नही क्योंकि यदि आप तत्वको जानकर भी निरशेष (सर्वथा) काम दिको नही त्यागोगे—तो कर्मशास्त्र (विधिनिषेध) के अवलंघनकर्ता आपका थेष्टाचरण (इच्छाके अनुसार) होगा ॥ ५४ ॥

बुद्धाद्वैतस्वतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ॥
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचिभक्षणे ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—और जाना है—अद्वैतब्रह्मका तत्व जिसने—ऐसा मनुष्य भी यदि यथेष्टाचरण करै तो—श्वान—और तत्वज्ञानी—इन दोनोंका अशुद्ध पदार्थोंके भक्षणमें कोन भेद होगा अर्थात् यथेष्टाचारी भी अशुद्धपदार्थका भक्षण करै तो उसका कोन निवारक है ॥ ५५ ॥

बोधात्पुरा मनोदोषमात्रात्क्लिश्नास्यथाऽधुना ॥
अशेषलोकनिंदा चेत्यहो ते बोधवैभवम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—ज्ञानसे पूर्व काम क्रोध आदि चित्तके दोषोंका ही आपको क्लेश था और अब तो संपूर्ण जगत्की निंदाको भी सहोगे—यह आपके बोधका वैभव आश्चर्य है॥५६॥

विड्वराहादितुल्यत्वं मा कांक्षीस्तत्त्वविद्भवान् ॥
सर्वधीदोषसंत्यागाल्लोकैः पूज्यस्व देववत् ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—जिससे तू तत्वका ज्ञाता है इससे विड्वराह आदिके तुल्य होनेकी आकांक्षा

मत करै किन्तु संपूर्ण बुद्धिके दोषोंके भली प्रकार त्यागसे जगत्में देव
समान पूजाको प्राप्त हो ॥ ५७ ॥

काम्यादिदोषदृष्ट्याद्याः कामादित्यागहेतवः ॥
प्रसिद्धो मोक्षशास्त्रेषु तानन्विष्य सुखी भव ॥ ५८ ॥

भाषार्थ–अब उनके त्यागका उपाय कहते हैं कि कामनाके विषय स्रक् चंदनआदि
द्वेष्य (वैरि) आदि हैं उनके जो अनित्यत्व आदि दोष उनके दोषोंका दर्शन
आदि जिनके ऐसे जो कोपस्वरूपके विचार आदि हैं वे कामआदिके त्यागमें हेतु
ये सब मोक्षशास्त्र (वेदांत) में प्रसिद्ध हैं उनका तू अन्वेषण (ढूंडना) कर
सुखको प्राप्त हो ॥ ५८ ॥

त्यज्यतामेष कामादिर्मनोराज्ये तु का क्षतिः ॥
अशेषदोषबीजत्वात्क्षतिर्भगवतेरिता ॥ ५९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि इस काम आदिको त्याग दो मनोराज्य तो निर्दोष है
इससे उसके स्वीकार करनेमें क्या हानि है सो ठीक नही क्योंकि संपूर्ण दोषोंक
बीज होनेसे मनोराज्यके माननेमें भगवान् श्रीकृष्णचंद्रने हानि कही है अर्थात् वह
यद्यपि साक्षात् अनर्थका हेतु नही है तथापि परंपरासे अनर्थका हेतु होनेसे त्यागने
योग्य है ॥ ५९ ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ॥
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६० ॥

भाषार्थ–जिससे परंपरासे मनोराज्य अनर्थका हेतु है उस भगवान्के वाक्यको
कहते हैं कि विषयोंका ध्यान करते हुये पुरुषका विषयोंमें संग होजाता है और
संगसे कामना होतीहै और कामनासे क्रोध हो जाता है ॥ ६० ॥

शक्यं जेतुं मनोराज्यं निर्विकल्पसमाधितः ॥
सुसंपादः क्रमात्सोऽपि सविकल्पसमाधिना ॥ ६१ ॥

भाषार्थ–निर्विकल्पसमाधिसे मनोराज्यको जीत सकते हैं और वह निर्विकल्प-
समाधि अर्थात् अद्वैतब्रह्ममें चित्तकी स्थिरता भी सविकल्प ब्रह्ममें समाधिसे भली
प्रकार हो सकती है ॥ ६१ ॥

बुद्धतत्त्वेन धीदोषशून्येनैकांतवासिना ॥
दीर्घं प्रणवमुच्चार्य मनोराज्यं विजीयते ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कोई कहै कि अष्टांगयोगसे जो युक्त है अर्थात् धारणा आदि कुं अंगोंमें प्रवीण है उसको मनोराज्यका जयरहो जो अष्टांगयोगी नही है ी क्या गति (उपाय) है–सो ठीक नही क्योंकि जिसने तत्वको जान लिया त् आत्मा और ब्रह्मकी एकताका निश्चय कर लिया और काम क्रोध आदि के दोषोंसे जो रहित है और एकांतस्थानका निवासी हो–ऐसा पुरुष दीर्घस्वरसे कारका उच्चारण करके मनोराज्यको जीत लेता है ॥ ६२ ॥

जिते तस्मिन्वृत्तिशून्यं मनस्तिष्ठति मूकवत् ॥
एतत्पदं वसिष्ठेन रामाय बहुधेरितम् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–अब मनोराज्यके जयका फल कहते हैं कि मनोराज्यके जीतने पर मन त्तियोंसे शून्य होकर मूकके समान टिकता है अर्थात् वाणीके सब व्यवहारोंसे हित हो जाता है–यही पद अर्थात् मनोराज्यके जीतनेका प्रकार वसिष्ठजीने मचंद्रके प्रति बहुधा वर्णन किया है ॥ ६३ ॥

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ॥
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–अब वसिष्ठजीके वचनको ही कहते हैं कि दृश्य जगत् नही है इस बोधसे अर्थात् (नेह नानास्ति किंचन) इस श्रुतिसे पैदा हुये ज्ञानके बलसे जब दृश्यके अर्थात् अद्वितीय ब्रह्मसे भिन्न जगत्के अभावका ज्ञान भली प्रकार हो गया तो उस ज्ञानसे परम निर्वाण सुखकी प्राप्ति जो सबसे उत्तम है वह हो जाती है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ मोक्षसुख हुआ, यह ज्ञान होजाता है ॥ ६४ ॥

विचारितमलं शास्त्रं चिरमुद्ग्राहितं मिथः ॥
संत्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥ ६५ ॥

भाषार्थ–और चाहै अद्वैतशास्त्रका पूर्णरीतिसे विचार किया हो और चाहै गुरु शिष्य आदि परंपरासे चिरकालतक उपदेश किया हो उन सबके करनेसे यही निश्चय होता है कि त्याग दी है वासना जिसने ऐसे मनके मौन रहनेसे दूसरा पद उत्तम नही है अर्थात् मौन सर्वोत्तम है ॥ ६५ ॥

विक्षिप्यते कदाचिद्धीः कर्मणा भोगदायिना ॥
पुनःसमाहिता सा स्यात्तदैवाभ्यासपाटवात् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार संपन्न हुये चित्तका कदाचित् प्रारब्धवश जो विक्षेप उस होनेमें उपायको कहते हैं यदि बुद्धि भी कदाचित् भोगके दाता कर्मसे विक्षेपको प्र हो जाय अर्थात् डिग जाय तो उसी समय अभ्यासकी दृढतासे समाहित (स्थिर हो जाती है ॥ ६६ ॥

विक्षेपो यस्य नास्त्यस्य ब्रह्मवित्त्वं न मन्यते ॥
ब्रह्मैवायमिति प्राहुर्मुनयः पारदर्शिनः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ–अब जिसका चित्त सदैव विक्षेपसे रहित रहता है वह यथार्थ ब्रह्मज्ञानी भी नही है इस बातको दिखाते है कि जिसको विक्षेप नही है उसको ब्रह्मज्ञानी नहीं मानते किंतु यह सब जगत् ब्रह्मरूप है इस प्रकार ब्रह्मज्ञानके ज्ञाताको पारदर्शी अर्थात् वेदांतशास्त्रके पारगामी आचार्य ब्रह्मज्ञानी. अर्थात् वही ब्रह्मज्ञानी हैं जो विक्षिप्तहुये चित्तका समाधान करले ॥ ६७ ॥

दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ॥
यस्तिष्ठति स तु ब्रह्मन् ब्रह्म न ब्रह्मवित्स्वयम् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ–इसमें भी वसिष्ठजीके वचनका उदाहरण देते हैं कि जो मनुष्य मैं ब्रह्मको जानताहूं मैं ब्रह्मको नहीं जानता इन दोनों व्यवहारोंको त्यागकर स्वयं अद्वितीय ब्रह्मरूपसे टिकता है वह स्वयं ब्रह्मही है ब्रह्मका ज्ञाता नही है अर्थात् ब्रह्मसे अभिन्न है॥ ६८॥

जीवन्मुक्तेः परा काष्ठा जीवद्वैतविवर्जनात् ॥
लभ्यतेऽसावतोऽत्रेदमीशद्वैताद्विवेचितम् ॥ ६९ ॥
इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थ
विद्यारण्यमुनिवर्यकृतद्वैतविवेकः समाप्तः ॥ ४ ॥

भाषार्थ–यह पूर्वोक्त प्रकारकी जो जीवन्मुक्तिकी पराकाष्ठा है अर्थात् सबसे उत्तम अंतभूमि है वह जीवका जो द्वैत (मनोमय प्रपंच) उसके त्यागसे प्राप्त होती है इस कारण यहां जीवद्वैतका ईश्वरके रचे द्वैतसे विवेक किया है अर्थात् दोनों पृथक् २ दिखादिये हैं ॥ ६९ ॥

इति पं० मिहिरचंद्रकृतभाषोद्धृतिसहितविद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्यां द्वैतविवेकः समाप्तः ॥ ४ ॥

पहिले एक अद्वितीय ब्रह्मरूप रहा इस वाक्यसे सृष्टिसे पहिले स्वगत आदि भेदोंसे शून्य नाम रूप रहित जो सत्वस्तु कही है इस सत् वस्तुको अब अर्थात् सृष्टिके अनंतरभी तथात्व है अर्थात् वह स्वगत आदि भेदसे शून्य सत्रूपही है इसको लक्षणावृत्तिसे तत्पद कहताहै भावार्थ यहहै कि जो सत् ब्रह्म सृष्टिसे पहिले एक अद्वितीय नाम रूपसे विवर्जित है अब सृष्टिके समर्थभी वह वैसा ही नाम रूपसे रहित है यह तत्पदका अर्थ है ॥ ५ ॥

श्रोतुर्देहेंद्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम् ॥
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ–अब त्वंपदका लक्ष्य अर्थ कहते हैं कि श्रोताके अर्थात् श्रवण आदिके द्वारा महावाक्यके अर्थका जो ज्ञाता उसके देह इंद्रियोंसे अतीत और स्थूल आदि तीनों शरीरोंका साक्षी जो विलक्षण सत्रूप वस्तु है उसको ही लक्षणावृत्तिसे त्वंपद कहता है–और इसी वाक्यका असि पद तत् त्वं इन दोनोंपदोंकी सामानाधिकरण्यसे सिद्ध हुयी जो एकता है अर्थात् दोनों पदोंका एक ब्रह्मरूप अर्थ है उसको मुमुक्षुके प्रति बोधन करता है इस प्रकार उन दोनों पदोंकी एकताको मुमुक्षु जानो–भावार्थ यह है कि श्रोताके देह इंद्रियोंसे अतीतवस्तुको त्वंपदने कहा है और असिपद दोनोंपदोंकी एकताको ग्रहण कराता है इस प्रकार दोनोंकी एकता जाननी॥६॥

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम् ॥
अहंकारादिदेहांतात्प्रत्यगात्मेति गीयते ॥ ७ ॥

भाषार्थ–अब क्रमसे प्राप्त अथर्वण वेदके– (अयमात्मा ब्रह्म) इस महावाक्यके अर्थकी व्याख्यान करनेकी इच्छासे प्रथम(अयं आत्मा) इन दो पदोंके अर्थको क्रमसे कहते हैं कि अयं यह कहनेसे स्वप्रकाश होनेसे अपरोक्षत्व (प्रत्यक्ष) मत (माना) है अर्थात् स्वप्रकाश अपरोक्ष ये दोनों विशेषण इस लिये हैं कि अदृष्टके समान नित्यपरोक्ष नही है और घट आदिके समान दृश्य नही है–कदाचित् कहो कि देह आदिमें आत्मा शब्दका प्रयोग देखते हैं इससे आत्मा पदके अर्थको कहते है कि अहंकार प्राण मन इंद्रिय देहपर्यंत संघातका जो प्रत्यगात्मा अर्थात् साक्षीरूप अंतरात्मा है उसको आत्मा कहते हैं-भावार्थ यह है कि अयम् इस पदका अर्थ स्वप्रकाश अपरोक्ष है–और अहंकारसे लेकर देहपर्यंतका जो साक्षी आंतर (भीतर है) वह आत्मा पदका अर्थ है ॥ ७ ॥

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते ॥
ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥ ८ ॥
इतिश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीभारतीतीर्थवि-
द्यारण्यमुनिवर्यकृतमहावाक्यविवेकः समाप्तः ॥ ५ ॥

भाषार्थ–ब्रह्मशब्दका प्रयोग ब्राह्मण आदिमें भी देखते हैं उसके निषेधार्थ ब्रह्म शब्दका अर्थ कहते हैं कि दीखनेके योग्य जो मिथ्यारूप आकाश आदि संपूर्ण जगत् उसका जो तत्व है अर्थात् सबका अधिष्ठान और निषेधकी अवधि होनेसे पारमार्थिक (सच्चा) सत् चित् आनंदरूप है वह ब्रह्म शब्दसे कहा जाता है और वह पूर्वोक्त ब्रह्म स्वप्रकाश आत्मस्वरूपहै भावार्थ यहहै कि दीखतेहुये संपूर्ण जगत्का जो तत्वहै उसको ब्रह्म शब्द कहता है और वह ब्रह्म स्वप्रकाश आत्मारूप है ॥ ८ ॥

इति श्री पं०मिहिरचंद्रकृत भाषोद्धृतिसहितश्रीविद्यारण्यमुनिरचितपंचदश्यां म-हावाक्यविवेकः समाप्तः ॥ ५ ॥

इति महावाक्यविवेकप्रकरणम् ॥ ५ ॥
पंचविवेकप्रकरणानि च समाप्तानि ।

॥ श्रीः ॥

पञ्चदशी ।

भाषाटीकासमेता ।

चित्रदीपप्रकरणम् ६

यथा चित्रपटे दृष्टमवस्थानां चतुष्टयम् ॥
परमात्मनि विज्ञेयं तथाऽवस्थाचतुष्टयम् ॥ १ ॥

भाषार्थ–करनेको इष्ट ग्रंथकी निर्विघ्नसमाप्तिके अर्थ (परमात्मनि) इस पदसे इष्टदेवताके स्मरणरूप मंगलको करताहुआ आचार्य मनमें यह विचार करके इस ग्रंथको वेदांतका प्रकरण होनेसे वेदांतमें जो विषय आदि चार अनुबंध होते हैं उनसे ही काम चल जायगा यह समझकर अर्थात् चारों अनुबंधोंका वर्णन छोडकर अध्यारोप अपवादसे निष्प्रपंच (जगत्से भिन्न ब्रह्म) का प्रपंच (वर्णन) कहते हैं इस न्यायके अनुसार परमात्मामें आरोप किये जगत्की दृष्टांतसहित स्थितिके प्रकारकी प्रतिज्ञा करते हैं कि जैसे चित्रपट (वस्त्र) में वक्ष्यमाण (जो कहेंगे) चार अवस्था देखीहैं इसप्रकार परमात्मामें भी वक्ष्यमाण चार अवस्था जाननी ॥ १ ॥

यथा धौतो घट्टितश्च लांछितो रंजितः पटः ॥
चिदंतर्यामी सूत्रात्मा विराट् चात्मा तथेर्यते ॥ २ ॥

भाषार्थ–अब उन अवस्थाओंको ही दिखाते हैं कि जैसे पट, धौत घट्टित लांछित रंजित अर्थात् धुला घुटा चिह्नसहित रंगा होता है अर्थात् एक ही वस्त्रमें चार अवस्था प्रतीत होती हैं इसी प्रकार परमात्मामेंभी चित् अंतर्यामी सूत्रात्मा विराट् ये चार अवस्था जाननी ॥ २ ॥

स्वतः शुभ्रोऽत्र धौतः स्याद्घट्टितोऽन्नविलेपनात् ॥
मष्याकारैर्लांछितः स्याद्रंजितो वर्णपूरणात् ॥ ३ ॥

भाषार्थ–अब वस्त्ररूप दृष्टांतकी चारोंअवस्थाओंका स्वरूप, क्रमसे दिखाते हैं कि स्वतः शुभ्र (शुक्ल) जो हो उसे धौत और अन्नका लेप (मावा) जिसमें हो

वह घट्टित और मसी (स्याही) के आकारके जिसमें चिन्ह हों वह लांछित और यथोचित वर्णोंसे जो पूर्ण हो वह रंजित होता है ॥ ३ ॥

स्वतश्चिदंतर्यामी तु मायावी सूक्ष्मसृष्टितः ॥
सूत्रात्मा स्थूलसृष्ट्यैव विराडित्युच्यते परः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—अब दार्ष्टांतिक (आत्मा) में चारों अवस्था दिखाते हैं कि परमात्मा स्वतः अर्थात् माया और मायाके कार्यसे रहित होनेसे चित् (चेतन) रूप है और मायाके संबंधसे अंतर्यामी कहाताहै और सूक्ष्म दृष्टिसे अर्थात् पंचीकरण रहित भूतोंके कार्य समष्टिरूप सूक्ष्म शरीरके संबंधसे सूत्रात्मा कहाताहै और स्थूलदृष्टिसे अर्थात् पंचीकरण किये भूतोंके कार्य समष्टिरूप स्थूल शरीररूप उपाधिके संबंधसे विराट् कहाताहै ॥ ४ ॥

ब्रह्माद्याः स्तंबपर्यंताः प्राणिनोऽत्र जडा अपि ॥
उत्तमाधमभावेन वर्तंते पटचित्रवत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—अब चित्र वस्त्ररूप परमात्माके चित्रोंको वर्णन करते हैं कि इस परमात्मामें उत्तम अधम रूपसे ब्रह्मा आदि स्तंबपर्यंत चेतनरूप प्राणी और गिरि नदी आदि जडपदार्थ चित्रपटके समान वर्तते हैं अर्थात् ये सब आत्माके चित्र हैं ॥ ५ ॥

चित्रार्पितमनुष्याणां वस्त्राभासाः पृथक् पृथक् ॥
चित्राधारेण वस्त्रेण सदृशा इव कल्पिताः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—ब्रह्मा आदि जगत्का स्थान चेतन है इसका कारण कहनेके लिये दृष्टांत कहते हैं कि जैसे चित्रमें लिखे हुये मनुष्योंके शरीरोंपर नानाप्रकारके वस्त्र पृथक् २ लिखे जाते हैं और चित्रका आधार जो वस्त्र उसके समान ही कल्पित किये जाते हैं इससे वस्त्राभास (दीखनेमात्र) कहाते हैं क्योंकि उन रंगोंसे शीत आदिकी निवृत्ति नही हो सकती ॥ ६ ॥

पृथक् पृथक् चिदाभासाश्चैतन्याध्यस्तदेहिनाम् ॥
कल्प्यंते जीवनामानो बहुधा संसरंत्यमी ॥ ७ ॥

भाषार्थ—अब दार्ष्टांतिक कहते हैं कि इसी प्रकार परमात्मामें आरोप किये जो देव आदि देहधारी हैं उनके शरीरोंके जो जीव नामके चिदाभास हैं वेभी प्रत्येक शरीरमें कल्पित हैं और पर्वत आदिके शरीरोंमें नदी—और ये जीव अनेक प्रकारसे

अर्थात् देव मनुष्य आदिरूप शरीरोंकी प्राप्तिसे जन्ममरणरूप संसारको भोगते हैं, परमात्मा नही क्योंकि वह विकार रहित है ॥ ७ ॥

वस्त्राभासस्थितान् वर्णान् यद्वदाधारवस्त्रगान् ॥
वदंत्यज्ञास्तथा जीवसंसारं चिद्गतं विदुः ॥ ८ ॥

भाषार्थ-संपूर्णवादी और लौकिक आत्माकोही संसार होता है, यह जो कहते हैं, उसमें अज्ञानही कारण है इस बातको दृष्टांत सहित वर्णन करते हैं कि जैसे मूर्ख अज्ञानी पुरुष वस्त्राभासोंमें स्थित वर्णोंको चित्रके आधार वस्त्रमें स्थित कहते हैं ऐसेही जीवके संसारकोभी अज्ञानी पुरुष चैतन्यमें मानते हैं ॥ ८ ॥

चित्रस्थपर्वतादीनां वस्त्राभासो न लिख्यते ॥
सृष्टिस्थमृत्तिकादीनां चिदाभासस्तथा नहि ॥ ९ ॥

भाषार्थ-अब गिरि नदी आदिकोंमें चिदाभासको कल्पनाके अभावको दृष्टांत पूर्वक वर्णन करते हैं कि जैसे चित्रमें स्थित पर्वत आदिकोंका प्रयोजनके अभावसे वस्त्राभास नही लिखा जाता है इसी प्रकार सृष्टिमें स्थित मृत्तिका आदिकोंमेंभी चिदाभास नही होता ॥ ९ ॥

संसारः परमार्थोऽयं सँल्लग्नः स्वात्मवस्तुनि ॥
इति भ्रांतिरविद्या स्याद्विद्ययैषा निवर्तते ॥ १० ॥

भाषार्थ-अब आत्मामें आरोपित संसार, ज्ञानसे निवृत्त होता है इसकी सिद्धिके लिये संसारकी मूल जो अविद्या उसको कहते हैं कि यह संसार परमार्थ (सच्चा) है और आत्मामें लगरहा है इस भ्रांतिको अविद्या कहते हैं और यह अविद्या विद्यासे निवृत्त होती है ॥ १० ॥

आत्माभासस्य जीवस्य संसारो नात्मवस्तुनः ॥
इति बोधो भवेद्विद्या लभ्यतेऽसौ विचारणात् ॥ ११ ॥

भाषार्थ-अब विद्या और उसके लाभका उपाय वर्णन करते हैं कि आत्माका आभास (चिदाभास) जो जीव उसको संसार है वस्तुरूपआत्माको नही है इस ज्ञानको विद्या कहते हैं इस विद्याका लाभ विचारसे होता है ॥ ११ ॥

सदा विचारयेत्तस्मात् जगज्जीवपरात्मनः ॥
जीवभावजगद्भावबाधे स्वात्मैव शिष्यते ॥ १२ ॥

भाषार्थ–अब जिसका विचार करै उसका वर्णन करते हैं कि तिससे जगत्, जीव, परमात्मा, इनका सदैव विचार करै–कदाचित् कहो कि मोक्षअवस्थामें फलरूप आत्मा रहता है इसमें आत्माका विचारतो उचित है और जीव और जगत्के विचारका क्या प्रयोजन है सो ठीक नही क्योंकि जीवभाव और जगत्भावका बाध (निषेध) होनेपर परमात्मा ही शेष रह जाता है भावार्थ यह है कि तिससे जगत् जीव परमात्मा इनको सदा विचारै क्योंकि जगत् जीव इनके निषेध होनेपर परमात्मा ही शेष रह जाता है ॥ १२ ॥

नाप्रतीतिस्तयोर्बाधः किंतु मिथ्यात्वनिश्चयः ॥
नोचेत्सुषुप्तिमूर्च्छादौ मुच्येतायत्नतो जनः ॥ १३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि पूर्वोक्तविचारसे जीव जगत्की प्रतीति न होगी तो व्यवहारकाही लोप हो जायगा इस शंकाके दूर करनेके लिये बाधशब्दका अर्थ और उस अर्थके न माननेमें दंड कहते हैं–कि कुछ जगत् और जीवकी अप्रतीतिका नाम बाध नही किंतु उनके मिथ्यात्वके निश्चयको बाध कहते हैं–ऐसे नहीं मानोंगे तो सोने और मूर्च्छामें स्वतः ही द्वैतकी प्रतीति नही होती इससे तत्वज्ञानके विनाही मनुष्य मुक्त हो जायगा ॥ १३ ॥

परमात्मावशेषोऽपि तत्सत्यत्वविनिश्चयः ॥
न जगद्विस्मृतिर्नोचेज्जीवन्मुक्तिर्न संभवेत् ॥ १४ ॥

भाषार्थ–और आत्मा ही शेष रह जाता है इस पूर्वोक्तपरमात्माके शेषमेंभी परमात्माका सत्यत्व निश्चय अर्थात् परमात्मा सत्य है यह ज्ञान ही लेना कुछ जगत्का विस्मरण नही ऐसा न मानोंगे तो जीवन्मुक्ति न होगे ॥ १४ ॥

परोक्षा चापरोक्षेति विद्या द्वेधा विचारजा ॥
तत्रापरोक्षविद्याप्तौ विचारोऽयं समाप्यते ॥ १५ ॥

भाषार्थ–सदा विचारै इस पूर्वोक्तवचनसे मरणपर्यंत विचार पाया इससे विचारकी अवधिको कहते हैं कि विचारसे पैदा हुई विद्या परोक्ष अपरोक्ष भेदसे दो प्रकारकी है उन दोनोंमें अपरोक्ष विद्यासे जो विचार प्राप्त होता है वहां यह विचार समाप्त हो जाता है अर्थात् पुनः विचारकी अपेक्षा नही रहती ॥ १५ ॥

अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ॥
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥ १६ ॥

भाषार्थ–अब विचारसे उत्पन्न परोक्ष अपरोक्षरूप दोनों विद्याओंके स्वरूपको क्रमसे कहते हैं कि यदि यह जानलिया कि ब्रह्म है तो वह परोक्ष ज्ञान है और यदि अहं ब्रह्म (मैं ब्रह्म हूं) यह ज्ञान होगया तो उसको साक्षात्कार कहते हैं॥१६॥

तत्साक्षात्कारसिद्ध्यर्थमात्मतत्त्वं विविच्यते ॥
येनायं सर्वसंसारात् सद्य एव विमुच्यते ॥ १७ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्तआत्माके साक्षात्कारका असाधारणकारण जो आत्मतत्वका विवेक उसकी प्रतिज्ञा करते हैं कि जिस आत्माके साक्षात्कारसे पुरुष शीघ्रही मुक्त होता है उस साक्षात्कारकी सिद्धिके लिये आत्मतत्वका विवेक करते हैं ॥१७॥

कूटस्थो ब्रह्म जीवेशावित्येवं चिच्चतुर्विधा ॥
घटाकाशमहाकाशो जलाकाशाभ्रखे यथा ॥ १८ ॥

भाषार्थ–चिदात्माको वास्तविक एकताके निश्चयार्थ व्यवहारदशामें प्रतीत जो चैतन्यका भेद उसको कहते हैं कि जैसे घटाकाश महाकाश जलाकाश मेघाकाश भेदसे एक ही आकाश चार प्रकारका है इसी प्रकार कूटस्थ, ब्रह्म, जीव, ईश, भेदसे एक चित्भी चार प्रकारका है ॥ १८ ॥

घटावच्छिन्नखे नीरं यत्तत्र प्रतिबिम्बितः ॥
साभ्रनक्षत्र आकाशो जलाकाश उदीर्यते ॥ १९ ॥

भाषार्थ–अब घटावछिन्न (युक्त) घटाकाश और घटसे अनवच्छिन्न महाकाश इन दोनों प्रसिद्धोंको छोडकर अप्रसिद्ध जलाकाशका वर्णन करते हैं कि घटावच्छिन्न आकाशमें जो जल है उसमें प्रतिबिंबित जो मेघ, नक्षत्रों,सहित आकाश उसको जलाकाश कहते हैं ॥ १९ ॥

महाकाशस्य मध्ये यन्मेघमंडलमीक्ष्यते ॥
प्रतिबिंबतया तत्र मेघाकाशो जले स्थितः ॥ २० ॥

भाषार्थ–अब अभ्राकाशको कहते हैं कि महाकाशके मध्यमें जो मेघोंका मंडल (समूह) दीखता है उस मंडलमें जो जल है उसमें प्रतिबिंबरूपसे जो स्थित है उसको मेघाकाश कहते हैं ॥ २० ॥

मेघांशरूपमुदकं तुषाराकारसंस्थितम् ॥
तत्र खप्रतिबिंबोऽयं नीरत्वादनुमीयते ॥ २१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि मेघका जल अप्रत्यक्ष है उसमें आकाशका प्रतिबिंब कैसे जाना जायगा-सो ठीक नही क्योंकि यद्यपि मेघका जल अप्रगट है तोभी वृष्टिरूपकार्यसे मेघमें वृष्टिके उपादानकारण सूक्ष्म अवयवरूप जलका अनुमान किया जाता है और उदकरूप ही हेतुसे उसमें आकाशका प्रतिबिंबभी अनुमित हो जायगा कि विवादका आश्रय जल आकाशके बिंबवाला होने योग्य है-जल होनेसे घटके जलकी तुल्य-इस अनुमानसे मेघके अंशरूपजलमेंभी आकाशका प्रतिबिंब हो सकता है–भावार्थ यह है कि बिंदुओंके आकारसे स्थित जो मेघका अंशरूप जल है उस जलमें भी यह आकाशका प्रतिबिंब जल होनेसे अनुमान किया जाता है॥२१॥

अधिष्ठानतया देहद्वयावच्छिन्नचेतनः ॥
कूटवन्निर्विकारेण स्थितः कूटस्थ उच्यते ॥ २२ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार दृष्टांतरूप चारोंआकाशोंका वर्णन करके दार्ष्टांतिकमें सबसे प्रथम जो कूटस्थ- उसका वर्णन करते हैं कि पंचीकरण किये पांचोंभूतोके कार्य जो स्थूल सूक्ष्मरूप, और अविद्यासे कल्पित दोनों शरीर उनका आधार होनेसे उन दोनोंसे अवच्छिन्न जो आत्मा उसको इससे कूटस्थ कहते हैं कि वह कूटके समान निर्विकाररूपसे स्थित है–भावार्थ यह है कि अधिष्ठान होनेसे स्थूलसूक्ष्म देहावच्छिन्न जो चेतन है–कूटके समान निर्विकारसे स्थित, उसको कूटस्थ कहते हैं ॥२२॥

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रतिबिंबकः ॥
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते ॥ २३ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार कूटस्थको कहकर कूटस्थमें कल्पित जो बुद्धि उसके प्रतिबिंबजीवका वर्णन करते हैं कि कूटस्थमें कल्पितबुद्धिमें पडा जो चित्का प्रतिबिंब उसको जीव कहते हैं और प्राणोंके धारणसे उसको जीव कहते हैं–और अविकारी कूटस्थको तो संसार होनेका असंभव है इससे वह जीव ही जन्म मरणरूप संसारसे युक्त होता है ॥ २३ ॥

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वैस्तिरोहितः ॥
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते ॥ २४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि जीवसे भिन्न कूटस्थ है तो भासता क्यों नही, सो ठीक नही–क्योंकि जैसे जलके आकाशसे संपूर्ण घटाकाश तिरोहित (ढकाहुआ) होता है–इसी प्रकार जीवसे कूटस्थ भी आच्छादित होता है इसीको वेदांतशास्त्रमें अन्योन्याध्यास कहते हैं ॥ २४ ॥

अयं जीवो न कूटस्थं विविनक्ति कदाचन ॥
अनादिरविवेकोऽयं मूलाविद्येति गम्यताम् ॥ २५ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त अध्यासका कारण जो अविद्या उसको कहते हैं कि यह जीव कूटस्थसे कदाचित् भी पृथक् नही होता है इस अनादि अविवेक (अज्ञान)को अर्थात् संसारदशामें दोनोंके भेदकी मूलविद्या जानों ॥ २५ ॥

विक्षेपावृत्तिरूपाभ्यां द्विधाऽविद्या व्यवस्थिता ॥
न भाति नास्ति कूटस्थ इत्यपादानमावृतिः ॥ २६ ॥

भाषार्थ-अब अविद्यासे कल्पित जीवको स्पष्ट करनेके लिये अविद्याका विभाग करते हैं कि विक्षेप और आवृत्तिरूपसे दो प्रकारकी अविद्या, व्यवस्थित है, उनमें कूटस्थ न भासता है और न है इस कथनको आवृति (आवारण) कहते हैं यह आवारण ही विक्षेपका हेतु है ॥ २६ ॥

अज्ञानी विदुषा पृष्टः कूटस्थं न प्रबुध्यते ॥
न भाति नास्ति कूटस्थ इति बुद्धा वदत्यपि ॥ २७ ॥

भाषार्थ-अब अविद्या और उसके किये आवरणके होनेमें लोकके अनुभवको प्रमाण कहते हैं क्या तू कूटस्थको जानता है इस प्रकार विद्वान्का पूछाहुआ अज्ञानी उस कूटस्थको मैं नही जानता इस प्रकार अज्ञानको जान (समझ)कर कहता है और यह अविद्याका अनुभव है और केवल अज्ञानके अनुभवको ही नही कहता अपितु कूटस्थ नही है न भासता है इस प्रकार कूटस्थके अभाव और अभान दोनोंको जानकर अज्ञानी पूर्वोक्तवचनको कहता है यह आवरणका अनुभव है इससे अविद्या और आवरणके प्रत्यक्षमें अनुभव ही प्रमाण है भावार्थ यह है कि विद्वानका-पूछा हुआ अज्ञानी कूटस्थको मैं नही जानता इस उत्तरको जो देता है-वह कूटस्थ नही भासता और न है इसको जानकर ही देता है ॥ २७ ॥

स्वप्रकाशे कुतोऽविद्या तां विना कथमावृतिः ॥
इत्यादितर्कजालानि स्वानुभूतिर्ग्रसत्यसौ ॥ २८ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कोई शंका करै कि तुमारे मतमें-आत्मा स्वप्रकाश है तो उसमें अविद्या न होगी-क्योंकि तेज और अंधकारके समान विरुद्धस्वभाव होनेसे उन दोनोंका संबंध नही हो सक्ता-और अविद्याके अभावमें अविद्याके किये आवरणको

नही कह सक्ते और आवरणके अभावमें आवरण है मूल जिसका ऐसा विक्षेप न होगा और विक्षेपके अभावमें वह अनर्थ न होगा जिसकी ज्ञानसे निवृत्ति मानते हो इससे ज्ञानभी व्यर्थ है फिर ज्ञानका प्रतिपादकशास्त्र भी अप्रमाण होजायगा, सो ठीक नही क्योंकि स्वप्रकाशमें अविद्या कहां और अविद्याके विना आवरण कहां इत्यादि तर्कोंके समूहको पूर्वश्लोकमें कहाहुआ जो अनुभव है वह ग्रस लेता है क्योंकि दृष्ट-पदार्थमें कुछ अनुपपत्ति नही होती ऐसा न्याय है ॥ २८ ॥

स्वानुभूतावविश्वासे तर्कस्याप्यनवस्थितेः ॥
कथं वा तार्किकंमन्यस्तत्त्वनिश्चयमाप्नुयात् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त तर्कके विरोधसे अनुभवको आभासमात्र मानोंगे तो उससे तत्वका निश्चय न होगा सो ठीक नही क्योंकि अनुभवको प्रमाण तार्किक न मानैंगा तो केवल निश्चयका अजनक तर्क जो अपनेआप स्वीकार किया हैं उससे तार्किकको कदाचित् भी तत्वका निश्चय न होगा भावार्थ यह है कि यदि अपने अनुभवमें ही विश्वास नही हैं तो तर्ककी भी स्थिति नही होगी इससे अपनेको तार्किक माननेवाला किस प्रकार तत्वनिश्चयको प्राप्त होगा अर्थात् नही होगा ॥ २९ ॥

बुद्धंचारोहाय तर्कश्चेदपेक्षेत तथा सति ॥
स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम् ॥ ३० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि अनुभवसे तत्वका निश्चय होताहै और अनुभव किये पदार्थकी यथार्थताके लिये तर्क भी मानने योग्य है सो ठीक नही क्योंकि यादि-बुद्धिमें आरोह (स्थिति) के लिये तर्ककी अपेक्षा है तो अपने अनुभवके अनुसार तर्क करो कुतर्क मत करो ॥ ३० ॥

स्वानुभूतिरविद्यायामावृतौ च प्रदर्शिता ॥
अतः कूटस्थचैतन्यमविरोधीति तर्क्यताम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—अब तर्कके अनुसारी पूर्वोक्त अनुभवका स्मरण दिलाते हैं कि अविद्या और आवरणमें जो अपना अनुभव. (अविद्या और आवरणमें जो दिखाय आये हैं) उस अनुभवसे ही यह तर्कना करो कि कूटस्थ और चैतन्य, इनका परस्पर विरोध नही ॥ ३१ ॥

तच्चेद्विरोधिकेनेयमावृतिर्ह्यनुभूयताम् ॥
विवेकस्तु विरोध्यस्यास्तत्त्वज्ञानिनि दृश्यताम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—यदि कूटस्थ और चैतन्यका विरोध होय तो इस आवरणका कोन अनुभव करै अर्थात् अविद्यारूप आवरणका चैतन्य ही विरोधी होय तो अविद्याकी प्रतीति ही न होय-और इस अविद्याका विरोधी विवेक है उस विवेकको तुम तत्त्वज्ञानीमें देखो-अर्थात् उपनिषदोंके विचारसे जो ज्ञानवान् है उसका जो विवेक-उससे ही अविद्याका नाश होता है ॥ ३२ ॥

अविद्यावृतकूटस्थे देहद्वययुता चितिः ॥
शुक्तौ रूप्यवदध्यस्ता विक्षेपाध्यास एव हि ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार अविद्या और आवरणको दिखाकर विक्षेपाध्यासको दिखातेहैं कि अविद्यासे आवृत- (ढका) कूटस्थके विषै जो स्थूलसूक्ष्म शरीर सहित चिदाभास, है शुक्तिमें रूप्य (चांदी) के समान उस अध्यासको विक्षेपाध्यास कहते हैं अर्थात् प्रत्यग् आत्मामें आरोपण किये-स्थूल सूक्ष्म शरीरसहित-कूटस्थके चिदाभासका नाम विक्षेपाध्यास है ॥ ३३ ॥

इदमंशश्च सत्यत्वं शुक्तिगं रूप्य ईक्ष्यते ॥
स्वयं त्वं वस्तुता चैवं विक्षेपे वीक्ष्यतेऽन्यगम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—अब इस विक्षेपको अध्याससिद्धिके लिये- शुक्तिरजतका जो अध्यास उसकी तुल्यता दिखाते हैं-कि जैसे शुक्तिका इदं (यह) अंश अर्थात्-नेत्रोंके अग्रिमदेशमें स्थित-और सत्यत्व ये दोनोंशुक्तिके रूप, रूप्यमें अर्थात् चांदीमें मनुष्योंको दीखते है इसी प्रकार कूटस्थके स्वयंत्व (अपनारूप) और वस्तुत्व (वस्तुता) ये जो दो धर्महैं-ये-चिदाभासमें दीखते हैं-यहां-विक्षेपशब्दसे चिदाभास लेतेहैं ॥ ३४ ॥

नीलपृष्ठत्रिकोणत्वं यथा शुक्तौ तिरोहितम् ॥
असंगानंदताद्येवं कूटस्थेऽपि तिरोहितम् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—अब सामान्य अंशकी प्रतीतिको दिखाकर-विशेषअंशोंकी अप्रतीतिसे तुल्यता दिखाते है कि जिसप्रकार शुक्तिकेनीलपृष्ठऔर त्रिकोण ये दो धर्म तिरोहित (छिपे) हैं इसी प्रकार कूटस्थकेभी असंग और आनंदरूप दोनों धर्म तिरो हितहैं अर्थात् चिदाभासमें प्रतीत नही होते ॥ ३५ ॥

आरोपितस्य दृष्टांते रूप्यं नाम यथा तथा ॥
कूटस्थाध्यस्तविक्षेपनामाहमिति निश्चयः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–अन्य भी तुल्यताको दिखाते हैं जैसे शुक्तिरूप दृष्टांतमें आरोप किये पदार्थका रूप्य (चांदी) यह नाम है–इसी प्रकार–कूटस्थमें–अध्यास किये चिदाभासरूप, विक्षेपका भी–अहं यह नाम है–यह शास्त्रका निश्चय है ॥ ३६ ॥

इदमंशं स्वतः पश्यन् रूप्यमित्यभिमन्यते ॥
तथा स्वं च स्वतः पश्यन्नहमित्यभिमन्यते ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि दृष्टांतमें नेत्रोंके आगे स्थित शुक्तिके खंडमें नेत्रका संबंध होनेपर–जैसे यह रजत है यह शुक्तिसे भिन्न रजतका अभिमान देखते हैं–तैसे दार्ष्टांतिकमें तो आत्मासे भिन्न वस्तुका अभिमान नहीं–देखते सो ठीक नहीं–क्योंकि जैसे मनुष्य–स्वयं इदं अंशको देखता हुआ–यह रजत है, यह मानता है इसी प्रकार स्वयं अपने रूपको देखता हुआ अहं–यह अभिमान करता है–इससे–स्वप्रकाश चिदात्माके विषय भी–उससे भिन्न–अहं यह अभिमान देखते हैं–इससे दृष्टांत–दार्ष्टांतिककी विषमता नहीं ॥ ३७ ॥

इदं त्वरूप्यते भिन्ने स्वत्वाहंते तथेष्यताम् ॥
सामान्यं च विशेषश्च ह्युभयत्रापि गम्यते ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि स्वयं–अहं–शब्दका एक अर्थ है–तो दृष्टान्त और दार्ष्टांतिककी तुल्यता कैसे होगी सो ठीक नहीं–क्योंकि जैसे–इदं–और रूप्य–ये दोनों अंश भिन्न हैं–इसी प्रकार स्व और अहंकोभी भिन्न मानों–क्योंकि सामान्य विशेषभावकी–प्रतीति दोनोंस्थानोंमें तुल्य है–अर्थात् वहां इदम् सामान्य और रूप्य विशेष है–ऐसे ही– यहां–स्व–सामान्य और अहं विशेष है ॥ ३८ ॥

देवदत्तः स्वयं गच्छेत्त्वं वीक्षस्व स्वयं तथा ॥
अहं स्वयं न शक्नोमीत्येवं लोके प्रयुज्यते ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–अब स्वयं शब्दको सामान्यरूप दिखानेके लिये लौकिकप्रयोगको दिखाते हैं कि देवदत्त स्वयं जाओ–तू स्वयं देख–मैं–स्वयं समर्थ नहीं इस प्रकार लोकमें–प्रयोग देखते हैं–अर्थात्–सामान्यरूप एक ही स्वयं शब्दका देवदत्त आदि विशेषोंके साथ अन्वय देखते हैं ॥ ३९ ॥

इदं रूप्यमिदं वस्त्रमिति यद्वदिदं तथा ॥
असौ त्वमहमित्येषु स्वयमित्यभिमन्यते॥ ४० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि लोकमें इस प्रकार रहो–इससे किस प्रकार स्वयं शब्दका अर्थ सामान्य होगा–सो ठीक नही क्योंकि जैसे–इदं रूप्यम् इदं वस्त्रम् अर्थात् यह रूप्य है–यह वस्त्र है–यहां–इदंरूप सामान्य है–इसी प्रकार असौ–त्वं–अहं–(यह–तू–मैं) इनमेंभी स्वयं इस शब्दका प्रयोग मानते हैं इससे–इदं–अर्थके समान, स्वयं–शब्दका अर्थभी सामान्यरूप है ॥ ४० ॥

अहंत्वाद्भिद्यतां स्वत्वं कूटस्थे तेन किं तव ॥
स्वयंशब्दार्थ एवैष कूटस्थ इति मे भवेत् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि स्वयं–और अहं–शब्दका भेद आत्मामें रहो तथापि कूटस्थ आत्मामें क्या आया इस आशयसे–वादी पूछता है–कि अहं शब्दसे स्वश–ब्दका भेद रहो–उससे तेरे कूटस्थमें क्या सिद्ध होगा–सिद्धांती उत्तर देता है कि मेरे मतमें–यह होगा कि–स्वयं शब्दका अर्थही कूटस्थ है उससे–भिन्न नही ॥ ४१ ॥

अन्यत्ववारकं स्वत्वमिति चेदन्यवारणम् ॥
कूटस्थस्यात्मतां वक्तुरिष्टमेव हि तद्भवेत् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि–भेदका निषेधक स्वत्वरूप धर्म है–वह कूटस्थका बोधन न करैगा सो ठीक नही–क्योंकि भेदका निवारक स्वत्व है तो भेदकी निवृत्ति जो कूटस्थको आत्मा कहता है उसके मतमें वह इष्टही हो जायगा अर्थात् जो भेद निवृत्ति उसको इष्ट थी वह अनायाससे सिद्ध हो जायगी ॥ ४२ ॥

स्वयमात्मेति पर्यायौ तेन लोके तयोः सह ॥
प्रयोगो नास्त्यतः स्वत्वमात्मत्वं चान्यवारकम् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् शंका करो कि स्वयं और आत्मा इन दोनों शब्दोंके–स्वयंत्व और–आत्मत्वरूप–प्रवृत्ति निमित्त भिन्न भिन्न हैं इससे गौः अश्व आदि शब्दोंके समान इनका एक अर्थ नही–और एक अर्थ न होनेसे स्वयं शब्दका अर्थ कूटस्थ आत्मा कैसे होगा–सो ठीक नही स्वयं आत्मा ये दोनों शब्द–हस्त और करके समान–पर्याय हैं इसीसे लोकमें इनका संग प्रयोग नही होता–इससे स्वत्व और आत्मत्व ये दोनों अन्यके निषेधक हैं ॥ ४३ ॥

घटः स्वयं न जानातीत्येवं स्वत्वं घटादिषु ॥
अचेतनेषु दृष्टं चेत् दृश्यतामात्मसत्त्वतः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि घट स्वयं नही जानता–इस प्रकार अचेतन घट

आदिकोंमेंभी स्वत्वको देखाहै—इससे स्वयं आत्मा दोनों एक नही होसकते सो ठीक नही क्योंकि घट आदिकोंमेंभी प्रकाशमान आत्मरूप चैतन्य है—उसकी सत्तासे अचेतनोंमेंभी देखा है तो देखो उसके देखनेमें कोई विरोध नही ॥ ४४ ॥

चेतनाचेतनभिदा कूटस्थात्मकृता न हि ॥
किंतु बुद्धिकृताभासकृतैवेत्यवगम्यताम् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहोकि घट आदिकोंमेंभी जो आत्मचैतन्यको मानोंगे तो—चेतन अचेतनके विभागका हेतु कोन होगा—सो ठीक नहीं—क्योंकि चेतन और अचेतनका भेद कूटस्थ और आत्माका किया हुआ नही किंतु बुद्धिमें प्रतिबिम्बित चिदाभासका किया है इसको तुम जानो ॥ ४५ ॥

यथा चेतन आभासः कूटस्थे भ्रांतिकल्पितः ॥
अचेतनो घटादिश्च तथा तत्रैव कल्पितः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहोकि चेतन अचेतनका विभाग चिदाभासकी सत्ता और असत्तासे मानोंगे तो अचेतनोंमें आत्माकी सत्ताका स्वीकार निष्प्रयोजन हो जायगा इस आशंकाका उत्तर यह है कि चेतन अचेतनके विभागका हेतु कूटस्थको न मानों तोभी अचेतनकी कल्पनाका अधिष्ठान कूटस्थ मानना पडैगा इस अभिप्रायसे कूटस्थमें घट आदिकोंकी कल्पना और दृष्टांतोंको कहते हैं कि जैसे कूटस्थमें भ्रमसे चेतनका आभास कल्पित है—इसी प्रकार अचेतन घट आदिभी चेतनमेंही कल्पित हैं ॥ ४६ ॥

तत्तेदंते अपि स्वत्वमिव त्वमहमादिषु ॥
सर्वत्रानुगते तेन तयोरप्यात्मतेति चेत् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—स्व और आत्माको एक माननेमें शंका करते हैं कि तत्ता और इदंता (वह और यह) भी स्वत्वके समान त्वं अहं (तूमैं) आदिमें सर्वत्र अनुगत प्रविष्ट हैं तिससे उनदोनोंको आत्मत्व हो जायगा अर्थात् वेभी आत्मा मानने चाहिये ॥ ४७ ॥

ते आत्मत्वेऽप्यनुगते तत्तेदं. ततस्तयोः ॥
आत्मत्वं नैव संभाव्यं सम्यक्त्वादेर्यथा तथा ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—पूर्वोक्त शंकाका उत्तर यह है कि तत्ता और इदंताको आत्मत्वसे अधिक वृत्ति होनेसे आत्मत्व नही हो सकता कि वे तत्ता और इदंता स्वत्वके समान त्वं अहं आदिमें अनुगत है अर्थात् वर्तमान है तथापि वे, दोनों, जैसे त्वं अहं आदिमें अनु-

गत हैं ऐसेही आत्मत्वमेंभी अनुगत हैं क्योंकि तद् आत्मत्वं इदं आत्मत्वं (वह आत्मत्व यह आत्मत्व) यह व्यवहार होता है इससे तत्ता इदंताको आत्मत्वकी अपेक्षा अधिकमें वर्तमान होनेसे इस प्रकार आत्मारूप नही हो सकते जैसे सम्यक्त्व अर्थात् यह आत्मा सम्यक् (श्रेष्ठ) है और यह असम्यक् है यहां आत्मामें अनुवर्तमानभी सम्यक्त्व असम्यक्त्व आत्मा नही हो सकते इसी प्रकार तत्ता और इदंताभी आत्मा नही हो सकते-भावार्थ यह है कि वे तत्ता इदंता आत्मत्वमें भी वर्तमान हैं तिससे वे दोनों सम्यक्त्व आदिके समान आत्मा नहीं हो सकते ॥ ४८ ॥

तत्तेदंते स्वतान्यत्वे त्वंताहंते परस्परम् ॥
प्रतिद्वंद्वितया लोके प्रसिद्धे नास्ति संशयः ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-अब प्रसंगकी बातको समाप्त करके फलित दिखानेके लिये लोकप्रसिद्धि को कहते हैं कि तत्ताका प्रतिद्वंद्वी (प्रतियोगी) इदंताको जैसे वह यह है और स्वत्वका प्रतिद्वंद्वी अन्यत्वको जैसे स्वयं अन्य है और त्वत्ताका प्रतिद्वंद्वी अहंताको जैसे तू मैं हैं इस प्रकार जगत्में प्रतिद्वंद्वी भावसे प्रयोग देखते हैं अर्थात् इन दो दोका मेल देखते हैं इसमें संशय नही है ॥ ४९ ॥

अन्यतायाः प्रतिद्वंद्वी स्वयं कूटस्थ इष्यताम् ॥
त्वंतायाः प्रतियोग्येषोऽहमित्यात्मनि कल्पितः ॥ ५० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहोकि जगत्में यह प्रसिद्धि रहो प्रकरणमें (यहां) क्या सिद्ध हुआ, सो ठीक नही क्योंकि अन्यताका प्रतिद्वंद्वी स्वयं शब्दका अर्थ और त्वत्ताका प्रतिद्वंद्वी अहं शब्दका अर्थ जो चिदाभासहै वह कूटस्थ आत्माके विषय कल्पित है यह तुम मानोंकि स्वयं कूटस्थ है यह मैं हूं ॥ ५० ॥

अहंतास्वत्वयोर्भेदे रूप्यतेदंतयोरिव ॥
स्पष्टेऽपि मोहमापन्ना एकत्वं प्रतिपेदिरे ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त प्रकारसे जीव कूटस्थका भेद होनेपरभी सबको इस प्रकार ज्ञान क्यों नही होता इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि बुद्धिका साक्षी जो कूटस्थ उसका प्रत्यक्ष बुद्धिसे नही हो सकता इससे अहं (मैं) इस प्रतीतिसे भासते हुये जो जीव और कूटस्थ हैं उनकी एकता भ्रांतिसे प्रतीत होतीहै कि जैसे शुक्तिके विषय इदं रजतं (यह रजत है) यहां रजतपना और इदंपनाकी मोहसे एकता प्रतीत होती है, तिसी प्रकार अहंता और स्वत्वके

भेदकी स्पष्टता होनेपरभी मोहको प्राप्त हुये पुरुष एकताको स्वीकार करलेते हैं अर्थात् दोनोंको एक मान लेते हैं ॥ ५१ ॥

तादात्म्याध्यास एवात्र पूर्वोक्ताविद्यया कृतः ॥
अविद्यायां निवृत्तायां तत्कार्यं विनिवर्तते ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–अब जीव और कूटस्थको एक माननेके भ्रममें जो कारण उसको कहते हैं कि जो तादात्म्य (एकताका) अध्यास है वही पूर्वोक्त अनादि अविद्याका किया है और ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपर अविद्याके कार्य पूर्वोक्त अध्यासकीभी निवृत्ति हो जाती है ॥ ५२ ॥

अविद्यावृतितादात्म्ये विद्ययैव विनश्यतः ॥
विक्षेपस्य स्वरूपं तु प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥ ५३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि अविद्याका कार्य जो अध्यास उसकी निवृत्ति अविद्याकी निवृत्तिसे होती है यह नही हो सकता क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होनेपरभी देह आदि प्रतीत होते हैं सोभी ठीक नही क्योंकि एक अविद्याही है कारण जिनका ऐसे आवरण और तादात्म्य ये दोनों तो विद्यासेही नष्ट होजाते हैं और कर्म सहित अविद्यासे पैदा हुआ जो विक्षेप (संसार) उसका स्वरूप तो प्रारब्धके क्षयको देखताहै अर्थात् देह आदि संसार अपने प्रारब्धकर्म तक रहता है ॥ ५३ ॥

उपादानेविनष्टेऽपि क्षणं कार्यं प्रतीक्षते ॥
इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं किन्न संभवेत् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि प्रारब्ध निमित्त कारण है केवल उससे अविद्या रूप उपादान कारणके नाश होनेपर कार्यरूप देह आदिकी स्थिति नही हो सकेगी सोभी ठीक नही क्योंकि अन्य शास्त्रवाले तार्किक (नैय्यायिक) जैसे यह कहते हैं कि उपादान कारणकी निवृत्ति होनेपरभी क्षणमात्र कार्यकी अनुवृत्ति (स्थिति) देखते हैं अर्थात् क्षणभर कार्य बना रहताहै इसी प्रकार हमारे मतमेंभी देह आदि कार्य बने रहेंगे ॥ ५४ ॥

तंतूनां दिनसंख्यानां तैस्तादृक् क्षण ईरितः ॥
भ्रमस्यासंख्यकल्पस्य योग्यः क्षण इहेष्यताम् ॥ ५५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि नैय्यायिक कार्यकी स्थिति क्षणमात्र मानते हैं चिरकाल

तक नहीं सोभी ठीक नही क्योंकि कितनेक दिनोंकी है संख्या (अल्प) जिनकी ऐसे तंतुओंका क्षणभी उतनाही कहाहै और असंख्य कल्पांतक है स्थिति जिसकी ऐसा जो भ्रम उसके योग्यही उसका क्षण यहां मानना इष्टहै अर्थात् अनादि काल-से चलाआया जो संसार उसके संस्कारके आधीन चिरकालतक अनुवृत्ति इस प्रकार होतीहै जैसे कुलालके चक्रका भ्रमण होता रहताहै ॥ ५५ ॥

विना क्षोदक्षमं मानं तैर्वृथा परिकल्प्यते ॥
श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किन्नु दुःशकम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि तार्किकोंकोंने जैसा युक्त कहा वैसाही आपने कहा सोभी ठीक नही क्योंकि हमारे और उनके कथनमें यह भेद है कि वे तार्किक तो विचारके सहने योग्य मान (प्रमाण) के विना वृथाही कल्पना करते हैं और श्रुति युक्ति अनुभवसे कहनेवाले जो हम (वेदांती) हैं उनको कोन बात अशक्य है अर्थात् हमारे मतमें उसको तबतकही विलंब है जबतक मोक्ष नही होता फिर तो वह ब्रह्मरूप होजाता है यह श्रुति और चक्रके भ्रमणरूप युक्ति और विद्वानोंका अनुभव–ये तीन प्रमाण हैं और तार्किकोंके मतमें कोईभी प्रमाण नही है–भावार्थ यह है कि तार्किक बिचार सहित प्रमाणके विना वृथा कल्पना करते हैं और श्रुति युक्ति अनुभव सहित कहनेवाले हमारे मतमें कोन वस्तु अशक्य है अर्थात् नही हो सकती है ॥ ५६ ॥

आस्तां दुस्तार्किकैः साकं विवादः प्रकृतं ब्रुवे ॥
स्वाहमोः सिद्धमेकत्वं कूटस्थपरिणामिनोः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ–दुष्ट जो तर्क उसके कर्ता तार्किकोंके संग विवाद रहो अब प्रकरणकी बात कहते हैं कि स्व और अहं जो कूटस्थके परिणामी हैं उनकी एकता भ्रमसे सिद्ध है अर्थात् अज्ञानसे दोनों एक प्रतीत होते हैं ॥ ५७ ॥

भ्राम्यंते पंडितंमन्याः सर्वे लौकिकतैर्थिकाः ॥
अनादृत्य श्रुतिं मौर्ख्यात्केवलां युक्तिमाश्रिताः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् शंका करोकि कूटस्थ जीवकी एकता भ्रमसे सिद्ध है तो यह भ्रांत मनुष्य है इसको कोईभी नही जानते सोभी ठीक नही–क्योंकि मूर्खतासे श्रुतिके तात्पर्यका अनादर करके और अपनेको पंडित मानते हुये संपूर्ण लौकिक और तै-र्थिक अर्थात् जगत्के मनुष्य और शास्त्रोंके ज्ञाता केवल युक्तिकेही बलसे भ्रमको प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५८ ॥

पूर्वापरपरामर्शविकलास्तत्र केचन ॥
वाक्याभासान् स्वस्वपक्षे योजयंत्यप्यलज्जया ॥ ५९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि श्रुतियोंके अर्थके वक्ताभी कोई २ ऐसे (इस प्रकार) क्यों नही जानते सोभी ठीक नही क्योंकि पूर्व और अपरके विचारमें व्याकुल हुये कोई वेदके ज्ञाताभी उसमें अपने २ पक्षमें वाक्योंके आभासों (नामके वाक्य) को निर्लज्ज होकर युक्त करते हैं अर्थात् घटाते हैं और संपूर्ण श्रुतियोंके अर्थको नही देखते ॥ ५९ ॥

कूटस्थादिशरीरांतसंघातस्यात्मतां जगुः ॥
लोकायताः पामराश्च प्रत्यक्षाभासमाश्रिताः ॥ ६० ॥

भाषार्थ–अब प्रत्यक्षप्रमाण माननेवाले स्थूलबुद्धि जो लोकायत उनके पक्षकोही प्रथम कहते हैं कि लोकायत (नास्तिक) और पामर मनुष्य केवल प्रत्यक्षाभास प्रमाणके आश्रयसे कूटस्थ और शरीर पर्यंत संघातकोही आत्मा कहते हैं ॥ ६० ॥

श्रौतीकर्तुं स्वपक्षं ते कोशमन्नमयं तथा ॥
विरोचनस्य सिद्धांतं प्रमाणं प्रति जज्ञिरे ॥ ६१ ॥

भाषार्थ–और वे प्रत्यक्षप्रमाणके वादीभी अन्योंके मोहनार्थ अपने मतको श्रुतिसिद्ध करनेके लिये यह वाक्यभी कहते हैं कि वह यही पुरुष (ईश्वर) है जो अन्नरसमय (देह) है इस श्रुतिके वाक्यको कहते हैं और विरोचनका जो यह सिद्धांत है कि आत्माही देहमय है इसकोही प्रमाण मानते हैं भावार्थ यह है कि प्रमाणकी प्रतिज्ञा मात्र करते हैं उपपादन (कथन) नही कर सकते ॥ ६१ ॥

जीवात्मनिर्गमे देहमरणस्यात्र दर्शनात् ॥
देहातिरिक्त एवात्मेत्याहुर्लोकायताः परे ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–अब इस पक्षमें दोषको दिखाकर अन्यमतको कहते हैं कि जीवरूप आत्माके निकसनेपर देहका मरना जगत्में देखते हैं इससे देहसे भिन्नही आत्माहै यह अपर (अन्य) लोकायत कहते हैं ॥ ६२ ॥

प्रत्यक्षत्वेनाभिमताहंधीर्देहातिरेकिणम् ॥
गमयेदिंद्रियात्मानं वच्मीत्यादिप्रयोगतः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–अब, वह देहसे भिन्न कैसा आत्माहै और किस प्रमाणसे जाना जाताहै

यह दिखाते हैं कि मैं कहता हूं मैं देखता हूं इत्यादि प्रयोगसे प्रत्यक्ष दीखती हुई जो अहंबुद्धि है वह देहसे भिन्न इंद्रियरूप आत्माको जनाती है इससे देहसे भिन्न इंद्रियही आत्मा है ॥ ६३ ॥

वागादीनामिंद्रियाणां कलहः श्रुतिषु श्रुतः ॥
तेन चैतन्यमेतेषामात्मत्वं तत एव हि ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अचेतन इंद्रियोंको आत्मत्व कैसे होगा क्योंकि श्रुतियोंमें इंद्रियोंको अचेतन कहा है सो ठीक नही कि वाक् आदि इंद्रियोंका कलह श्रुतियोंमें सुनाहै तिससे ये इंद्रिय चेतन हैं और चेतन होनेसेही आत्मा रूप हैं यह मत उनका है जो इंद्रियोंकोही आत्मा मानते हैं ॥ ६४ ॥

हैरण्यगर्भाः प्राणात्मवादिनस्त्वेवमूचिरे ॥
चक्षुराद्यक्षलोपेऽपि प्राणसत्त्वे तु जीवति ॥ ६५ ॥

भाषार्थ–प्राणोंकोही जो आत्मा कहते हैं वे हैरण्यगर्भ तो ऐसे वर्णन करते हैं कि नेत्र आदि इंद्रियोंके नष्ट होनेपरभी प्राणोंकी सत्तासे मनुष्य जीताहै. इससे प्राणही आत्मा है ॥ ६५ ॥

प्राणो जागर्ति सुप्तेऽपि प्राणश्रैष्ठ्यादिकं श्रुतम् ॥
कोशः प्राणमयः सम्यग्विस्तरेण प्रपंचितः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–अब प्राणको आत्मा माननेमें श्रुतिके प्रमाण देते हैं कि सोनेके समयमें इस देहमें प्राणही जागताहै और प्राणके आश्रयसे उठताहै इससे प्राणही उक्थ है इस श्रुतिसे प्राणकीही श्रेष्ठता सुनी है और अन्य अंतर (भीतर) प्राणमय आत्माहै इत्यादिसे प्राणमयकोशका विस्तारसे वर्णन किया है और प्राणका संवाद प्रवेश आदिभी देखते हैं इससे प्राणही आत्मा है ॥ ६६ ॥

मन आत्मेति मन्यंत उपासनपरा जनाः ॥
प्राणस्याभोक्तृता स्पष्टा भोक्तृत्वं मनसस्ततः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ–अब प्राणसेभी अंतर मनको आत्मा माननेवालोंके मतको कहते हैं कि मनही आत्मा है यह मानते और उपासना करते हुये जन यह कहते हैं कि प्राण भोक्ता नही है यह बात स्पष्टहै तिससे सुखदुःखका भोक्ता मनही होसकता है और वही आत्मा है ॥ ६७ ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ॥
श्रुतो मनोमयः कोशस्तेनात्मेतीरितं मनः ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—अब मनको आत्मा माननेमें युक्तिकी बोधक श्रुतिको कहते हैं कि मनुष्योंके बंधन और मोक्षका कारण मनही है और तिस इस प्राणमयसे अन्य अंतर आत्मा मनोमय है यह श्रुतिमें मनोमयकोश सुनाहै तिससे मनही आत्मा है यह श्रुतिमें कहा है ॥ ६८ ॥

विज्ञानमात्मेति पर आहुः क्षणिकवादिनः ॥
यतो विज्ञानमूलत्वं मनसो गम्यते स्फुटम् ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—अब मनसेभी अंतर विज्ञानमय कोशको आत्मा माननेवाले बौद्धके मतको कहते हैं कि अन्य क्षणिक वादी विज्ञानही आत्माहै यह कहते हैं जिससे इस संपूर्ण जगत्का मूल विज्ञानही स्पष्ट है ॥ ६९ ॥

अहंवृत्तिरिदंवृत्तिरित्यंतःकरणं द्विधा ॥
विज्ञानं स्यादहंवृत्तिरिदंवृत्तिर्मनो भवेत् ॥ ७० ॥

भाषार्थ—अब. विज्ञान मनरूप अंःतकरण एक है इससे मन और विज्ञान इनका कार्य कारण भाव कैसे होगा यह शंका करके उनका भेद कहनेके लिये रीतिको कहते हैं कि अहं वृत्ति और इदं वृत्तिसे अंतःकरण दो प्रकारका है उनमें अहं वृत्तिको विज्ञान और इदं वृत्तिको मन कहते हैं ॥ ७० ॥

अहंप्रत्ययबीजत्वमिदंवृत्तेरिति स्फुटम् ॥
अविदित्वा स्वमात्मानं बाह्यं वेत्ति न तु क्वचित्॥ ७१ ॥

भाषार्थ—अब अहं प्रतीति और इदं प्रतीतिके कार्यकारण भावको कहते हैं कि इदं (यह है) प्रतीतिका बीज (कारण) अहं प्रतीति है क्योंकि अपनी आत्माके विनाजाने कदाचित्भी बाह्य विषयको नही जान सकता अर्थात् अहं वृत्तिके पैदा हुये विना इदं वृत्ति नही हो सकती इससे इन दोनोंका कार्यकारण भाव है॥ ७१॥

क्षणे क्षणे जन्मनाशावहंवृत्तेर्मितौ यतः ॥
विज्ञानं क्षणिकं तेन स्वप्रकाशं स्वतो मितेः ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—अब विज्ञान क्षणिक (अनित्य) है इसमें अनुभव प्रमाणको कहते हैं कि जिससे अहंवृत्तिका जन्म और नाश क्षण २ में माने हैं इससे विज्ञान क्षणिक

है और अपने आपही उसका ज्ञान होता है इससे वह स्वप्रकाश रूप है अर्थात् उसका अन्यकोई ज्ञाता नही है ॥ ७२ ॥

विज्ञानमयकोशोऽयं जीव इत्यागमा जगुः ॥
सर्वसंसार एतस्य जन्मनाशसुखादिकः ॥ ७३ ॥

भाषार्थ– अब विज्ञानको आत्मारूप होनेमें वेद प्रमाण देते हैं कि तिस इस आत्मासे अन्य अंतर आत्मा है जो विज्ञानमय है विज्ञानही यज्ञका विस्तार करता है इस आगम (वेद) से विज्ञानमयकोशही जीव है और संपूर्ण संसार इसकेही जन्म, नाशसे सुख दुःख आदिको भोगता है ॥ ७३ ॥

विज्ञानं क्षणिकं नात्मा विद्युदभ्रनिमेषवत् ॥
अन्यस्यानुपलब्धत्वाच्छून्यं माध्यमिका जगुः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ–अब बौद्धोंके भेद शून्य वादियोंका मत कहते हैं कि बीजली मेघ निमेष इनके समान क्षणिक विज्ञान आत्मा नही है और अन्य कोई आत्मा प्रतीत नही होता इससे शून्य है यह माध्यमिक कहते हैं ॥ ७४ ॥

असदेवेदमित्यादाविदमेव श्रुतं ततः ॥
ज्ञानज्ञेयात्मकं सर्वं जगद्भ्रांतिप्रकल्पितम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ–उसमें श्रुति प्रमाण कहते हैं कि यह संपूर्ण असत् ही है इत्यादि श्रुतियोंमें शून्यही सुना है और जो यह ज्ञान ज्ञेयरूप जगत् प्रतीत होता है यह सब भ्रांतिसे कल्पित है ॥ ७५ ॥

निरधिष्ठानविभ्रांतेरभावादात्मनोऽस्तिता ॥
शून्यस्यापि ससाक्षित्वादन्यथा नोक्तिरस्य ते ॥ ७६ ॥

भाषार्थ–अब शून्यवादीके मतमें दोष देते हैं कि आकारसे रहित जो शून्य वह भ्रमका अधिष्ठान नही हो सकता और अधिष्ठानके विना भ्रम हुआ नही करता; इससे जगत्की कल्पनाका अधिष्ठान जो आत्मा उसकी सत्ता माननी चाहिये और शून्यवादीकोभी शून्यका साक्षी आत्मा अवश्य मानना पडेगा अन्यथा (नमानोंतो) इस शून्यका कहना तेरे (बौद्ध) मतमें सिद्ध न होगा ॥ ७६ ॥

अन्यो विज्ञानमयत आनंदमय आंतरः ॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्य इति वैदिकदर्शनम् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ–विज्ञानमयसेभी अन्य अंतर आत्मा आनंदमय है और वही तत्वरूप होनेसे ज्ञानीको प्राप्त होने योग्य है यह वेदशास्त्रका सिद्धांत है कि तिस इस आत्मासे अन्य अन्तरात्मा आनंदमय है और वही तत्वरूपसे प्राप्त होने योग्य है ॥ ७७ ॥

अणुर्महान्मध्यमो वेत्येवं तत्रापि वादिनः ॥
बहुधा विवदंते हि श्रुतियुक्तिसमाश्रयात् ॥ ७८ ॥

भाषार्थ–उस आनंदमय कोशको भी कोई २ वादी अणु–कोई महान् कोई मध्यम कहकर अनेकप्रकारसे विवाद करते हैं और अपने २ मतमें श्रुति और युक्तियोंका प्रमाण देते हैं ॥ ७८ ॥

अणुं वदंत्यांतरालाः सूक्ष्मनाडीप्रचारतः ॥
रोम्णः सहस्रभागेन तुल्यासु प्रचरत्ययम् ॥ ७९ ॥

भाषार्थ–अब अणुवादियोंके मतको कहते हैं कि सूक्ष्म २ नाडीयोंमें गमन करनेसे आंतराल इसको अणु कहते हैं क्योंकि रोमोंके सहस्रोंभागोंसे सूक्ष्म २ तुल्य नाडीयोंमें यह आनंदमय विचरता है अर्थात् सूक्ष्म २ नाडियोंमें विचरना सूक्ष्म (अणु) के विना नही हो सकता ॥ ७९ ॥

अणोरणीयानेषोऽणुः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं त्विति ॥
अणुत्वमाहुः श्रुतयः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८० ॥

भाषार्थ–अब अणुत्वमें प्रमाणको कहते हैं कि यह अणुसेभी अत्यंत अणु और महान् (बडे) से अत्यंत महान् है और यह अणु आत्मा चित्तसे जानने योग्य है इत्यादि सैंकडों और सहस्रों श्रुति इस अणु कहती हैं–और यहभी श्रुति है कि सूक्ष्मसे सूक्ष्म नित्य आत्मा है ॥ ८० ॥

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ॥
भागो जीवः स विज्ञेय इति चाहापरा श्रुतिः॥ ८१ ॥

भाषार्थ–अब अन्य श्रुतिका प्रमाण देते हैं कि एक वालके अग्रभागके जो सौ भाग उनमेंसे एक भागके सौमें भागकी कल्पना करो तो उतना अणु जीव जानना यह अन्य श्रुति कहती है ॥ ८१ ॥

दिगंबरा मध्यमत्वमाहुरापादमस्तकम् ॥
चैतन्यव्याप्तिसंदृष्टेरा नखाग्रश्रुतेरपि ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–अब मध्यम परिमाण वादीके मतको दिखाते हैं कि पादसे मस्तक-पर्यंत और नखके अग्रभागसे लेकर चैतन्यकी व्यापकताको देखते हैं कि वह यह नखके अग्रभागसे प्रविष्ट आत्मा है इससे दिगंबर मध्यमपरिमाण आत्माका कहते हैं ॥ ८२ ॥

सूक्ष्मनाडीप्रचारस्तु सूक्ष्मैरवयवैर्भवेत् ॥
स्थूलदेहस्य हस्ताभ्यां कंचुकप्रतिमोकवत् ॥ ८३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि मध्यमपरिमाण माननेमें सूक्ष्म नाडियोंमें प्रवेश न बनेगा सो ठीक नही क्योंकि जैसे स्थूलदेहके अवयव जो हस्त उनके कंचुकमें प्रवेशसे देहका कंचुकमें प्रवेश होता है तैसे ही आत्माके सूक्ष्म २ अवयवोंका ही प्रवेश होनेसे आत्माकाभी प्रवेश माना जाता है भावार्थ यह है कि कंचुक (चोली) में हाथोंके द्वारा स्थूलदेहके प्रवेशकी तुल्य आत्माका भी सूक्ष्म अवयवोंसे सूक्ष्म नाडियोंमें प्रवेश हो जायगा ॥ ८३ ॥

न्यूनाधिकशरीरेषु प्रवेशोऽपि गमागमैः ॥
आत्मांशानां भवेत्तेन मध्यमत्वं विनिश्चितम् ॥ ८४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि मध्यमपरिमाणका नियम मानोंगे तो कर्मोंके बशसे आत्माका न्यून अधिक शरीरोंमें प्रवेश न घटैगा सो ठीक नही है क्योंकि आत्माके अंशोंका गमन और आगमनसे न्यून अधिक शरीरोंमें प्रवेशभी विरुद्ध नही है इससे आत्माका देहके समान मध्यम परिमाण निश्चित है ॥ ८४ ॥

सांशस्य घटवन्नाशो भवत्येव तथा सति ॥
कृतनाशाकृताभ्यागमयोः को वारको भवेत् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि आत्माको सावयव माननेमें घट आदिके समान अ-नित्य होनेसे नाश हो जायगा सो ठीक नही क्योंकि आत्माका भी नाश मानोंगे तो कियेहुये पुण्योंका भोगके विना नाश और नहीं किये हुये फलके दाता पुण्य पापोंकी प्राप्ति हो जायगी इस प्रकार कृतनाश और अकृतका आगमरूप दोनों दोष आत्माको अनित्य माननेमें होजायगे इससे मध्यम परिमाण होनेपरभी आत्मा नित्य है ॥ ८५ ॥

तस्मादात्मा महानेव नैवाणुर्नापि मध्यमः ॥
आकाशवत्सर्वगतो निरंशः श्रुतिसंमतः ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–तिससे आत्मा महान् है न अणु है और न मध्यम है और आकाशके समान सर्वव्यापी निरवयव श्रुतियोंमें कहा है कि आकाशके समान सर्वगत नित्य कला और क्रिया रहित आत्मा है ॥ ८६ ॥

इत्युक्त्वा तद्विशेषे तु बहुधा कलहं ययुः ॥
अचिद्रूपोऽथ चिद्रूपश्चिदचिद्रूप इत्यपि ॥ ८७ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार आत्माको विभु सिद्ध करके चिद्रूप निश्चय करनेके लिये वादियोंके विवादको दिखाते हैं कि पूर्वोक्तप्रकारसे आत्माको महान् कहकर कोई २ मनुष्य कलह करते हैं कि आत्मा अचित् रूप है वा चित् रूप है अथवा चित् अचित् रूप हैं ॥ ८७ ॥

प्राभाकरास्तार्किकाश्च प्राहुरस्याचिदात्मताम् ॥
आकाशवद्द्रव्यमात्मा शब्दवत्तद्गुणश्चितिः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ–अब अचित्‌रूप वादिके मतको दिखाते हैं कि प्राभाकर और तार्किक तो आत्माको अचित् (अचेतन) कहते हैं और आत्मा आकाशके समान द्रव्य है और शब्दके समान उसका चिति गुण है इसीसे वह पृथिवी आदिसे भिन्न है यहां ये दो अनुमान हैं कि आत्मा द्रव्य होने योग्य है गुणवान् होनेसे, आकाशके समान और आत्मा पृथिवी आदिसे भिन्न है क्यों कि उसका गुण ज्ञान है, जो पृथिवी आदिसे भिन्न नहीं उसमें ज्ञान गुण भी नहीं जैसे घट-भावार्थ यह है कि प्राभाकर और तार्किक आत्माको अचेतन और आकाशके समान द्रव्य मानते हैं और उसका शब्दके समान चैतन्य गुण है ॥ ८८ ॥

इच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च धर्माधर्मौ सुखासुखे ॥
तत्संस्काराश्च तस्यैते गुणाश्चितिवदीरिताः ॥ ८९ ॥

भाषार्थ–और चितिके समान उस आत्माके ये भी गुण कहते हैं कि इच्छा-द्वेष प्रयत्न धर्म अधर्म सुख असुख और भावना नामका संस्कार ॥ ८९ ॥

आत्मनो मनसा योगे स्वादृष्टवशतो गुणाः ॥
जायंतेऽथ प्रलीयंते सुषुप्ते दृष्टसंक्षयात् ॥ ९० ॥

भाषार्थ–मनके संग आत्माका योग होनेपर अपने २ अदृष्टके वशसे पूर्वोक्त गुण पैदा हो जाते हैं और नष्ट भी हो जाते हैं–क्योंकि सुषुप्ति अवस्थामें संपूर्ण दृष्टका नाश देखते हैं ॥ ९० ॥

चितिमत्त्वाच्चेतनोऽयमिच्छाद्वेषप्रयत्नवान् ॥
स्याद्धर्माधर्मयोः कर्ता भोक्ता दुःखादिमत्त्वतः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ-कदाचित् शंका करो कि आत्माको अचित्रूप माननेमें चेतनता न होगी सो ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त चिति गुणवान् होनेसे यह आत्मा चेतन है और इच्छा द्वेष प्रयत्न वाला है और दुःख आदिवाला होनेसे धर्म-और अधर्मका कर्ता और भोक्ता है इसीसे ईश्वरसे विलक्षण है ॥ ९१ ॥

यथाऽत्र कर्मवशतः कादाचित्कं सुखादिकम् ॥
तथा लोकांतरे देहे कर्मणेच्छादि जन्यते ॥ ९२ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि आत्माको विभु (व्यापक) मानोंगे तो लोकांतरमें गमन आदि न घटेंगे सो ठीक नही है क्योंकि इस देहमें कर्मके वश इच्छा आदिकी उत्पत्ति होनेपर इस देहमें जैसे आत्माकी स्थितिका व्यवहार होता है इसी प्रकार कर्मके आधीन, लोकांतरमें अन्यदेहकी उत्पत्ति होनेपर उसमें आत्माके प्रवेशसे सुख आदिकी उत्पत्तिके आधीन व्यापक भी आत्माका गमनागमन व्यवहारको गौण रूपसे मानते हैं भावार्थ यह है कि जैसे इस देहमें कर्म वश कभी २ सुख दुःख आदि होते हैं इसी प्रकार लोकांतरके देहमें कर्मके वश इच्छा आदि पैदा होते हैं ॥ ९२ ॥

एवं च सर्वगस्यापि संभवेतां गमागमौ ॥
कर्मकांडः समग्रोऽत्र प्रमाणमिति तेऽवदन् ॥ ९३ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार सर्वव्यापी आत्माके भी गमन और आगमन होते हैं अर्थात् आत्मा ही कर्ता और भोक्ता है और इसमें संपूर्ण कर्मकाण्डको वे प्रमाण कहते हैं ॥ ९३ ॥

आनंदमयकोशो यः सुषुप्तौ परिशिष्यते ॥
अस्पष्टचित्स आत्मैषां पूर्वकोशोऽस्य ते गुणाः ॥ ९४ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि विज्ञानमेंसे अन्य आंतर आनन्दमय आत्मा है यहां तो आनन्दमयको आत्मा कहा और अब इच्छादिमान्को आत्मा कहते हो इससे पूर्व और उत्तरका विरोध होगा सो ठीक नहीं क्योंकि जिसमें चेतनता स्पष्ट नहीं ऐसा आनन्दमय सुषुप्तिमें जो शेष रहता है श्रुतिमें कहेहुये पांचकोशोंमें पहिला वह इन प्राभाकरादिकोंका आत्मा है और उसी आत्माके ये ज्ञान इच्छा आदि गुण हैं ॥ ९४ ॥

गूढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्य जडबोधस्वरूपताम् ॥
आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः ॥ ९५ ॥

भाषार्थ–इसी आत्माको भाट्ट चित् और अचित् रूप कहते हैं कि वे भाट्ट आत्माके चैतन्यको अप्रकट मानकर चेतन और जड दोनों रूप कहते हैं और सुषुप्तिसे हुये मनुष्यको जो स्मरण होता है उससे प्रतीत होता है कि सुषुप्तिमें चैतन्य था ॥९५॥

जडो भूत्वा तदाऽस्वाप्समिति जाड्यस्मृतिस्तदा ॥
विना जाड्यानुभूतिं न कथंचिदुपपद्यते ॥ ९६ ॥

भाषार्थ–अब चेतनकी उत्प्रेक्षाके प्रकारको कहते हैं कि उस सुषुप्तिके समयमें जड होकर सोया यह जो जगे हुये मनुष्यको जडताका स्मरण है वह जडताके अनुभव (ज्ञान) विना नही हो सकता इससे सुषुप्तिके समय जडताके ज्ञानकी कल्पना होती है ॥ ९६ ॥

द्रष्टुर्दृष्टेरलोपश्च श्रुतः सुप्तौ ततस्त्वयम् ॥
अप्रकाशप्रकाशाभ्यामात्मा खद्योतवद्युतः ॥ ९७ ॥

भाषार्थ–अब सुषुप्तिमें चैतन्यका लोप नही होता है इसमें प्रमाण कहते हैं कि सुषुप्तिमें द्रष्टा (ईश्वर) कि दृष्टिका लोप नहीं होता क्यों कि वह अविनाशी है इससे यह प्रकाश और इससे आत्मा अप्रकाशरूपसे खद्योतके समान युक्त है और जो आत्माके ज्ञानका लोप भी मानता है वह भी साक्षीके विना नही हो सकता और सुषुप्तिमें चैतन्यके लोप का अभाव सुना है इससे भी यह आत्मा पूर्वोक्तरूप है भावार्थ यह है कि द्रष्टाके ज्ञानका श्रुतिमें लोपका अभाव सुना है इससे यह आत्मा स्फुरण और अस्फुरणसे युक्त खद्योतके समान है ॥ ९७ ॥

निरंशस्योभयात्मत्वं न कथंचिद् घटिष्यते ॥
तेन चिद्रूप एवात्मेत्याहुः सांख्यविवेकिनः ॥ ९८ ॥

भाषार्थ–अब इस भाट्टोंके मतमें दूषण कहतेहुये सांख्योंके मतको कहते हैं कि अवयवोंसे रहित आत्माके चित् अचित् दोनों रूप नहीं घटसक्ते इससे आत्मा चित्‌रूप ही है यह विवेकी सांख्य कहते हैं ॥ ९८ ॥

जाड्यांशः प्रकृते रूपं विकारि त्रिगुणं च तत् ॥
चितो भोगापवर्गार्थं प्रकृतिः सा प्रवर्तते ॥ ९९ ॥

भाषार्थ–अब सुषुप्तिमें जडताके स्मरणकी गतिको कहते हैं कि जडताका जो अंश है वह प्रकृतिका रूप और विकारी और त्रिगुण है वह प्रकृति चेतनपुरुषके भोगके लिये प्रवृत्त होती है ॥ ९९ ॥

असंगायाश्चितेर्बंधमोक्षौ भेदाग्रहान्मतौ ॥
बंधमुक्तिव्यवस्थार्थं पूर्वेषामिव चिद्भिदा ॥ १०० ॥

भाषार्थ–चेतन असंग है और प्रकृति पुरुष दोनों भिन्न हैं प्रकृतिकी प्रवृत्तिसे पुरुषको भोग और मोक्ष कैसे हो सकते हैं इस आशंकाका उत्तर कहते हैं कि असंग भी चितिको प्रकृतिपुरुषके परस्पर भेदके अज्ञानसे बंध और मोक्ष दोनोंका व्यवहार पुरुषमें माना जाता है और तार्किकोंके समान सांख्य भी बंध और मुक्तिकी व्यवस्थाके लिये चैतन्यका भेद मानते हैं ॥ १०० ॥

महतः परमव्यक्तमिति प्रकृतिरुच्यते ॥
श्रुतावसंगता तद्वदसंगो हीत्यतः स्फुटा ॥ १ ॥

भाषार्थ–प्रकृतिकी सत्ता और पुरुषके असंग होनेमें श्रुतिका उदाहरण देते हैं कि महत्तत्वसे परे जो अव्यक्त उसको ही प्रकृति कहते हैं तैसे ही यह पुरुष असंग है इस श्रुतिमें असंगता स्पष्ट है ॥ १ ॥

चित्संनिधौ प्रवृत्तायाः प्रकृतेर्हि नियामकम् ॥
ईश्वरं ब्रुवते योगाः स जीवेभ्यः परः श्रुतः ॥ २ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार जीवके विषयवादियोंके विवादको दिखाकर ईश्वरके विषय विवाद दिखानेके लिये प्रथम ईश्वरके स्वरूप को स्थापन करते हैं कि चित् के समीपमें प्रवृत्त हुई जो प्रकृति उसके नियामक, ईश्वरको योगीजन कहते हैं और वह ईश्वर जीवोंसे परे सुना है इससे यह भी शंका नही हो सकती कि प्रकृति पुरुषसे भिन्न, ईश्वरमें कोई प्रमाण नही है ॥ २ ॥

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश इति हि श्रुतिः ॥
आरण्यकेऽसंभ्रमेण ह्यंतर्याम्युपपादितः ॥ ३ ॥

भाषार्थ–अब ईश्वरके सत्ताकी बोधक श्रुतिको कहते हैं कि तीनोंगुणोंकी तुल्य अवस्थारूप प्रधान और क्षेत्रज्ञ जीव उनका पति और सत्व रजः तमः इन तीनोंगुणोंका नियामक ईश्वर है यह श्रुति ईश्वरके होनेमें प्रमाण है और कुछ यही

श्रुति प्रमाण नही किन्तु अंतर्यामि ब्राह्मण भी प्रमाण है कि आरण्यक उपनिषद्में स्पष्टरीतिसे अंतर्यामीका वर्णन किया है ॥ ३ ॥

अत्रापि कलहायंते वादिनः स्वस्वयुक्तिभिः ॥
वाक्यान्यपि यथाप्रज्ञं दार्ढ्यायोदाहरंति हि ॥ ४ ॥

भाषार्थ–इस अंतर्यामीके विषय भी बहुतसे वादी कलह करते हैं और अपनी २ युक्तियोंसे बुद्धिके अनुसार दृढताके लिये वेदके वाक्योंको कहते हैं ॥ ४ ॥

क्लेशकर्मविपाकैस्तदाशयैरप्यसंयुतः ॥
पुंविशेषो भवेदीशो जीववत्सोऽप्यसंगचित् ॥ ५ ॥

भाषार्थ–अब क्लेश कर्मविपाक और इनके आशयोंसे जिसका स्पर्श नही ऐसे पुरुष विशेषका नाम ईश्वर है इस पतंजलिके कहे सूत्रके अर्थको पढते हैं कि अविद्या आदि पांच क्लेश अर्थात् अज्ञान, स्मित, राग, द्वेष, अभिनिवेश,–न शुक्ल न कृष्णरूप कर्म, योगियोंके और अन्योंके तीन प्रकारके कर्म और मूल होनेपर उनके जाति आयु भोगरूप विपाक अर्थात् फलविशेष और उनके आशय (संस्कार) इन संपूर्ण क्लेश आदिसे असंयुक्त जो पुरुष विशेष वह ईश्वर है और जीवके समान वह भी असंग और चेतन है–भावार्थ यह है कि क्लेश कर्म विपाक आशय इनसे रहित जो पुरुष विशेष वह ईश्वर है और वह जीवके समान असंग चित्रूप है॥५॥

तथाऽपि पुंविशेषत्वाद्घटतेऽस्य नियंतृता ॥
अव्यवस्थौ बंधमोक्षावापतेतामिहान्यथा ॥ ६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि असंगमानोंगे तो वह नियामक न होगा सो ठीक नही कि तोभी पुरुष विशेष होनेसे उसमें नियामकता घट सकती है क्योंकि ईश्वरको नियामक न मानोंगे तो विना व्यवस्थाके ही बंधमोक्ष हो जायगे ॥ ६ ॥

भीषास्मादित्येवमादावसंगस्य परात्मनः ॥
श्रुतं तद्युक्तमप्यस्य क्लेशकर्माद्यसंगमात् ॥ ७ ॥

भाषार्थ–अब असंग ईश्वरको नियामक माननेमें प्रमाण देते हैं कि इस परमेश्वरके भयसे पवन चलती है इत्यादि श्रुतियोंमें असंग परमात्मामें नियामकता सुनी है और क्लेश कर्म आदि जीवधर्मोंके असंगमसे ईश्वरमें नियामकता युक्त भी है॥७॥

जीवानामप्यसंगत्वात् क्लेशादिर्न ह्यथाऽपि च ॥
विवेकाग्रहतः क्लेशकर्मादि प्रागुदीरितम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि जीव भी असंग चित्रूप है इससे क्लेश आदिसे रहित है उनकी अपेक्षा ईश्वरमें क्याविशेषता है सो ठीक नही कि यद्यपि जीवोंकोभी असंग होनेसे क्लेश आदि नही हैं तथापि विवेकके अज्ञानसे अर्थात् बुद्धिसे पृथक् अपनेको न समझ कर क्लेश कर्म आदिका संबंध पहिले कह आये हैं ॥ ८ ॥

नित्यज्ञानप्रयत्नेच्छा गुणानीशस्य मन्वते ॥
असंगस्य नियंतृत्वमयुक्तमिति तार्किकाः ॥ ९ ॥

भाषार्थ-तार्किक तो असंगकी नियामकताको न सहते हुये जीवसे विलक्षणताके लिये यह कहते हैं कि नित्यज्ञान प्रयत्न इच्छा ये गुण ईश्वरके हैं और असंगको नियामक मानना अयुक्त हैं यह तार्किक (नैय्यायिक) मानते हैं ॥ ९ ॥

पुंविशेषत्वमप्यस्य गुणैरेव न चान्यथा ॥
सत्यकामः सत्यसंकल्प इत्यादि श्रुतिर्जगौ ॥ १० ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि इच्छा आदि गुणोंसे युक्त वह कैसे जीवसे विलक्षण है सो ठीक नही कि वह पुरुष विशेष भी, नित्य जो इच्छा आदि गुण उनसे ही पुरुष विशेष है अन्यथा नही क्योंकि श्रुतिमें यह कहा है कि सत्यकाम सत्यसंकल्परूप ईश्वर है ॥ १० ॥

नित्यज्ञानादिमत्वेऽस्य सृष्टिरेव सदा भवेत् ॥
हिरण्यगर्भ ईशोऽतो लिंगदेहेन संयुतः ॥ ११ ॥

भाषार्थ-उसमें भी दोष होनेसे पक्षांतरको कहते हैं कि यादि परमेश्वरको नित्य ज्ञानवान् मानोंगे तो सदैव सृष्टि होजायगी इससे लिंगदेहसे युक्त जो हिरण्यगर्भ वही ईश्वर है अर्थात् मायोपाधि परमात्मा लिंगशरीर समष्टिके अभिमानसे हिरण्यगर्भ कहाता है ॥ ११ ॥

उद्गीथब्राह्मणे तस्य माहात्म्यमतिविस्तृतम् ॥
लिंगसत्त्वेऽपि जीवत्वं नास्य कर्माद्यभावतः ॥ १२ ॥

भाषार्थ-अब हिरण्यगर्भको ईश्वर माननेमें प्रमाण कहते हैं कि उद्गीथब्राह्मणमें उस हिरण्यगर्भका माहात्म्य अत्यंतविस्तारसे कहा है और वह अविद्या कामकर्म आदिके अभावसे लिंग देहके संबंधसे भी जीव नही हो सकता ॥ १२ ॥

स्थूलदेहं विना लिंगदेहो न क्वापि दृश्यते ॥
वैराजो देह ईशोऽतः सर्वतो मस्तकादिमान् ॥ १३ ॥

भाषार्थ–स्थूलदेहके विना केवल लिंगशरीर कहीं भी नही मिलता इससे स्थूल-शरीरोका समष्टि अभिमानी जो विराट् देह वही ईश्वर है और उसके मस्तक आदि संपूर्ण शरीरोंके जो हैं वे ही हैं ॥ १३ ॥

सहस्रशीर्षेत्येवं च विश्वतश्चक्षुरित्यपि ॥
श्रुतमित्याहुरनिशं विश्वरूपस्य चिंतकाः ॥ १४ ॥

भाषार्थ–अब उसके होनेमें श्रुति प्रमाण कहते हैं कि सहस्रों उस पुरुषके शिर हैं और संपूर्ण उसके नेत्र हैं यह वाक्य श्रुतियोंमें सुना है यह रात्रदिन विश्वरूपके जो चिंतक अर्थात् विराट्के उपासक कहते हैं ॥ १४ ॥

सर्वतः पाणिपादत्वे कृम्यादेरपि चेशता ॥
ततश्चतुर्मुखो देव एवेशो नेतरः पुमान् ॥ १५ ॥

भाषार्थ–इसमेंभी दोष दीखता है इससे अन्यदेवताको ही ईश्वर कहते हैं कि संपूर्ण उसके हाथ और चरण मानोंगे तो कृमि आदि भी ईश्वर हो जांयगे इससे चतुर्मुख (ब्रह्मा) देव ही ईश्वर है अन्य कोई पुरुष नही ॥ १५ ॥

पुत्रार्थं तमुपासीना एवमाहुः प्रजापतिः ॥
प्रजा असृजतेत्यादिश्रुतिं चोदाहरंत्यमी ॥ १६ ॥

भाषार्थ–पुत्रके लिये उसकी उपासना करते हुये ऐसे कहते हैं और वे यह श्रुति-के वाक्यका उदाहरण देते हैं कि प्रजापति (ब्रह्मा) ने संपूर्ण प्रजाओंको रचा॥१६॥

विष्णोर्नाभेः समुद्भूतो वेधाः कमलजस्ततः ॥
विष्णुरेवेश इत्याहुर्लोके भागवता जनाः ॥ १७ ॥

भाषार्थ–अब भागवतोंका मत कहते हैं कि विष्णुकी नाभिसे उत्पन्न हुआ जो कमल उससे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ इससे विष्णु ही ईश्वर है यह जगत्में जो जन भाग-वत हैं वे कहते हैं ॥ १७ ॥

शिवस्य पादावन्वेष्टुं शार्ङ्ग्यशक्तस्ततः शिवः ॥
ईशो न विष्णुरित्याहुः शैवा आगममानिनः ॥ १८ ॥

भाषार्थ–अब शैवोंका मत कहते हैं कि विष्णु शिवजीके चरणोंका अन्वेषण (ढूंढना) करनेको भी समर्थ न हुआ तिससे शिव ही ईश्वर है विष्णु नही यह वेदको माननेवाले शैव कहते हैं ॥ १८ ॥

पुरत्रयं सादयितुं विघ्नेशं सोऽप्यपूजयत् ॥
विनायकं प्राहुरीशं गाणपत्यमते रताः ॥ १९ ॥

भाषार्थ–अब गाणपत्योंका मत कहते हैं कि तीनोंपुरोंको दग्ध (भस्म) करनेके लिये शिवजीने भी गणेशजीका पूजन किया इससे विनायक (गणेश) ही ईश्वर है यह गाणपत्य मतमें जो रत हैं वे कहते हैं ॥ १९ ॥

एवमन्ये स्वस्वपक्षाभिमानेनान्यथाऽन्यथा ॥
मंत्रार्थवादकल्पादीनाश्रित्य प्रतिपेदिरे ॥ २० ॥

भाषार्थ–इस प्रकार भैरव मैराल आदिके उपासक भी अपने २ पक्षके अभिमानसे अन्यथा २ वर्णन करते हुये मंत्रोंके अर्थवादोंको मानकर ईश्वरको भिन्न २ मानते हैं अर्थात् अपनी २ बुद्धिसे अनेक ईश्वर मानते हैं ॥ २० ॥

अंतर्यामिणमारभ्य स्थावरांतेशवादिनः ॥
संत्यश्वत्थार्कवंशादेः कुलदैवतदर्शनात् ॥ २१ ॥

भाषार्थ–अंतर्यामीसे लेकर स्थावरपर्यंत ईश्वरको कहते हुये अनेक ईश्वरवादी हैं क्योंकि कहीं २ पीपल–आख–वंश आदिको भी कुलका देवता देखते हैं इससे किसी २ के मतमें स्थावरभी ईश्वर है ॥ २१ ॥

तत्त्वनिश्चयकामेन न्यायागमविचारिणाम् ॥
एकैव प्रतिपत्तिः स्यात् साऽप्यत्र स्फुटमुच्यते ॥ २२ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार मतोंके भिन्न २ होनेपर कोन स्वीकार करने योग्य है और कोन नही यह शंका नही करनी क्योंकि तत्वके निश्चयकी कामनासे युक्ति और आगम (वेद) के विचारमें जिनका शील है ऐसे पुरुषोंको एक हीईश्वरकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) हो जाती है और उसको भी यहां प्रकटरीति पर कहते हैं ॥ २२ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥
अस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ २३ ॥

भाषार्थ–उसी निश्चयके कहनेके लिये उसके अनुकूल श्रुतिको कहते हैं कि जगत्का उपादानकारण मायाको जाने और उस मायाका अधिष्ठाता जो अंतर्यामी उसको महेश्वर जाने–अर्थात् जगत्का निमित्तकारण ईश्वर है और इस अंतर्यामीके अवयव (अंश) जो जीव उनसे यह संपूर्ण जगत् व्याप्त (भरा) है ॥ २३ ॥

इति श्रुत्यनुसारेण न्याय्यो निर्णय ईश्वरे ॥
तथा सत्यविरोधः स्यात्स्थावरांते शवादिनाम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ-इस श्रुतिके अनुसार ईश्वरके विषयका निर्णय युक्त है ऐसा होनेपर जो स्थावरपर्यंत ईश्वरको कहते हैं उन सबका विरोध भी न होगा अर्थात् इसको सब-मानते हैं ॥ २४ ॥

माया चेयं तमोरूपा तापनीये तदीरणात् ॥
अनुभूतिं तत्र मानं प्रतिजज्ञे श्रुतिः स्वयम् ॥ २५ ॥

भाषार्थ-अब जगत्की प्रकृति जो माया उसके रूपको कहते हैं कि यह माया तमः (अज्ञान) रूप है यह तापनीयउपनिषदमें कहा है-और उस मायाके तमो-रूप होनेमें श्रुतिने स्वयं अनुभवको ही प्रमाण कहा है ॥ २५ ॥

जडं मोहात्मकं तच्चेत्यनुभावयति श्रुतिः ॥
आबालगोपं स्पष्टत्वादानंत्यं तस्य साऽब्रवीत् ॥ २६ ॥

भाषार्थ-अब मायाके तमोरूप होनेमें अनुभव कहते हैं कि वह यह जडरूप और मोहस्वरूप है यह श्रुति ही अनुभव कराती है और यह बात बालक गोप आदि सबको स्पष्ट है कि प्रकृतिका कार्य जड मोहरूप है और उसी श्रुतिने उस जड मोहरूपको अनंत कहा है ॥ २६ ॥

अचिदात्मघटादीनां यत्स्वरूपं जडं हि तत् ॥
यत्र कुंठीभवेद्बुद्धिः स मोह इति लौकिकाः ॥ २७ ॥

भाषार्थ-अचेतन घट आदिका जो स्वरूप है वह जड ही है और जिसमें बुद्धि कुंठित हो जाय अर्थात् न चलै वह जड ही होता है ॥ २७ ॥

इत्थं लौकिकदृष्ट्यैतत्सर्वैरप्यनुभूयते ॥
युक्तिदृष्ट्या त्वनिर्वाच्यं नासदासीदिति श्रुतेः ॥ २८ ॥

भाषार्थ-पूर्वोक्तप्रकारसे सबके अनुभवसे सिद्धरूप आनंत्यको कहते हैं कि इस प्रकार यह जड मोहस्वरूप तमोरूपता लोकदृष्टिसे सिद्ध हुई-कदाचित् कहो कि इस प्रकार मायाको सबके अनुभवसे सिद्ध मानोगे तो उसको ज्ञानसे निवृत्ति न होगी सो ठीक नहीं कि युक्तिकी दृष्टिसे देखो तो मायाका रूप अनिर्वाच्य है अर्थात् न उसे सत् कहसकते हैं न असत् कह सकते हैं क्योंकि श्रुतिमें यह कहा है न सत् हुवा

न असत् हुआ—भावार्थ—यह है कि इस प्रकार लोकदृष्टिसे इसको संपूर्ण जड जानते हैं और युक्तिसे तो अनिर्वचनीय है और श्रुतिमें यह कहा है कि असत् सत्रूप माया नही है ॥ २८ ॥

नासदासीद्विभातत्वान्नो सदासीच्च बाधनात् ॥
विद्यादृष्ट्या श्रुतं तुच्छं तस्या नित्यनिवृत्तितः ॥ २९ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्तश्रुतिके अभिप्रायको कहते हैं कि जगत्को प्रकाशमान होनेसे तो माया असत्रूप नहीं और यह किंचित् भी नाना (माया) नही इस श्रुति-से मायाका बाध (निषेध) देखते है इससे सत्रूप भी नही और विरुद्ध होनेसे सत् असत् रूपता भी युक्त नही इस प्रकार युक्ति दृष्टिसे अनिर्वचनीय दिखाकर यह इस मायाका रूप तुच्छ है इस श्रुति और विद्वानोंके अनुभवसे उस मायाकी तुच्छता ही ज्ञानदृष्टिसे सुनी है क्योंकि वह ज्ञानसे सदैव निवृत्त होती है भावार्थ यह है कि प्रकाशमान होनेसे असत् और बाध होनेसे सत् नही कह सकते और सदैव निवृत्ति होनेसे ज्ञानदृष्टिसे देखो तो माया तुच्छ है ॥ २९ ॥

तुच्छाऽनिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौ त्रिधा ॥
ज्ञेया माया त्रिभिर्बोधैः श्रौतयौक्तिकलौकिकैः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—श्रुतिके बोधसे देखो तो माया तुच्छ है अर्थात् तीनोंकालोंमें असत् है और युक्तिसे देखो तो अनिर्वचनीय है और लोकके बोधसे देखो तो वास्तवी (सत्) है इस प्रकार श्रुति युक्ति जगत्के बोधोंसे माया तुच्छ, अनिर्वचनीय, वास्तवी, तीन प्रकारकी है अर्थात् बोधोंके भेदसे मायाके भेद प्रतीत होते हैं ॥ ३० ॥

अस्य सत्त्वमसत्त्वं च जगतो दर्शयत्यसौ ॥
प्रसारणाच्च संकोचाद्यथा चित्रपटस्तथा ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—यह माया ही इस जगत्के सत्व और असत्वको दिखाती है जैसे प्रसारण (फैलाना) से और संकोचसे वस्त्र चित्र प्रतीत होता है और नही होता है ॥ ३१ ॥

अस्वतंत्रा हि माया स्यादप्रतीतेर्विना चितिम् ॥
स्वतंत्राऽपि तथैव स्यादसंगस्यान्यथाकृतेः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—अब मायाके अस्वतंत्र और स्वतंत्र दोनोंरूप वर्णन करते हैं कि चेत-नकी सत्ताके विना माया प्रतीत नही हो सकती इससे तो अस्वतंत्र (पराधीन) है और चेतन (ईश्वर) असंगको भी अन्यथा (जीव) कर देती है इससे स्वतंत्र (स्वाधीन) है ॥ ३२ ॥

कूटस्थासंगमात्मानं जगत्त्वेन करोति सा ॥
चिदाभासस्वरूपेण जीवेशावपि निर्ममे ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—अब अन्यथा करनेको ही वर्णन करते हैं कि वह माया कूटस्थ असंग आत्माको जगत्रूप कर देती है और चिदाभासरूपसे जीव, ईश्वरको भी वह माया ही करती है ॥ ३३ ॥

कूटस्थमनुपद्रुत्य करोति जगदादिकम् ॥
दुर्घटैकविधायिन्यां मायायां का चमत्कृतिः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि असंगके अन्यथा करनेसे कूटस्थ न रहैगा सो ठीक नही कि वह माया कूटस्थमें किसी प्रकारके भी उपद्रवको न करके जगत् आदिको करती है कदाचित् कहो कि कूटस्थताके विघात किये विना जगत्की रचना असंभव है सो भी ठीक नही कि दुर्घटकार्यको करनेवाली मायामें संपूर्ण चमत्कार बन सकता है अन्यथा उसका मायात्व ही नष्ट हो जायगा यह मायाका ही चमत्कार है कूटस्थके बिना बिगाडे जगत्को रच सकै ॥ ३४ ॥

द्रवत्वमुदके वह्नावौष्ण्यं काठिन्यमश्मनि ॥
मायाया दुर्घटत्वं च स्वतः सिध्यति नान्यतः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—अब मायाके दुर्घट करने रूप स्वभावको कहते हैं कि जैसे जलमें द्रवत्व (वहना) अग्निमें उष्णता और पत्थरमें कठिनता आदि स्वभावसे प्रतीत होते हैं ऐसे ही माया स्वतः ही दुर्घट है अन्यसे नही है ॥ ३५ ॥

न वेत्ति लोको यावत्तां साक्षात्तावच्चमत्कृतिम् ॥
धत्ते मनसि पश्चात्तु मायैषेत्युपशाम्यति ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि मायाको दुर्घट करना आश्चर्यका हेतु नही यह नही हो सकता क्योंकि जगत्में मायाको चमत्कारका हेतु देखते हैं सो ठीक नही कि इतने जगत् उस मायाको साक्षात् नही जानता तबतक ही मतमें चमत्कारको धारण करता है और ज्ञानके पीछे तो यह माया है यह समझकर शांतिको प्राप्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

प्रसरंति हि चोद्यानि जगद्वस्तुत्ववादिषु ॥
न चोदनीयं मायायां तस्याश्चोद्यैकरूपतः ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–जगत्को सत्य कहनेवाले जो नैयायिक आदि वादी हैं उनपर ही ऐसे २ चोद्य (तर्क) चल सकते हैं और मायावादीके ऊपर ऐसे तर्क न करने चाहियें क्योंकि वह माया ही स्वयं चोद्यस्वरूप है ॥ ३७ ॥

चोद्येऽपि यदि चोद्यं स्यात् त्वच्चोद्ये चोद्यते मया ॥
परिहार्यं ततश्चोद्यं न पुनः प्रतिचोद्यताम् ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–मायावादीके प्रति तर्क करनेमें दोष कहते हैं कि यदि तर्कके योग्यमें भी तर्क होय तो तेरे तर्ककियेमें हम तर्क करेंगे इससे तर्कनाका परिहार करै उसमें प्रति तर्क न करै ॥ ३८ ॥

विस्मयैकशरीराया मायायाश्चोद्यरूपतः ॥
अन्वेष्यः परिहारोऽस्या बुद्धिमद्भिः प्रयत्नतः ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–विस्मय (आश्चर्य) ही है एक शरीर जिसका ऐसी माया को चोद्यरूप होनेसे उसके परिहार (नाश) का बुद्धिमान् मनुष्य यत्नसे अन्वेषण करैं ॥३९॥

मायात्वमेव निश्चेयमिति चेत्तर्हि निश्चिनु ॥
लोकप्रसिद्धमायाया लक्षणं यत्तदीक्ष्यताम् ॥ ४० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि मायाके निश्चय होने पर उसका परिहार ढूंढने योग्य है प्रथम तो मायाके स्वरूपका ही निश्चय नहीं सो ठीक नहीं कि यदि मायात्वका निश्चय करना है तो निश्चय कर और जगत्में प्रसिद्ध मायाका जो लक्षण है उसको ही यहां देख लो ॥ ४० ॥

न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या ॥
सा मायेतींद्रजालादौ लोकाः संप्रतिपेदिरे ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–उसका यह लक्षण है कि जिसका निरूपण (कथन) न कर सके और जो स्पष्टप्रकाशमान हो वही माया इंद्रजाल आदिमें लोकोंने मानी है ॥ ४१ ॥

स्पष्टं भाति जगच्चेदमशक्यं तन्निरूपणम् ॥
मायामयं जगत्तस्मादीक्षस्वापक्षपाततः ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–यह जगत् स्पष्ट दीखता है और उसके निरूपणको नहीं कर सकते इससे मायामय है इस बातको पक्षपात छोड कर तू देख अर्थात् विचार कर ॥४२॥

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पंडितैः ॥
अज्ञानं पुरतस्तेषां भाति कक्षासु कासुचित् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—अब जगत्के निरूपणको अशक्य दिखाते हैं कि जब संपूर्ण पंडितजन जगत्के निरूपण (वर्णन) करनेका प्रारंभ करते हैं तब उन पंडितोंके आगे किसीन किसी कक्षा (अंश) में अज्ञान भासता है ॥ ४३ ॥

देहेंद्रियादयो भावा वीर्येणोत्पादिताः कथम् ॥
कथं वा तत्र चैतन्यमित्युक्ते ते किमुत्तरम् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—अब अशक्य निरूपणको ही उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि देह इंद्रिय आदि भाव पदार्थोंको माता पिताका वीर्य कैसे पैदा कर देताहै और उस देहमें चेतनता कैसे होजाती है ऐसा कोई प्रश्न करै तो तेरे मतमें क्या उत्तर है ॥ ४४ ॥

वीर्यस्यैष स्वभावश्चेत्कथं तद्विदितं त्वया ॥
अन्वयव्यतिरेकौ यौ भग्नौ तौ वंध्यवीर्यतः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—स्वभाववादी शंका करता है कि यह वीर्यका ही स्वभाव है तो तुमने यह कैसे जाना कि यह वीर्यका स्वभाव है कदाचित् कहो कि अन्वयव्यतिरेकसे जानते हैं सो भी ठीक नही क्योंकि वंध्यास्त्रीमें वीर्यको व्यर्थ होनेसे, जो अन्वय-व्यतिरेक हैं वे नष्ट होगये अर्थात् यह नियम नही घट सकता कि जहां २ वीर्य वहां २ देह आदि होते हैं ॥ ४५ ॥

न जानामि किमप्येतदित्यंते शरणं तव ॥
अत एव महांतोऽस्य प्रवदंतींद्रजालताम् ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार वारंवार प्रश्न करनेमें अंतमें तेरा यही उत्तर होगा कि मैं नही जान सकता कि यह क्या है इसीसे महान् २ पुरुष इस जगत्को इंद्रजाल-रूप वर्णन करते हैं ॥ ४६ ॥

एतस्मात्किमिवेंद्रजालमपरं यद्गर्भवासस्थितं
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानांकुरम् ॥
पर्यायेण शिशुत्वयौवनजरावेषैरनेकैर्वृतं
पश्यत्यत्ति शृणोति जिघ्रति तथा गच्छत्यथागच्छति॥४७॥

भाषार्थ-पूर्वोक्त मायाके अनिर्वचनीय होनेमें सबकी देखी संमति दिखाते हैं कि इससे परे और क्या इंद्रजाल होगा कि गर्भमें वास जिसका ऐसा वीर्य चेतन होता है और उसमें हाथ मस्तक चरण आदि अंकुर पैदा होते हैं और क्रम २ से वह बालक यौवन जरा अनेक वेषोंसे युक्त होकर देखता है खाता है सुनता है सूंघता है गमन और आगमन करता है ॥ ४७ ॥

देहवद्वटधानादौ सुविचार्य विलोक्यताम् ॥
क्व धाना कुत्र वा वृक्षस्तस्मान्मायेति निश्चिनु ॥ ४८ ॥

भाषार्थ-कुछ केवल देह ही अनिर्वचनीय नही किंतु वटवृक्ष आदिमें भी ऐसे ही है देहके समान वट और अन्न आदिमें भी भली प्रकार विचार कर देखो कहां धान हैं और कहां वृक्ष है तिससे यही निश्चय कर लिया कि माया है ॥ ४८ ॥

निरुक्तावभिमानं ये दधते तार्किकादयः ॥
हर्षमिश्रादिभिस्ते तु खंडनादौ सुशिक्षिताः ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि हम निरूपण नही कर सकते तो उदयनाचार्य आदि निरूपण कर सकते हैं सो भी ठीक नही क्योंकि जो तार्किक आदि निरुक्ति (कथन) में अभिमान करते हैं अर्थात् मायाको सत्य कहते हैं उनकी श्रीहर्षमिश्र आदिकोंने खंडन आदि ग्रंथोंमें भली प्रकार शिक्षा की है अर्थात् उनका खंडन किया है ॥ ४९ ॥

अचिंत्या खलु ये भावा न तांस्तर्केषु योजयेत् ॥
अचिंत्यरचनारूपं मनसाऽपि जगत्खलु ॥ ५० ॥

भाषार्थ-अब उक्त अर्थमें सांप्रदायिकोंके वाक्योंको कहते हैं कि जो भाव (पदार्थ) चिंता करनेके अयोग्य हैं उनको तर्कसे युक्त न करै क्योंकि यह जगत् मनसे भी अचिंत्य रचनारूप निश्चयसे है ॥ ५० ॥

अचिंत्यरचनाशक्तिबीजं मायेति निश्चिनु ॥
मायाबीजं तदेवैकं सुषुप्तावनुभूयते ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि जगत्की अचिंत्य रचना हो इससे मायाके विषय क्या आया सो ठीक नही कि अचिंत्य रचनाकी शक्तिका बीज (कारण) माया है यह निश्चय करो और वह अचिंत्य रचनाका मायारूप बीज सुषुप्तिमें जाना गया है ॥ ५१ ॥

जाग्रत्स्वप्नजगत्तत्र लीनं बीज इव द्रुमः ॥
तस्मादशेषजगतो वासनास्तत्र संस्थिताः ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-अब जैसे माया जगत्का बीज है उस रीतिको कहते हैं कि सुषुप्तिमें जाग्रत् स्वप्नरूप संपूर्ण जगत् इस प्रकार लीन (छिपा) रहता है जैसे बीजमें वृक्ष-जिससे जगत्का कारण माया है इससे संपूर्ण जगत्की वासना मायामें स्थित हैं॥५२॥

या बुद्धिवासनास्तासु चैतन्यं प्रतिबिंबति ॥
मेघाकाशवदस्पष्टचिदाभासोऽनुमीयताम् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ-जो बुद्धिकी वासना हैं उनमें चैतन्यका प्रतिबिंब पडता है और वह मेघके आकाशकी तुल्य अस्पष्ट चिदाभास है और अनुमानसे प्रतीत होता है॥५३॥

साभासमेव तद्बीजं धीरूपेण प्ररोहति ॥
अतो बुद्धौ चिदाभासो विस्पष्टं प्रतिभासते ॥ ५४ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि मेघके अंश जलमें आकाशका यद्यपि अस्पष्ट प्रतिबिंब हो परंतु उसका सजातीय जो घटका जल है उसमें तो आकाशका प्रतिबिंब स्पष्ट है इससे मेघके आकाशका अनुमान घट सकता है यहां कोई वैसा दृष्टांत है नही इससे कैसे अनुमान हो सकता है, सो ठीक नही क्योंकि यहां भी वैसाही दृष्टांत हो सकता है कि आभाससहित जो मायाका बीज है वही बुद्धिरूपसे जमता है अर्थात् चिदाभास विशिष्ट अज्ञान ही बुद्धिरूपसे परिणामको प्राप्त हुआ स्पष्ट चिदाभासकी तुल्य होजाता है-इससे यहां यह अनुमान है कि विवादका आस्पद बुद्धिकी वासना चेतनके प्रतिबिंबवाली हैं-बुद्धिकी अवस्था होनेसे-बुद्धिकी वृत्तिके समान-भावार्थ यह है कि आभाससहित उसका बीज बुद्धिरूपसे जमता है इससे बुद्धिमें चिदाभास स्पष्टरूपसे भासता है ॥ ५४ ॥

माया भासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतौ श्रुतम् ॥
मेघाकाशजलाकाशाविव तौ सुव्यवस्थितौ ॥ ५५ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार श्रुतिमें कहीं जीव ईश्वरकी मायिकताका उपसंहार (समाप्ति) करते हैं कि माया आभास (प्रतिबिंब) से जीव ईश्वरको करती है यह वेदमें सुना है और वे दोनों मेघाकाश और जलाकाशके समान भली प्रकार व्यवस्थित हैं॥५५॥

मेघवद्वर्तते माया मेघस्थिततुषारवत् ॥
धीवासनाश्चिदाभासस्तुषारस्थखवत्स्थितः ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–अब ईश्वरको मेघाकाशकी समानताको स्पष्ट करते हैं कि मेघके समान माया बढती है और मेघमें स्थित तुषारके समान बुद्धिकी वासना हैं और तुषारमें स्थित आकाशके समान चिदाभास है ॥ ५६ ॥

मायाधीनश्चिदाभासः श्रुतो मायी महेश्वरः ॥
अंतर्यामी च सर्वज्ञो जगद्योनिः स एव हि ॥ ५७ ॥

भाषार्थ–अब माया प्रतिबिंबके ईश्वर होनेमें श्रुतिप्रमाण कहते हैं कि मायाके आधीन चिदाभास है और मायावी महेश्वर सुना है और वही अंतर्यामी सर्वज्ञ है और वही जगत्का योनि (कारण) है ॥ ५७ ॥

सौषुतमानंदमयं प्रक्रम्यैवं श्रुतिर्जगौ ॥
एष सर्वेश्वर इति सोऽयं वेदोक्त ईश्वरः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ–अब बुद्धिकी वासनामें प्रतिबिंब ईश्वर होना श्रुतिसे सिद्ध है यह वर्णन करनेवाली श्रुतिको कहते हैं कि सुषुप्तिके समय एकरूप प्रज्ञानघन ही है यह श्रुति प्रारंभसे धी वासनामें प्रतिबिंबित आनंदमयको ईश्वर कहती है यह सर्वेश्वर है और सोई यह वेदोक्त ईश्वर है ॥ ५८ ॥

सर्वज्ञत्वादिके तस्य नैव विप्रतिपद्यताम् ॥
श्रौतार्थस्यावितर्क्यत्वान्मायायां सर्वसंभवात् ॥ ५९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि वह आनंदमय सर्वज्ञ नही होसकता सो ठीक नही कि उस आनंदमयकी सर्वज्ञतामें विवाद न करना चाहिये क्योंकि श्रुतिसे सिद्ध जो अर्थ वह तर्कके अयोग्य है और मायामें सब संभव है ॥ ५९ ॥

अयं यत्सृजते विश्वं तदन्यथयितुं पुमान् ॥
न कोऽपि शक्तस्तेनायं सर्वेश्वर इतीरितः ॥ ६० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि युक्तिके अभावमें श्रुति भी पत्थरके तरनेके वाक्यकी तुल्य अर्थवाद हो जायगी सो ठीक नही कि यह सर्वज्ञ जिस जाग्रत् आदि विश्वको रचता है उसको अन्यथा करनेको कोई भी पुरुष समर्थ नही है इससे यह वेदमें सर्वेश्वर कहा है ॥ ६० ॥

अशेषप्राणिबुद्धीनां वासनास्तत्र संस्थिताः ॥
ताभिः क्रोडीकृतं सर्वं तेन सर्वज्ञ ईरितः ॥ ६१ ॥

भाषार्थ–अब ईश्वरकी सर्वज्ञताका वर्णन करते हैं कि उस सुषुप्ति कालके अज्ञान रूप कारणमें कार्यरूप जो संपूर्ण प्राणियोंकी बुद्धि उनकी वासना स्थित हैं अर्थात् वसती हैं उन वासनाओंने संपूर्ण जगत्को विषय कर रक्खा है तिससे संपूर्ण बुद्धियोंकी वासनावाले अज्ञानरूप उपाधिसे यह सर्वज्ञ कहा है ॥ ६१ ॥

वासनानां परोक्षत्वात्सर्वज्ञत्वं न हीक्ष्यते ॥
सर्वबुद्धिषु तद्दृष्ट्वा वासनास्वनुमीयताम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि वह सर्वज्ञ है तो जाना क्यों नही जाता सो ठीक नही कि उसकी उपाधिरूप वासनाओंको परोक्ष होनेसे उसकी सर्वज्ञता नही दीखती और संपूर्ण बुद्धियोंमें वर्तमान जो सर्वज्ञत्व है उसका वासनाओंमें भी अनुमान करो वह अनुमान यह है कि संपूर्ण बुद्धियोंका सर्वज्ञत्व अपनी कारणरूप वासनासे आये सर्वज्ञत्व पूर्वक होने योग्य है कार्यमें वर्तमान धर्म विशेष होनेसे पटमें वर्तमान रूप आदिके समान भावार्थ यह है कि वासनाओंके प्रकट न होनेसे सर्वज्ञता नही दीखती किंतु संपूर्ण बुद्धियोंमें सर्वज्ञताको देखकर वासनाओंमें अनुमान करो॥६२॥

विज्ञानमयमुख्येषु कोशेष्वन्यत्र चैव हि ॥
अंतास्तिष्ठन् यमयति तेनांतर्यामितां व्रजेत् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–अब सर्वज्ञको कहकर अंतर्यामीरूप वर्णन करते हैं कि विज्ञानमय कोश है मुख्य जिनमें ऐसे कोशोंमें और पृथिवी आदिमें अंतः (भीतर) टिक कर जो सबका यमन (शिक्षा) देता है तिससे वह अंतर्यामी कहाता है ॥ ६३ ॥

बुद्धौ तिष्ठन्नांतरोऽस्याधियानीक्ष्यश्च धीवपुः ॥
धियमंतर्यमयतीत्येवं वेदेन घोषितम् ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–अब इस अर्थमें संपूर्ण अंतर्यामीब्राह्मणका प्रमाण देते हैं कि जो बुद्धिमें टिक कर बुद्धिके भी आंतर (भीतर) जो है और बुद्धिसे देखने के अयोग्य और बुद्धि जिसका शरीर है और बुद्धिके अंतःप्रविष्ट होकर जो बुद्धिका नियामक है वह अंतर्यामी परमेश्वर है यह वेदने कहा है ॥ ६४ ॥

तंतुः पटे स्थितो यद्वदुपादानतया तथा ॥
सर्वोपादानरूपत्वात् सर्वत्रायमवस्थितः ॥ ६५ ॥

भाषार्थ–अब अंतर्यामीब्राह्मणके सब पर्यायोंके व्याख्यानमें तो ग्रंथके बढनेका भय है इससे व्याख्यानके सब पर्यायोंमें संचारकी सिद्धिके लिये जो सब भूतोंमें

टिक कर सबका अंतर है इस पर्यायकी व्याख्या करते हुये जो सब भूतोंमें टिककर इसका अर्थ दृष्टांतसे कहते हैं कि जैसे उपादानरूपसे तंतु (सूत) वस्त्रमें स्थित है इसी प्रकार सबका उपादान रूप होनेसे यह अंतर्यामी, ईश्वर भी सर्वत्र स्थित है॥ ६५ ॥

पटादप्यांतरस्तंतुस्तंतोरप्यंशुरांतरः ॥
आंतरत्वस्य विश्रांतिर्यत्रासावनुमीयताम् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि उपादानरूपसे यह सर्वत्र स्थित है तो सर्वत्र प्रतीत क्यों नही होता सो ठीक नही कि पटसे आंतर तंतु है और तंतुसे भी आंतर उसकी अंशु (रूम) हैं इसीसे आंतरताकी जहां विश्रांति है वही यह है ऐसा अनुमान करो ॥ ६६ ॥

द्वित्रांतरत्वकक्षाणां दर्शनेऽप्ययमांतरः ॥
न वीक्ष्यते ततो युक्तिश्रुतिभ्यामेव निर्णयः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि सबका आंतर आत्माको मानोंगे तो अंशु आदिके समान वह दीखना चाहिये सो ठीक नही कि दो तीन श्रेणियोंके दर्शनमें भी यह आंतर है अर्थात् बाह्य नही है और इसका निर्णय श्रुति और युक्तियोंसे ही होता है उनमें श्रुति तो पूर्वोक्त है और युक्ति यह है कि चेतनरूप अधिष्ठानके विना अचेतनकी प्रवृत्ति असंभव है ॥ ६७ ॥

पटरूपेण संस्थानात् पटस्तंतोर्वपुर्यथा ॥
सर्वरूपेण संस्थानात्सर्वमस्य वपुस्तथा ॥ ६८ ॥

भाषार्थ–अब जिसके संपूर्ण भूतशरीर हैं इसका अर्थ कहते हैं कि वस्त्ररूपसे स्थित होनेसे जैसे पट तंतुका रूप है इसी प्रकार संपूर्णरूपसे स्थित होनेसे सब इस आत्माके शरीर हैं अर्थात् उस तंतुकी स्थिति जैसे पटरूपसे है ऐसे ही आत्माकी स्थिति सब रूपसे है ॥ ६८ ॥

तंतोः संकोचविस्तारचलनादौ पटस्तथा ॥
अवश्यमेव भवति न स्वातंत्र्यं पटे मनाक् ॥ ६९ ॥

भाषार्थ–अब जो सब भूतोंके आंतर होकर नियामक हैं इसका तात्पर्य दृष्टांत सहित दो श्लोकोंसे कहते हैं कि जैसे तंतुके संकोच विस्तार चलन आदिमें पट अवश्य विद्यमान है और किंचित् भी स्वतंत्रता पटमें नही है ॥ ६९ ॥

तथांतर्याम्ययं यत्र यया वासनया यथा ॥
विक्रियेत तथाऽवश्यं भवत्येव न संशयः ॥ ७० ॥

भाषार्थ–जैसे तंतुके संकोच आदिसे पटका संकोच आदि होता है इसी प्रकार पृथिवी आदिमें उपादानरूपसे स्थित अंतर्यामी जिस २ प्रकारकी वासनासे जैसे २ घट आदिरूप कार्यभावको प्राप्त होता है उसी २ रूपसे वह कार्यका समूह होता है इसमें संशय नही है ॥ ७० ॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ॥
भ्रामयन्त्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥ ७१ ॥

भाषार्थ–अब अंतर्यामीकी बोधक श्रुतिको कहकर स्मृतिको कहते हैं कि हे अर्जुन ईश्वर सब भूतोंके हृदयरूप देशमें, यंत्र पर, टिके हुये भूतोंको मायासे भ्रमाते हुये टिकते हैं ॥ ७१ ॥

सर्वभूतानि विज्ञानमयास्ते हृदये स्थिताः ॥
तदुपादानभूतेशस्तत्र विक्रियते खलु ॥ ७२ ॥

भाषार्थ–अब 'सर्वभूतानां' इस पदके अर्थको कहते हैं कि विज्ञानमय (रूप) वे संपूर्ण भूत हृदयमें स्थित हैं और उनका उपादानभूत ईश्वर वहां विकारको प्राप्त होता है अर्थात् हृदयमें स्थित अंतर्यामीका विज्ञानमयरूपसे परिणाम हो जाता है इससे वे भूत हृदयमें स्थित हैं ॥ ७२ ॥

देहादि पंजरं यंत्रं तदारोहोऽभिमानिता ॥
विहितप्रतिषिद्धेषु प्रवृत्तिर्भ्रमणं भवेत् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ–अब यंत्रारूढ शब्दका अर्थ लिखते हैं कि देह आदि पंजरको यंत्र कहते हैं और उस देहके अभिमानको आरोह (बैठना) कहते हैं और शास्त्रसे विहितोंमें जो निषिद्ध हैं उनमें प्रवृत्तिको भ्रमण कहते हैं ॥ ७३ ॥

विज्ञानमयरूपेण तत्प्रवृत्तिस्वरूपतः ॥
स्वशक्त्येशो विक्रियते मायया भ्रामणं हि तत् ॥ ७४ ॥

भाषार्थ–विज्ञानमयरूपसे उस आत्माकी प्रवृत्तिके स्वरूपसे ईश्वर अपनी शक्तिरूप मायासे विकारको प्राप्त होता है उसको ही भ्रामण (भ्रमण कराना) कहते हैं ॥ ७४ ॥

अंतर्यमयतीत्युक्त्याऽयमेवार्थः श्रुतौ श्रुतः ॥
पृथिव्यादिषु सर्वत्र न्यायोऽयं योज्यतां धिया ॥ ७५ ॥

भाषार्थ—अंतःस्थित होकर जो नियमन करै यह कहनेसे श्रुतिमें यही अर्थ अंतर्यामी पदका सुना है यही न्याय अपनी बुद्धिसे पृथिवी आदि सब पर्यायोंमें युक्त करना ॥ ७५ ॥

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥ ७६ ॥

भाषार्थ—अब संपूर्ण प्रवृत्ति ईश्वरके आधीन हैं इसमें अन्य वाक्यका भी प्रमाण देते हैं कि मैं धर्मको जानता हूं परंतु मेरी प्रवृत्ति धर्ममें नही है—और मैं अधर्मको जानता हूं परंतु मेरी अधर्मसे निवृत्ति नही है इससे हृदयमें स्थित किसी देवने जैसे नियुक्त मुझे कर दिया है उसी प्रकार मैं करता हूं ॥ ७६ ॥

नार्थः पुरुषकारेणेत्येव मा शंक्यतां यतः ॥
ईशः पुरुषकारस्य रूपेणापि विवर्तते ॥ ७७ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि प्रवृत्तिको परमेश्वरके आधीन माननेसे मनुष्यका प्रयत्न वृथा हो जायगा सो ठीक नही कि पुरुषार्थ निरर्थक है यह शंका न करनी क्योंकि पुरुषार्थ रूपसे भी ईश्वर ही विवर्तरूपको प्राप्त होता है अर्थात् पुरुषार्थ भी ईश्वररूप है और रज्जुके सर्पके समान अतात्विक (झूठे) अन्यथाभावको विवर्त कहते है ॥ ७७ ॥

ईदृग्बोधेनेश्वरस्य प्रवृत्तिर्मैव वार्यताम् ॥
तथाऽपीशस्य बोधेन स्वात्मासंगत्वधीजनिः ॥ ७८ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि पुरुषके प्रयत्नको भी ईश्वर मानोंगे तो नियामक और भ्रामण शब्दोंसे कहीं जो अंतर्यामीकी प्रेरणा वह वृथा होजायगी सो ठीक नही कि पुरुषार्थरूपसे स्थितिके ज्ञानसे अंतर्यामीकी प्रवृत्ति (प्रेरणा) का वारण निषेध मत करो क्योंकि ईश्वरको जो अपने असंग होनेका ज्ञान उससे ईश्वरमें प्रेरणा बन सकती है ॥ ७८ ॥

तावता मुक्तिरित्याहुः श्रुतयः स्मृतयस्तथा ॥
श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे इत्यपीश्वरभाषितम् ॥ ७९ ॥

भाषार्थ–अब आत्माकी असंगताके ज्ञानका फल कहते हैं कि श्रुति और स्मृतियोंने असंगके ज्ञानसे ही मुक्ति कही है और यहभी ईश्वरने ही कहा है कि श्रुति स्मृति ये दोनों मेरे ही आज्ञा हैं इसीसे श्रुतिका कथन लंघन करने अयोग्य है॥७९॥

आज्ञया भीतिहेतुत्वं भीषास्मादिति हि श्रुतम् ॥
सर्वेश्वरत्वमेतत्स्यादंतर्यामित्वतः पृथक् ॥ ८० ॥

भाषार्थ–श्रुतिमें भी ईश्वरको भीतिका हेतु कहा है कि इस ईश्वरके भयसे पवन चलती है इस श्रुतिमें आज्ञासे ईश्वरको भयका कारण कहा है इससे सर्वेश्वर अंतर्यामीसे पृथक् (भिन्न) है ॥ ८० ॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासन इति श्रुतिः ॥
अंतः प्रविष्टः शास्ताऽयं जनानामिति च श्रुतिः ॥ ८१ ॥

भाषार्थ–इस अक्षर (अविनाशी) ईश्वरकी शासनामें जगत् है यह श्रुति है और यह परमेश्वर जनोंके अंतःप्रविष्ट होकर सबका शिक्षक है इन दो श्रुतियोंसे बाहिर और भीतर ईश्वरको ही नियामक कहा है ॥ ८१ ॥

जगद्योनिर्भवेदेष प्रभवाप्ययकृत्त्वतः ॥
आविर्भावतिरोभावावुत्पत्तिप्रलयौ मतौ ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–अब यह ईश्वर जगत्का योनि है इस श्रुतिका अर्थ कहते हैं कि उत्पत्ति और प्रलयका कर्ता होनेसे यह जगत्का योनि (कारण) है और यहां उत्पत्ति और प्रलय शब्दसे आविर्भाव (प्रकटता) और तिरोभाव (छिपना) समझने ॥८२॥

आविर्भावयति स्वास्मिन् विलीनं सकलं जगत् ॥
प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत्प्रसारितः ॥ ८३ ॥

भाषार्थ–यह परमेश्वर लयको प्राप्त हुये संपूर्ण जगत्का इस प्रकार प्राणियोंके कर्मवश आविर्भाव करता है जैसे प्रसारित (फैलाया) पट अपने चित्रोंमेंको प्रकट करता है ॥ ८३ ॥

पुनस्तिरोभावयति स्वात्मन्येवाखिलं जगत् ॥
प्राणिकर्मक्षयवशात्संकोचितपटो यथा ॥ ८४ ॥

भाषार्थ–अब प्रलयका हेतु दिखाते हैं कि फिर इस प्रकार संपूर्ण जगत्का

प्राणियोंके कर्माधीन अपनेमें तिरोभाव (छिपाना) करता है जैसे संकोच करनेसे पट अपने चित्रोंको छिपा लेता है ॥ ८४ ॥

रात्रिघस्रौ सुप्तिबोधावुन्मीलननिमीलने ॥
तूष्णींभावमनोराज्ये इव सृष्टिलयाविमौ ॥ ८५ ॥

भाषार्थ–अब आविर्भाव तिरोभावके अन्य भी दृष्टांतोंको कहते हैं कि जैसे रात्रि दिन सोना जागरण उन्मीलन (खुलना) निमीलन (मिचना) और तूष्णींभाव और मनोराज्य, हैं ऐसे ही सृष्टि और प्रलय ये दोनों भी होते हैं ॥ ८५ ॥

आविर्भावतिरोभावशक्तिमत्त्वेन हेतुना ॥
आरंभपरिणामादिचोद्यानां नात्र संभवः ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहे की ईश्वर जगत्का योनि आरंभ (रचना) करनेसे वा जगत् आकार परिणाम होनेसे है सो ठीक नही कि आविर्भाव तिरोभाव शक्तियोंका आश्रय होनेसे आरंभ परिणाम आदि तर्कोंका यहां संभव नही है क्योंकि अद्वितीय आरंभक नही हो सकता और निरवयवका परिणाम नहीं हो सकता ॥ ८६ ॥

अचेतनानां हेतुः स्याज्जाड्यांशे नेश्वरस्तथा ॥
चिदाभासांशतस्त्वेष जीवानां कारणं भवेत् ॥ ८७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि एक ही ईश्वर चेतन अचेतनोंका उपादान कैसे होगा सो ठीक नही कि जाड्य अंशसे अर्थात् उपाधीकी प्रधानतासे अचेतनोंका उपादान और चिदाभास अंशसे अर्थात् चित् प्राधान्य (मुख्यता) से जीवोंका उपादान कारण होता है ॥ ८७ ॥

तमः प्रधानः क्षेत्राणां चित्प्रधानश्चिदात्मनाम् ॥
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः ॥ ८८ ॥

इति वार्तिककारेण जडचेतनहेतुता ॥
परमात्मन एवोक्ता नेश्वरस्येति चेच्छृणु ॥ ८९ ॥

भाषार्थ–मायावी ईश्वर जगत्का कारण नही हो सकता क्योंकि सुरेश्वराचार्योंने परमात्माकोही जगत्का कारण कहा है यह शंका दो श्लोकोंसे करते हैं कि तमोगुण है प्रधान जिसमें–ऐसी मायारूप उपाधिवाला परमेश्वर शरीर आदिकोंके भावनाख्य संस्कार ज्ञान दैवयान आदि और धर्म अधर्मरूप कर्म इनसे चित्प्रधान भी वह

चिदात्मारूप जीवोंका कारण होता है—इस पूर्वोक्त प्रकारसे परमात्माको ही जड और चेतनकी हेतुता कही है—ईश्वरको नहीं—ऐसी शंकाके उत्तरको सुनो॥८८॥८९॥

अन्योन्याध्यासमत्रापि जीवकूटस्थयोरिव ॥
ईश्वरब्रह्मणोः सिद्धं कृत्वा ब्रूते सुरेश्वरः ॥ ९० ॥

भाषार्थ—जैसे त्वंपदके अर्थमें अन्योन्याध्यास कहा है—इसी प्रकार तत्पदके अर्थमें भी अधिष्ठान और आरोपका अन्योन्य अध्यास इष्ट है कि जिस प्रकार जीव और कूटस्थका अन्योन्याध्यास कहा है इसी प्रकार ईश्वर और ब्रह्मके भी अन्योन्याध्यासको सिद्ध करके सुरेश्वर आचार्य पूर्वोक्त शंकाका उत्तर कहते हैं ॥ ९० ॥

सत्यं ज्ञानमनंतं यद्ब्रह्म तस्मात्समुत्थिताः ॥
खंवाय्वग्निजलोर्व्योषध्यन्नदेहाइति श्रुतिः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ—अब जिस श्रुतिके बलसे सुरेश्वराचार्योंने ईश्वर और ब्रह्मका अन्योन्याध्यास सिद्ध किया उस श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि सत्यज्ञान अनंत जो ब्रह्म है—उससे ही—आकाश वायु अग्नि जल पृथिवी ओषधि अन्न देह इन सबका उदय हुआ है यह श्रुति है ॥ ९१ ॥

आपातदृष्टितस्तत्र ब्रह्मणो भाति हेतुता ॥
हेतोश्च सत्यता तस्मादन्योन्याध्यास इष्यते ॥ ९२ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि इस श्रुतिसे अन्योन्याध्यास कैसे जाना गया सो ठीक नहीं कि—उस श्रुतिमें सत्य आदिरूप निर्गुणब्रह्मको जगत्की कारणता कही है—और जगत्के कारण मायाधीन चिदाभासको, खण्डन (बाध पर्यंत प्रतीत होता जो सत्यत्व है वह अन्योन्याध्यासके विना नहीं घट सक्ता तिससे अन्योन्याध्यास इष्ट है भावार्थ यह है कि आपातदृष्टिसे—श्रुतिसे ब्रह्मको हेतुता कही है और हेतु सत्य है तिससे अन्योन्याध्यास इष्ट है ॥ ९२ ॥

अन्योन्याध्यासरूपोऽसावन्नलिप्तपटो यथा ॥
घट्टितेनैकतामेति तद्वद्भ्रांत्यैकतां गतः ॥ ९३ ॥

भाषार्थ—अब अन्योन्याध्याससे सिद्ध ईश्वर ब्रह्मकी ऐक्यताको दृष्टांतसे दृढ करते हैं कि यह अन्योन्याध्यास अन्नसे लिपा वस्त्र जैसे घुटकर ऐक्यताको प्राप्त होता है—तिसी प्रकार भ्रांतिसे एकताको प्राप्त हो जाता है ॥ ९३ ॥

मेघाकाशमहाकाशौ विविच्येते न पामरैः ॥
तद्वद्ब्रह्मेशयोरैक्यं पश्यंत्यापातदर्शिनः ॥ ९४ ॥
उपक्रमादिभिर्लिंगैस्तात्पर्यस्य विचारणात् ॥
असंगं ब्रह्म मायावी सृजत्येष महेश्वरः ॥ ९५ ॥

भाषार्थ–अब भ्रांतिसे एकतामें दृष्टांतको देकर भेदकी अप्रतीतिमें अन्य दृष्टांतको दिखाते हैं कि जैसे पामरमनुष्य मेघाकाश और महाकाशको पृथक् २ नही जानसक्ते इसी प्रकार आपातदर्शी मनुष्य ब्रह्म और ईशकी एकताको देखते हैं अर्थात् भ्रांत मनुष्य–दोनोंका पृथक् २ विवेक नही करसक्ते अब जिससे ब्रह्म और ईशके भेदका ज्ञान होता है–उसका वर्णन करते हैं उपक्रम–उपसंहार–अभ्यास–अपूर्वफल–अर्थवाद–उपपत्ति–इन छः लिंगोंसे तात्पर्यके विचार करनेसे असंग–यह ब्रह्म–मायावी महेश्वर होकर रचता है[१] यह प्रतीत होता है ॥ ९४ ॥ ९५ ॥

सत्यं ज्ञानमनंतं चेत्युपक्रम्योपसंहृतम् ॥
यतो वाचो निवर्तंत इत्यसंगत्वनिर्णयः ॥ ९६ ॥

भाषार्थ–अब श्रुतिमें उपक्रम और उपसंहारसे अर्थात् प्रारंभ और समाप्तिसे कहा जो ब्रह्मकी असंगता उसको स्पष्ट करते हैं–कि सत्यज्ञान अनंतब्रह्म है वह उपक्रम करके उपसंहार किया है कि जिस परमेश्वरको प्राप्त न होकर वाणी भी निवृत्तिको प्राप्त होती है–इससे निश्चय होता है कि ब्रह्म असंग है ॥ ९६ ॥

मायी सृजति विश्वं सन्निरुद्धस्तत्र मायया ॥
अन्य इत्यपरा ब्रूते श्रुतिस्तेनेश्वरः सृजेत् ॥ ९७ ॥

भाषार्थ–अब जिस श्रुतिसे मायावी ईश्वरसे जगत्की रचना प्रतीत होती है उस श्रुतिको दिखाते हैं मायावी ईश्वर विश्वको रचता है और अन्य (जीव) वहां मायासे निरुद्ध है यह दूसरी श्रुति कहती है तिससे ईश्वर रचता है ॥ ९७ ॥

आनंदमय ईशोऽयं बहुस्यामित्यवैक्षत ॥
हिरण्यगर्भरूपोऽभूत्सुप्तिः स्वप्नो यथा भवेत् ॥ ९८ ॥

भाषार्थ–अब इस पूर्वोक्त प्रकारसे आनंदमय ईश्वरको जगत्का कारण कहकर उससे जगत्की उत्पत्तिके प्रकारको कहते हैं–कि यह आनंदमय ईश्वर एक, मैं,

---

१ उपक्रमोपसंहारावभ्यासो पूर्वताफलं ॥ अर्थवादोपपत्ती च लिंगन्तात्पर्यनिर्णये ।

बहुत प्रकारका हूं यह देखता भया उस देखनेसे ही इस प्रकार हिरण्यगर्भरूप होगया जिस प्रकार शयनमें स्वप्न होता है ॥ ९८ ॥

क्रमेण युगपद्वैषा सृष्टिर्ज्ञेया यथाश्रुति ॥
द्विविधश्रुतिसद्भावात् द्विविधस्वप्नदर्शनात् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि तिस आत्मासे आकाश, आकाशसे वायु आदि, हुए इस श्रुतिमें क्रमसे और उसने इस सब जगत्को रचा इस श्रुतिमें एकवार इन दोनों मार्गोंमें कोन स्वीकार करने योग्य है और कोन त्यागने योग्य है किंतु श्रुति और युक्तिसे दोनों ग्रहण करने योग्य हैं यह कहते हैं कि यह जगत्की सृष्टि दोनों प्रकारकी श्रुतियोंके मिलनेसे श्रुतियोंके अनुसार क्रमसे, वा युगपत् सृष्टि इस प्रकार जाननी जैसे शयनमें क्रमसे और विना क्रमसे स्वप्नको देखते हैं ॥ ९९ ॥

सूत्रात्मा सूक्ष्मदेहाख्यः सर्वजीवघनात्मकः ॥
सर्वाहंमानधारित्वात् क्रियाज्ञानादिशक्तिमान् ॥ २०० ॥

भाषार्थ–अब हिरण्यगर्भके स्वरूपका वर्णन करते हैं पटके विषे सूत्रके समान जगत्में व्यापक है आत्मा जिसका और सूक्ष्म देहरूप और संपूर्ण लिंग शरीरोपाधि जीवोंका घनात्मक अर्थात् समष्टिरूप वह ईश्वर सबके अहंमानको धारण करनेसे क्रिया ज्ञान आदि शक्तिवाला होता है ॥ २०० ॥

प्रत्यूषे वा प्रदोषे वा मग्नो मंदे तमस्ययम् ॥
लोको भाति यथा तद्वदस्पष्टं जगदीक्ष्यते ॥ १ ॥

भाषार्थ–अब हिरण्यगर्भ अवस्थामें जगत्की प्रतीतिमें दृष्टांतको कहते हैं–कि जैसे प्रत्यूष (प्रातःकाल) और प्रदोषके समय मंद मंद अंधकारमें डूबा हुआ यह जगत् स्पष्ट नही दीखता इसी प्रकार-हिरण्यगर्भ अवस्थासे, प्रथम पश्चात् भी यह जगत् स्पष्ट नही दीखता अर्थात् हिरण्यगर्भ अवस्थामें स्पष्ट दीखता है ॥ १ ॥

सर्वतो लांछितो मष्या यथा स्याद्घट्टितः पटः ॥
सूक्ष्माकारैस्तथेशस्य वपुः सर्वत्र लांछितम् ॥ २ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार लोकसिद्ध दृष्टांतको कहकर यथा धौत इस पूर्वोक्त श्लोकमें कहे लांछितपदका दृष्टांत देते हैं कि जैसे घुटा हुआ वस्त्र मसीसे संपूर्ण अवयवोंमें लांछित होता है इसी प्रकार ईश्वरका शरीर भी अपंचीकृत भूतोंके कार्य जो लिंगशरीर उनसे लांछित होता है ॥ २ ॥

सस्यं वा शाकजातं वा सर्वतोऽङ्कुरितं यथा ॥
कोमलं तद्वदेवैष पेलवो जगदंकुरः ॥ ३ ॥

भाषार्थ-अब बुद्धिमें स्थिरताके लिये अन्य दृष्टांतको कहते हैं जैसे सस्य (खेत) वा शाकोंका समूह सर्वतः अंकुरित होता है अर्थात् उसके सर्वत्र अंकुर फूटते हैं इसी प्रकार कोमल और पेलव (सुंदर) यह जगत्रूप अंकुर है ॥ ३ ॥

आतपाभातलोको वा पटो वा वर्णपूरितः ॥
सस्यं वा फलितं यद्वत्तथा स्पष्टवपुर्विराट् ॥ ४ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार सूत्रात्मशरीरको दिखाकर-उसकी ही अवस्थाका भेद जो पंचीकृतभूतोंका कार्य उपाधिवाले विराजरूपको तीन दृष्टांतसे स्पष्ट दिखाते हैं कि जैसे सूर्योदयके अनंतर प्रकाशित-जगत् और अनेक वर्णोंसे पूर्ण किया वस्त्र और फल आया हुआ सस्य ये तीनों स्पष्ट प्रतीत होते हैं-इसी प्रकार स्पष्ट जो ईश्वरका शरीर उसको ही विराट् कहते हैं ॥ ४ ॥

विश्वरूपाध्याय एष उक्तः सूक्तेऽपि पौरुषे ॥
धात्रादिस्तंबपर्यंतानेतस्यावयवान्विदुः ॥ ५ ॥

भाषार्थ-अब उसकी सत्तामें प्रमाणको कहते हैं विश्वरूपाध्यायमें और पौरुष-सूक्तमें यह वर्णन किया है कि ब्रह्मासे स्तम्बपर्यंत इस परमेश्वरके अवयवोंको ही जानते हैं ॥ ५ ॥

ईशसूत्रविराड्वेधोविष्णुरुद्रेंद्रवह्नयः ॥
विघ्नभैरवमैरालमारिका यक्षराक्षसाः ॥ ६ ॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा गवाश्वमृगपक्षिणः ॥
अश्वत्थवटचूताद्या यवव्रीहितृणादयः ॥ ७ ॥
जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुद्दालकादयः ॥
ईश्वराः सर्व एवैते पूजिताः फलदायिनः ॥ ८ ॥

भाषार्थ-ईश-सूत्र-विराट्-ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-वह्नि-विघ्न-भैरव-मैराल-मारिका-यक्ष-राक्षस-ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-गौ-अश्व-मृग-पक्षी-पीपल- वट-आम्र आदि-यव-व्रीहि-तृणआदि-जल-पाषाण-मिट्टी-काष्ठ-वास्या, कुद्दालक (कुलाटी) आदि ये संपूर्ण ईश्वरही हैं-इससे पूजनेसे फलदायी होते हैं ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

यथायथोपासते तं फलमीयुस्तथातथा ॥
फलोत्कर्षापकर्षौ तु पूज्यपूजानुसारतः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—उस परमेश्वरकी जिस जिस प्रकारसे उपासना करते हैं—तिसी २ प्रकारसे फल होता है—और फलकी उत्तमता और न्यूनता—पूज्य और पूजकके अनुसारसे होती है अर्थात् सात्विकोंका उत्तम फल और तमोगुणीयोंका अधमफल होता है ॥ ९ ॥

मुक्तिस्तु ब्रह्मतत्त्वस्य ज्ञानादेव न चान्यथा ॥
स्वप्रबोधं विना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा ॥ १० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि संसारके फलकी सिद्धि इस प्रकार होय तो हो—मुक्ति किसकी उपासनासे होती है—इस आशंकाके उत्तरमें ज्ञानके विना किसीसे नही होती इसका वर्णन करते हैं कि जैसे अपने जागरण विना अपनी निद्रासे कल्पना किये स्वप्नकी निवृत्ति नही होती इसी प्रकार ब्रह्मतत्वके ज्ञान विना मुक्ति नही होती अर्थात् ब्रह्मके अज्ञानसे कल्पना किये संसारकी निवृत्ति नही होती ॥ १० ॥

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वे स्वप्नोऽयमखिलं जगत् ॥
ईशजीवादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि तुमने जो द्वैतनिवृत्तिरूप मुक्तिको स्वप्नके दृष्टान्तसे तत्त्व बोधसे साध्य (उत्पन्न) कहा—सो ठीक नही क्योंकि निवृत्तिके योग्य द्वैत, स्वप्नकी तुल्य नही हो सक्ता इस आशंकाके उत्तरमें अन्यथा ज्ञानरूप—होनेसे स्वप्नकी तुल्य जगत्को जो श्रुतिमें कहा है उसका वर्णन करते हैं—कि ईश्वर जीव आदिरूपसे जो चेतन अचेतन आदि जगत् है यह अद्वितीय ब्रह्मतत्वके विषै स्वप्न है ॥ ११ ॥

आनंदमयविज्ञानमयावीश्वरजीवकौ ॥
मायया कल्पितावेतौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि ब्रह्मसे अभिन्न ईश्वर और जीवको जगतके अन्तःपाती कैसे कहा—इस आशंकाके उत्तरमें माया कल्पित होनेसे जगत्के अन्तः पातित्वका वर्णन करते हैं कि ईश्वर और जीव क्रमसे जो आनंदमय और विज्ञानमय हैं वे दोनों मायासे कल्पित हैं और उन दोनोंने संपूर्ण जगत्की कल्पना की है ॥ १२ ॥

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ॥
जाग्रदादिविमोक्षांतः संसारो जीवकल्पितः ॥ १३ ॥

भाषार्थ-अब उन दोनोंमें जिसने जिसकी कल्पना की उसका वर्णन करते हैं-उसने देखा कि मैं-लोकोंकों रचूं इस रीतिसे जगत्‌में प्रवेशको प्राप्त हुआ-इन श्रुतियोंसे ईक्षण आदि प्रवेशपर्यंत जो सृष्टि है वह ईश्वरसे कल्पित है-और उसकी जाग्रत आदि तीन अवस्था हैं वह उस विस्तारित ब्रह्मको देखता भया इन श्रुतियोंसे जाग्रत् आदि मोक्षपर्यंत जो संसार वह जीवसे कल्पित है अर्थात् उसका कर्ता जीव है भावार्थ यह है कि ईक्षणसे प्रवेशपर्यंत सृष्टि ईश्वरकल्पित है और जाग्रत् आदि मोक्षपर्यंत संसार जीवसे (का) कल्पित है ॥ १३ ॥

अद्वितीयं ब्रह्मतत्त्वमसंगं तन्न जानते ॥
जीवेशयोर्मायिकयोर्वृथैव कलहं ययुः ॥ १४ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि परमार्थसे ब्रह्मही सत्य है तो जीव और ईश्वरके विषै वादी, विवादको, क्यों करते हैं सो ठीक नहीं कि विवादी मनुष्य अद्वितीय और असंग जो ब्रह्मतत्त्व उसको नही जानते-इससे मायिक जीव और ईश्वरके रूपमें वृथा कलह करते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञात्वा सदा तत्त्वनिष्ठा ननु मोदामहे वयम् ॥
अनुशोचाम एवान्यान्न भ्रांतैर्विवदामहे ॥ १५ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि यदि जीव और ईश्वरको विवादमें अज्ञान मूल है तो उनको तत्त्वज्ञानसे बंधन, करना चाहिये-इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि सदैव तत्वज्ञानमें है निष्ठा जिनकी ऐसे हम निश्चयसे आनंदको प्राप्त होते हैं और अन्य भ्रान्त मनुष्योंका सोच (पश्चात्ताप) करते हैं परन्तु भ्रान्तिसे उनके साथ वृथाश्रम समझकर वाद नहीं करते ॥ १५ ॥

तृणार्चकादियोगांता ईश्वरे भ्रांतिमाश्रिताः ॥
लोकायतादिसांख्यांता जीवे विभ्रान्तिमाश्रिताः ॥ १६ ॥

भाषार्थ-अब ईश्वर और जीवके विषै भ्रांतवादियोंको पृथक् २ दिखाते हैं कि तृणके पूजक आदि योगपर्यंत जो हैं वे ईश्वरमें भ्रांत हैं और लोकायत आदि सांख्यपर्यंत जो हैं वे जीवके विषै भ्रांत हैं ॥ १६ ॥

अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानंति यदा तदा ॥
भ्रांता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ–अब उनके भ्रांत होनेमें हेतुको कहते हैं कि जब वे सब अद्वितीय ब्रह्म-तत्वको नही जानते इससे वे संपूर्ण भ्रांत हैं उनकी मुक्ति कहां और उनको इस लोकका सुख भी कहां अर्थात् ग्रहण किये पक्षका प्रतिपादन (वर्णन) के आग्रहसे उनके चित्तकी विश्रांति नही होती इससे जगत्का सुख भी उनको नही होता ॥ १७ ॥

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्तु तेन किम् ॥
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां न बुद्धः स्पृश्यते खलु ॥ १८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि उनको ब्रह्मविद्याके अभाव होने परभी इतरविद्याके होनेसे उनमें उत्तम, अधम, भाव देखते हैं इससे उत्तमताका ही सुख उनको हो जायगा सो ठीक नही कि मुमुक्षु उस सुखका आदर नही करते हैं कि उनको उत्तम अधम भाव है तो रहो उससे क्या? क्योंकि स्वप्नमें मिले राज्य और भिक्षासे बुद्ध (जगा हुआ) मनुष्यका किंचित्भी फल नही होता ॥ १८ ॥

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ॥
कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं विचार्य बुध्यतां च तत् ॥ १९ ॥

भाषार्थ–जिससे जीव ईश्वरका विवाद मुक्तिका हेतु नही है इससे मुमुक्षु उसमें बुद्धिको, न, लगावे किंतु श्रुतियोंके अनुसार ब्रह्मतत्वका ही विचार करैं और ब्रह्म-कोही जाननेका यत्न करैं ॥ १९ ॥

पूर्वपक्षतया तौ चेत्तत्त्वनिश्चयहेतुताम् ॥
प्राप्नुतोऽस्तु निमज्जस्व तयोर्नैतावताऽवशः ॥ २० ॥

भाषार्थ– कदाचित् कहो कि ब्रह्मतत्वके निश्चयार्थ उनका स्वरूप त्यागनेकी योग्यताकी बुद्धिसे जानना चाहिये तो उतनेहीमें बुद्धिकी समाप्ति न करनी इसका वर्णन करते हैं कि यदि वे जीव ईश्वरके विवाद, पूर्व पक्षभाव से तत्व निश्चयके कारण होंय तो उनमें अवश (विवेकशून्य) हो कर तू मत डूबै अर्थात् उतनेसे ही अलं-बुद्धिको नकरै ॥ २० ॥

असंगचिद्विभुर्जीवः सांख्योक्तस्तादृगीश्वरः ॥
योगोक्तस्तत्त्वमोरर्थौ शुद्धौ ताविति चेच्छृणु ॥ २१ ॥

भाषार्थ—अब सांख्य और योगशास्त्रमें कहे जीव, ईश्वर, शुद्ध, चिद्रूप हैं उनको आपभी मानते हो इससे वे पूर्वपक्ष नही हो सकते यह शंका करते हैं कि सांख्यशास्त्रमें असंग चित्‌रूप विभु (व्यापक) जीव कहा है और असंग आदिरूप तत् त्वं पदोंके जो शुद्ध अर्थ हैं वह ईश्वर योगशास्त्रमें कहा है ऐसा कहोगे तो उत्तरको सुनो कि उनके मतमें जीव, ईश्वर, शुद्ध, चित्, रूपभी हैं परन्तु वे उनका वास्तवभेद मानते हैं इससे वह हमारा सिद्धांत नही है ॥ २१ ॥

न तत्त्वमोरुभावर्थावस्मत्सिद्धांततां गतौ ॥
अद्वैतबोधनायैव सा कक्षा काचिदिष्यते ॥ २२ ॥

भाषार्थ—सोई दिखाते हैं कि तत् और त्वं पदके दोनों अर्थ हमारे सिद्धांतभावको प्राप्त नही हुये अर्थात् दोनोंको भिन्न२ हम चित्‌रूप नही मानते कदाचित् कहो कि कूटस्थ ब्रह्मशब्दोंसे शुद्ध तत् त्वं पदके अर्थ भिन्न २ हैं यह तुमने भी निरूपण किये हैं सो ठीक नही कि अद्वैत बोधनके लिये ही वह भी कोई कक्षा (मार्ग) हमको इष्ट है, अर्थात् जगत्‌में प्रसिद्ध भेदकी निवृत्तिके द्वारा अद्वैतके बोधनार्थ ही उनका भेदसे अनुवाद किया है, कुछ उनके भेदका प्रतिपादन नहीं किया—भावार्थ यह है कि तत् त्वं पदके दोनों अर्थ ईश्वर हैं यह हमारा सिद्धांत नही है कि अद्वैतज्ञानके लिये ही वहभी एकमार्ग इष्ट है ॥ २२ ॥

अनादिमायया भ्रांता जीवेशौ सुविलक्षणौ ॥
मन्यंते तद्व्युदासाय केवलं शोधनं तयोः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि तत् त्वं पदके अर्थोंका शोधन क्यों किया सो ठीक नही कि अनादिमायासे भ्रांतमनुष्य अर्थात् विपरीतज्ञानी जीव ईश्वरको भली प्रकारसे विलक्षण मानते हैं अर्थात् जीवको कर्ता भोक्ता आदि और ईश्वरको सर्वज्ञ आदि पारमार्थिक (सत्य) मानते हैं उनके खंडन केलियेही तत् त्वं पदका शोधन है—यहां मायासे अविद्याको लेते हैं ॥ २३ ॥

अत एवात्र दृष्टांतो योग्यः प्राक् सम्यगीरितः ॥
घटाकाशमहाकाशजलाकाशाभ्रखात्मकः ॥ २४ ॥

भाषार्थ—पदार्थशोधनके दिखानेकी इच्छासे उसके उपायरूप पूर्वोक्त दृष्टांतका स्मरण कराते हैं कि इसीसे इस विषयमें योग्य दृष्टांत पहिले भली प्रकार कह आये हैं कि घटका आकाश, महाकाश, जलाकाश, और मेघाकाश, इनके समान तत् त्वं पदके अर्थका नाममात्रसे ही भेद है ॥ २४ ॥

जलाभ्रोपाध्यधीने ते जलाकाशाभ्रखे तयोः ॥
आधारौ तु घटाकाशमहाकाशौ सुनिर्मलौ ॥ २५ ॥

भाषार्थ—अब पदार्थशोधनके प्रकारको कहते हैं कि जो जलाकाश और मेघाकाश हैं वे जल और मेघरूप उपाधिके आधीन हैं इससे अनित्य हैं और उन दोनों आकाशोंका आधार जो घटाकाश महाकाश हैं वे भली प्रकार निर्मल हैं अर्थात् जल आदि उपाधिसे रहित होनेसे केवल आकाशरूप हैं ॥ २५ ॥

एवमानंदविज्ञानमयौ मायाधियोर्वशौ ॥
तदधिष्ठानकूटस्थब्रह्मणी तु सुनिर्मले ॥ २६ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्त दृष्टांतको दार्ष्टांतिकमें भी कहते हैं कि इसी प्रकार आनंदमय और विज्ञानमय दोनों माया, बुद्धिके, वश हैं और उन दोनोंके अधिष्ठान जो कूट-स्थ और ब्रह्म हैं वे दोनों भली प्रकार निर्मल हैं अर्थात् मायोपाधि रहित हैं ॥२६॥

एतत्कक्षोपयोगेन सांख्ययोगौ मतौ यदि ॥
देहोऽन्नमयकक्षत्वादात्मत्वेनाभ्युपेयताम् ॥ २७ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि पदार्थशोधनके मार्गके उपयोगी होनेसे सांख्य-योगके दोनों मतभी मानने योग्य हैं सो ठीक नही कि यदि इस कक्षाके उपयोगसे सांख्ययोगको मानते हो तो अन्नमय कक्षा (मार्ग) होनेसे देहको भी आत्माका स्वीकार करो अर्थात् इस कक्षाके उपयोगमें इतरशास्त्रोंको भी हम मानते हैं उनमें वर्णन किये अनेक आत्मा हो जायगे ॥ २७ ॥

आत्मभेदो जगत्सत्यमीशोऽन्य इति चेत्त्रयम् ॥
त्यज्यते तैस्तदा सांख्ययोगवेदांतसंमतिः ॥ २८ ॥

भाषार्थ—जिससे सांख्ययोग वेदांतके विरोधी हैं उसको कहते हैं कि आत्माका भेद-जगत्की सत्यता ईश्वर अन्य है इन तीनोंको सांख्ययोग त्यागदें तो तब सांख्ययोग वेदांत इन तीनोंकी संमति (एकता) है अर्थात् वे जीव भेद, जगत् सत्य, ईश्व तटस्थ, है- यह मानते हैं हम एक अद्वैत ब्रह्म मानते हैं ॥ २८ ॥

जीवोऽसंगत्वमात्रेण कृतार्थ इति चेत्तदा ॥
स्रक्चंदनादिनित्यत्वमात्रेणापि कृतार्थता ॥ २९ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि जीवको असंग जाननेसे ही मुक्ति हो जायगी अद्वैत-

का बोध निष्फल है सो ठीक नही कि यादि जीव असंगमात्रसे ही कृतार्थ हो जायगा तो स्रक् चंदन आदिको भी नित्य मानकर कृतार्थता हो जायगी अर्थात् अद्वैतज्ञानके विना असंगताका होनाभी असंभव है ॥ २९ ॥

यथा स्रगादिनित्यत्वं दुःसंपाद्यं तथाऽऽत्मनः ॥
असंगत्वं न संभाव्यं जीवतोर्जगदीशयोः ॥ ३० ॥

भाषार्थ-जैसे स्रग् आदिकी नित्यता दुःखसे संपादन (सिद्ध) करने योग्य है इसी प्रकार जबतक जगत् और ईश्वर ये दोनों जीव हैं अर्थात् विशेषण विशेष्यभावसे प्रतीत हैं तबतक आत्माकी असंगता भी संभावना करनेके अयोग्य है ॥ ३० ॥

अवश्यं प्रकृतिः संगं पुरेवापादयेत्तथा ॥
नियच्छत्येतमीशोऽपि कोऽस्य मोक्षस्तथा सति ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-अब असंभवको ही स्पष्ट करते हैं कि यदि प्रकृति, पूर्वके समान संगको करदे तो ईश्वर भी इस जीवका नियामक होगा ऐसा होनेपर जीवका मोक्ष कहां॥ ३१॥

अविवेककृतः संगो नियमश्चेति चेत्तदा ॥
बलादापतितो मायावादः सांख्यस्य दुर्मतेः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-संग और नियमन दोनों अविवेकके कार्य हैं जब विवेकज्ञानसे अविवेककी निवृत्ति होगयी फिर संग आदिकी उत्पत्ति कहां इस शंकाको करते हैं कि यदि संग और नियम अविवेकके किये है तो दुर्मति सांख्यको मायावादबलसे प्राप्तहोगा अर्थात् अभावरूप अविवेक भाव कार्यका जनक नही होसकता और विवेकसे अन्य घट आदि संगके हेतु हो नही सकते और तीसरे पक्षमें तो वह भावरूप अज्ञान स्वरूप ही है यह मायावादका प्रसंग होगा ॥ ३२ ॥

बंधमोक्षव्यवस्थार्थमात्मनानात्वमिष्यताम् ॥
इति चेन्न यतो माया व्यवस्थापयितुं क्षमा ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब यह शंका करते हैं की बंधमोक्ष व्यवस्थाकी अनुपपत्तिसे आत्माके भेदका मानना इष्ट है ऐसा मत कहो जिससे एक भी आत्मामें मायासे बंधमोक्षकी व्यवस्था हो सकती है ॥ ३३ ॥

दुर्घटं घटयामीति विरुद्धं किं न पश्यसि ॥
वास्तवौ बंधमोक्षौ तु श्रुतिर्न सहतेतराम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—अब मायाको व्यवस्था करनेमें जो दुर्घट करनेका स्वभाव उसको कहते हैं कि क्या तू इस विरुद्धको नही देखता है कि मैं दुर्घटको करती हूं यह मेरा स्वभाव है—कदाचित् कहो कि बंधको अविद्यासे जन्य मानों तो मानों मोक्षको तो वास्तविक मानना चाहिये सो ठीक नही क्योंकि बंध और मोक्ष इन दोनोंको वास्तव (सत्य) श्रुति अत्यंत नही सहती अर्थात् नही मानती ॥ ३४ ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ॥
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—मोक्ष आदि वास्तव नही इसमें श्रुतिको पढते हैं कि न किसीका नाश है और न किसी की देहका संबंधरूप उत्पत्ति है और न बद्ध है अर्थात् सुखी दुःखी है—और न साधक है अर्थात् श्रवण आदिका कर्ता है—और न चारों साधनोंसे युक्त कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त है अर्थात् जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी हो वह भी नही, वस्तुतः देखा जायतो ये सब नही हैं ॥ ३५ ॥

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ ॥
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—अब मायामय जीव ईश्वरके भेदका उपसंहार (समाप्त) करते हैं कि माया है नाम जिसका ऐसी कामधेनुके जीव और ईश्वर दोनों वत्स हैं वे दोनों यथेच्छद्वैतको पीओ—तत्व तो अद्वैत ही है अर्थात् सिद्धांत तो अद्वैत है ॥ ३६ ॥

कूटस्थब्रह्मणोर्भेदो नाममात्राहते न हि ॥
घटाकाशमहाकाशौ वियुज्येते न हि क्वचित् ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि जीव ईश्वरको मायिक होनेसे उनका भेद मिथ्या रहो परंतु कूटस्थ, ब्रह्म तो पारमार्थिक है उनका भेद भी पारमार्थिक होगा इस शंकाके उत्तरमें भेदकी साधक जो विलक्षणता उसके अभावको कहते हैं कि कूटस्थ और ब्रह्मका भेद भी नाममात्रके विना नही है क्योंकि घटाकाश और महाकाश ये दोनों कदाचित् भी पृथक् २ नही होते अर्थात् नामका ही भेद है अर्थका नही ॥ ३७ ॥

यदद्वैतं श्रुतं सृष्टेः प्राक्तदेवाद्य चोपरि ॥
मुक्तावपि वृथा माया भ्रामयत्यखिलाञ्जनान्॥ ३८ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्त प्रकारसे भेदको मिथ्या सिद्ध करनेका फल कहते हैं कि

है सौम्य सृष्टिसे पूर्व यह जगत् सत् ही हुआ–एक अद्वितीय ब्रह्म है–इस श्रुतिमें जो सृष्टिसे पहिले अद्वैत सुना है वही अद्वैत अब है और वही आगे भी होगा और वही मुक्तिमें है–कदाचित् कहो कि सब भेदको क्यों मानते हैं सो ठीक नही कि संपूर्ण जनोंको माया, भ्रम कराती है अर्थात् तत्वज्ञानसे रहित होनेसे वृथा आग्रह संपूर्ण जन करते हैं ॥ ३८ ॥

ये वदंतीत्थमेतेऽपि भ्राम्यंतेऽविद्ययाऽत्र किम् ॥
न यथा पूर्वमेतेषामत्र भ्रांतेरदर्शनात् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि प्रपंच मायामय है और तत्व अद्वितीय ही है ऐसा जो कहते हैं वे भी संसारी दीखते हैं इससे तत्वज्ञानका क्या प्रयोजन है यह शंका करते हैं कि जो ऐसे कहते हैं उनको क्या अविद्या नहीं भ्रमाती सो ठीक नही क्योंकि उनको पहिलेके समान इसमें भ्रम नही देखते अर्थात् कर्मके वश किसी २ को व्यवहारके होने परभी पूर्वके समान आग्रह नहीं रहता है इससे तत्वका ज्ञान सफल है ॥ ३९ ॥

ऐहिकामुष्मिकः सर्वः संसारो वास्तवस्ततः ॥
न भाति नास्ति चाद्वैतमित्यज्ञानिविनिश्चयः ॥ ४० ॥

भाषार्थ–ज्ञानियोंकी भ्रांतिका अभाव दिखानेके लिये प्रथम अज्ञानियोंके निश्चयको कहते हैं कि इस लोकका, पुत्र, स्त्री, आदिरूप और परलोकका स्वर्गसुख आदिरूप संपूर्ण संसार, वास्तव है तिससे अद्वैतका न प्रकाश है और न अद्वैत है–यह अज्ञानियोंका निश्चय है ॥ ४० ॥

ज्ञानिनो विपरीतोऽस्मान्निश्चयः सम्यगीक्ष्यते ॥
स्वस्वनिश्चयतो बद्धो मुक्तोऽहं चेति मन्यते ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–अब तत्त्वके निश्चयकी, उससे विलक्षणताको दिखाते हैं कि ज्ञानियोंका निश्चय इससे विपरीत भली प्रकार दीखता है अर्थात् अद्वैत सत्य है और भासता है–और संसार मिथ्या है यह निश्चय है और उसका फल यह है कि मनुष्य अपने २ निश्चयके अनुसार अपनेको बद्ध और मुक्त मानता है अर्थात् अज्ञानी बद्ध मानता है और ज्ञानी मुक्त मानता है ॥ ४१ ॥

नाद्वैतमपरोक्षं चेन्न चिद्रूपेण भासनात् ॥
अशेषेण न भातं चेद्द्वैतं किं भासतेऽखिलम् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—अद्वैत भासता है यह कहना शास्त्रसे है अनुभवसे नही इससे अद्वैतका निश्चय न होगा इस शंकाको करते हैं कि अद्वैत अपरोक्ष नही है ऐसा मत कहो क्यों कि उसका चित्‌रूपसे भान है कदाचित् कहोकि अशेष (संपूर्ण) रूपसे नही भासता सो भी नही क्योंकि द्वैतभी क्या संपूर्ण रूपसे भासता है इससे घट स्फुरता है पट स्फुरताहै यहां घट आदिमें व्यापक स्फुरण रूपसे अद्वैत भासता है इससे अद्वैत अपरोक्ष है ॥ ४२ ॥

दिङ्मात्रेण विभानं तु द्वयोरपि समं खलु ॥
द्वैतसिद्धिवदद्वैतसिद्धिस्ते तावता न किम् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार दोषकी तुल्यताको कहकर परिहारकी साम्यताको कहते हैं कि एक देशरूपसे भान तो द्वैत अद्वैतके विषै निश्चयसे समान है इससे उतनेसे ही द्वैतकी सिद्धिके समान तेरे मतमें अद्वैतकी सिद्धि भी क्यों नही होती ॥ ४३ ॥

द्वैतेन हीनमद्वैतं द्वैतज्ञाने कथं त्विदम् ॥
चिद्भानं त्वविरोध्यस्य द्वैतस्यातोऽसमे उभे ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—अब पूर्व वादी अन्यप्रकारसे अद्वैत सिद्धिकी शंका करता है कि द्वैतसे रहित को अद्वैत कहते हैं और द्वैत अद्वैतका परस्पर विरोध है इससे द्वैतकी प्रतीति होतसंते यह अद्वैत नही हो सकेगा-कदाचित् कहोकि द्वैत भी ऐसे ही अद्वैतका विरोधीहै इससे अद्वैतके भानमें द्वैत भी सिद्ध न होगा यह शंका तुल्य है इस शंकाका उत्तर पूर्ववादी कहता है कि आपके मतमें चिद्रूपकी प्रतीति ही अद्वैतकी प्रतीतिहै वह द्वैतकी विरोधी नही हो सकती इससे दोनोंकी समानता ही नही है-भावार्थ यह है कि द्वैतसे रहितको अद्वैत कहते हैं वह अद्वैत द्वैतके भानमें कैसे हो सकता है और चित्‌का भान तो इस द्वैतका आविरोधी है इससे दोनोंकी तुल्यता नही है ॥ ४४ ॥

एवं तर्हि शृणु द्वैतमसन्मायामयत्वतः ॥
तेन वास्तवमद्वैतं परिशेषाद्विभासते ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—अब सिद्धांती पूर्व शंकाका इस आशयसे समाधान करता है कि प्रतीत होता भी द्वैत मिथ्यारूप है इससे वास्तव अद्वैतका नाश नही कर सकता अर्थात् पूर्वोक्त शंका करोगे तो उसका उत्तर सुनो कि द्वैत मायामय होनेसे असत है तिससे परिशेषसे वास्तव अद्वैत ही भासता है-और प्राप्त हुयी वस्तुके निषेध होने पर और अन्यमें प्रसंगके अभावसे शेष रहेमें जो निश्चय उसे परिशेष कहते हैं ॥ ४५ ॥

अचिंत्यरचनारूपं मायैव सकलं जगत् ॥
इति निश्चित्य वस्तुत्वमद्वैते परिशेष्यताम् ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-अब परिशेषके प्रकारको कहते हैं कि चिंता करनेके अयोग्य है रचना जिस की ऐसा जगत् माया (मिथ्या)ही है इस प्रकार अनिर्वचनीय होनेसे द्वैतको मिथ्या निश्चय करके वास्तव (सत्य) अद्वैतका परिशेष करो ॥ ४६ ॥

पुनर्द्वैतस्य वस्तुत्वं भाति चेत्त्वं तथा पुनः ॥
परिशीलय को वाऽत्र प्रयासस्तेन ते वद ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि अद्वैतका निश्चय होने पर भी पूर्ववासनासे पुनः २ द्वैत सच्चा प्रतीत होता है सो ठीक नही कि फिर भी द्वैत सत्य दीखता है तो तू फिर भी उसके मिथ्यात्वका वारंवार विचार कर क्योंकि वारंवार उपदेशको देखते हैं इससे श्रवण मनन आदिकी आवृत्ति करै इस सूत्रसें चौथे अध्यायमें व्यासने आवृत्ति कही है इस विचार करनेमें तेरा कोन प्रयास है यह कहो ॥ ४७ ॥

कियंतं कालमिति चेत् खेदोऽयं द्वैत इष्यताम् ॥
अद्वैते तु न युक्तोऽयं सर्वानर्थनिवारणात् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ-कितने कालतक विचारना चाहिये ऐसा कहोगे तो यह खेद द्वैतमें इष्ट है और अद्वैतमें तो यह खेद युक्त नही क्योंकि उसमें संपूर्ण अनर्थोंका निवारण होता है और अपरोक्षज्ञानके होने पर विचारकी समाप्ति कही है ॥ ४८ ॥

क्षुत्पिपासादयो दृष्टा यथापूर्वं मयीति चेत् ॥
मच्छब्दवाच्येऽहंकारे दृश्यतां नेति को वदेत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि अद्वैत आत्माके अपरोक्षज्ञाताभी मुझमें क्षुधा तृषा आदि दीखते हैं इससे दीखते हुये अनर्थका निवर्तक आत्मज्ञान नही हो सकता इस शंका-को करते हैं कि पहिलेके समान मेरेमें क्षुधा पिपासा आदि दीखतेहैं ऐसा कहोगे तो मत् शब्दके अर्थ अहंकारमें दीखते हैं, वा मत् शब्दसे उपलक्षित चिदात्मामें, इस विकल्पमें प्रथम पक्षको तो स्वीकार करते हैं कि मत् शब्दके वाच्य अहंकारमें दीखता है तो यह कौन कहता है और चिदात्मातो क्षुधा आदिका अविषय है और असंग है इससे दूसरा पक्षभी श्रेष्ठ नही-भावार्थ यह है कि मुझ ज्ञानीमें भी क्षुधा तृषा आदि पूर्वके समान दीखते हैं तो मत् (मेरेमें) शब्दके वाच्य अहंकारमें दीखो नहीं यह कौन कहता है ॥ ४९ ॥

चिद्रूपेऽपि प्रसज्येरंस्तादात्म्याध्यासतो यदि ॥
माऽध्यासं कुरु किंतु त्वं विवेकं कुरु सर्वदा ॥ ५० ॥

भाषार्थ—अब यह शंका करते हैं कि वस्तुतः उसकी प्रतीति न होने परभी भ्रांतिसे उसकी प्रतीति हो जायगी कि यदि तादात्म्यके अध्याससे चित् रूपमेंभी क्षुधा आदि प्रसंग हो जायगा तो तू अध्यासको मत करै किंतु अनर्थकी निवृत्तिके लिये सदैव विवेकको कर ॥ ५० ॥

झटित्यध्यास आयाति दृढवासनयेति चेत् ॥
आवर्तयेद्विवेकं च दृढं वासयितुं सदा ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—यदि दृढ जो अनादि वासना उसके वशसे पुनः अपि शीघ्र अध्यासका आगमन, हो जाय तो विवेककी ही आवृत्तिको दृढ वासनाके लिये करै अन्य उपायको न करै ॥ ५१ ॥

विवेके द्वैतमिथ्यात्वं युक्त्यैवेति न भण्यताम् ॥
अचिंत्यरचनात्वस्यानुभूतिर्हि स्वसाक्षिकी ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि विचारसे द्वैतकी माया रूपता युक्तिसे ही सिद्ध हो जायगी अनुभवका कुछ काम नहीं सो ठीक नहीं कि विवेकके होने पर युक्तिसे ही द्वैत मिथ्या प्रतीत हो जायगा ऐसा मत कहो क्योंकि अचिंत्यरचनारूप मिथ्यात्वका जो अनुभव वह स्वसाक्षिक है अर्थात् उसका साक्षी आपही है अन्य नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥

चिदप्यचिंत्यरचना यदि तर्ह्यस्तु नो वयम् ॥
चितिं सुचिंत्यरचनां ब्रूमो नित्यत्वकारणात् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि अचिंत्यरचनारूप जो मिथ्याका लक्षण कहा है वह चिदात्मामेंभी घट सकता है सो ठीक नही कि चेतनभी अचिंत्यरचनारूप है तो हो क्योंकि प्राक् अभावसे युक्त होने पर जो अचिंत्यरचनारूप हो वह मिथ्या होता है ऐसे लक्षणका कहनेवाला आचार्य आत्माकोभी अचिंत्यरचनारूप स्वीकार करता है—कदाचित् कहो कि ऐसा कहने पर अपसिद्धांत होगा सो भी नहीं कह सकते क्योंकि हम चितिको नित्य होनेसे भली प्रकार चिंता करने योग्य है रचना जिसकी ऐसी नही मानते—भावार्थ यह है कि चित् भी अचिंत्यरचनारूप हो जायगा तो हो जिससे हम चित्को नित्य होनेसे सुचिंत्यरचनारूप नही कहते ॥ ५३ ॥

प्रागभावो नानुभूतश्चितेर्नित्या ततश्चितिः ॥
द्वैतस्य प्रागभावस्तु चैतन्येनानुभूयते ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—अब प्रागभावके अनुभवके अभावसे चितिकी नित्यता कहते हैं कि जिससे चितिका प्राक् अभाव नही देखा इससे चिति नित्य है—यहां यह आकूत (गुप्त) है कि जो चितिका प्रागभाव मानता है उसको यह प्रश्न करना योग्य है कि चित्का प्रागभाव चित् जानै वा कोई अन्य जानै—अन्यसे तो नही कहते कि चित्से अन्य जड है वह जान ही नही सकता—और चेतन जानता है इस पक्षमेंभी दूसरे चित्-से वा उसी चित्से प्रागभाव जाना जाता है—दूसरेसे तो नही कह सकते कि अद्वैत-वादमें दूसरे चित्का ही अभाव है—दूसरा चित्भी मानों तो चित् है प्रतियोगी जि-सका ऐसे अभावका ज्ञान चित्के ज्ञान विना नही हो सकेगा—और उस चित्कोभी ग्राह्य (ज्ञानका विषय) मानोंगे तो घट आदिके समान चित्भी अनित्य हो जायगा और चित्का प्रागभाव चित्से ही जाना जाता है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि अपने अभावको आप नही जान सकता—कदाचित् कहो कि द्वैतप्रमाता आदिरूप होनेसे उसके अभावको वही नही जान सकता और उससे अन्य अनुभवका कर्ता है नही—इससे चैतन्यके समान द्वैतभी नित्य हो जायगा सो ठीक नही क्योंकि जाग्रत् आदि द्वैतका अभाव सुषुप्तिमें साक्षीसे जाना जाता है श्रुतिमेंभी कहा है कि तम (अज्ञान) का साक्षी सबका साक्षी वह है—भावार्थ—यह है कि चितिका प्रागभाव नही देखा इससे चिति नित्य है और द्वैतके प्रागभावको तो चैतन्य जान सकता है ॥ ५४ ॥

प्रागभावयुतं द्वैतं रच्यते हि घटादिवत् ॥
तथापि रचनाऽचिंत्या मिथ्या तेनेंद्रजालवत् ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—अब प्रागभावसे युक्त होकर अचिंत्यरचनारूप मिथ्यात्वका लक्षण घटनेसे—द्वैतकी मिथ्यात्व सिद्धिको कहते हैं कि प्रागभावसे युक्त द्वैत यद्यपि घट आदिके समान रचा जाता है तथापि उसकी रचना अयुक्त है अर्थात् यह प्रतीत नही हो सक्ता कि किस प्रकार रचा जाता है—तिससे इंद्रजालके प्रसार (फैलाव) के समान मिथ्या है रचने योग्य होनेपर जिसकी रचना अचिंत्य होय उसको ही मिथ्या कहते हैं ॥ ५५ ॥

चित्प्रत्यक्षा ततोऽन्यस्य मिथ्यात्वं चानुभूयते ॥
नाद्वैतमपरोक्षं चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–चिति–स्वप्रकाश–होनेसे नित्य और अपरोक्ष होकर भासती है और चित्से भिन्नके मिथ्यात्वकोभी वही चिति जानती है यह दिखाया–इससे–जो अद्वैतको अपरोक्ष नही मानता उसके मतमें वदतोऽव्याघात दोषको कहते हैं कि चेतन प्रत्यक्ष है और उससे अन्यके मिथ्यात्वका सबको अनुभव है–इससे जो अद्वैत अपरोक्ष नही यह कहते है–उसके वचनमें वदतोऽव्याघात कैसे नही अर्थात् व्याघात आता है ॥ ५६ ॥

इत्थं ज्ञात्वाऽप्यसंतुष्टाः केचित्कुत इतीर्यताम् ॥
चार्वाकादेः प्रबुद्धस्याप्यात्मा देहः कुतो वद ॥ ५७ ॥

भावार्थ–अब यह पूछते हैं कि इस प्रकार वेदान्तके अर्थको जानते हुए किनी किनी पुरुषोंको विश्वास क्यों नही होता इस प्रकार जान कर भी केचित् मनुष्य किस प्रकार असंतुष्ट होते हैं यह कहो–इस शंकाका प्रतिबंदी–उत्तर देते हैं कि ऊहापोहमें चतुरभी चार्वाक आदिके मतमें–देह आत्मा किससे है–यह तुम कहो अर्थात्–जैसे भली प्रकार विचारसे शून्य होकर चार्वाक आदि देहको आत्मा मानते हैं इसी प्रकार यहांभी इस प्रकारका ज्ञान होने परभी किसी किसीको संतोष नही होता ॥ ५७ ॥

सम्यग्विचारो नास्त्यस्य धीदोषादिति चेत्तथा ॥
असंतुष्टास्तु शास्त्रार्थं न त्वैक्षंत विशेषतः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ–अब प्रतिबंदीके मोचन (छुटना) की शंका करते हैं कि यदि चार्वाक आदिको बुद्धिके दोषसे सम्यक् विचार नहीं–तो यहां भी असंतुष्ट मनुष्य शास्त्रार्थको विशेष करके नही देखते इससे ही उनको संतोष नही होता ॥ ५८ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यंते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ॥
इति श्रौतं फलं दृष्टं नेति चेद्दृष्टमेव तत् ॥ ५९ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार तत्वको विचार कर विचार से उत्पन्न जो तत्वज्ञान उसका फल विचार करनेके लिये उसको बोधक श्रुतिको कहते हैं कि जो इस मुमुक्षुके हृदयमें स्थित अध्यासके मूल काम (इच्छा आदि) है वे जिस समय निवृत्त हो जाते हैं इसके अनंतर मर्त्य (देही) अमृत होता है और ब्रह्मको प्राप्त होता है अर्थात् अध्यासकी निवृत्तिसे निवृत्त हो जाते हैं तभी ब्रह्मरूप हो जाता है अध्यासके अभावसे मरण रहित होता है और इसी देहमें सत्यरूपब्रह्मको प्राप्त होता है–इस श्रुतिसे प्रतिपादित (कहा) जो फल काम निवृत्तिरूप है वह अनुभवसिद्ध नही

किंतु शब्दसे सिद्ध है यह शंका करते हैं कि यह श्रुतिसे सिद्ध फल नही देखा ऐसा कहोगे तो वह दृष्ट ही है क्योंकि इसके अग्रिम श्रुतिके तात्पर्यके देखनेसे वह दृष्ट हो सकता है–भावार्थ यहहै कि जब इसके हृदयमें स्थित संपूर्ण वासना निवृत्त हो जाते हैं यह श्रुतिसे सिद्ध फल नही देखा है ऐसा कहोगे तो वह दृष्ट ही है ॥५९॥

यदा सर्वे प्रभिद्यंते हृदयग्रंथयस्त्विति ॥
कामा ग्रंथिस्वरूपेण व्याख्याता वाक्यशेषतः ॥ ६० ॥

भाषार्थ–पूर्वोक्त श्रुतिके फलको स्पष्ट करने के लिये उस वाक्यको कह कर उसके अर्थको कहते हैं कि जब हृदयमें स्थित संपूर्ण कामना भेदन (नाश) को प्राप्त होते है तब ब्रह्मरूप हो जाता है इस वाक्यशेषसे कामनाओंको ग्रंथि स्वरूप कहा है अहंकार चिदात्माके तादात्म्य अध्यास की निवृत्तिरूप वह अनुभवसे सिद्ध है इससे अप्रत्यक्ष नही है ॥ ६० ॥

अहंकारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः ॥
इदं मे स्यादिदं मेस्यादितीच्छाः कामशब्दिताः ॥ ६१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि लोकमें कामशब्दसे इच्छाको कहते हैं वे ग्रंथी कैसे कही सो ठीक नही कि अहंकार चिदात्माको अविवेकसे एक करके यह मेरे हो जांय–यह मेरे हो जांय ये इच्छा जो हैं वे ही काम शब्दसे कही जाती हैं अर्थात् अध्यासके मूल कामको इच्छा कहते हैं इच्छामात्रको नहीं ॥ ६१ ॥

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम् ॥
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रंथिभेदतः ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अध्याससे उत्पन्न काम ही त्यागने योग्य है तो उससे भिन्न कामस्वीकार करने योग्य होगा इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि बाधकके अभावसै वैसा काम तो स्वीकारके योग्य ही है कि चिदात्माका मनमें प्रवेश, न करके अर्थात् तादात्म्य अध्यासका अंतर्भाव, न करके चाहै कोटियोंवस्तुओंका अंतर्भाव करता हुआ मनुष्य हो परंतु ग्रंथिभेदसे बाधके योग्य नही होता ॥ ६२ ॥

ग्रंथिभेदेऽपि संभाव्या इच्छाः प्रारब्धदोषतः ॥
बुद्धाऽपि पापबाहुल्यादसंतोषो यथा तव ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अध्यासके अभावमें कामनाओंकि उत्पत्ति ही न होगी सो ठीक नही कि प्रारब्धकर्मके वश उत्पत्ति हो जाती है इसको कहते हैं कि ग्रंथि-

भेद्के होने पर भी प्रारब्धदोषसे इस प्रकार इच्छा हो सकती है जैसे जानकर भी पापोंकी अधिकतासे तुझको संतोष नही होता ॥ ६३ ॥

अहंकारगतेच्छाद्यैर्देहव्याध्यादिभिस्तथा ॥
वृक्षादिजन्मनाशैर्वा चिद्रूपात्मनि किं भवेत् ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–अब अहंकारमें गत इच्छा आदि अध्यासके विना बाधक नही इस बातको दो दृष्टांतोंसे कहते हैं कि जैसे देहकी व्याधि आदिसे और वृक्ष आदिके जन्म नाशसे अहंकारके साक्षीका बाध नही है इसी प्रकार अहंकारमें वर्तमान जो इच्छा आदि हैं उनसे देह संबंध रहित चित्रूप आत्मामें अध्यासकी निवृत्ति होने पर, बाध नही होता ॥ ६४ ॥

ग्रंथिभेदात्पुराऽप्येवमिति चेत्तन्न विस्मर ॥
अयमेव ग्रंथिभेदस्तव तेन कृती भवान् ॥ ६५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि चिदात्माको असंगरूप होनेसे ग्रंथिभेदसे पहिले भी कामना आदिका बाध न होगा यह ठीक नहीं कि ग्रंथिभेदसे पूर्व भी ऐसे ही होगा क्योंकि ऐसे बोधको ही हम ग्रंथिभेद कहते हैं इससे यह तुमारी शंका हमारे अनुकूल है इस अभिप्रायसे उत्तर देते हैं कि उस बोधको मत भूल, यदि वह बोध तुझे होजायगा तो उससे ही तू कृतार्थ, होजायगा- भावार्थ यह है कि ग्रंथिभेदसे पूर्व भी ऐसे ही काम आदिका अभाव होगा तो उसे मत भूले- यही ग्रंथिभेद आपको होजायगा तो उससे ही आपकी कृतार्थता हो जायगी ॥ ६५ ॥

नैवं जानंति मूढाश्चेत्सोऽयं ग्रंथिर्न चापरः ॥
ग्रंथितद्भेदमात्रेण वैषम्यं मूढबुद्धयोः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–और ऐसे ज्ञानके अभाव को ही ग्रंथि कहते हैं यह दिखाते हैं कि मूढ इस ग्रंथिभेदको यदि नही जानते तो यह न जानना ही ग्रंथि है अन्य नही क्योंकि ग्रंथि और ग्रंथिके भेदमात्रसे ही मूढ और ज्ञानिकी विषमता (फरक) है अर्थात् ग्रंथिमान् मूढ और ग्रंथिभेदवान ज्ञानी होता है यही दोनोंकी विलक्षणता है इससे ज्ञानीको इच्छा आदिके होनेमें कोई भी बाधक नही होता ॥ ६६ ॥

प्रवृत्तो वा निवृत्तो वा देहेंद्रियमनोधियाम् ॥
न किंचिदपि वैषम्यमस्त्यज्ञानिविबुद्धयोः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ–अब अन्यकारणके अभावको प्रकट करते हैं कि देह, इंद्रिय, मन, बुद्धि

इनकी विषयोंमें प्रवृत्ति होनेमें वा निवृत्ति होनेमें अज्ञानी और ज्ञानीके विषै कोई विषमता नही है किं तु वही विषमता है जो पूर्व कह आये हैं ॥ ६७ ॥

व्रात्यश्रोत्रिययोर्वेदपाठापाठकृता भिदा ॥
नाहारादावस्ति भेदः सोऽयं न्यायोऽत्र योज्यताम् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त अर्थमें दृष्टांतको कहते हैं कि व्रात्य (जिसका समयपर संस्कार न हुआ हो) और श्रोत्रिय (वेद पाठी) इन दोनोंके मध्यमें वेदपाठ न करने और वेदपाठ करनेसे ही भेद है- व्रात्यको वेदपाठका अधिकार नही है और श्रोत्रियको है वही न्याय यहां समझो ॥ ६८ ॥

न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥
उदासीनवदासीन इति ग्रंथिभिदोच्यते ॥ ६९ ॥

भाषार्थ-अब ज्ञानीको ग्रंथिशून्य होनेमें गीताका प्रमाण कहते हैं कि ज्ञानी प्राप्त हुये दुःखोंका द्वेष नही करता और निवृत्त हुये सुखोंकी आकांक्षा नही करता किंतु उदासीनके समान वर्तता है इसको ही ग्रंथिभेद कहते हैं ॥ ६९ ॥

औदासीन्यं विधेयं चेद्वच्छब्दव्यर्थता तदा ॥
न शक्ता अस्य देहाद्या इति चेद्रोग एव सः ॥ ७० ॥

भाषार्थ-ज्ञानीकी उदासीनताका विधायक यह वाक्य है कुछ ग्रंथिभेदमें प्रमाण नही है ऐसा कहोगे तो उदासीनवत्, इस पदमें वत् शब्द व्यर्थ हो जायगा,कदाचित् कहो कि ज्ञानीके देह आदि कार्य करनेको असमर्थ हैं इससे प्रवृत्ति नहीं होती कुछ ग्रंथिभेदसे नही यह शंका करके हंसते हैं कि यदि ज्ञानीके देह आदि शक्त नही हैं तो वह रोग ही है ॥ ७० ॥

तत्त्वबोधं क्षयं व्याधिं मन्यंते ये महाधियः ॥
तेषां प्रज्ञाऽतिविशदा किं तेषां दुःशकं वद ॥ ७१ ॥

भाषार्थ-जो महाबुद्धिमान् मनुष्य तत्वबोधको क्षयीकी व्याधि मानते हैं उनकी बुद्धि अत्यंत निर्मल है उनको असाध्य कोन वस्तु है अर्थात् तत्व बोध व्याधिरूप नही हो सकता ॥ ७१ ॥

भरतादेरप्रवृत्तिः पुराणोक्तेति चेत्तदा ॥
जक्षन् क्रीडन् रतिं विंदन्नित्यश्रौषीर्न किं श्रुतिम् ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि यह परिहास अयोग्य है क्योंकि भरत आदिकी अप्रवृत्ति पुराणोंमें कही है—इस शंकाको जो तू कर्ता है सो इस श्रुतिको न जानकर करता है—क्योंकि भक्षण करता हुआ—अपनी इच्छासे क्रीडा करता हुआ, और स्त्रियोंके संग और यान ज्ञाति और वयस्योंके संग रमता हुआ जनोंके संग वर्तमान भी इस शरीरको ज्ञानी स्मरण नही करता अर्थात् ज्ञानीको अपनी देहका अनुसंधान नही रहता—यह श्रुति क्या आपने नही सुनी ॥ ७२ ॥

न ह्याहारादि संत्यज्य भरताद्याः स्थिताः क्वचित् ॥
काष्ठपाषाणवत्किंतु संगभीता उदासते ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—भोजन आदिको त्याग कर भरत आदि काष्ठ और पाषाणके समान कभीभी न रहे, किंतु संगके भयसे उदासीन रहे—इससे पुराणोंकाभी ज्ञानीकी उदासीनताके बोधनमें तात्पर्य है कुछ प्रवृत्तिके अभावमें नही ॥ ७३ ॥

संगी हि बाध्यते लोके निःसंगः सुखमश्नुते ॥
तेन संगः परित्याज्यः सर्वदा सुखमिच्छता ॥ ७४ ॥

भाषार्थ—जगत्में संगी बाधा जाता है—और संग रहित सुखको भोगता है—तिससे सुखका अभिलाषी पुरुष सदैव संगको त्याग दे ॥ ७४ ॥

अज्ञात्वा शास्त्रहृदयं मूढो वक्त्यन्यथान्यथा ॥
मूर्खाणां निर्णयस्त्वास्तामस्मत्सिद्धांत उच्यते ॥ ७५ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि मनके संगका ही त्याग मानोंगे तो अन्तः संगसे शून्य बाहिर व्यवहार करते हुए उनको सब—मूर्ख, क्यों कहते हैं इस शंकाके उत्तरका वर्णन करते हैं शास्त्रके तात्पर्यको न जानकर मूढ मनुष्य अन्यथा अन्यथा कहते हैं अर्थात् ज्ञानीको मूढ बताते हैं—इससे मूर्खोंका निर्णय रहो अर्थात् मूढोंके व्यवहारका विचार मत करो—अब हम अपने सिद्धांतको कहते हैं ॥ ७५ ॥

वैराग्यबोधोपरमाः सहायास्ते परस्परम् ॥
प्रायेण सह वर्तंते वियुज्यंते क्वचित् क्वचित् ॥ ७६ ॥

भाषार्थ—वह सिद्धांत यह है कि वैराग्य, बोध,और उपराम (शांति) ये परस्पर सहायक होते हैं और प्रायः संगही वर्तते हैं और कभी २ उनका वियोग भी हो जाता है ॥ ७६ ॥

हेतुस्वरूपकार्याणि भिन्नान्येषामसंकरः ॥
यथावदवगंतव्यः शास्त्रार्थं प्रविविच्यता ॥ ७७ ॥

भाषार्थ हेतु, स्वरूप, कार्य—ये तीनों भिन्न २ हैं इनका संकर कहीं भी नही है वह असंकर शास्त्रके अर्थका जो विवेकी उसको यथार्थ रीतिसे जानना योग्य है इससे वैराग्य बोध उपराम इनकी भिन्न २ स्थिति इनके हेतु आदिके भेदसे जाननी ॥ ७७ ॥

दोषदृष्टिर्जिहासा च पुनर्भोगेष्वदीनता ॥
असाधारणहेत्वाद्या वैराग्यस्य त्रयोऽप्यमी ॥ ७८ ॥

भाषार्थ—अब वैराग्यके हेतु आदि तीनोंको दिखाते हैं कि विषयोंमें दोष देखना—और विषयोंके त्यागकी इच्छा—और पुनः भोगोंमें दीनता न करनी ये तीनों वैराग्यके हेतु स्वरूप, कार्य, क्रमसे असाधारण होते हैं ॥ ७८ ॥

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम् ॥
पुनर्ग्रंथेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः ॥ ७९ ॥

भाषार्थ—अब तत्वबोधके हेतु आदि तीनोंको दिखाते हैं कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ये तीन और तत्वका मिथ्या विवेक अर्थात् कूटस्थ और अहंकारके भेदका ज्ञान और फिर ग्रंथि (अन्योन्य अध्यास) की अनुत्पत्ति ये तीनों बोधके क्रमसे हेतु स्वरूपकार्य कहे हैं और इस श्रुतिमें[1] आत्माको देखने सुनने मानने और निदिध्यासन करने योग्य कहा है इससे श्रवण आदि तीनों आत्मदर्शनके हेतु हैं ॥ ७९ ॥

यमादिर्धीनिरोधश्च व्यवहारस्य संक्षयः ॥
स्युर्हेत्वाद्या उपरतेरित्यसंकर ईरितः ॥ ८० ॥

भाषार्थ—अब उपरामके हेतु आदि तीनोंको दिखाते हैं कि यम नियम आदि और बुद्धिका निरोध अर्थात् चित्तकी वृत्तिको रोकना—और व्यवहारका भली प्रकार क्षय ये उपरतिके हेतु स्वरूप और कार्य हैं इस प्रकार यह तीनोंका असंकर कहा ॥ ८० ॥

तत्त्वबोधः प्रधानं स्यात् साक्षान्मोक्षप्रदत्वतः ॥
बोधोपकारिणावेतौ वैराग्योपरमावुभौ ॥ ८१ ॥

---

१ आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः ।

भाषार्थ–इनके प्रधान गुणभावका वर्णन करते हैं कि उस ब्रह्मको जानकर मृत्युका अवलंघन करता है और मोक्षका कारण अन्य नही है इस श्रुतिसे साक्षात् मोक्षका दाता होनेसे तत्वबोध इनतीनोंमे प्रधान है और ये दोनों वैराग्य और उपरम तत्व बोधके उपकारी हैं क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि ब्राह्मण निर्वेदको प्राप्त हो जाय क्योंकि अकृत (मोक्ष) कृत (कर्म) से नही होता तिससे तत्वज्ञानके लिये वह शांत दांत होकर गुरुके समीप जाकर उपरामको प्राप्त हुआ सहनशील सावधान हो कर अपने देहमें ही आत्माको देखै इससे वैराग्य उपराम दोनों उपकारी प्रतीत होते हैं भावार्थ यह है कि साक्षात् मोक्षका दाता तत्वबोध प्रधान है और ये वैराग्य उपराम दोनों तत्वबोधके उपकारी हैं ॥ ८१ ॥

त्रयोऽप्यत्यंतपक्काश्चेन्महतस्तपसः फलम् ॥
दुरितेन क्वचित्किंचित्कदाचित्प्रतिबध्यते ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–पूर्व कहे हुये इन तीनोंके कहीं २ वियोगमें कारणको कहते हैं कि ये तीनों अत्यंत पके हुये होंयतो महान् तपका फल है और कहीं २ कोईसे कदाचित् पापै प्रतिबंधकर देता है अर्थात् अनेक जन्मोंमें संचित पुण्य समूहके प्रतापसे तीनोंका संग हो जाता है और किसी २ पुरुष विशेषमें प्रतिबंधक पापके अनुसार कालविशेषमें प्रतिबंधभी किसीका हो जाता है ॥ ८२ ॥

वैराग्योपरती पूर्णे बोधस्तु प्रतिबध्यते ॥
यस्य तस्य न मोक्षोऽस्ति पुण्यलोकस्तपोबलात् ॥ ८३ ॥

भाषार्थ–उनमेंभी तत्वज्ञानके प्रतिबंधमें मोक्षके अभावको कहते हैं कि यदि जिसको वैराग्य और उपराम ये दोनों पूर्ण हों और पापके वश बोधका प्रतिबंध हो जाय तो उसका मोक्ष नही होता किंतु तपके बलसे पुण्य लोक होता है क्योंकि गीतामें भगवान्का वचन है कि पुण्यात्माओंके लोकोंमें प्राप्त होकर और अनेक वर्षोंतक वहां वशकर योगसे भ्रष्ट पुरुष शुद्ध श्रीमानोंके कुलमें जन्म लेता है॥ ८३॥

पूर्णे बोधे तदन्यौ द्वौ प्रतिबद्धौ यदा तदा ॥
मोक्षो विनिश्चितः किंतु दृष्टदुःखं न नश्यति ॥ ८४ ॥

भाषार्थ–बोधके पूर्ण होनेपर जहां वैराग्य और उपराम इन दोनोंका प्रतिबंध (रोक) होता है तब मोक्षतो निश्चयसे होता है परंतु दीखते हुये दुःखका नाश नही होता अर्थात् जीवन्मुक्तिका सुख सिद्ध नही होता ॥ ८४ ॥

ब्रह्मलोकतृणीकारो वैराग्यस्यावधिर्मतः ॥
देहात्मवत् परात्मत्वदार्ढ्ये बोधः समाप्यते ॥ ८५ ॥

भाषार्थ—अब वैराग्य आदिकोंकी अवधिका वर्णन करते हैं कि ब्रह्मलोककोभी तृणके समान समझना यह वैराग्यकी अवधि कही है और अपने देहकी आत्माके समानपर आत्माके समझनेसे बोधकी समाप्ति (पूर्णता) हो जाती है ॥ ८५ ॥

सुप्तिवद्विस्मृतिः सीमा भवेदुपरमस्य हि ॥
दिशाऽनया विनिश्चेयं तारतम्यमवांतरम् ॥ ८६ ॥

भाषार्थ—शयनके समान जो विस्मृति वह उपरामकी सीमा होती है अर्थात् सोनेमें जैसा विषयोंका अभाव रहता है ऐसा ही जाग्रतमें भी समझना—और इसी मार्गसे अवांतर (मध्यका) तारतम्य (न्यूनअधिक भाव) अपनी २ बुद्धिसे निश्चय करने योग्य है ॥ ८६ ॥

आरब्धकर्मनानात्वाद्बुद्धानामन्यथाऽन्यथा ॥
वर्तनं तेन शास्त्रार्थे भ्रमितव्यं न पंडितैः ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि तत्वज्ञानियोंको भी राग आदि देखते हैं इससे ज्ञान मुक्तिका हेतु नही हो सकेगा सो ठीक नही क्योंकि प्रारब्धकर्म नाना प्रकारके हैं इससे बोधवाले भी अन्यथा अन्यथा वर्तते हैं तिससे शास्त्रके अर्थमें पंडितजनोंको भ्रम न करना चाहिये अर्थात् राग आदि आधिके व्याधि समान प्रारब्धकर्मका फल होनेसे मुक्तिके प्रतिबंधक नही हो सकते ॥ ८७ ॥

स्वस्वकर्मानुसारेण वर्ततां ते यथा तथा ॥
अविशिष्टः सर्वबोधः समा मुक्तिरिति स्थितिः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ—अपने अपने कर्मके अनुसार वे जैसे तैसे वर्तो परन्तु मैं ब्रह्मरूप हुं— यह ज्ञान सबको एकाकार है—और निष्पाप ब्रह्मरूपसे मुक्ति भी सबको समान हैं— यह स्थिति है अर्थात् जानने योग्य है ॥ ८८ ॥

जगच्चित्रं स्वचैतन्ये पटे चित्रमिवार्पितम् ॥
मायया तदुपेक्ष्यैव चैतन्यं परिशेष्यताम् ॥ ८९ ॥

भाषार्थ—अब चित्रदीपप्रकरणके तात्पर्यको संक्षेपसे दिखाते हैं जगत्रूपी चित्र आत्मस्वरूप चैतन्यमें इस प्रकार मायासे अर्पित है—जैसे वस्त्रमें चित्राम तिससे— मायोपाधि जगत्की उपेक्षा करके चैतन्यका परिशेष करो ॥ ८९ ॥

चित्रदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ॥
पश्यंतोऽपि जगच्चित्रं ते मुह्यंति न पूर्ववत् ॥ २९० ॥

भाषार्थ-अब ग्रंथाभ्यासके फल कहते हैं-जो बुद्धिमान् मनुष्य इस चित्रदीपका नित्य अनुसंधान (विचार) करते हैं-जगत् चित्रको देखते हुए भी वे-उस प्रकार मोहको प्राप्त नही होते जिस प्रकार पूर्व होते रहे ॥ २९० ॥

इति श्रीमद्भारतीतीर्थविद्यारण्यमुनिरचितपंचदश्याः पण्डितमिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतौ चित्रदीपस्समाप्तः ॥ ६ ॥

इति षष्ठं चित्रदीपविवेकप्रकरणम् ॥ ६ ॥

इति चित्रदीपप्रकरणम् ॥ ६ ॥
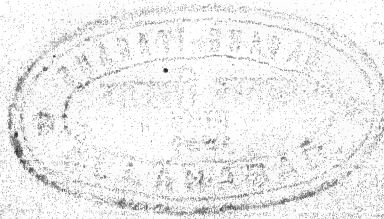
॥ श्रीः ॥

पञ्चदशी ।

भाषाटीकासमेता ।

अथ तृप्तिदीपविवेकप्रकरणम् ७

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ॥
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ १ ॥

भाषार्थ-तृप्तिदीप नाम प्रकरणका आरंभ करते हुए श्रीभारतीतीर्थ-उस तृप्तिदीपको श्रुतिका व्याख्यानरूप होनेसे व्याख्यानके योग्य श्रुतिको-आदिमें पढतेहैं कि यदि पुरुष यह, आत्मा, मैं, हूं इस प्रकार आत्माको जानले तो किस विषयकी इच्छा-करता हुआ और किस विषयके लिये आत्माको तपायमान करै-अर्थात् आत्मज्ञान-सेही सब कामना शान्त होजाती हैं ॥ १ ॥

अस्याः श्रुतेरभिप्रायः सम्यगत्र विचार्यते ॥
जीवन्मुक्तस्य या तृप्तिः सा तेन विशदायते ॥ २ ॥

भाषार्थ-इस तृप्तिदीपग्रंथमें-पूर्वश्लोकमें कही हुई श्रुतिके अभिप्रायको भली प्रकार विचारते हैं-तिस अभिप्रायके विचारसे श्रुतिमें प्रसिद्ध जो जीवन्मुक्तिकी तृप्ति है वह स्पष्ट होजाती है ॥ २ ॥

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ॥
कल्पितावेव जीवेशौ ताभ्यां सर्वं प्रकल्पितम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ-पदका छेदन, पदार्थका कथन विग्रह-वाक्योंकी योजना-शंकाका समाधान-ये पांच लक्षण व्याख्यानके कहे हैं इससे पुरुष इस पदका अर्थ कहनेके लिये उसकी उपोद्घातरूप सृष्टिको संक्षेपसे दिखाते हैं-प्रतिपादन करने योग्य अर्थको बुद्धिमें रखकर उसके लिये अर्थांतरका जो वर्णन उसको उपोद्घात कहते हैं-और चिदानंदमय ब्रह्मके प्रतिबिंबसे युक्त और सत्व रज तमोगुणरूप जो जगत्का उपादान (प्रकृति) उसे माया कहते हैं-वह प्रकृति सत्वगुणकी शुद्धि-और

अशुद्धिसे–दो प्रकारकी हुई माया और अविद्यारूप होती है अर्थात् विशुद्धसत्वत्त्व-प्रधानको माया और मलीनसत्व प्रधानको–अविद्या कहते हैं–मायामें प्रतिबिंबित ब्रह्मको ईश्वर, और अविद्यामें प्रतिबिंबितको जीव, कहते हैं– यह सब तत्वविवेक-प्रकरणमें निरूपण कर आये और यही अभिप्राय इस श्रुतिमें कहा है कि माया और अविद्या आभाससे जीव और ईश्वरको करती है इससे जीव और ईश्वर मायासे कल्पित हैं–और संपूर्ण जगत् उन दोनोंका कल्पित है–भावार्थ यह है कि माया आभाससे जीव ईश्वरको करती है–श्रुतिमें यह सुननेसे–जीव ईश्वर माया कल्पित हैं अन्य सब जगत् उनका कल्पित है ॥ ३ ॥

ईक्षणादिप्रवेशांता सृष्टिरीशेन कल्पिता ॥
जाग्रदादिविमोक्षांतः संसारो जीवकल्पितः ॥ ४ ॥

भाषार्थ– अब इन दोनोंमें जिसने जितना कल्पित किया उसका वर्णन करते हैं कि उस ब्रह्मने देखा कि मैं एक, प्रजारूपसे, बहुत हूं–इस श्रुतिमें वर्णन किया ईक्षण (देखना) जिसकी आदिमें और इस जीवरूप आत्मासे नाम रूप प्रकट किये–इस श्रुतिमें कहा प्रवेश है अन्तमें जिसके ऐसी सृष्टि ईश्वरकी कल्पित है–और जाग्रत् है आदि जिसके और विमोक्ष (मुक्ति) है अंतमें जिसके ऐसा संसार जीवका कल्पित है क्योंकि जीव उसका अभिमानी है–और वे जाग्रत् आदि इस प्रकार शास्त्रमें सुने जाते हैं कि मायासे परिमोहित है आत्मा जिसका ऐसा वह ब्रह्म शरीरमें टिककर सबको करता है–और स्त्री–अन्नपान आदि विचित्रभोगोंसे वही जाग्रत् अवस्थामें तृप्त होता है–और स्वप्नमेंभी जीव सुख दुःखका–भोक्ता रहता है–और अपनी माया-से कल्पित संपूर्ण विश्वका है लय जिसमें ऐसी सुषुप्तिके समय–तमोगुणसे तिर-स्कार को प्राप्त हुआ सुखरूप होता है और फिर जन्मान्तरके कर्माधीन हुआ–वही जीव सोता है–और प्रबुद्ध (जगा) हुआ वह तीनोंपुरोंमें क्रीडा करता है–उसी जीवसे संपूर्ण विचित्रता हुई है–और जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति आदि जो यह प्रपंच प्रकाशित है वह सब मुझ ब्रह्मका ही रूप है–यह जान कर सब बंधोंसे छुटता है भावार्थ यह है कि ईक्षण आदि प्रवेशपर्यंत सृष्टि, ईश्वरकी कल्पित है और जाग्रत्-आदि मुक्ति पर्यंत सृष्टि, जीवकल्पित है ॥ ४ ॥

भ्रमाधिष्ठानभूतात्मा कूटस्थासंगचिद्वपुः ॥
अन्योन्याध्यासतोऽसंगधीस्थजीवोऽत्र पूरुषः ॥ ५ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार पुरुष शब्दके अर्थकी ज्ञानोपयोगिनी सृष्टिको कह कर पुरुष शब्दके अर्थको कहते हैं जो कूटस्थ असंग चित् शरीर अर्थात् अविकारी असंग

चित्स्वरूप है-और देह इंद्रियाध्यासरूप भ्रमका अधिष्ठान परमात्मा है असंग भी वह अन्योन्याध्याससे अन्योन्य आत्मरूपताको और अन्योन्य धर्मोंको परस्परमें मानकर-संपूर्ण व्यवहारोंका भागी होता है-इस प्रकार आचार्योंके कहे तादात्म्याध्याससे असंग धीमे स्थित जो जीव अर्थात् पारमार्थिक (सत्त्वा) संबंधसे शून्य बुद्धिमें अपने रूपसे वर्तता हुआ जीव होकर-इस श्रुतिमें पुरुष है-क्योंकि सो यह पुरुष सब पुरीयोंमें पुरीशय है-अर्थात सब देहोंमें शयन करता है-इस श्रुतिमें पुरुष शब्दका अर्थ कहा है-और पुरुषको ही पुरुष कहते हैं-अर्थात् बुद्धिआदिकी कल्पनाका अधिष्ठान जो कूटस्थ चैतन्य बुद्धिमें प्रतिबिंबित जीव होनेसे पुरुष शब्दसे कहा जाता है भावार्थ यह है कि भ्रमका अधिष्ठान कूटस्थ असंग-चिद्वपुः जो ब्रह्म वह अन्योन्याध्याससे असंग बुद्धिमें-स्थित होकर जीवभावको प्राप्त होनेसे पुरुष कहाता है ॥५॥

साधिष्ठानो विमोक्षादौ जीवोऽधिक्रियते न तु ॥
केवलो निरधिष्ठानविभ्रांतेः क्वाप्यसिद्धितः ॥ ६ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि पुरुष शब्दसे केवल चिदाभासरूप जीवको ही क्यों नही लेते अधिष्ठानभूत कूटस्थ चैतन्यके ग्रहणका क्या प्रयोजन है इस शंकाके उत्तरमें कूटस्थको भी मोक्ष आदिमें अन्वयी (संबंधी) होनेसे पुरुष शब्दसे ग्रहणको कहते हैं कि कूटस्थरूप अधिष्ठान सहित जो जीव चैतन्य है वही मोक्ष स्वर्ग आदिमें अधिकारी है केवल चिदाभास नही क्योंकि अधिष्ठानके विना भ्रांति कहीं भी जगत्में नही देखी है ॥ ६ ॥

अधिष्ठानांशसंयुक्तं भ्रमांशमवलंबते ॥
यदा तदाऽहं संसारीत्येवं जीवोऽभिमन्यते ॥ ७ ॥

भाषार्थ-अब दो श्लोकोंसे अधिष्ठान सहित जीवका ही संसारमें अन्वय कहते हैं कि जब अधिष्ठांश सहित भ्रमांशका जीव अवलंबन करता है अर्थात् चिदाभास सहित दोनोंशरीरोंका अपने स्वरूपसे स्वीकार करता है तब मैं, संसारी, हूं, यह अभिमान करता है ॥ ७ ॥

भ्रमांशस्य तिरस्कारादधिष्ठानप्रधानता ॥
यदा तदा चिदात्माऽहमसंगोऽस्मीति बुध्यते ॥ ८ ॥

भाषार्थ-और जब भ्रमांशके अर्थात् दोनों देहोंसहित चिदाभासके तिरस्कार (मिथ्या ज्ञान) से आदरको न करके अधिष्ठानकी ही प्रधानता है अर्थात् अधिष्ठा-

भूत कूटस्थके ही स्वरूपका स्वीकार करता है तब तो असंग चिदात्मा मैं हूं यह जानता है ॥ ८

नासंगेऽहंकृतिर्युक्ता कथमस्मीति चेच्छृणु ॥
एको मुख्यो द्वावमुख्यावित्यर्थस्त्रिविधोऽहमः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—अधिष्ठान चैतन्यको जीवरूप मानोंगे तो मैं चिदात्मा असंग हूं यह न बनैगा क्योंकि असंग चिदात्मा अहं प्रत्यय (प्रतीति) का विषय नही होसकता इस शंकाको करते हैं कि असंग, अविषय, चिदात्मामें अहं प्रतीति जिससे नही हो-सकती तो उससे मैं हूं यह कैसे जानै अर्थात् किसी प्रकार भी नही जान सकते— यद्यपि मुख्य वृत्तिसे अहं प्रतीतिका विषय नही हो सकता तथापि लक्षणावृत्तिसे हो सकता है यह कहनेकी इच्छासे अहं शब्दके अर्थका प्रथम विभाग करते हैं कि अहंशब्दके तीन अर्थ हैं एक मुख्य और दो अमुख्य ॥ ९ ॥

अन्योन्याध्यासरूपेण कूटस्थाभासयोर्वपुः ॥
एकीभूय भवेन्मुख्यस्तत्र मूढैः प्रयुज्यते ॥ १० ॥

भाषार्थ—अब मुख्य अर्थको दिखाते हैं कि कूटस्थ और चिदाभासका—स्वरूप— अन्योन्य अध्याससें एकताको प्राप्त होकर अहं शब्दका वाच्य अर्थ होता है—अब इसकी मुख्यतामें कारण कहते हैं कि जिससे पृथक् २ विवेकसे नही जाने—उस कूटस्थ और चिदाभासके स्वरूपमें विवेकज्ञानसे शून्य संपूर्ण मूढजन अहंशब्दके प्रयोग-को करते हैं—इससे—वह मुख्य है ॥ १० ॥

पृथगाभासकूटस्थावमुख्यौ तत्र तत्त्ववित् ॥
पर्यायेण प्रयुंक्तेऽहं शब्दं लोके च वैदिके ॥ ११ ॥

भाषार्थ—अब अमुख्य दोनोंस्वरूपोंको दिखाते हैं कि जब चिदाभास और कूटस्थ—ये दोनों—पृथक् २ अहं शब्दके अर्थसे विवक्षित हैं तब ये दोनों अहं शब्दके अमुख्य अर्थ होते हैं—अब उनकी अमुख्यतामें कारणको कहते हैं कि तत्वका ज्ञाता पुरुष उन दोनों कूटस्थ और चिदाभासोंमें—अहंशब्दके प्रयोगको लौकिक वा वैदिक व्यवहारमें—पर्यायसे करता है—तात्पर्य यह है कि चिदाभास कूटस्थको जो एकरूप है उसको संपूर्ण जनोंके व्यवहारका विषय होनेसे मुख्यता है—और पृथक् पृथक् रूपको तो किसी किसी मनुष्यके कदाचित् ही व्यवहारका विषय होनेसे अमुख्यता है ॥ ११ ॥

लौकिकव्यवहारेऽहं गच्छामीत्यादिके बुधः ॥
विविच्यैव चिदाभासं कूटस्थात्तं विवक्षति ॥ १२ ॥

भाषार्थ-ज्ञानकी सुगमताके लिये दो श्लोकोंसे पर्यायसे प्रयोगका वर्णन करते हैं कि बुद्धिमान् मनुष्य मैं जाताहूं इत्यादि लौकिक व्यवहारमें कूटस्थसे चिदाभासको पृथक् करके-उसको ही अहं शब्दसे कहनेकी इच्छा करता है ॥ १२ ॥

असंगोऽहं चिदात्माऽहमिति शास्त्रीयदृष्टितः ॥
अहं शब्दं प्रयुंक्तेऽयं कूटस्थे केवले बुधः ॥ १३ ॥

भाषार्थ-और वही बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रदृष्टिसे अर्थात् वेदान्तके श्रवणसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे चिदाभाससे पृथक् किये कूटस्थमें मैं असंग हूं-मैं चिदात्मा हूं-इस प्रकार लक्षणासे अहं शब्दके प्रयोगको करता है इससे-लक्षणासे कूटस्थभी अहं शब्दका अर्थ होनेसे अहं प्रतीतिका विषय हो सकता है-इससे मैं असंग हूं यह ज्ञान होता है ॥ १३ ॥

ज्ञानिताज्ञानिते त्वात्माभासस्यैव न चात्मनः ॥
तथा च कथमाभासः कूटस्थोस्मीति बुध्यताम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि चिदाभास और कूटस्थ पृथक् २ अहं शब्दके जो अर्थ कहे-उन दोनोंके मध्यमें अज्ञान निवृत्तिके लिये-मैं असंग हूं यह कूटस्थ जानता है,-वा चिदाभास जानता है-कूटस्थको तो नही कहसक्ते क्योंकि वह असंग चिद्रूप है-इससे वह ज्ञानी वा अज्ञानी नही हो सक्ता-इससे-चिदाभासकोही ज्ञानी वा अज्ञानी कहना पडैगा तो कूटस्थसे अन्य चिदाभासको मैं कूटस्थ हूं-ऐसा ज्ञान होना अयोग्य है भावार्थ यह है कि ज्ञानी और अज्ञानी आत्माका आभास हो सक्ता है आत्मा नही-तिनसे चिदाभासको मैं कूटस्थ हूं-यह ज्ञान कैसे होगा अर्थात् न होगा ॥ १४ ॥

नायं दोषश्चिदाभासः कूटस्थैकस्वभाववान् ॥
अभासत्वस्य मिथ्यात्वात्कूटस्थत्वावशेषणात् ॥ १५ ॥

भाषार्थ-अब उक्त शंकाका समाधान इस आशयसे करते हैं कि वह चिदाभास कूटस्थसे अन्यभी नही हो सक्ता-कि चिदाभासको कूटस्थके संग एकस्वभाववाला होनेसे यह तुमारा दिया दोष नही हो सक्ता क्योंकि दर्पणमें प्रतीत हुआ जो मुखका आभास उसका तत्व जैसे ग्रीवाका मुखही है इसी प्रकार-आभासको मिथ्यात्व है-और कूटस्थ ही शेष रहता है ॥ १५ ॥

कूटस्थोऽस्मीति बोधोऽपि मिथ्या चेन्नेति को वदेत्
न हि सत्यतयाऽभीष्टं रज्जुसर्पविसर्पणम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ–अब यह शंका करते हैं कि चिदाभासको मिथ्या मानोंगे तो–उसका मैं कूटस्थ हूं–यह ज्ञान मिथ्या हो जायगा–कि यदि मैं कूटस्थ हूं–यह ज्ञान मिथ्या हो जागया यह कहते हो तो–यह ज्ञान मिथ्या नही है यह कौन कहता है क्योंकि कूटस्थके स्वरूपसे भिन्न सब को मिथ्या होनेसे वहभी हमको मिथ्या इष्ट है–इसको दृष्टांत-से स्पष्ट करते हैं कि रज्जुमें कल्पना किये प्रतीयमानभी गमन आदिको कोई भी जैसे वास्तव नही मानता इसी–प्रकार मैं कूटस्थ हूं यह ज्ञानभी मिथ्या है ॥ १६ ॥

तादृशेनापि बोधेन संसारो हि निवर्तते ॥
यक्षानुरूपो हि बलिरित्याहुर्लौकिका जनाः ॥ १७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त मिथ्याज्ञानसे संसारकी निवृत्ति न होगी–सो ठीक नही–पूर्वोक्त मिथ्या ज्ञानसेभी संसारकी निवृत्ति होती है–अर्थात् निवृत्ति-के योग्य संसारभी मिथ्या है–इससे–स्वप्नमें देखे व्याघ्रसे जैसे निद्राकी निवृत्ति होती है इसी प्रकार मिथ्याज्ञानसे मिथ्या संसारकी निवृत्ति हो जायगी क्योंकि लौकिकजन ऐसे कहते हैं कि यक्षानुरूप बलि होती है–अर्थात् जहां जैसा यक्ष तैसे ही बलि देते हैं ॥ १७ ॥

तस्मादाभासपुरुषः सकूटस्थो विविच्य तम् ॥
कूटस्थोऽस्मीति विज्ञातुमर्हतीत्यभ्यधाच्छ्रुतिः ॥ १८ ॥

भाषार्थ–अब उपपादन किये अर्थका उपसंहार करते हैं–कि जिससे कूटस्थ ही चि-दाभासका निजस्वरूप है–तिससे कूटस्थ सहित चिदाभासरूप जो–पुरुषशब्दका वाच्य (अर्थ) है वह उस कूटस्थको मिथ्यास्वरूप अपनेसे पृथक् जानकर लक्षणासे, मैं कूटस्थ हूं, यह जान सक्ता है इससे–श्रुतिने मैं कूटस्थ हूं यह कहा है ॥ १८ ॥

असंदिग्धाविपर्यस्तबोधो देहात्मनीक्ष्यते ॥
तद्वदत्रेति निर्णेतुमयमित्यभिधीयते ॥ १९ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार मैं पुरुष हूं–इन दोनोंपदोंके प्रयोगका अभिप्राय कह कर–अयं–इस पदके प्रयोगका अभिप्राय कहते हैं–जैसे–लौकिक मनुष्य–प्रसिद्ध देहरूप आत्मामें–संशय और विपर्ययसे रहित–अयं अस्मि, यह मैं हूं– यह बोध सबको होता है वैसा ही ज्ञान मुक्तिके लिये प्रत्यगात्मामें भी संपादन करना योग्य है–यह निर्णय करनेके लिये श्रुति अयं–यह कहती है– ॥ १९ ॥

देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ॥
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥ २० ॥

भाषार्थ–इस प्रकारका बोध मोक्षका साधन है–इसमें आचार्यका वचन प्रमाण देते हैं–मैं मनुष्य हूं–यह दृढ प्रतीति जैसे देहरूप आत्मामें होती है–इसी प्रकार प्रत्यगात्मामें देह ही आत्मा है इस ज्ञानका बाधक मैं ब्रह्म हूं यह ज्ञान जिसको हो जाय मोक्षकी इच्छासे रहितभी वह विद्वान् मुक्त हो जाता है–क्योंकि संसारका हेतु अज्ञान उसका निवृत्त होचुका भावार्थ यह है कि जिसको आत्माके विषै देहात्मज्ञानका बाधक ज्ञान देहात्म ज्ञानकी तुल्य हो जाय वह इच्छा करने और न करने पर भी मुक्त हो जाता है ॥ २० ॥

अयमित्यपरोक्षत्वमुच्यते चेत्तदुच्यताम् ॥
स्वयंप्रकाशचैतन्यमपरोक्षं सदा यतः ॥ २१ ॥

भाषार्थ–अब अयं इस पदके प्रयोगमें अन्य अभिप्रायसे शंका करते हैं कि जैसे अयं (यह) घट है इत्यादि प्रयोगोंमें यह शब्दसे, दिखाई, वस्तु प्रत्यक्ष दीखती है तैसे ही यह ब्रह्म मैं हूं यहां भी ब्रह्म प्रत्यक्ष हो जायगा ऐसा कहोगे तो प्रत्यक्ष हो जाओ वह भी हमको इष्ट ही है क्योंकि स्वयं प्रकाशरूप चैतन्य सदैव अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) है अर्थात् हम किसी साधनकी अपेक्षाके विना प्रकाशमान चैतन्यको नित्य प्रत्यक्षरूप मानते हैं–भावार्थ यह है कि यह मैं हूं इससे ब्रह्मको भी अपरोक्ष कहोगे तो कहो हम मानते हैं क्योंकि स्वयं प्रकाशमान चैतन्य सदैव अपरोक्ष है ॥ २१ ॥

परोक्षमपरोक्षं च ज्ञानमज्ञानमित्यदः ॥
नित्यापरोक्षरूपेऽपि द्वयं स्याद्दशमे यथा ॥ २२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि आत्माको स्वप्रकाश चित्रूप होनेसे नित्य अपरोक्ष मानोंगे तो अयं इस पदके प्रयोगका जो अभिप्राय वर्णन, उसके बलसे आत्माकी परोक्षता और पूर्वोक्त अपरोक्षता वा ज्ञान अज्ञानकी विषयता न बनेगी यह शंका करके दशवें मनुष्यके समान उसकी उपपत्ति (बनना) को कहते हैं कि परोक्ष अपरोक्ष ये दोनों और ज्ञान अज्ञान दोनों–ये दोनों युगल, नित्य अपरोक्ष रूपभी आत्मामें दशवें मनुष्यके समान बन सकते हैं–भावार्थ यह है कि परोक्ष अपरोक्ष–और ज्ञान अज्ञान ये दोनों नित्य अपरोक्षरूप आत्मामें दशम पुरुषके समान हो सकते हैं ॥ २२ ॥

नवसंख्याहृतज्ञानो दशमो विभ्रमात्तदा ॥
न वेत्ति दशमोऽस्मीति वीक्षमाणोऽपि तान्नव ॥ २३ ॥

भाषार्थ—अब दशम पुरुषके दृष्टांतका वर्णन करते हैं कि गिनने योग्य पुरुषोंकी नव ९ संख्यासे नष्ट हुआ है विवेक विज्ञान जिसका ऐसा दशवां पुरुष उन नौ ९ संख्यावाले पुरुषोंको भली प्रकार देखता हुआभी अपनी आत्माकी गिनती कर्ताभी दशवां मैं हूं यह नही जानता ॥ २३ ॥

न भाति नास्ति दशम इति स्वं दशमं तदा ॥
मत्वा वक्ति तदज्ञानकृतमावरणं विदुः ॥ २४ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार दशमें पुरुषके अज्ञानको दिखाकर अज्ञानके कार्य आवरणको दिखाते हैं कि उस समय दशमां पुरुष विद्यमानभी अपनी आत्माको दशवां, न भासता है, न है, यह मान कर कहता है– इस व्यवहारके कारणको अज्ञानका किया आवरण बुद्धिमान् मनुष्य जानते हैं अर्थात् विद्यमानभी वस्तुको न जानना ॥२४॥

नद्यां ममार दशम इति शोचन्प्ररोदिति ॥
अज्ञानकृतविक्षेपं रोदनादिं विदुर्बुधाः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—अब अज्ञानके ही कार्य विशेष विक्षेपको दिखाते हैं कि दशवां नदीके विषै मरगया यह शोच करता हुआ रोता है इसके रोने आदिको बुद्धिमान् मनुष्य अज्ञानका किया विक्षेप आदि जानते हैं ॥ २५ ॥

न मृतो दशमोऽस्तीति श्रुत्वाऽऽप्तवचनं तदा ॥
परोक्षत्वेन दशमं वेत्ति स्वर्गादिलोकवत् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—अब दशम मनुष्यके असत्व अंशका निवर्तक परोक्षज्ञान कहते हैं कि उस समय दशवां नही मरा है इस यथार्थवादी मनुष्यके वचनको सुनकर परोक्षरूपसे स्वर्ग आदि लोकके समान दशवें पुरुषको जानता है अर्थात् कहीं दशवां होगा यह जानता है और मैं ही दशवां हूं यह अपरोक्षरूपसे नही जानता ॥ २६ ॥

त्वमेव दशमोऽसीति गणयित्वा प्रदर्शितः ॥
अपरोक्षतया ज्ञात्वा हृष्यत्येव न रोदिति ॥ २७ ॥

भाषार्थ—अब उसके ही अभान अंशके निवर्तक अपरोक्षज्ञानको दिखाते हैं कि तू ही दशवां है इस प्रकार गिनकर दिखाया है स्वरूप जिसका ऐसा मनुष्य अपनेको

दशवां जानकर आनंद ही होता है रोता नही अर्थात् अपना अभान अंश निवृत्त हो जाता है ॥ २७ ॥

अज्ञानावृतिविक्षेपद्विविधज्ञानतृप्तयः ॥
शोकापगम इत्येते योजनीयाश्चिदात्मनि ॥ २८ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार दृष्टांतरूप दशवेंमें दिखायी सातों ७ अवस्थाओंको दार्ष्टांतिकरूप आत्मामें भी दर्शाते हैं कि अज्ञान आवरण विक्षेप दो प्रकारका ज्ञान तृप्ति शोकका अपगम (दूर होना) ये सातों अवस्था चिदात्मामें भी युक्त करनी (समझनी) ॥ २८ ॥

संसारासक्तचित्तः संश्चिदाभासः कदाचन ॥
स्वयंप्रकाशकूटस्थं स्वतत्त्वं नैव वेत्त्ययम् ॥ २९ ॥

भाषार्थ-उन अज्ञान आदिको क्रमसे आत्माके विषै दिखाते हैं कि कदाचित् यह चिदाभास संसारमें आसक्तचित्त होकर अर्थात् विषयोंके संग्रहमें मन लगाकर श्रुतिके विचार करनेसे पूर्व किसी समयमें अपने स्वप्रकाश कूटस्थरूपको जो नही जानता यही अज्ञान कहाता है ॥ २९ ॥

न भाति नास्ति कूटस्थ इति वक्ति प्रसंगतः ॥
कर्ता भोक्ताऽहमस्मीति विक्षेपं प्रतिपद्यते ॥ ३० ॥

भाषार्थ-चिदात्माके प्रसंग आने पर कूटस्थ न भासता है और न है यह कहता है यही अज्ञानका कार्य आवरण है-और कूटस्थकी असत्ताके कथनके समान मैं कर्ता हूं भोक्ता हूं यह आत्मामें आरोप करता है इस आरोपका हेतु दोनोंदेहोंसे युक्त चिदाभासरूप विक्षेप है ॥ ३० ॥

अस्ति कूटस्थ इत्यादौ परोक्षं वेत्ति वार्तया ॥
पश्चात्कूटस्थ एवास्मीत्येवं वेत्ति विचारतः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-कूटस्थ है इत्यादिमें, वार्तासे परोक्षकूटस्थको जानता है यह परोक्षज्ञान और श्रवण मनन आदिके परिपाकवश विचार करनेसे मैं कूटस्थ ही हूं यह जानता है यह अपरोक्ष ज्ञान है ॥ ३१ ॥

कर्ता भोक्तेत्येवमादि शोकजातं प्रमुंचति ॥
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तुष्यति ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-कूटस्थ असंग आत्मज्ञानके अनंतर मैं कर्ता भोक्ता हूं इत्यादि शोकके समूहको छोडता है यह शोकका अपगम-मैं करनेके योग्यको करलिया-और प्राप्तिके योग्य फल मुझे प्राप्त होगया इस प्रकार संतोषको प्राप्त होता है-इसको तृप्ति कहते हैं ३२॥

अज्ञानमावृतिस्तद्वद्विक्षेपश्च परोक्षधीः ॥
अपरोक्षमतिः शोकमोक्षस्तृप्तिर्निरंकुशा ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-दार्ष्टांतिकमें भी उक्त सातों अवस्थाओंका अनुवाद करते हैं कि अज्ञान आवरण, और विक्षेप, परोक्षज्ञान, शोकका मोक्ष, और निरंकुश तृप्ति ॥ ३३ ॥

सप्तावस्था इमाः संति चिदाभासस्य तास्विमौ ॥
बंधमोक्षौ स्थितौ तत्र तिस्रो बंधकृताः स्मृताः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कोई कहै कि पूर्वोक्त सात अवस्था आत्मामें मानोंगे तो वह कूटस्थ न रहेगा यह आशंका करके ये अवस्था चिदाभासकी ही हैं कूटस्थकी नही यह वर्णन करते हैं कि ये सात अवस्था चिदाभासकी ही हैं कूटस्थकी नही-कदाचित् कहो कि इन सात अवस्थाओंका यहां लिखना वृथा है सो ठीक नही कि इनके लेखका फल बंधसे मोक्षकारी है कि उन अवस्थाओंमें ये दोनों बंध मोक्ष स्थित हैं और उनमें भी तीन अवस्था बंधनकी कर्ता है शेष नही-भावार्थ यह है कि ये सात अवस्था चिदाभासकी हैं उनमें दोनों ये बंध मोक्षमें स्थित हैं उनमें भी तीन अवस्था बंधन कारिणी कही हैं ॥ ३४ ॥

न जानामीत्युदासीनव्यवहारस्य कारणम् ॥
विचारप्रागभावेन युक्तमज्ञानमीरितम् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ-इनको बंधकारिणी दिखानेके लिये तीनोंका स्वरूप प्रत्येकके कार्यों को दिखाकर स्पष्ट करनेकी इच्छासे प्रथम अज्ञानका स्वरूप दिखाते हैं कि आत्मतत्वके विचारसे पूर्व उदासीन व्यवहारका कारण जो मैं नही जानता हूं यह अज्ञान कहा है ॥ ३५ ॥

अमार्गेण विचार्याथ नास्ति नो भाति चेत्यसौ ॥
विपरीतव्यवहृतिरावृत्तेः कार्यमिष्यते ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-अब आवरणके स्वरूप और कार्य को दिखाते हैं कि शास्त्रोक्तरीतिसे भिन्न जो रीति उससे विचार कर केवल तर्कके अनुसार न कूटस्थ भासता है और न है ऐसा जो विपरीत व्यवहार वह आवरणका कार्य है ॥ ३६ ॥

देहद्वयचिदाभासरूपो विक्षेप ईरितः ॥
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्योऽस्य बंधकः ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–अब विक्षेपके स्वरूप और उसके कार्य को दिखाते हैं कि स्थूलसूक्ष्म दोनों शरीरोंसहित चिदाभासको विक्षेप कहते हैं और बंधनका हेतु कर्ता भोक्ता आदि संपूर्ण शोकरूप संसार इसका कार्य है अर्थात् चिदाभासकी रचना है॥ ३७ ॥

अज्ञानमावृतिश्चैते विक्षेपात् प्राक् प्रसिध्यतः ॥
यद्यप्यथाप्यवस्थे ते विक्षेपस्यैव नात्मनः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–चिदाभासकी जो सात अवस्था कहीं–सो ठीक नही क्योंकि अज्ञान और आवरण ये दोनों विक्षेपकी उत्पत्तिसे पहिले स्थित हैं और चिदाभास– विक्षेपके अन्तर्गत हैं– इससे उसकी अवस्था नही हो सकती इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि–यद्यपि अज्ञान और आवरण ये दोनों अवस्था विक्षेपसे–पूर्व प्रसिद्ध हैं तथापि वे दोनों अवस्था चिदाभासरूप विक्षेपकी हैं–असंग आत्माकी नही ॥ ३८ ॥

विक्षेपोत्पत्तितः पूर्वमपि विक्षेपसंस्कृतिः ॥
अस्त्येव तदवस्थात्वमविरुद्धं ततस्तयोः ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अवस्थावाले विक्षेपका विक्षेपसे पूर्व अभाव है–इससे उसकी अवस्था कहना ठीक नही–इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि विक्षेपकी उत्पत्तिसे पूर्वभी विक्षेपका संस्कार है–इससे–अज्ञान और आवरणको उसकी अवस्था कहना विरुद्ध नही ॥ ३९ ॥

ब्रह्मण्यारोपितत्वेन ब्रह्मावस्थे इमे इति ॥
न शंकनीयं सर्वासां ब्रह्मण्येवाधिरोपणात् ॥ ४० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि जैसे–अप्रसिद्ध संस्कारको मान कर–विक्षेपकी अवस्था मानते हो ऐसै ही–अधिष्ठानरूपसे–प्रसिद्धब्रह्मकी अवस्था क्यों नही मानते सो ठीक नही कि ब्रह्ममें आरोपित होनेसे ये दोनों ब्रह्मकी अवस्था हैं–यह शंका नही करनी क्योंकि सब अवस्थाओंका ब्रह्मके विषै ही आरोप है–इससे संपूर्ण ब्रह्मकी अवस्था हो जांयगी ॥ ४० ॥

संसार्यहं विबुद्धोऽहं निःशोकस्तुष्ट इत्यपि ॥
जीवगा उत्तरावस्था भांति न ब्रह्मगा यदि ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि अविशेषरूपसे सबका यद्यपि ब्रह्ममें आरोप है तथापि—विक्षेपसे उत्तर होनेवाली संसारी आदि जो अवस्था हैं वे जीवकी भी अवस्था प्रतीत होती हैं—ब्रह्मकी नही—यह शंका करते हैं—मैं—कर्तृत्व आदि धर्मवाला संसारी हूं—तत्वका साक्षात् कर्ता—विबुद्ध हूं—शोकसे रहित हूं—और कृतकृत्यता आदिसे उत्पन्न हुए संतोषवाला तुष्ट हूं—ये उत्तर अवस्था जीवमें प्रतीत होती हैं—ब्रह्ममें नही ॥ ४१ ॥

तर्ह्यज्ञोऽहं ब्रह्मसत्त्वभाने मद्दृष्टितो न हि ॥
इति पूर्वे अवस्थे च भासेते जीवगे खलु ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—ऐसा कहो तो अज्ञान और आवरणभी जीवमें ही प्रतीत होते हैं—इससे जीवकी ही अवस्था हैं इस आशयसे पूर्वोक्त शंकाका परिहार करते हैं कि तर्हि—ब्रह्मकी सत्ताके भानमें मेरी दृष्टिसे—अर्थात् अनुभवसे मैं अज्ञ हूं—यह नही बनसक्ता इससे पहिली दोनों अवस्था निश्चयसे जीवमें भासती हैं ॥ ४२ ॥

अज्ञानस्याश्रयो ब्रह्मेत्यधिष्ठानतया जगुः ॥
जीवावस्थात्वमज्ञानाभिमानित्वादवादिषम् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि पूर्व आचार्योंने अज्ञानका आश्रय ब्रह्म कैसे कहा—यह आशंका करके उसकी विवक्षाको दिखाते हैं कि—पहिले आचार्योंने ब्रह्मको ज्ञानका अधिष्ठानरूपसे कहा और हम अज्ञानको जीवकी अवस्था अज्ञानका अभिमानी होनेसे कहते हैं ॥ ४३ ॥

ज्ञानद्वयेन नष्टेऽस्मिन्नज्ञाने तत्कृतावृतिः ॥
न भाति नास्ति चेत्येषा द्विविधाऽपि विनश्यति ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार बंधकी हेतु तीन अवस्थाओंको दिखाकर—शेष अवस्थाओंके मध्यमें पूर्वोक्त अज्ञान और आवरणकी निवृत्तिके द्वारा मुक्तिकी हेतु दो अवस्थाओंको दिखाते हैं कि परोक्ष अपरोक्षरूप दोनों ज्ञानोंसे जब अज्ञानका कारण नष्ट हो गया तब अज्ञानसे पैदा हुआ—कूटस्थ न भासता है और न है इन दो प्रकारका भी आवरण नष्ट हो जाता है—क्योंकि उसका कारण अज्ञान रहा ॥ ४४ ॥

परोक्षज्ञानतो नश्येदसत्त्वावृतिहेतुता ॥
अपरोक्षज्ञाननाश्या ह्यभानावृतिहेतुता ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—अब जितने अंशकी जिससे निवृत्ति होती है उसको पृथक् २ दिखाते

हैं–कि कूटस्थ है–इस परोक्षज्ञानसे तो अज्ञानकी असत्त्वावरणकी कारणता नष्ट होती है अर्थात् सत्ता प्रतीत हो जाती है–और मैं कूटस्थ हूं–इस अपरोक्षज्ञानसे कूटस्थ नहीं भासता इस अभानरूप आवरणकी कारणताकी निवृत्ति होती हैं–अर्थात् कूटस्थका भान हो जाता है ॥ ४५ ॥

अभानावरणे नष्टे जीवत्वारोपसंक्षयात् ॥
कर्तृत्वाद्यखिलः शोकः संसाराख्यो निवर्तते ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–अब ज्ञानकी फलरूप दोनों अवस्थाओंके विषै प्रथम अवस्थाको कहते हैं अभानरूप आवरणकी निवृत्ति होनेपर–भ्रांतिसे प्रतीयमान जो जीवभाव उसकी भी निवृत्ति हो जाती है इससे जीवभाव है–निमित्त जिसमें ऐसा कर्ता भोक्ता आदि संसाररूप संपूर्ण शोक निवृत्त हो जाता है ॥ ४६ ॥

निवृत्ते सर्वसंसारे नित्यमुक्तत्वभासनात् ॥
निरंकुशा भवेत्तृप्तिः पुनः शोकासमुद्भवात् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–इसप्रकार शोकापगमरूप अवस्थाको दिखाकर–निरंकुश तृप्तिरूप दूसरी अवस्थाको दिखाते हैं कि संपूर्ण संसारकी निवृत्ति होनेपर नित्यमुक्त स्वभावके भासनेसे निरंकुश तृप्ति होती है क्योंकि फिर कदाचित् भी शोककी उत्पत्ति नही होती ॥ ४७ ॥

अपरोक्षज्ञानशोकनिवृत्त्याख्ये उभे इमे ॥
अवस्थे जीवगे ब्रूत आत्मानं चेदिति श्रुतिः ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि यदि आत्मा को मनुष्य जानैं–इस मंत्रके व्याख्यानमें प्रवृत्त होकर फिर उसको छोडकर मध्यमें अज्ञान आदि सात अवस्थाओंका वर्णन प्रकरणविरुद्ध है यह शंका करके पूर्वोक्त श्रुतिके तात्पर्यका जो निरूपण उसके शेषरूपसे अवस्थाओंका वर्णन किया है इससे प्रकरण विरुद्ध नही–इस अभिप्रायसे पूर्वोक्त श्रुतिके तात्पर्य (अभिप्राय) को कहते हैं कि अपरोक्षज्ञान–और शोक निवृत्तिरूप जो अवस्था–पूर्वोक्त चिदाभासकी सातों अवस्थाके मध्यमें हैं–उनमें ये दोनों जीवकी अवस्था हैं–यह बात कहनेके लिये–आत्मानं चेद्विजानीयात् (यदि आत्माको जानै) यह मंत्र प्रवृत्त हुवा है–अर्थात् आत्मज्ञानोपयोगी होनेसे पूर्वोक्त अवस्थाओंका वर्णन प्रकरणविरुद्ध नही भावार्थ यह है कि अपरोक्षज्ञान शोक निवृत्ति ये दो अवस्था जीवकी हैं यह बात आत्मानं चेत् यह श्रुति कहती है ४८॥

अयमित्यपरोक्षत्वमुक्तं तद्द्विविधं भवेत् ॥
विषयस्वप्रकाशत्वात् धियाऽप्येवं तदीक्षणात् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–अयं (यह आत्मा मैं हूं) इस पदसे आत्माको अपरोक्ष कहा–इससे अपरोक्षज्ञानका विषय आत्मा होगा–परोक्षका नही सो ठीक नहीं–क्योंकि अयं इस पदसे जो अपरोक्षज्ञान कहा, वह, दो प्रकारका होता है–एक तो चिद्रूप जो आत्मारूप विषय उसको स्वप्रकाश होनेसे अर्थात् अपने व्यवहारमें दूसरे साधनकी निरपेक्षतासे और दूसरा–बुद्धिके द्वारा स्वप्रकाशस्वरूप आत्माके देखनेसे होता है ॥ ४९ ॥

परोक्षज्ञानकालेऽपि विषयस्वप्रकाशता ॥
समा ब्रह्म स्वप्रकाशमस्तीत्येवं विबोधनात् ॥ ५० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अपरोक्ष ज्ञान दो प्रकारका रहो तोभी परोक्ष ज्ञानके विषय होनेमें क्या आया इसका उत्तर लिखते हैं कि परोक्ष ज्ञानके कालमेंभी विषयकी स्वप्रकाशता बनी रहती है अर्थात् परोक्षज्ञान विषयताका विरोधी, स्वप्रकाशत्व, नही होता–क्योंकि अपरोक्ष ज्ञानके समान परोक्ष ज्ञानमेंभी ब्रह्म स्वप्रकाश है यह ज्ञान होता है ॥ ५० ॥

अहं ब्रह्मेत्यनुल्लिख्य ब्रह्मास्तीत्येवमुल्लिखेत् ॥
परोक्षज्ञानमेतन्न भ्रांतं बाधानिरूपणात् ॥ ५१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि प्रत्यक्से अभिन्न जो ब्रह्म वह है विषय जिसका ऐसा ज्ञान परोक्ष कैसा होगा–यह शंका करके प्रत्यक् अंशके अग्रहणसे परोक्षत्वका वर्णन करते हैं कि जिसमें अहंब्रह्म (मैं ब्रह्म हूं) यह उल्लेख न हो और ब्रह्म है यह उल्लेख हो वह परोक्षज्ञान होता है–कदाचित् कहो कि यह भ्रम है यह शंका करके क्या यह भ्रान्तवाद होनेसे है वा व्यक्तिके अनुल्लेखसे है–अथवा–अपरोक्ष रूपसे जानने योग्यको परोक्ष जाननेसे अथवा किसी अंशके अज्ञानसे इन चार विकल्पोंसे प्रथमके प्रति कहते हैं कि यह भ्रान्त तो नही–अर्थात् ब्रह्म है यह ज्ञान, भ्रमरूप नही क्योंकि ब्रह्मका त्रिकालमेंभी बाध निरूपण नही कर सक्के ॥ ५१ ॥

ब्रह्म नास्तीति मानं चेत् स्याद्बाध्येत तदा ध्रुवम् ॥
न चैवं प्रबलं मानं पश्यामोऽतो न बाध्यते ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–इसमें हेतुको कहते हैं कि यदि ब्रह्म नही है यह प्रमाण होय तो ब्रह्म है

इसका निश्चयसे बाध हो—और ऐसा प्रबल प्रमाण हम नही देखते इससे ब्रह्म है इस ज्ञानका बाध नही होता ॥ ५२ ॥

व्यक्त्यनुल्लेखमात्रेण भ्रमत्वे स्वर्गधीरपि ॥
भ्रांतिः स्याद्व्यक्त्यनुल्लेखात्सामान्योल्लेखदर्शनात् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—अब दूसरे पक्षमें दोष देते हैं कि व्यक्तिके अनुल्लेख मात्रसे भ्रांति मानोंगे तो स्वर्गबुद्धिभी भ्रम हो जायगी—क्योंकि वहांभी यह स्वर्ग है ऐसा ज्ञान नही होता किंतु स्वर्ग हैं यह सामान्याकार बुद्धिही होती है—इससे व्यक्तिके नाम न लेनेसेभी भ्रम नही कह सक्ते ॥ ५३ ॥

अपरोक्षत्वयोग्यस्य न परोक्षमतिर्भ्रमः ॥
परोक्षमित्यनुल्लेखादर्थात्पारोक्ष्यसंभवात् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—अब तीसरे पक्षका निराकरण करते हैं कि अपरोक्ष रूपसे ग्रहणके योग्य प्रत्यगभिन्न ब्रह्म—वह है विषय जिसका ऐसा परोक्षज्ञान सो भ्रम नही हो सक्ता—क्योंकि ब्रह्म परोक्ष है—इस आकारसे ज्ञानका अभाव है—परन्तु—अर्थात् उसकी परोक्षता प्रतीत होती है कि यह ब्रह्म है—इस प्रकार व्यक्तिका उल्लेख नही उतनेसेही ब्रह्ममें परोक्षत्वकी सिद्धि है ॥ ५४ ॥

अंशागृहीतेर्भ्रांतिश्चेद् घटज्ञानं भ्रमो भवेत् ॥
निरंशस्यापि सांशत्वं व्यावर्त्यांशविभेदतः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—चौथे पक्षमें आशंका करते हैं कि यदि अंशके अग्रहणमेंभी भ्रांति होय तो अर्थात् ब्रह्म अंशके ग्रहणमें प्रत्यक् अंशके अग्रहणसे भ्रम मानोंगे तो घटका ज्ञानभी ऐसेही भ्रम हो जायगा क्योंकि बहुतसे मध्यके अवयवोंका अग्रहण है कदाचित् कहो कि घट सावयव पदार्थ है उसके एक अंशके अग्रहणमें अन्य अंशका ग्रहण होनेपर भ्रमका संभव है ब्रह्म तो निरवयव पदार्थ है उसके अंशका ग्रहण कैसे हो सकता है सो ठीक नही कि निरवयवभी सावयव हो सकता है अर्थात् व्यावर्त्य (निषेधके योग्य) अंशो (उपाधि) के द्वारा सावयव हो सकता है क्योंकि निषेधके योग्य अंशोंके निषेध होनेसे ब्रह्मही शेष रहता है—भावार्थ यह है कि अंशके अज्ञानमें भ्रम मानोंगे तो घटज्ञान भ्रम हो जायगा—और निरवयव भी निषेधके योग्य उपाधिके भेदनसे सावयव होता है ॥ ५५ ॥

असत्त्वांशो निवर्तेत परोक्षज्ञानतस्तथा ॥
अभानांशनिवृत्तिः स्यादपरोक्षधिया कृता ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–अब व्यावर्त्य अंशोंको दिखाते हैं कि जैसे परोक्षज्ञानसे असत्ता-रूप अंशकी निवृत्ति होती है ऐसेही अपरोक्ष ज्ञानसे अमान अंशकी निवृत्ति की-जाती है ॥ ५६ ॥

दशमोऽस्तीति विभ्रांतं परोक्षज्ञानमीक्ष्यते ॥
ब्रह्मास्तीत्यपि तद्वत्स्यादज्ञानावरणं समम् ॥ ५७ ॥

भाषार्थ–अपरोक्षतासे ग्रहणके योग्य है विषय जिसका ऐसा परोक्षज्ञान भ्रम नही होता इस बातको दृष्टांत दिखाकर दृढ करते हैं कि दशवा है इस आप्तके वाक्यसे पैदा हुआ परोक्ष ज्ञान जैसे भ्रम नहीं होता इसी प्रकार ब्रह्म है इस वाक्यसे पैदा हुआ ज्ञानभी भ्रम न होगा क्योंकि अज्ञानसे किया असत्व अंशका आवरण दोनों स्थानोंमें सम है ॥ ५७ ॥

आत्मा ब्रह्मेति वाक्यार्थे निःशेषेण विचारिते ॥
व्यक्तिरुल्लिख्यते यद्वद्दशमस्त्वमसीत्यतः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि वाक्यसे परोक्षज्ञान होता है तो अपरोक्ष ज्ञान किससे होता है इस शंकाके विचार सहित वाक्यसे अपरोक्षज्ञानकी उत्पत्तिको कहते हैं कि यह आत्मा ब्रह्म है इस महावाक्यके संपूर्ण अर्थका भली प्रकार विचार करनेपर प्रथम ब्रह्म है इस परोक्ष रूपसे जाना जो ब्रह्म है वही प्रत्यक्से अभिन्न (एक) जाना जाता है–उसमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे दशवां तू है इस वाक्यसे अपनी आत्मामें दशवेंका ज्ञान होता है ॥

दशमः क इति प्रश्ने त्वमेवेति निराकृते ॥
गणयित्वा स्वेन सह स्वमेव दशमं स्मरेत् ॥ ५९ ॥

भाषार्थ–अब विचार है सहकारी जिसका ऐसे वाक्यसे अपरोक्षज्ञानकी उत्प-त्तिका प्रकार दृष्टांत सहित वर्णन करते हैं कि तुमने दशवां है इस वाक्यसे निरूपण किया दशवां कोनसा है यह प्रश्न करनेपर–तूही दशवां है इस प्रकार जब प्रश्नका उत्तर देदिया तब अपनी आत्मा सहित इतर नव पुरुषोंको गिनकर मैंही दशवां हूं इस प्रकार अपनी आत्मारूप दशवेंको जानता है ॥ ५९ ॥

दशमोऽस्मीति वाक्योत्था न धीरस्य विहन्यते ॥
आदिमध्यावसानेषु न नवस्वस्य संशयः ॥ ६० ॥

भाषार्थ–मैं दशवां हूं–इस ज्ञानको विचार सहित वाक्यसे जनित उत्पन्न होनेसे

वीपर्यय के अभावका वर्णन करते हैं कि इस दशमें मनुष्यको तूही दशमां है गिनती रूप विचारसहित इस वाक्यसे पैदा हुई जो मैं दशमां हूं यह बुद्धि वह किसी ज्ञानसेभी नही बाधी जाती और गिनती करनेमें नौ मनुष्योंके आदि मध्य अन्तमें गिनने परभी मैं दशमांहूं वा नहीहूं यह संशय इसको नही होता इससे वह अपरोक्षरूपी बुद्धि दृढ है ॥ ६० ॥

सदेवेत्यादिवाक्येन ब्रह्मसत्त्वं परोक्षतः ॥
गृहीत्वा तत्त्वमस्यादिवाक्याद्व्यक्तिं समुल्लिखेत् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ– इस पूर्वोक्त सबको दार्ष्टांतिकमें दिखाते हैं– सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं हे सौम्य यह जगत् सृष्टिसे पूर्व सत् रूप हुआ और एक अद्वितीय ब्रह्महुआ इत्यादि वाक्यसे प्रथम ब्रह्मके सद्भावको निश्चय करकै– फिर उसके जीवरूपसे प्रवेश आदि युक्तिके पर्यालोचन देखनेसे प्रत्यग्रूपकी संभावना करकै तत्वमसि आदि महावाक्यों से व्यक्तिका समुल्लेख करै अर्थात् अद्वितीय ब्रह्म आत्माको मैं ब्रह्महूं ऐसे साक्षात् जानै– भावार्थ यह है कि सदेव इत्यादि वाक्यके द्वारा परोक्षरूपसे ब्रह्मकी सत्ताको जानकर तत्त्वमसि आदि महावाक्य से मैं ब्रह्महूं इस प्रकार व्यक्तिका उल्लेखकरै ॥ ६१ ॥

आदिमध्यावसानेषु स्वस्य ब्रह्मत्वधीरियम् ॥
नैव व्यभिचरेत्तस्मादापरोक्ष्यं प्रतिष्ठितम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ– यह आत्माकी ब्रह्मबुद्धि पूर्वोक्त पांचकोशोंके आदि मध्य अवसानके विषै व्यवहार होनेपरभी व्यभिचारको प्राप्त नही होता अर्थात् अन्यथा नही होती इससे इस बुद्धिकी अपरोक्षता भली प्रकार स्थित है ॥ ६२ ॥

जन्मादिकारणत्वाख्यलक्षणेन भृगुः पुरा ॥
पारोक्ष्येण गृहीत्वाऽथ विचाराद्व्यक्तिमैक्षत ॥ ६३ ॥

भाषार्थ– प्रथम वाक्यसे परोक्षज्ञान उत्पन्न होता है और पश्चात् विचारसहितवाक्यसे अपरोक्षज्ञान होता है इसको तैत्तिरीय आदि श्रुतिसे दिखाते हैं कि भृगु नामका कोई ऋषि यतो वा इमानि (जिससे ये भूत पैदा होते हैं और पैदा होकर जिससे जीते हैं) और जिसमें प्रलय होकर प्रवेश करते हैं हे भृगो ! तू उसको ब्रह्म जान इस वाक्यसे सुने जगत्के कारण आदिलक्षणसे जगत्के कारण ब्रह्मको परोक्षरूपसे जानकर फिर विचारसे व्यक्तिको देखता भया अर्थात् अन्नमय आदि पांच कोशोंके विचारसे प्रत्यगात्मरूप ब्रह्मको जानता भया भावार्थ– यह है कि पहिले

समयमें भृगुऋषि जन्म आदिके कारणरूपलक्षणसे परोक्षज्ञानसे ब्रह्मको जानकर विचारसे ब्रह्मको देखता भया ॥ ६३ ॥

यद्यपि त्वमसीत्यत्र वाक्यं नोचे भृगोः पिता ॥
तथाप्यन्नं प्राणमिति विचार्य स्थलमुक्तवान् ॥ ६४ ॥

भाषार्थ– कदाचित् कहो कि इस प्रकरणमें तू ब्रह्म है इत्यादि उपदेश वाक्य नही हैं– इससे भृगुको कैसे ब्रह्मसाक्षात्कार हुआ सो ठीक नही क्यों कि यद्यपि पिताने तू ब्रह्म है यह वाक्य नही कहा–तथापि अन्न प्राण आदि आत्मसाक्षात्कारके हेतु विचारके योग्य स्थल पिताने कहदिये थे ॥६४ ॥

अन्नप्राणादिकोशेषु सुविचार्य पुनः पुनः ॥
आनंदमव्यक्तिमीक्षित्वा ब्रह्मलक्ष्माप्ययूयुजत् ॥ ६५॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अन्नमय आदि कोशोंके विचार करने पर–प्रत्यक् (जीव) का साक्षात्कार रहो ब्रह्मका साक्षात्कार कैसा हुआ–सो ठीक नही–क्योंकि प्रत्यग्भी ब्रह्म है–पंचकोशोंके विचारसे आनंदरूप आत्मव्यक्तिको जानकर–आनंदसे ही ये भूत पैदा होते हैं–और पैदा होकर आनंदसे जीते हैं–और आनंदमें ही प्रलय होकर प्रवेश करते हैं इस प्रकारके जो ब्रह्मके लक्षण उनको प्रत्यक्‌मेंभी भृगु युक्त करता भया– भावार्थ–यह है कि अन्न प्राण आदि कोशोंमें भली प्रकार वारंवार विचार कर आनंदव्यक्तिको जानकर उसमें ब्रह्मके लक्षणोंको जानता भया ॥ ६५ ॥

सत्यं ज्ञानमनंतं चेत्येवंब्रह्मस्वलक्षणम् ॥
उक्त्वा गुहाहितत्वेन कोशेष्वेतत्प्रदर्शितम् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि आनंदात्मरूप ब्रह्मका लक्षण प्रत्यक्‌में न मिल सकेगा क्योंकि तटस्थब्रह्म प्रत्यक् भिन्न है सो ठीक नही क्योंकि सत्यज्ञान अनंतरूप जो ब्रह्मस्वरूपके लक्षण हैं उनका वर्णन करके जो परम आकाशरूप गुहामें स्थित ब्रह्मको जानता है इस वाक्यसे पंचकोशरूप गुहाके मध्यमें स्थित उस ब्रह्मको ही प्रत्यक्‌रूप कहा है भावार्थ यह है कि सत्यज्ञान अनंतरूप ब्रह्मके लक्षणोंको कह कर पंचकोशरूप गुहाओंमें स्थित प्रत्यक्‌को ही ब्रह्मरूप दिखाया है ॥ ६६ ॥

पारोक्ष्येण विबुध्येंद्रो य आत्मेत्यादिलक्षणात् ॥
अपरोक्षीकर्तुमिच्छंश्चतुर्वारं गुरुं ययौ ॥ ६७ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार तैत्तिरीय श्रुतिके देखनेसे भृगुको परोक्षज्ञानके द्वारा विचारसे

साक्षात्कारको दिखाकर छांदोग्यकी श्रुतिसेभी साक्षात्कारको दिखाते हैं कि इंद्रभी-जो आत्मा पापरहित जरा मृत्यु शोक इनसे हीन है इत्यादिवाक्यसे आत्माको परोक्षरूपसे जानकर विचारसे तीनों शरीरोंके निराकरणद्वारा ब्रह्मको साक्षात्करनेके लिये चार वार ब्रह्मारूप गुरुके समीप गया यह छांदोग्य उपनिषद्के आठवें अध्यायमें श्रुति हैं भावार्थ-यह है कि इंद्र, आत्मा इत्यादिलक्षणोंसे परोक्षरूपसे ब्रह्मको जानकर अपरोक्ष करनेके लिये चार वार ब्रह्माके समीप गये॥ ६७॥

आत्मा वा इदमित्यादौ परोक्षं ब्रह्म लक्षितम् ॥
अध्यारोपापवादाभ्यां प्रज्ञानं ब्रह्म दर्शितम् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ-अब ऐतरेय श्रुतिसेभी यही दिखाते हैं कि आत्मारूप ही यह जगत् सृष्टिसे पहिले हुआ अन्य कुछभी न हुआ इस वाक्यसे ब्रह्मके लक्षणको कहकर वह देखता भया कि मैं लोकोंको रचों इसको प्रारंभ करके उसके तीन आवसथ हैं अर्थात् तीन स्वप्न हैं (यह आवसथ है ३) इस वाक्यसे परमात्मामें जगत्के अध्यारोपप्रकारको कहकर-वह उत्पन्न होकर भूतोंको देखता भया-यह अन्य किसको कहा-इस वाक्यसे आरोप कियेके निषेधको कह कर-वह इसी विस्तृतपुरुष ब्रह्मको देखता भया कि मैं ब्रह्मको देखा इस प्रकार प्रत्यगात्माको ब्रह्मरूप कहा है-फिर इस जगत्में पुरुष जीव-इत्यादि ग्रंथसे ज्ञानसाधन वैराग्यकी उत्पत्तिके लिये गर्भवास आदि दुःखोंको दिखाकर-कोन यह आत्मा है जिसकी हम उपासना करते हैं-इत्यादि ग्रंथसे विचारके द्वारा तत् त्वंपदार्थके शोधनपूर्वक-प्रज्ञान ब्रह्म है इस श्रुतिसे प्रज्ञानरूप आत्माको ब्रह्मरूपता दिखाई है-भावार्थ-यह है कि आत्मावै इदं०इत्यादि श्रुतिमें परोक्ष ब्रह्म दिखाया- फिर अध्यारोप और अपवादसे प्रज्ञानब्रह्म दिखाया है ॥ ६८ ॥

अवांतरेण वाक्येन परोक्षा ब्रह्मधीर्भवेत् ॥
सर्वत्रैव महावाक्यविचारादपरोक्षधीः ॥ ६९ ॥

भाषार्थ-अन्य श्रुतियोंमेंभी इसी न्यायको दर्शाते हैं कि अवांतर (मध्यके) वाक्यसे तो परोक्षरूपसे ब्रह्मज्ञान होता है और महावाक्योंके विचारसे तो सर्वत्र ही अपरोक्षज्ञान होता है ॥ ६९ ॥

ब्रह्मापरोक्ष्यसिद्ध्यर्थं महावाक्यमितीरितम् ॥
वाक्यवृत्तावतो ब्रह्मापरोक्ष्ये विमतिर्नहि ॥ ७० ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि महावाक्यके विचारसे अपरोक्षज्ञान होता है यह

अपने कपोलोंसे कल्पित है सिद्धांत नही सो ठीक नही कि वाक्यवृत्तिग्रंथमें आचार्योंने यह कहा है कि ब्रह्मकी अपरोक्षता सिद्धिके लिये जो हो वह महावाक्य कहा है इससे महावाक्योंसे पैदा हुये अपरोक्षज्ञानमें विवाद नही होता है अर्थात् वह सिद्धांत है ॥ ७० ॥

आलंबनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ॥
अंतःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥ ७१ ॥

भाषार्थ–अब वाक्यवृत्तिके कथनका प्रकार वर्णन करते हैं कि जो अंतःकरण संभिन्न बोध अर्थात् अंतःकरणोपाधिक चिदात्मा अहं (मैं) इस शब्द और अहं इस ज्ञानको आलंबन (ले) करके भासता है वह बोध त्वंपदका वाच्य (अर्थ) है ॥ ७१

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ॥
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥ ७२ ॥

भाषार्थ–अब त्वत्पदके वाच्य अर्थको कहकर तत्पदके अर्थको कहते हैं कि परोक्षतासे शबल अर्थात् परोक्षत्व धर्म विशिष्ट और सत्य ज्ञानरूप आत्मा (रूप) है जिसका ऐसा और माया जिसकी उपाधि है और जो सर्वज्ञ है वह तत्पदका वाच्य (अर्थ) है ॥ ७२ ॥

प्रत्यक्परोक्षतैकस्य सद्वितीयत्वपूर्णता ॥
विरुध्येते यतस्तस्माल्लक्षणा संप्रवर्तते ॥ ७३ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार पदोंके अर्थोंको कहकर वाक्यार्थ बोधके लिये लक्षणावृत्तिके स्वीकारको दिखाते हैं कि जिससे एक ब्रह्ममें प्रत्यक् परोक्षता और द्वितीय सहित होनेसे पूर्णता ये दोनों विरुद्ध हैं इससे लक्षणावृत्ति प्रवृत्त होती है अर्थात् लक्षणा मानने योग्य है ॥ ७३ ॥

तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ॥
सोऽयमित्यादिवाक्यस्थपदयोरिव नापरा ॥ ७४ ॥

भाषार्थ–अब लक्षणाका स्वरूप वर्णन करते हैं कि तत्त्वमसि आदिमहावाक्योंमें सोयं देवदत्त इत्यादि वाक्योंमें स्थित पदोंके समान लक्षणा, भागलक्षणा अर्थात् जहत् अजहत् लक्षणा होती है और न जहत् लक्षणा और न अजहत् लक्षणा होती है जिसमें पदोंका अर्थ कुछ छोडकर और कुछ लेकर बोध हो वह जहत् अजहत् लक्षण होती है पदके अर्थका त्याग है वह जहत् और जिसमें त्याग नही वह अजहत् लक्षणा होती है ॥ ७४ ॥

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र संमतः ॥
अखंडैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः ॥ ७५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि गां आनय (गौको ले आ) इत्यादि वाक्योंमें लक्षणा-वृत्तिके विनाभी जैसे वाक्यार्थ बोधको देखते हैं तैसेही यहांभी हो जायगा सो ठीक नही कि जगतमें गां आनय इत्यादि पदोंसे स्मरण कराये जो आकांक्षा योग्यता आदिवाले गौ आदि पदार्थ हैं उनका अन्वय (संबंध) वाक्यार्थ माना है जैसे नील बडा सुगंधि कमल है इत्यादि वाक्योंमें नीलत्व विशिष्ट कमलही वाक्यार्थ माना है इस प्रकारसे यहां महावाक्योंमें वाक्यार्थता नही होती अर्थात् संसर्ग संबंध वा विशिष्टको वाक्यार्थ नही मानते किंतु अखंडैकरसतासे अर्थात् स्वगत आदि भेदोंसे शून्य वस्तुमात्रकोही बुद्धिमान् मनुष्य वाक्यका अर्थ मानते हैं इससे लक्षणाका आश्रय करना योग्य है–भावार्थ यह है कि यहां संसर्ग वा विशिष्ट वाक्यार्थ संमत नही किंतु बुद्धिमानोंने अखंड एकरस ब्रह्म वाक्यका अर्थ माना है इससे लक्षणा माननी ॥ ७५ ॥

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानंदलक्षणः ॥
अद्वयानंदरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणः ॥ ७६ ॥

भाषार्थ–अब अखंड एकरस वाक्यार्थको दिखाते हैं कि जो प्रत्यग्बोध अर्थात् सबके मध्यमें चिदात्मा भासता है बुद्धि आदिका साक्षी फुरता है वह अद्वयानंद लक्षण है अर्थात् अद्वितीय आनंदरूप परमात्मा है और जो अद्वयानंद रूप है वह प्रत्यक् बोधैकलक्षण है अर्थात् चित् एकरस प्रत्यक् आत्माही है–तात्पर्य यह है कि अल्पज्ञत्व सर्वज्ञत्व आदि दोनोंके विरुद्ध अंशोंको छोडकर भागलक्षणासे चित्रूप एक आत्माका ज्ञान होता है ॥ ७६ ॥

इत्थमन्योन्यतादात्म्यप्रतिपत्तिर्यदा भवेत् ॥
अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि ॥ ७७ ॥

भाषार्थ–अब अखंडार्थ बोधके फलको दिखाते हैं कि इस प्रकार जब परस्पर तादात्म्यका ज्ञान होजाता है अर्थात् एकता हो जाती है उसी समय त्वंपदके अर्थकी अब्रह्मता (ब्रह्मभेद) निवृत्त हो जाती है अर्थात् ब्रह्म हो जाता है ॥ ७७ ॥

तदर्थस्य च पारोक्ष्यं यद्येवं किं ततः शृणु ॥
पूर्णानंदैकरूपेण प्रत्यग्बोधोऽवतिष्ठते ॥ ७८ ॥

भाषार्थ—त्वंपदके अर्थ प्रत्यक् आत्माको अब्रह्मत्व है और ब्रह्मरूपता भ्रम है और तत्पदके अर्थ ब्रह्मका पारोक्ष्य अर्थात् परोक्ष ज्ञानैकविषयता निवृत्त हो जाती है तिससे क्या होगा इस आशयसे पूछते हैं कि यदि तत्का अर्थ परोक्ष है तो तिससे क्या होगा इसका उत्तर सुनो कि पूर्ण आनंद एकरूपसे प्रत्यक् बोधकी स्थिति हो जाती है ॥ ७८ ॥

एवं सति महावाक्यात्परोक्षज्ञानमीर्यते ॥
यैस्तेषां शास्त्रसिद्धांतविज्ञानं शोभतेतराम् ॥ ७९ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि समय केवल सम्यक् (भली प्रकार) परोक्षानुभवका साधन शास्त्र है—यह आगमका लक्षण है इससे वाक्य अपरोक्ष ज्ञानका जनक कैसे होगा इस शंकाका उत्तर यह देते हैं कि यह सिद्धांत ज्ञानसे शून्य है कि जो महावाक्यसे परोक्षज्ञानको कहते हैं उनका शास्त्रसिद्धांतको ज्ञान भली प्रकार शोभित है अर्थात् वे शास्त्रसिद्धांतको नहीं जानते हैं ॥ ७९ ॥

आस्तां शास्त्रस्य सिद्धांतो युक्त्या वाक्यात्परोक्षधीः ॥
स्वर्गादिवाक्यवन्नैवं दशमे व्यभिचारतः ॥ ८० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि शास्त्रका सिद्धांत रहो वाक्यसे परोक्षज्ञान अनुमानसे हो जायगा सोभी ठीक नहीं कि शास्त्र सिद्धांत रहो युक्तिके द्वारा स्वर्ग आदिके समान वाक्यसे अर्थात् इस अनुमानसे कि विवादका आस्पद वाक्य, परोक्ष ज्ञानका जनक होने योग्य है—वाक्य होनेसे स्वर्ग आदि वाक्यके समान—परोक्षज्ञान हो जायगा यह हेतु व्यभिचारी है इस अभिप्रायसे परिहार करते हैं कि ऐसा मत कहो कि दशवां तू है इस वाक्यमें अपरोक्ष ज्ञानकी जनकता देखते हैं इससे यह नहीं कह सकते कि जहां २ वाक्यत्व हो वहां २ परोक्ष ज्ञानकी जनकता हो—भावार्थ यह है कि शास्त्रका सिद्धांत रहो अनुमानके द्वारा वाक्यसे स्वर्ग आदिके समान परोक्षज्ञान हो जायगा—ऐसा मत कहो क्योंकि दशवां तू है—यहां वाक्यसे अपरोक्षज्ञान देखते हैं—इससे तुमारे अनुमानमें व्यभिचार है ॥ ८० ॥

स्वतोऽपरोक्षजीवस्य ब्रह्मत्वमभिवांछतः ॥
नश्येत्सिद्धापरोक्षत्वमिति युक्तिर्महत्यहो ॥ ८१ ॥

भाषार्थ—और त्वम्पदका अर्थ जीव—स्वयं अपरोक्ष है—ब्रह्मत्वकी इच्छा करते हुए उसका स्वतःसिद्ध अपरोक्षत्वभी नष्ट हो जायगा इससे यह तुमारी युक्ति आश्चर्यका जनक—महती (बडी) है अर्थात् अपरोक्षज्ञानके जनक महावाक्यको परोक्षज्ञानका जनक कहना असंगत है ॥ ८१ ॥

वृद्धिमिष्टवतो मूलमपि नष्टमितीदृशम् ॥
लौकिकं वचनं सार्थं संपन्नं त्वत्प्रसादतः ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि हम इसकोही इष्ट मानेंगे सो ठीक नही वृद्धिको चाहते हुए पुरुषका मूलभी नष्ट होगया यह लौकिक कथन तुमारीही कृपासे सार्थक भया ॥ ८२ ॥

अंतःकरणसंभिन्नबोधो जीवोऽपरोक्षताम् ॥
अर्हत्युपाधिसद्भावान्न तु ब्रह्मानुपाधितः ॥ ८३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अंतःकरणसंभिन्न बोध अर्थात् अन्तःकरणोपाधिके होनेसे जीव अपरोक्षताके योग्य है और निरुपाधिक ब्रह्म अपरोक्षताके योग्य नही ॥ ८३ ॥

नैवं ब्रह्मत्वबोधस्य सोपाधिविषयत्वतः ॥
यावद्विदेहकैवल्यमुपाधेरनिवारणात् ॥ ८४ ॥

भाषार्थ–ब्रह्मभी निरुपाधिक नही हो सकता इस आशयसे उक्त शंकाका परिहार करते हैं कि–जीवको ब्रह्मरूपताका जो ज्ञान है–वह सोपाधिक वस्तुविषयक है इससे उस ज्ञानका विषय जो ब्रह्म है वहभी सोपाधिक है–क्योंकि ज्ञानकी सोपाधि विषयता ज्ञेयकी सोपाधिकताके विना नहीं घटती–और विदेहकैवल्यसे प्रथम ब्रह्मकी उपाधिका निवारण नही हो सकता ॥ ८४ ॥

अंतःकरणसाहित्यराहित्याभ्यां विशिष्यते ॥
उपाधिर्जीवभावस्य ब्रह्मतायाश्च नान्यथा ॥ ८५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि जीव ब्रह्मकी विलक्षण दो उपाधि कहनी चाहिए– इस शंकाके उत्तरमें लिखते हैं कि जीवभाव और ब्रह्मभावकी उपाधि अन्तःकरणका साहित्य और अंतःकरणका राहित्यही हैं–अर्थात् अन्तःकरणसे सहित जीव और अंतः करणरहित ब्रह्म है–अन्यथा नही ॥ ८५ ॥

यथा विधिरुपाधिः स्यात्प्रतिषेधस्तथा न किम् ॥
सुवर्णलोहभेदेन शृंखलात्वं न भिद्यते ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि भावरूप अंतःकरणका संबंध उपाधि रहो अभावरूप अंतःकरण राहित्यको उपाधि मानना अनुचित है सो भी ठीक नही क्योंकि कार्यकी अवधिपर्यंत टिकनेवाले भेदका जो हेतु उसको उपाधि कहते हैं–यह उपाधिका

लक्षण अन्तःकरणके साहित्य और राहित्य दोनोंमें है-इससे दोनोंही उपाधि हैं-इस अभिप्रायसे उक्त शंकाका परिहार करते हैं कि जिस प्रकार भावरूप अंतःकरणका संबंध उपाधि है तैसेही अभावरूप अन्तःकरणका वियोगभी उपाधि क्यों न होगा अर्थात् अवश्य होगा-कदाचित् कहो कि भाव अभावरूप विलक्षणता तो दीखती है-सो ठीक नही क्योंकि वह अकिंचित्कर है इससे स्वीकारके योग्य नही इस अभिप्रायसे दृष्टांत कहते हैं कि सुवर्ण और लोहेके भेदसे शृंखलामें भेद नही होता अर्थात् पुरुषके गमनकी विरोधकता दोनोंमें तुल्य है ॥ ८६ ॥

अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन च ॥
वेदांतानां प्रवृत्तिः स्याद्विधेत्याचार्यभाषितम् ॥ ८७ ॥

भाषार्थ-विधिके समान निषेधभी ब्रह्म बोधका उपाय है-इससे निषेध ब्रह्मकी उपाधि है-यह दृढ करनेके लिये विधिनिषेध दोनोंको जो ब्रह्म बोधका उपाय आचार्योंने कहा है उसको दिखाते हैं कि तत् शब्दसे ब्रह्म और अतत् शब्दसे अज्ञान आदि लेते हैं-नेति नेति इत्यादि श्रुतियोंसे जो अतत्की व्यावृत्ति अर्थात् प्रपंचके निरसन (त्याग) रूप उपायसे और साक्षात् विधि मुखसे अर्थात् सत्यरूप ब्रह्म है इससे वेदान्तोंकी प्रवृत्ति दो प्रकारसे है अर्थात् विधि और निषेध मुखसे ब्रह्मका प्रतिपादन करते हैं यह आचार्योंका कथन है- भावार्थ यह है कि ब्रह्म भिन्नके निषेध मुखसे और सत्यज्ञान अनंतरूप ब्रह्म है इत्यादि विधिमुखसे-दो प्रकारसे वेदांतों (उपनिषदों) की प्रवृत्ति ब्रह्ममें आचार्योंने कही है ॥ ८७ ॥

अहमर्थपरित्यागादहं ब्रह्मेति धीः कुतः ॥
नैवमंशस्य हि त्यागो भागलक्षणयोदितः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि अतत्के निषेध रूपसे वेदांतोंको ब्रह्मका बोधक मानोंगे तो अहं शब्दके अर्थ कूटस्थकाभी त्याग होजायगा तो अहं (मैं) ब्रह्म हूं यह बुद्धि अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि(मैं ब्रह्म हूं) यह दोनोंकी समानाधिकरणता (एकअर्थ) न होगी इस शंकाको करके उत्तर देते हैंकि ऐसा मत कहो क्योंकि भागलक्षणासे अहं शब्दका अंश (एकदेश) जो जडरूप अंश उसका त्याग कहा है कूटस्थका नही इससे मैं ब्रह्म हूं यह ज्ञान हो सकता है-भावार्थ यह हैकि अहं शब्दके भी अर्थके निषेधसे अहं ब्रह्मास्मि यह ज्ञान कैसे होगा ऐसा मत कहो क्योंकि भागलक्षणासे जडअंशका त्याग कहा है ॥ ८८ ॥

अंतःकरणसंत्यागादवशिष्टे चिदात्मनि ॥
अहंब्रह्मेति वाक्येन ब्रह्मत्वं साक्षिणीक्ष्यते ॥ ८९ ॥

भाषार्थ–अब अंशके त्यागसे बोधके प्रकारको दिखाते हैं कि अंतःकरणरूप उपाधिके त्याग होनेपर जब चिदात्मा शेष रहगया तब अहं, ब्रह्म, अस्मि, इस वाक्यसे मुमुक्षुपुरुष साक्षीके विषै ब्रह्मत्वको देखता है ॥ ८९ ॥

स्वप्रकाशोऽपि साक्ष्येव धीवृत्त्या व्याप्यतेऽन्यवत् ॥
फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम् ॥ ९० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि प्रत्यग् आत्माको स्वप्रकाश होनेसे बुद्धिवृत्तिकी विषयता न घटैगी अर्थात् बुद्धिका विषय न होगा इस शंकाके उत्तरको कहते हैंकि स्वप्रकाशभी साक्षी ही घट आदिके समान धी (बुद्धि) की वृत्तिसे व्याप्त होता है क्योंकि मैं स्वप्रकाश हूं ऐसी बुद्धिकी वृत्ति होसकती है–कदाचित् कहो कि सिद्धांतका भंग होगा सोभी ठीक नहीं क्योंकि शास्त्रकार पहिले आचार्योंने फल जो वृत्तिमें प्रतिबिंबित चिदाभास उसकी ही इस प्रत्यगात्माको व्याप्यताका निराकरण (निषेध) किया है. क्योंकि यह स्वयं स्फुरण (प्रकाश) रूप है, वृत्तिकी व्याप्यताका निषेध नहीं किया–भावार्थ यह हैकि स्वप्रकाशभी साक्षी घट आदिके समान बुद्धिकी वृत्तिसे व्याप्त होता है क्योंकि शास्त्रकारोंने इस प्रत्यगात्माको फल व्याप्यताका निषेध किया है बुद्धिकी व्याप्यताका नहीं ॥ ९० ॥

बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावपि व्याप्नुतो घटम् ॥
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घटः स्फुरेत् ॥ ९१ ॥

भाषार्थ–आत्माको फलव्याप्तिका अभाव दिखानेके लिये आत्मासे भिन्नको वृत्ति और फलकी व्याप्यताको दिखाते हैंकि बुद्धि और बुद्धिमें स्थित चिदाभास ये दोनों घटमें व्याप्त होते हैं अर्थात् पहुंचते हैं उन दोनोंके मध्यमें बुद्धिकी वृत्तिसे तो अज्ञानका नाश होता है और चिदाभाससे घटका स्फुरण होता है क्योंकि जड रूप घटका स्वतः स्फुरण नहीं हो सकता है ॥ ९१ ॥

ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता ॥
स्वयंस्फुरणरूपत्वान्नाभास उपयुज्यते ॥ ९२ ॥

भाषार्थ–अब आत्मामें घट आदिकी अपेक्षा, विलक्षणताको दिखाते हैं कि प्रत्यक् और ब्रह्मकी एकता अज्ञानसे आवृत (छिपी) है उस अज्ञानकी निवृत्तिके लिये महावाक्योंसे पैदा हुयी जो मैं ब्रह्म हूं, यह बुद्धिकी वृत्ति उससे उसकी व्याप्ति ब्रह्ममें अपेक्षित है और ब्रह्मको स्वयं स्फुरणरूप होनेसे चिदाभासका उपयोग ब्रह्ममें नहीं है ॥ ९२ ॥

चक्षुर्दीपावपेक्ष्येते घटादेर्दर्शने यथा ॥
न दीपदर्शने किंतु चक्षुरेकमपेक्ष्यते ॥ ९३ ॥

भाषार्थ–पूर्वोक्त अर्थको दृष्टांत दिखाकर स्पष्ट करते हैंकि जैसे घटके देखनेमें चक्षु और दीपक दोनोंकी अपेक्षा है और दीपकके देखनेमें दोनोंकी अपेक्षा नही है किं तु एक चक्षुकी ही अपेक्षा है तैसेही अज्ञानकी निवृत्तिके लिये ब्रह्ममें बुद्धिवृत्तिकी अपेक्षा है चिदाभासकी नही ॥ ९३ ॥

स्थितोऽप्यसौ चिदाभासो ब्रह्मण्येकीभवेत्परम् ॥
न तु ब्रह्मण्यतिशयं फलं कुर्याद्घटादिवत् ॥ ९४ ॥

भाषार्थ–बुद्धि और उसकी वृत्ति चिदाभाससे विशिष्ट हैं इससे घट आदिके समान ब्रह्ममेंभी बलसे फलव्याप्ति होजायगी इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि यद्यपि घट आदि आकार की वृत्तिके समान ब्रह्म विषयके वृत्तिमें भी चिदाभास है तथापि यह चिदाभास ब्रह्मसे पृथक् नही भासता किंतु प्रचंड धूपमें वर्तमान दीपककी प्रभाके समान एकरूपताको प्राप्त हो जाता है इससे घट आदिके समान स्फुरणरूप अधिक फलको ब्रह्ममें नही करता ॥ ९४ ॥

अप्रमेयमनादिं चेत्यत्र श्रुत्येदमीरितम् ॥
मनसैवेदमाप्तव्यमिति धीव्याप्यता श्रुता ॥ ९५ ॥

भाषार्थ–अब ब्रह्ममें वृत्तिव्याप्ति है फलव्याप्ति नही इसमें वेदको प्रमाण देते हैंकि जो निर्विकल्प अनंत हेतु दृष्टांतसे वर्जित अप्रमेय अनादि है उसको जानकर मुक्त होता है इस अमृतबिंदुउपनिषदके मंत्रमें अप्रमेय शब्दसे फलव्याप्तिसे रहित कहा है–और मनसे ही यह ब्रह्म प्राप्त होने योग्य है–इस जगत्में किंचित् भी नाना नही है इन मंत्रोंसे कठवल्लीमें बुद्धिव्याप्यता (वृत्तिव्याप्यता) श्रुतिमें कहीं है इससे ब्रह्म फलव्याप्य नही है किं तु बुद्धिव्याप्य है ॥ ९५ ॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति वाक्यतः ॥
ब्रह्मात्मव्यक्तिमुल्लिख्य यो बोधः सोऽभिधीयते ॥ ९६ ॥

भाषार्थ–'आत्मानं चेद्विजानीयात्०'इस मंत्रसे अपरोक्षज्ञान और शोकनिवृत्ति-रूप दोनों अवस्था जीवकी पहिले कह आये हैं–उन दोनोंमें कितने अंशसे अपरोक्ष ज्ञान कहा जाता है इसका वर्णन करते हैं यह आत्मा मैं हूं इस प्रकार यदि आत्मा को जानै इस वाक्यसे–सत्य आदि हैं लक्षण जिसके–ऐसे ब्रह्मसे अभिन्न प्रत्यगात्माके

स्वरूपको विषय करके जो बोध होता है अर्थात् ब्रह्माहमस्मि (ब्रह्म मैं हूं) यह ज्ञान होता है वह कहा जाता है ॥ ९६ ॥

अस्तु बोधोऽपरोक्षोत्र महावाक्यात्तथाऽप्यसौ ॥
न दृढः श्रवणादीनामाचार्यैः पुनरीरणात् ॥ ९७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त रीतिके अनुसार एक वार ही महा वाक्योंके विचारसे अपरोक्षज्ञान होजायगा इससे वारंवार आचार्योंके उपदेशसे श्रवण आदिकी आवृत्ति (पुनः पुनः करना) होती हैं इत्यादिकोंमें कहा जो श्रवण आदिका आवर्तन वह, न, करना चाहिये–इस शंकाका उत्तर देते हैंकि यद्यपि महावाक्योंसे पूर्वोक्त अपरोक्ष बोध एक वारकेही विचारसे हो जाओ तथापि वह बोध दृढ नही हो सक्ता इससे–श्रीमान् शंकराचार्योंने वाक्यार्थ ज्ञानकी उत्पत्तिके अनंतर भी–फिर श्रवण आदिका आवर्तन कहा है अर्थात् ज्ञानकी दृढताके लिये पुनः पुनः श्रवण आदिका करना कहा है ॥ ९७ ॥

अहं ब्रह्मेतिवाक्यार्थबोधो यावद्दृढीभवेत् ॥
शमादिसहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम् ॥ ९८ ॥

भाषार्थ–अब शंकराचार्यके वाक्यको ही लिखते हैं इतने अहं ब्रह्म-इस वाक्यके अर्थका बोध दृढ हो तबतक शम दम आदिसे संपन्न मुमुक्षु-श्रवण आदिका अभ्यास करै ॥ ९८ ॥

बाढं संति ह्यदार्ढ्यस्य हेतवः श्रुत्यनेकता ॥
असंभाव्यत्वमर्थस्य विपरीता च भावना ॥ ९९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि वाक्य प्रमाणोंसे जनित ज्ञानकी अदृढता किससे होती है-यह शंका करकै कहते हैंकि यह बात सत्य है कि ज्ञानकी अदृढताके हेतु जिससे ये हैं कि श्रुतियोंकी अनेकता अर्थात्–किसी श्रुतिमें कोई हेतु और किसीसें कोई कहा है और अद्वितीय ब्रह्मरूप अर्थको अलौकिक होनेसे असंभावना और पुनः कर्ता आदि अभिमानरूप विपरीत भावना ये तीन हेतु ज्ञानकी अदृढताके हैं इससे अपरोक्षानुभवकी दृढताके लिये श्रवण आदिकी आवृत्ति करने योग्य है–भावार्थ यह है कि ज्ञानकी अदृढताके हेतु–श्रुतियोंका भेद–और अर्थकी असंभावना और विपरीत भावना ये जिससे सर्वथा हैं, इससे पुनः पुनः श्रवण आदि करने ॥९९॥

शाखाभेदात्कामभेदाच्छ्रुतं कर्मान्यथान्यथा ॥
एवमत्रापि मा शंकीत्यतः श्रवणमाचरेत् ॥ १०० ॥

भाषार्थ–इस प्रकार तीन अदृढताके हेतुओंको दिखाकर श्रुतियोंके भेदसे पैदाहुई अदृढताकी निवृत्तिके लिये श्रवण आदिकी आवृत्ति करनी इसका वर्णन करते हैं कि जैसे शाखाके भेदसे कर्मका भेद सुना है–कि होताका कर्म ऋग्वेदसे अध्वर्युका यजुर्वेदसे उद्गीथका सामवेदसे करै और जैसे कामनाके भेदसे कर्मका भेद सुना है कि वृष्टिका अभिलाषी कारीरी यज्ञ करै और अवस्थाका कामी सत्कृष्णल यज्ञ करै इसी प्रकार यहां उपनिषदोंमेंभी शंका मतकर इससे पुनः पुनः श्रवणको करै ॥ १०० ॥

वेदांतानामशेषाणामादिमध्यावसानतः ॥
ब्रह्मात्मन्येव तात्पर्यमितिधीः श्रवणं भवेत् ॥ १ ॥

भाषार्थ–अब श्रवण आदिका लक्षण कहते हैं संपूर्ण उपनिषदोंका आदि मध्य अंतके विषै उपक्रम और उपसंहारके देखनेसे ब्रह्मरूप प्रत्यगात्माके विषैही तात्पर्य है–इस निश्चयात्मक बुद्धिको श्रवण कहते हैं ॥ १ ॥

समन्वयाध्याय एतत्सूक्तं धीस्वास्थ्यकारिभिः ॥
तर्कैः संभावनाऽर्थस्य द्वितीयाध्याय ईरिता ॥ २ ॥

भाषार्थ–यह श्रवण व्यास आदिकोंने समन्वयाध्यायके विषै भली प्रकार कहा है और बुद्धिको स्वस्थ करनेवाले–युक्ति–शब्द–नामके तर्कोंसे अर्थकी संभावना रूप मनन दूसरे अध्यायमें निरूपण किया है ॥ २ ॥

बहुजन्मदृढाभ्यासाद्देहादिष्वात्मधीः क्षणात् ॥
पुनःपुनरुदेत्येवं जगत्सत्यत्वधीरपि ॥ ३ ॥

भाषार्थ–अब विपरीत भावना और उसकी निवृत्तिके उपायको दिखाते हैं–जैसे बहुत जन्मोंके दृढ अभ्याससे देह आदिमें क्षणक्षणमें आत्मबुद्धि होती है इसी प्रकार जगत्की सत्यत्व बुद्धिभी पुनःपुनः उदय होती है ॥ ३ ॥

विपरीता भावनेयमैकाग्र्यात्सा निवर्तते ॥
तत्त्वोपदेशात्प्रागेव भवत्येतदुपासनात् ॥ ४ ॥

भाषार्थ–अब विपरीत भावनाकी निवर्तक एकाग्रताको कहते हैं कि यह विपरीत भावना अर्थात् जगत्में सत्यत्व बुद्धि, चित्तकी एकाग्रतासे निवृत्त होती है और वह एकाग्रता ब्रह्मोपदेशसे पहिलेभी सगुण ब्रह्मकी उपासनासे होती है ॥ ४ ॥

उपास्तयोऽत एवात्र ब्रह्मशास्त्रेऽपि चिंतिताः ॥
प्रागनभ्यासिनः पश्चाद्ब्रह्माभ्यासेन तद्भवेत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ–अब वेदांतशास्त्रमें किये उपासना विचारका वर्णन करते हैं कि इस ब्रह्मशास्त्रमेंभी उपासनाओंका विचार किया है–और जिसने उपासना पहिले नहीं की उसकोभी ब्रह्मके अभ्याससे पश्चात्‌भी चित्तकी एकाग्रता हो जाती है ॥ ५ ॥

तच्चिंतनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ॥
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ–अब ब्रह्मके अभ्यासको कहते हैं कि ब्रह्मका चिन्तन ब्रह्मका कथन और परस्पर ब्रह्मका प्रबोधन और एक ब्रह्ममेंही तत्पर रहना–बुद्धिमान् मनुष्योंने इसकोही ब्रह्मका अभ्यास कहा है ॥ ६ ॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ॥
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ–ब्रह्म एकमेंही तत्परता दिखानेके लिये श्रुतिको कहते हैं कि ब्रह्मचर्य आदि साधनोंसे संपन्न धीर ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म होनेकी इच्छावाला मुमुक्षु मनुष्य उसी प्रत्यक्‌रूप परमात्माको जानकर अर्थात् निःसंदेह रूपसे समझकर प्रज्ञाको अर्थात् ब्रह्म आत्माकी एकताका जो ज्ञान उसकी संतानरूप एकाग्रताको करै अर्थात् ब्रह्मात्मैकता बुद्धिको स्थिर करै और आत्मासे भिन्नका जिनमें वर्णन हो ऐसे बहुतसे शब्दोंका स्मरण न करै और न कहै क्योंकि वह स्मरण और ध्यान वाणी और मनका विग्लापन (श्रमका हेतु) है सिद्धांत यह है कि अन्य शब्दोंके स्मरणमें मनका और कहनेमें वाणीका वृथा परिश्रम होता है–भावार्थ यह है कि धीर ब्राह्मण उसी ब्रह्मको जानकर प्रज्ञाका संपादन करै और वाणीको श्रम देनेवाले बहुतसे शब्दोंका स्मरण न करै ॥ ७ ॥

अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते ॥
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ–अब एकाग्रताकी बोधक श्रुतिको कहकर स्मृतिको कहते हैं कि जो मनुष्य अनन्य होकर अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि इस ज्ञानसे मेरेसे अभिन्न (एकरूप) हुये मेरी चिंता करके उपासना सब कालोंमें करते हैं अर्थात् सदैव मेरा रूप रहते हैं–सदैव मेरेमें है चित्त जिनका ऐसे उनको मैं योगक्षेम देता हूं अर्थात् उनके अलभ्यकी प्राप्ति और लब्धकी रक्षा करताहूं–भावार्थ यह है कि जो जन अनन्य होकर मेरी चिंतासे उपासना करते नित्य मेरेमें लगे हुये उनको मैं योगक्षेम देता हूं॥८॥

इति श्रुतिस्मृती नित्यमात्मन्येकाग्रतां धियः ॥
विधत्तो विपरीताया भावनायाः क्षयाय हि ॥ ९ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त श्रुतिस्मृतियोंके तात्पर्यको कहते हैं कि ये पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति विपरीत भावनाकी निवृत्तिके लिये सदैव बुद्धिकी एकाग्रताको आत्माके विषै करती हैं अर्थात् सदैव आत्माकार बुद्धि इनसे बनी रहती है ॥ ९ ॥

यद्यथा वर्तते तस्य तत्त्वं हित्वाऽन्यथात्वधीः ॥
विपरीता भावना स्यात्पित्रादावरिधीर्यथा ॥ १० ॥

भाषार्थ-अब देहमें आत्माबुद्धि और जगत्में सत्यबुद्धिको विपरीत भावना दिखानेके लिये विपरीत भावनाका लक्षण कहते हैं कि जो शुक्ति आदि वस्तु जिस शुक्ति आदि रूपसे वर्तती हैं उसके तत्त्व (यथार्थ) शुक्ति आदि रूपको छोडकर अन्यथात्वकी जो बुद्धि अर्थात् रजत आदिकी जो बुद्धि (ज्ञान) है वह विपरीत भावना होती है अर्थात् तिससे भिन्नमें तिसको समझना जैसे पिता आदिमें शत्रु बुद्धिको समझना ॥ १० ॥

आत्मा देहादिभिन्नोऽयं मिथ्या चेदं जगत् तयोः ॥
देहाद्यात्मत्वसत्यत्वधीर्विपर्ययभावना ॥ ११ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त लक्षणको प्रकृतमें घटाते हैं कि यह आत्मा वस्तुतः (परमार्थसे) देह आदिसे भिन्न है और यह जगत् मिथ्या है ऐसा होनेपरभी देहमें आत्मा बुद्धि और जगत्में सत्यबुद्धि है अर्थात् देहको आत्मा और जगत्को सत्य समझना है वही विपरीत भावना है ॥ ११ ॥

तत्त्वभावनया नश्येत्साऽतो देहातिरिक्तताम् ॥
आत्मनो भावयेत्तद्वन्मिथ्यात्वं जगतोऽनिशम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ-प्रथम एकाग्रतासे वह निवृत्त होती है, इस सामान्यरूपसे कहे अर्थका विशेषरूपसे वर्णन करते हैं कि वह देहमें आत्माकी और जगत्में सत्यकी बुद्धिरूप विपरीत भावना, तत्त्वकी भावनासे अर्थात् देहसे भिन्न आत्माके और मिथ्यारूप जगत्के ज्ञानसे (सर्वदा ध्यानसे) नष्ट होती है-इससे आत्माको देहसे भिन्न और देह आदि जगत्को मिथ्या, सदैव विचारै ॥ १२ ॥

किं मंत्रजपवन्मूर्त्तिध्यानवद्वाऽऽत्मभेदधीः ॥
जगन्मिथ्यात्वधीश्चात्र व्यावर्त्या स्यादुतान्यथा ॥ १३ ॥

भाषार्थ—अब यह पूछते हैं कि जप आदिके समान यहांभी ध्यानका कोई नियम है वा नही है कि मंत्रके जपकी और मूर्तिके ध्यानकी तुल्य आत्मभेद बुद्धि और जगत्‌को मिथ्याबुद्धि, व्यावर्त्य अर्थात् त्याग करने योग्य है वा किसी अन्य-रूपसे त्याग करनी ॥ १३ ॥

अन्यथेति विजानीहि दृष्टार्थत्वेन भुक्तिवत् ॥
बुभुक्षुर्जपवद्भुंक्ते न कश्चिन्नियतः क्वचित् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—अब फलको प्रत्यक्ष होनेसे यहां कोई नियम नही इसका वर्णन करते हैं. कि अन्यथा (अन्य प्रकारसे) है, यह तू भोजनके समान जान कदाचित् कहो कि दृष्टार्थ भोजनमेंभी नियम श्रुति और स्मृतिमें मिलते हैं सो ठीक नही कि भोजनका अभिलाषी पुरुष जप करने वालेके समान नियमसे नही भोजन करता है किंतु जिस प्रकार क्षुधाकी पीडा शांत हो उसप्रकार भोजन करता है ॥ १४ ॥

अश्नाति वा न वाऽश्नाति भुंक्ते वा स्वेच्छयाऽन्यथा ॥
येन केन प्रकारेण क्षुधामपनिनीषति ॥ १५ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्तकोही विस्तारसे कहते हैं कि अन्न है तो भोजन करता है और न है तो भोजन नही करता है किंतु क्षुधाके विस्मरणार्थ द्यूत आदि खेलसे कालको बिताता है और वा अपनी इच्छासे अन्यथा जिस किसी प्रकार बैठा हुआ, गमन करता, सोता हुआ—उस समयकी क्षुधाको दूर किया चाहता है अर्थात् क्षुधाकी बाधा निवृत्त किया चाहता है—भोजनके नियमतो परलोकमें हेतु हैं ॥१५॥

नियमेन जपं कुर्यादकृतौ प्रत्यवायतः ॥
अन्यथाकरणेऽनर्थः स्वरवर्णविपर्ययात् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—अब जप आदिमें भोजनसे विलक्षणताको दिखाते हैं कि नियमसे जपको करै क्योंकि नियमसे न करनेमें शास्त्रमें दोष कहा है और अन्यथा करनेमें स्वरवर्णके विपर्ययसे अनर्थ होता है क्योंकि यह कहा है कि स्वर और वर्णसे हीन मंत्र मिथ्या होनेसे उस अर्थको नही कहता—प्रत्युत वह वाणीरूप वज्र यजमानको नष्ट करता है जैसे स्वरके अपराधसे इंद्र शत्रु (वृत्रासुर) नष्ट हुआ—वहां (इंद्रशत्रो विवर्द्धस्व) इस मंत्रमें षष्ठीतत्पुरुष समान स्वरके स्थानमें कर्मधारयको स्वरका उच्चारण, होताने कियाथा इससे इंद्ररूप शत्रुकी वृद्धि हुई— इंद्रके शत्रु वृत्रासुरकी न हुई—भावार्थ यह है कि नियमसे जप करै— न करनेमें दोष है और अन्यथा करनेमें स्वरवर्णके विपर्ययसे अनर्थ होता है ॥ १६ ॥

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद्विपरीता च भावना ॥
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः ॥ १७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि क्षुधा दृष्ट बाधाका हेतु है उसकी निवृत्तिके लिये अनियमसे भी भोजन रहो विपरीत भावना तो दृष्ट बाधाका हेतु नही–उसका निवर्तक ध्यान अदृष्टफलके लिये नियमसे करना चाहिये सो ठीक नही क्योंकि क्षुधाके समान विपरीत भावना भी दृष्ट बाधाका हेतु है–इससे जिस किसी उपायसे जीतने योग्य है उन उपायोंके करनेमें कोई क्रम नही ॥ १७ ॥

उपायः पूर्वमेवोक्तस्तच्चिंताकथनादिकः ॥
एतदेकपरत्वेऽपि निर्बंधो ध्यानवन्न हि ॥ १८ ॥

भाषार्थ–ब्रह्मकी चिंता और कथन आदि उपाय तो पहिले ही कह आये और उसकी एकपरता अर्थात् एकाग्रतामें निर्बंध (नियम) भी ध्यानके समान पूर्वाभिमुख आदिका नही है ॥ १८ ॥

मूर्तिप्रत्ययसांतत्यमन्यानंतरितं धियः ॥
ध्यानं तत्रातिनिर्बंधो मनसश्चंचलात्मनः ॥ १९ ॥

भाषार्थ–अब ध्यान करने योग्यकी चितारूपध्यानमें निबंध दिखानेके लिये ध्यानका स्वरूप कहते हैं कि बुद्धिकी जो देवता आदिकी मूर्तिओंका विषय करनेवाली प्रतीति उनका सान्तत्य (निरंतर रहना) और–उनकी विजातीय प्रतीतीयोंको जो व्यवधानका अभाव इसको ध्यान कहते हैं उसके विषय चंचलरूप मनका अत्यंत निर्बंध अर्थात् जिस प्रकार निरंतर गमनमें शील हस्ती अश्व–आदिको एक स्तंब आदिमें बांधकर जैसे उपरोध होता है ऐसे ही ध्यानमें मनके उपरोधको अतिनिर्बंध कहते हैं ॥ १९ ॥

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ॥
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ २० ॥

भाषार्थ–अब मनकी चंचलतामें गीतावाक्य प्रमाण देते हैं–हे कृष्ण–यह मन चंचल है–और प्रमाथी (अर्थात्पुरुषकी व्याकुलताका कारण) और बलवान् अर्थात् निग्रहके योग्य समर्थ है और दृढ है–अर्थात् विषय हो चाहें न हो वहांसे डिगानेके अयोग्य है–इससे उस मनके निग्रह (वशकरना) को वायुके समान–सुदुष्कर (कठिन) मानता हूं–अर्थात् जिस प्रकार वायु वशमें नही हो सकती इसी प्रकार मनका वश करना कठिन है ॥ २० ॥

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ॥
अपि वह्न्यशनात्साधो विषमश्चित्तनिग्रहः ॥ २१ ॥

भाषार्थ–अब मनके निग्रहकी कठिनतामें वसिष्ठवाक्य प्रमाण देते हैं–हे राम महान् समुद्रके पीने और सुमेरु पर्वतके उखाडने और अग्निके भक्षणसेभी विषम (कठिन) चित्तताका निग्रह है अर्थात् मनुष्य समुद्रपान आदिको कर सक्ता है–परंतु मनको वशमें नही कर सक्ता ॥ २१ ॥

कथनादौ न निर्बंधः शृंखलाबद्धदेहवत् ॥
किंत्वनंतेतिहासाद्यैर्विनोदो नाट्यवद्धियः ॥ २२ ॥

भाषार्थ– अब प्रकृतमें उससे विषमता दिखाते हैं–शृंखलासे बंधे देहके समान ब्रह्मके कथन चिन्तन आदिमें निर्बंध नही–किन्तु अनन्त इतिहास है आदिमें जिनके ऐसे जो लौकिक कथा, अनुकूल युक्ति, दृष्टान्त, आदि हैं उनसे–नृत्यक्रिया दर्शनके समान बुद्धिका विनोद है ॥ २२ ॥

चिदेवात्मा जगन्मिथ्येत्यत्र पर्यवसाकृतः ॥
निदिध्यासनविक्षेपो नेतिहासादिभिर्भवेत् ॥ २३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि कथा आदिसेभी ब्रह्ममें एकपरताका विघात–हो जायगा सो ठीक नही क्योंकि इतिहास आदिकोंका आत्मा चिद्रूप ही है देह आदि-रूप नही–और जगत् मिथ्या है– इसमें ही पर्यवसान (समाप्ति) होनेसे–निदिध्यासन-ताका विक्षेप (नाश) इतिहास आदिकोंसे नही होता ॥ २३ ॥

कृषिवाणिज्यसेवादौ काव्यतर्कादिकेषु च ॥
विक्षिप्यते प्रवृत्त्या धीस्तैस्तत्त्वस्मृत्यसंभवात् ॥ २४ ॥
अनुसंदधतैवात्र भोजनादौ प्रवर्तितुम् ॥
शक्यतेऽत्यंतविक्षेपाभावादाशु पुनः स्मृतेः ॥ २५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि मुमुक्षुको इतिहास आदिका स्वीकार करोगे तो कृषि आदिकेभी स्वीकारकाभी प्रसंग हो जायगा–सो ठीक नही कि कृषि (व्यापार)सेवा और काव्य, तर्क, आदिकोंमें प्रवृत्तिसे बुद्धिका विक्षेप होता है–क्योंकि उनसे तत्वका स्मरण नही होता–कदाचित् कहो कि तत्वस्मृतिके विघातक त्यागने योग्य हैं तो

ज्ञानीको भोजन आदिभी त्यागने योग्य हो जांयगे सो ठीक नही–कि भोजन आदिमें ब्रह्मविचारका अनुसंधान करताहुआ मनुष्य भोजन आदिमें प्रवृत्तिको अत्यंत विक्षेपके अभावसे कर सक्ता है–क्योंकि भोजनके अनंतर फिर शीघ्र ही ब्रह्मका स्मरण होनेसे सर्वथा विक्षेपका अभाव है ॥ २४ ॥ २५ ॥

तत्त्वविस्मृतिमात्रान्नानर्थः किंतु विपर्ययात् ॥
विपर्येतुं न कालोऽस्ति झटिति स्मरतः क्वचित्॥ २६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि उस समय विक्षेपके अभाव होने पर भी–तत्वका विस्मरण होनेपर मोक्षहानि हो जायगी सो ठीक नही कि केवल तत्वके विस्मरणसे अनर्थ नही होता किन्तु विपरीतज्ञानसे होता है और शीघ्र स्मरण करते हुए मनुष्यको विपरीतज्ञान होनेका समय नही मिलता है ॥ २६ ॥

तत्त्वस्मृतेरवसरो नास्त्यन्याभ्यासशालिनः ॥
प्रत्युताभ्यासघातित्वाद्बलात्तत्त्वमुपेक्ष्यते ॥ २७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि भोजन आदिमें प्रवृत्त मनुष्यके समान तर्क आदिके अभ्यासमें प्रवृत्त मनुष्यकोभी–तत्वका स्मरण क्यों न हो जाय सो ठीक नही कि–तर्क आदि अन्य ग्रंथोंके अभ्यासकर्ता मनुष्यको–तत्वके स्मरणका अवसर ही नहीं मिलता–प्रत्युत काव्य तर्क आदिका अभ्यास तत्वाभ्यासका विरोधी है–इससे स्मरण किये तत्वकीभी बलसे उपेक्षा हो जाती है ॥ २७ ॥

तमेवैकं विजानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ॥
इति श्रुतं तथाऽन्यत्र वाचो विग्लापनं त्विति ॥ २८ ॥

भाषार्थ–अब–स्मरणके विरोधी वाक्व्यवहारके त्यागमें प्रमाण–श्रुतिके अर्थको पढते हैं उसी एक आत्माको जानों और अन्यवाणीयोंको छोड दो–क्योंकि वह आत्मा अमृतका सेतु है–यह वेदमें सुना है और तैसे ही अन्य श्रुतिमें कहा है कि बहुत शब्दोंका स्मरण न करै क्योंकि वह वाणीका परिश्रम है ॥ २८ ॥

आहारादि त्यजन्नैव जीवेच्छास्त्रांतरं त्यजन् ॥
किं न जीवसि येनैवं करोष्यत्र दुराग्रहम् ॥ २९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि तत्वके स्मरणसे भिन्न भोजन आदिको जैसे नही त्यागते ऐसे ही अन्य शास्त्रोंके अभ्यासको भी न त्यागो–सो ठीक नही भोजन आदिको त्यागता हुआ मनुष्य नही जीता अर्थात् मर जाता है–क्या अन्य शास्त्रोंको त्यागता

हुआ तू न जीवैगा जिससे अन्य शास्त्रोंके अभ्यासमें ऐसा दुराग्रह (हठ) करता है ॥ २९ ॥

जनकादेः कथं राज्यमिति चेद्दृढबोधतः ॥
तथा तवापि चेत्तर्कं पठ यद्वा कृषिं कुरु ॥ ३० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि तत्वके ज्ञानीभी जनक आदिकोंने किस प्रकार राज्य किया ऐसा कहोगे तो उसका उत्तर यह है कि दृढ अपरोक्ष आत्मज्ञान से किया यदि वैसाही अपरोक्षज्ञान आपको है तो तर्कशास्त्रको पढ वा कृषिको कर– अर्थात् जनक आदिके समान तर्कका पढना और कृषिका करना तेरेभी तत्वज्ञानके बाधक न होंगे ॥ ३० ॥

मिथ्यात्ववासनादार्ढ्ये प्रारब्धक्षयकांक्षया ॥
अक्लिश्यंतः प्रवर्तंते स्वस्वकर्मानुसारतः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ–संसारको असार जानते हुयेभी जनक आदि क्यों संसारमें प्रवृत्त होते हैं इस शंकाका उत्तर कहते हैं कि मिथ्या वासनाकी दृढता होने परभी–अवश्य होनेवाला है फल जिसका ऐसे प्रारब्धकर्मके भोगद्वारा क्षयकी इच्छासे क्लेशको प्राप्त न होते हुये–अपने २ कर्मके अनुसार जनक आदि संसारमें प्रवृत्त होते हैं॥ ३१

अतिप्रसंगो मा शंक्यः स्वकर्मवशवर्तिनाम् ॥
अस्तु वा केन शक्येत कर्म वारयितुं वद ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् अनाचारमेंभी प्रवृत्ति हो जायगी सो ठीक नहीं अपने कर्मके वशमें मनुष्य वर्तते हैं इससे अतिप्रसंग (शंका) न करना चाहिये और वा उसी प्रारब्धकर्मके बलसे अतिप्रसंग भी रहो क्योंकि कर्मका निवारण कोन कर सकता है यह तुम कहो ॥ ३२ ॥

ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्चात्र समे प्रारब्धकर्मणी ॥
न क्लेशो ज्ञानिनो धैर्यान्मूढः क्लिश्यत्यधैर्यतः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–अब ज्ञानी और अज्ञानीकी विलक्षणताको कहते हैं कि ज्ञानी और अज्ञानीके इस संसारमें प्रारब्धकर्म यद्यपि समान हैं परंतु धीरतासे ज्ञानीको क्लेश नहीं होता और मूढमनुष्य अज्ञानसे क्लेश भोगता है ॥ ३३ ॥

मार्गे गंत्रोर्द्वयोः श्रांतौ स मायामप्यदूरताम् ॥
जानन् धैर्याद् द्रुतं गच्छेदन्यस्तिष्ठति दीनधीः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–उसमें दृष्टांत कहते हैं कि मार्गमें चलते दो मनुष्योंकी श्रांति (थकना) यद्यपि समान है तथापि जो मनुष्य अदूरता (समीपता) को जानता है वह तो धीरतासे शीघ्र चलता है और अन्य (समीपताका अज्ञानी) दीन बुद्धि वहांही बैठा रहता है ३४ ॥

साक्षात्कृतात्मधीः सम्यगविपर्ययबाधितः ॥
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार वर्णन किये आत्मानंचेत्, इस श्रुतिके पूर्वार्धका अनुवाद करते हुये फलके बोधक उत्तरार्धका सूचन करते हैं कि भली प्रकार किया है आत्माका साक्षात्कार जिसकी बुद्धिने ऐसा मुमुक्षु–विपर्ययसे अर्थात् देहमें आत्मबुद्धिसे बाधित नही होता इससे वह किस विषयकी इच्छा करता हुआ किस कामनाके लिये अपना शरीरको पीडा दे अर्थात् उसकी संपूर्ण कामना पूर्ण हो जाती हैं ॥ ३५ ॥

जगन्मिथ्यात्वधीभावादाक्षिप्तौ काम्यकामुकौ ॥
तयोरभावे संतापः शाम्येन्निःस्नेहदीपवत् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–अब इसी मंत्रके अर्थका तात्पर्य कहते हैं कि जगत् मिथ्या है इस बुद्धिसे जब कामनाके योग्य विषय और कामुकपुरुष इन दोनोंका निराकरण कर दिया तब उन काम्यकामुक दोनोंके अभावमें कामनाओंसे पैदा हुआ संताप–करणके अभावसे तैलरहित दीपकके समान शांत हो जाता है अर्थात् कामनाओंकी हृद-यमें उत्पत्ति नही होती ॥ ३६ ॥

गंधर्वपत्तने किंचिन्नैंद्रजालिकनिर्मितम् ॥
जानन् कामयते किंतु जिहासति हसन्निदम् ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–अब काम्यके अभावसे कामनाके अभावका स्थल कहते हैं कि मायासे रचे गंधर्वनगरमें यह इंद्रजालके ज्ञाताका निर्मित (रचा) है यह जानता हुआ मनुष्य–कामना नही करता–प्रत्युत हंसता हुआ उसका त्याग करना चाहता है॥ ३७॥

आपातरमणीयेषु भोगेष्वेवं विचारवान् ॥
नानुरज्यति किंत्वेतान् दोषदृष्ट्या जिहासति ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त दृष्टांतको दार्ष्टांतिकमें घटाते हैं कि इसी प्रकार प्रतीतिमात्रसे रमणीय भोगोंमें विचारवान् मनुष्य-अनुरागी नही होता किंतु बंधन आदि दोषों-के देखनेसे उनके त्यागको चाहता है ॥ ३८ ॥

अर्थानामर्जने क्लेशस्तथैव परिपालने ॥
नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् क्लेशकारिणः ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–अब उन्ही विषयोंको दिखाते हैं कि धन आदि अर्थोंके संचयमें जैसा क्लेश है तैसे ही उनकी रक्षामें क्लेश है और नाश (न मिलना) में दुःख है और व्यय (खर्च) में दुःख है-इससे क्लेशकेकारी अर्थोंको धिक्कार है ॥ ३९ ॥

मांसपांचालिकायास्तु यंत्रलोलेऽगपंजरे ॥
स्नाय्वस्थिग्रंथिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥ ४० ॥

भाषार्थ–इस प्रकार विषयोंको दुःखहेतु दिखाकर कहीं २ विषयकी अशोभनता-को दो श्लोकोंसे दिखाते हैं कि स्नायु (शिरा नाडी) और अस्थि और स्तन नितंब आदि मांसकी ग्रंथि ये सब हैं जिसमें ऐसी मासकी पुतली (स्त्री) का जो यंत्रके समान चंचल शरीर अंगोंका पंजर (नीड) है उसमें शोभनता क्या है अर्थात् सर्वथा मलीन है ॥ ४० ॥

एवमादिषु शास्त्रेषु दोषाः सम्यक् प्रपंचिताः ॥
विमृशन्ननिशं तानि कथं दुःखेषु मज्जति ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–आदि शब्दसे त्वचा मांस रुधिर बाष्प जल आदिको पृथक् करके देखो क्या रमणीय वस्तु है अर्थात् कुछ नही तो क्यों वृथा मोहको प्राप्त होता है, ये दोष लेने इस प्रकार बहुतसे शास्त्रोंसें विस्तारसे भली प्रकार दोषवर्णन किये हैं उन दोषोंको रात दिन विचारता हुआ तू किस प्रकार दुःखोमें डूबता है अर्थात् तेरा डूबना अयोग्य है ॥ ४१ ॥

क्षुधया पीडयमानोऽपि न विषं ह्यत्तुमिच्छति ॥
मिष्टान्नध्वस्ततृट् जानन्नामूढस्तज्जिघत्सति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–अब विषयके दोष देखने पर भोगकी इच्छाके अभावमें युक्ति सहित दृष्टांतको कहते हैं कि स्वयं अमूढ (विवेकी) और मिष्टान्नको भक्षणसे नष्ट होगयी है तृष्णा जिसकी और यह विष है ऐसे जानता हुआ मनुष्य विषके भोजनकी इच्छा ऐसे नही करता–जैसे क्षुधासे पीडितभी मनुष्य विषका भक्षण नही चाहता है॥४२॥

प्रारब्धकर्मप्रावल्याद्भोगेष्विच्छा भवेद्यदि ॥
क्लिश्यन्नेव तदाप्येष भुंक्ते विष्टिगृहीतवत् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ज्ञानीकोभी प्रारब्ध कर्मकी प्रबलतासे भोगमें इच्छा होती है सो ठीक है यदि ज्ञानीकी भोगोंमें इच्छा होयभी तोभी यह ज्ञानी क्लेश पाता हुआ ही इस प्रकार भोजन आदिको करता है जैसे विष्टि (बेगार) से पकडा हुआ मनुष्य करता है ॥ ४३ ॥

भुंजाना वा अपि बुधाः श्रद्धावंतः कुटुंबिनः ॥
नाद्यापि कर्म नश्छिन्नमिति क्लिश्यंति संततम् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–क्लेशको ही दिखाते हैं कि भोजन करते हुयेभी ज्ञानी श्रद्धावाले कुटुंबी मनुष्य इस प्रकार निरंतर क्लेशको प्राप्त होते है कि अबतकभी हमारा प्रारब्धकर्म क्षीण न हुआ ॥ ४४ ॥

नायं क्लेशोऽत्र संसारतापः किंतु विरक्तता ॥
भ्रांतिज्ञाननिदानो हि तापः सांसारिकः स्मृतः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि तत्त्वके वेत्ताओंकोभी संसारका ताप मानोंगे तो ज्ञान होना ही व्यर्थ हो जायगा सो ठीक नही कि आजतकभी हमारा कर्म नष्ट न हुआ यह पश्चात्तापरूप संसारका ताप नही होता किंतु यह संसारमें विरक्तता है क्योंकि संसारका ताप तो भ्रांतिज्ञानका निदान (हेतु) पूर्वाचार्योंने कहा है और यह ज्ञान विवेकज्ञानका मूल होनेसे भ्रांतिज्ञानका हेतु नही है–भावार्थ– यह है–कि यह पूर्वोक्त ज्ञानीका क्लेश संसारताप नही किंतु यह विरक्तता है क्योंकि भ्रमज्ञानके हेतुको ही सांसारिक ताप आचार्योंने कहा है ॥ ४५ ॥

विवेकेन परिक्लिश्यन्नल्पभोगेन तृप्यति ॥
अन्यथाऽनंतभोगेऽपि नैव तृप्यति कर्हिचित् ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त क्लेशको विवेकका मूल दिखाते हैं कि विवेकसे क्लेशको प्राप्त हुआ मनुष्य अल्प भोगसे ही तृप्त हो जाता है और अन्यथा तो अनंतभोगोंके मिलनेपरभी कदाचित् ज्ञान नही होता ॥ ४६ ॥

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ॥
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–यदि विवेकी और अविवेकीकी तृप्ति भोगसे ही होती है तो विवेकका क्या फल है इस शंकाको करके भोगसे तृप्तिके अभावको श्रुतिके द्वारा दिखाते हैं

कि विषयोंके भोगनेसे कदाचित् भी इच्छा शांत नही होती किंतु घृत आदि हवि-से, अग्निके समान, भूयः (फिर) बढती है ॥ ४७ ॥

परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ॥
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–अब विवेक मूल भोग, तृप्तिका हेतु है इसमें अनुभव प्रमाण देते हैं कि जानकर किया भोग अर्थात् यह इतना है और इतने श्रमसे होगा इस प्रकार विचारसे किया संतोषको करता है-कदाचित् कहो कि तृष्णाका हेतु भोग विवेकके सहचारसे कैसे संतोषका जनक है सो ठीक नही की जैसे यह चोर है इस प्रकार जानकर की है सेवा जिसकी ऐसा चोर मित्र हो जाता है चोर नही होता इसी प्रकार विवेक-रूप सहचारीकी महिमासे भोगमें संतोषको करता है तृष्णाको नही क्योंकि संग-की महिमासे विपरीत कार्यकी भी हेतुता चोरमें देखते हैं- भावार्थ–यह है कि जा-न कर कियाभोग संतोषको इस प्रकार पैदा करता है जैसे जान कर सेवितचोर मित्र-ताको पैदा करता है चोरताको नही अर्थात् अपनी चोरी नही करता ॥ ४८ ॥

मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ॥
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि कामनाओंमें स्वरस (आधीन वा लगे) मनकी अल्पभोगसे कैसे तृप्ति होगी सो ठीक नही कि निदिध्यासनसे निगृहीत (वशीभूत) अर्थात् योगाभ्याससे स्वाधीन किये मनका अत्यंत अल्पभी लीलाभोग है, नहीं हुआ है विस्तार जिसका ऐसे उस अल्पभोगको क्लेशदायी होनेसे बहुत मानता है अर्थात् अधिक समझता है ॥ ४९ ॥

बद्धमुक्तो महीपालो ग्राममात्रेण तुष्यति ॥
परैर्न बद्धो नाक्रांतो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥ ५० ॥

भाषार्थ–अब वशीभूत मनकी स्वल्पभोगसे तृप्तिमें दृष्टांत देते हैं कि बंधन (कैद) से छूटा महीपाल (राजा) एकग्रामसे ही संतुष्ट हो जाता है यदि शत्रुओंसे बंधा न हो और न आक्रांत (दबाया) होय तो राष्ट्र (देश) कोभी बहुत नही मानता ॥ ५० ॥

विवेके जाग्रति सति दोषदर्शनलक्षणे ॥
कथमारब्धकर्मापि भोगेच्छां जनयिष्यति ॥ ५१ ॥

भाषार्थ–अब यह शंका करते हैं कि इच्छाके नाशक विवेकज्ञानके होने पर

प्रारब्धकर्मसे इच्छा न होगी कि दोषोंको दिखानेहारे विवेकज्ञानके जागते हुये प्रारब्धकर्मभी किस प्रकार भोगोंको इच्छाको पैदा करेगा अर्थात् न करेगा ॥५१॥

नैष दोषो यतोऽनेकविधं प्रारब्धमीक्ष्यते ॥
इच्छाऽनिच्छा परेच्छा च प्रारब्धं त्रिविधं स्मृतम् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–अब दोषोंके देखनेपरभी इच्छाका जन्म प्रारब्धकर्मके भेदसे दिखाते हैं कि यह तुह्मारा दिया पूर्वोक्त दोष नही क्योंकि प्रारब्धकर्म अनेक प्रकारका देखते हैं कि एक इच्छाका जनक दूसरा बिना इच्छाके भोगका दाता–और तीसरा पराई इच्छासे भोगका दाता इस प्रकार प्रारब्ध तीन प्रकारका कहा है ॥ ५२ ॥

अपथ्यसेविनश्चोरा राजदाररता अपि ॥
जानंत एव स्वानर्थमिच्छंत्यारब्धकर्मतः ॥ ५३ ॥

भाषार्थ–अब इच्छाके जनक प्रारब्धको दिखाते हैं कि अपथ्यके सेवन करनेवाले रोगी और चोर और राजाओंकी स्त्रियोंमें रत–ये तीनों अपने अनर्थको जानकरभी प्रारब्धकर्मसे–अपथ्य भोजन–चोरी–राजदाराओंका रमण–करते हैं ॥ ५३ ॥

न चात्रैतद्वारयितुमीश्वरेणापि शक्यते ॥
यत ईश्वर एवाह गीतायामर्जुनं प्रति ॥ ५४ ॥

भाषार्थ–अब अपथ्यसेवा आदिकी इच्छाको प्रारब्धका ही फल दिखाते हैं कि इस जगत्में ईश्वरभी उनकी अपथ्यसेवा आदिको निवारण नही कर सकता निवारण न होनेसे ही प्रतीत है कि प्रारब्धका फल हैं क्योंकि ईश्वर (श्रीकृष्णचंद्र)ने हीं गीताके विषै अर्जुनके प्रति कहा है ॥ ५४ ॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ॥
प्रकृतिं यांति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ ५५ ॥

भाषार्थ–अब उसी गीताके वाक्यको पढते हैं कि विवेकज्ञानीभी पुरुष–अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है (पूर्व जन्ममें संचित जो धर्म अधर्मका संस्कार जो वर्तमान जन्ममें प्रकट होता है उसे प्रकृति कहते हैं) मूर्खकी तो क्या गणना है तिससे संपूर्ण भूत प्रकृतिके अनुसार चलते हैं प्रवृत्ति और निवृत्तिका निरोधरूप निग्रह–क्या करेगा अर्थात् कुछ न करेगा ॥ ५५ ॥

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ॥
तदा दुःखैर्न लिप्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः ॥ ५६ ॥

भाषार्थ-अब तीव्र (बली) प्रारब्धके अनिवारणमें वचनांतरकी संमतिको कहते हैं कि अवश्य होनेवाले जो दुःख आदि भाव हैं उनका यदि प्रतीकार (न होना) होता तो नल रामचंद्र और युधिष्ठिर ये समर्थ राजा दुःखोंसे लिपायमान न होते अर्थात् दुःखोंका प्रतीकार करके सुखोंको ही भोगते ॥ ५६ ॥

न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः ॥
अवश्यंभाविताऽप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता ॥ ५७ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि प्रारब्धको निवारणके अयोग्य मानोगे तो उसके परिहारमें असमर्थ ईश्वर भी अनीश्वर हो जायगा सो ठीक नही-कि प्रारब्धके अनिवारण करनेमें ईश्वरकी ईश्वरतामें हानि नही होती-क्योंकि यह प्रारब्धकर्मका फल दुःख आदिका अवश्य होना ही ईश्वरनेही रचा है ॥ ५७ ॥

प्रश्नोत्तराभ्यामेवैतद्गम्यतेऽर्जुनकृष्णयोः ॥
अनिच्छापूर्वकं चास्ति प्रारब्धमिति तच्छृणु ॥ ५८ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार विस्तारसे इच्छा प्रारब्धको कहकर-अनिच्छा प्रारब्ध कहनेका प्रारंभ करते हैं कि यह अर्जुन और श्रीकृष्णके प्रश्न और उत्तरसेभी जाना जाता है कि अनिच्छा पूर्वकभी प्रारब्ध है-हे शिष्य उसको तू सुन ॥ ५८ ॥

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ॥
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥ ५९ ॥

भाषार्थ-प्रथम अर्जुनके प्रश्नको दिखाते हैं कि हे वार्ष्णेय अर्थात् वृष्णिकुलमें उत्पन्न श्रीकृष्णचंद्रजी महाराज नही इच्छा करता हुआ और बलसे नियुक्तके समान किसकी प्रेरणासे यह पुरुष पापको करता है ॥ ५९ ॥

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ॥
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ॥ ६० ॥

भाषार्थ-अब श्रीकृष्णचंद्रके उत्तरकों कहते हैं कि रजोगुणसे है उत्पत्ति जिसकी ऐसा यह जगत्में प्रसिद्ध काम-और क्रोध-जो महासन है अर्थात् जिसके विषयोंका समूह महान् है और जो महान् पापका हेतु है-इस कामक्रोधरूपी-पुरुषके प्रवर्तकको तू इस संसारमें वैरी जान-अर्थात् प्रारब्धकर्मके आधीन-बढे हुए रजोगुणके कार्य जो काम क्रोध हैं उनमेंसे कोईसा एक प्रवर्तक है ॥ ६० ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ॥
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—काम क्रोधको ही पुरुष प्रवृत्तिका जनक देखते हैं अनिच्छा प्रारब्ध नही यह शंका करके अनिच्छा प्रारब्धको ही प्रवृत्तिका बोधक जो बचन उसको पढते हैं—हे कौन्तेय (कुन्तीके पुत्र) अर्जुन, अपने स्वाभाविक प्रारब्धसे बंधा हुआ तू जिस युद्ध आदि कर्मको नही किया चाहता उसकोभी अविवेकरूप मोहसे परवश हुआ करेगा इससे यह मानने योग्य है कि अनिच्छा प्रारब्ध है ॥ ६१ ॥

नानिच्छंतो नचेच्छंतः परदाक्षिण्यसंयुताः ॥
सुखदुःखे भजंत्येतत्परेच्छापूर्वकर्म हि ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—अब परेच्छा प्रारब्धको दिखाते हैं कि पराई दाक्षिण्य (सेवा आदि) युक्त मनुष्य न अनिच्छासे और न इच्छासे सुख दुःख भोगते हैं किन्तु स्वामीकी प्रीतिके अर्थ ही सुखदुःखको पाते हैं इससे सुख आदि भोगका हेतुरूप प्रारब्ध पर इच्छा-पूर्वक प्रसिद्ध है—इसीसे दोषोंके देखनेपरभी प्रारब्ध, निवारणके अयोग्य है—इसीसे वह इच्छाका जनक है इसका निवारण कोई नही कर सक्ता ॥ ६२ ॥

कथं तर्हि किमिच्छन्नित्येवमिच्छा निषिध्यते ॥
नेच्छानिषेधः किंत्विच्छाबाधो भर्जितबीजवत् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—अब तत्वज्ञानीकोभी इच्छाका स्वीकार करोगे तो 'किम् इच्छन्' इस श्रुतिके विरोधकी शंका करते हैं कि ज्ञानीकोभी इच्छा होती है तो किस विषयकी इच्छा करता हुआ अपने शरीरको दुःख दे—इस श्रुतिसे इच्छाका निषेध कैसे किया इसका उत्तर यह है कि पूर्वोक्त श्रुतिमें ज्ञानीको इच्छाका अभाव नही कहा किन्तु भर्जित (भुना हुआ) बीजके समान स्वरूपसे वर्तमानभी इच्छाका बाध (असामर्थ्य) कहा है ॥ ६३ ॥

भर्जितानि तु बीजानि संत्यकार्यकराणि च ॥
विद्वदिच्छा तथेष्टव्याऽसत्त्वबोधान्न कार्यकृत् ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—संक्षेपसे कहे पूर्वोक्त अर्थका विस्तारसे वर्णन करते हैं—कि जैसे भर्जित-बीज स्वयं अपने शरीरसे विद्यमान हुए अंकुर आदि कार्योंको नही कर सक्ते इसी प्रकार विद्वान् (ज्ञानी)की इच्छाभी असत्वके बोधसे स्वयं विद्यमान हुईभी इच्छाके विषै पदार्थोंके मिथ्याज्ञानसे बाधित हुई दुःख आदि कार्य करनेमें असमर्थ जाननी ॥ ६४ ॥

दग्धबीजमरोहेऽपि भक्षणायोपयुज्यते ॥
विद्वदिच्छाऽप्यल्पभोगं कुर्यान्न व्यसनं बहु ॥ ६५ ॥

भाषार्थ– कदाचित् कहो कि फलके अभावसे ज्ञानीकी इच्छाही नही माननी चाहिए–यह आशंका करके भोगरूपफलके होनेसे फलके अभावकी असिद्धि और दृष्टांतको कहते हैं कि जैसे भुनाहुआ बीज न जमनेपरभी भक्षणका उपयोगी होता है–इसी प्रकार विद्वान्की इच्छाभी अल्पभोगको करती है विपत्ति आदि अधिक व्यसनको नही करती ॥ ६५ ॥

भोगेन चरितार्थत्वात्प्रारब्धं कर्म हीयते ॥
भोक्तव्यसत्यता भ्रांत्या व्यसनं तत्र जायते ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि कर्म ही भोगके द्वारा व्यसनकोभी उत्पन्न कर देगा सो ठीक नही कि भोगमात्रको पैदा करके प्रारब्धकर्म तो नष्ट होजाता है और उस भोगमें सत्यताके भ्रमसे व्यसन होता है ॥ ६६ ॥

मा विनश्यत्वयं भोगो वर्धतामुत्तरोत्तरम् ॥
मा विघ्नाः प्रतिबध्नंतु धन्योऽस्म्यस्मादिति भ्रमः ॥ ६७ ॥

भाषार्थ–अब दुःखके हेतु व्यसनको दिखाते हैं कि यह भोग नष्ट मत हो किंतु उत्तरोत्तर बढो और विघ्न इसका तिरस्कार मत करो–इस भोगसेही मैं धन्य हूं अर्थात् कृतार्थ हूं इस प्रकारका भ्रम होता है और उस भ्रमसे व्यसन (दुःख) होता है ॥ ६७ ॥

यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ॥
इति चिंताविषघ्नोऽयं बोधो भ्रमनिवर्तकः ॥ ६८ ॥

भाषार्थ–प्रसंगसे उक्त भ्रमके परिहारका उपाय कहते हैं कि जो होनेके अयोग्य है वह कदाचित् नही होता और जो होने योग्य है वह अन्यथा (न हो) नही होता इस प्रकारका जो बोध है वह उस चितारूप विषका नाशक है कि यह कल्याण मेरे यहां कब होगा और यह अनिष्ट कब निवृत्त होगा–और पूर्वोक्त भ्रमकाभी निवर्तक है॥ ६८ ॥

समेऽपि भोगे व्यसनं भ्रांतो गच्छेन्न बुद्धवान् ॥
अशक्यार्थस्य संकल्पाद्भ्रांतस्य व्यसनं बहु ॥ ६९ ॥

भाषार्थ-अब विद्वान् और अविद्वान्के भोगी होनेमें तुल्यता होनेपरभी दुःखके होने और दुःखके न होनेमें हेतुको कहते हैं कि भोगकी समानता होनेपरभी भ्रांत मनुष्य तो दुःखको प्राप्त होता है और बुद्धिमान् मनुष्य दुःखको प्राप्त नही होता क्योंकि अशक्य (करनेको अयोग्य) पदार्थके संकल्पसे भ्रांत मनुष्यको अतीव दुःख होता है इससे भ्रांति ही दुःखका हेतु है-वह ज्ञानीको नही होती ॥ ६९ ॥

मायामयत्वं भोगस्य बुद्ध्वाऽऽस्थामुपसंहरन् ॥
भुंजानोऽपि न संकल्पं कुरुते व्यसनं कुतः ॥ ७० ॥

भाषार्थ-अब विवेकीको दुःखका अभाव दिखाते हैं कि ज्ञानी पुरुष भोगको मायामयी समझकर और उसकी आस्था (अवधि)का उपसंहार (समाप्ति) करता हुआ भोगको भोगता हुआभी संकल्प नही करता इससे उसको दुःख किस प्रकार हो सकता है अर्थात् नही हो सकता ॥ ७० ॥

स्वप्नेन्द्रजालसदृशमचिंत्यरचनात्मकम् ॥
दृष्टनष्टं जगत्पश्यन् कथं तत्रानुरज्यति ॥ ७१ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि भोगके मायामय होनेपरभी तत्काल सुखदायी होनेसे स्थितिका उपसंहार कैसे होगा-सो ठीक नही कि स्वप्न इंद्रजाल इनकी तुल्य और अचिंत्य (जो बुद्धिमें न आवे) रचनारूप और दीखताही नाशमान-जो जगत्, उसको देखता हुआ ज्ञानी कैसे जगत्में अनुराग (प्रीति)को करेगा अर्थात् न करेगा ॥ ७१ ॥

स्वस्वप्नमापरोक्ष्येण दृष्ट्वा पश्यन् स्वजागरम् ॥
चिंतयेदप्रमत्तः सन्नुभावनुदिनं मुहुः ॥ ७२ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि यदि जगत्में स्वप्न इंद्रजालकी तुल्यता होयतो आसक्तिभी न हो इंद्रजाल तुल्य जगत् कैसे हो सकता है यह शंका करके उसके जन्मका उपाय दो श्लोकोंसे कहते हैं कि अपने स्वप्नको प्रत्यक्ष देखकर अपने जागरणको देखता हुआ अप्रमत्त मनुष्य प्रतिदिन वारंवार यह चिंता करता है कि यह जागरण स्वप्नके तुल्य है ॥ ७२ ॥

चिरं तयोः सर्वसाम्यमनुसंधाय जागरे ॥
सत्यत्वबुद्धिं संत्यज्य नानुरज्यति पूर्ववत् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार चिरकालतक उन दोनों स्वप्न और जागरणकी सब प्रकार-

से तुल्यताको स्मरणकरके अर्थात् तत्काल भोगके हेतु, परिणाम, विरस, विनाशी, होनेसे दोनों समान हैं यह जानकर जाग्रत् अवस्थामें सत्यत्व बुद्धिको त्याग-कर–पूर्वके समान उसमें अनुरागको प्राप्त नही होता अर्थात् आसक्तिको छोडकर उदासीन होकर संसारके संपूर्ण भोगोंको भोगता है ॥ ७३ ॥

इंद्रजालमिदं द्वैतमचिंत्यरचनात्वतः ॥
इत्याविस्मरतो हानिः का वा प्रारब्धभोगतः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि इस प्रकार प्रपंचके मिथ्याज्ञानका, और विषयोंकी सत्यतासे होनेवाले भोगका, परस्पर विरोध है इससे मिथ्या समझकर भोग कैसे होगा इस शंकाको इस प्रकार दूरकरते हैं कि भोगमें विषयके सत्य होनेकी अपेक्षाके अभावको दिखाते हैं कि यह द्वैत (भोगने योग्य पदार्थोंका समूह) इंद्रजाल है अर्थात् इंद्रजालके समान मिथ्या है क्योंकि जगत्की रचना चिंताके अयोग्य है इस युक्तिसे अनुसंधान करके बुद्धिमान् (ज्ञानी) प्रारब्धकर्मसे मिले भोगसे मिथ्या ज्ञानकी और मिथ्याज्ञानसे प्रारब्धभोगकी क्या हानी है अर्थात् कुछ नही–भावार्थ यह है कि अचिंत्यरचनारूप होनेसे यह जगत् इंद्रजाल है इसका स्मरण करते हुये ज्ञानीको प्रारब्धभोगसे कोन हानि है अर्थात् कुछ नही है ॥ ७४ ॥

निर्बंधस्तत्त्वविद्याया इंद्रजालत्वसंस्मृतौ ॥
प्रारब्धस्याग्रहो भोगे जीवस्य सुखदुःखयोः ॥ ७५ ॥

भाषार्थ–अब दोनोंके विषयोंका भेद दिखाते हैं कि जगत्के तत्वका जो विद्या-रूप ज्ञान है उसका इंद्रजालके समान जगत्को मिथ्या समझनेमें निर्बंध (तात्पर्य) है कुछ भोगके दूरकरनेमें नही– प्रारब्धका, जीवको सुखदुःखदेनेमें आग्रह है कुछ भोगकी सत्यतामें नही ॥ ७५ ॥

विद्यारब्धे विरुध्येते न भिन्नविषयत्वतः ॥
जानद्भिरप्यैन्द्रजालविनोदो दृश्यते खलु ॥ ७६ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार भिन्न विषयको दिखाकर अनुमानको कहते हैं कि विद्या और प्रारब्धकर्मका–परस्पर विरोध नही है– भिन्न २ विषय होनेसे–रूपरस आदि-के ज्ञानकी तुल्य–अर्थात् भिन्न विषय होनेसे ज्ञान प्रारब्धकर्मका परस्पर विरोध नही है–अब भोग्यपदार्थको मिथ्या समझना भोगमें बाधक नही होता इसमें दृष्टांत कहते हैं कि मिथ्या जानते हुये भी 'मनुष्य इंद्रजालके' विनोद (चमत्कार)को निश्च-यसे देखते हैं यह बात जगतमें प्रसिद्ध है ॥ ७६ ॥

जगत्सत्यत्वमापाद्य प्रारब्धं भोजयेद्यदि ॥
सदा विरोधि विद्याया भोगमात्रान्न सत्यता ॥ ७७ ॥

भाषार्थ–जो विद्या और प्रारब्धकर्मका विरोध कहता है वह यह पूछने योग्य है कि प्रारब्धकर्म विद्याका विरोधी है वा विद्या प्रारब्धकर्मकी विरोधिनी है–उनमें प्रथम तो ठीक नही इसका वर्णन करते हैं कि 'यदि प्रारब्धकर्म जगत्की सत्यताको संपादन करके जीवको सुख दुःखदे तो विद्याका विषय जो मिथ्यात्व उसके नष्ट होनेसे विद्याका विरोधी होजाता, और ऐसा है नही–किंतु भोगको ही प्रारब्धकर्म देता है, इससे विद्याका विरोधी नही है–कदाचित् कहो कि भोगमात्रसे ही विषय सत्य होजायगा सोभी ठीक नही क्योंकि भोगमात्रसे सत्यता नहीं होती है अर्थात् विवादका स्थान जगत्–सत्य है–भोग्य होनेसे–इस अनुमानमें कोई दृष्टांत नही है–भावार्थ यह है कि जगत् सत्य बनाकर यदि प्रारब्धकर्म–सुखदुःख दे तो विद्याका विरोधी हो–ऐसा है नही–और भोगमात्रसे विषय सत्य नही हुआकरता है ॥७७॥

अनूनो जायते भोगः कल्पितैः स्वप्नवस्तुभिः ॥
जाग्रद्वस्तुभिरप्येवमसत्यैर्भोग इष्यताम् ॥ ७८ ॥ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि मिथ्यापदार्थोंसे भोग होता है इसमें भी कोई दृष्टांत नही है इस शंकाको करके कहते हैं कि जैसे कल्पनामात्र स्वप्नकी वस्तुओंसे जैसा अनून (पूर्ण) भोग होता है इसी प्रकार जाग्रत् अवस्थाकी असत्य वस्तु-ओंसे भी भोगको मानों ॥ ७८ ॥

यदि विद्याऽपह्नुवीत जगत्प्रारब्धघातिनी ॥
तदा स्यान्न तु मायात्वबोधेन तदपह्नवः ॥ ७९ ॥

भाषार्थ–विद्या प्रारब्धाविरोधिनी है यहभी नही कह सकते कि यदि विद्या भोग्य समूहरूप जगत्का यह शुक्ति रजत नही इसके समान अपह्नव (बाध) करै अर्थात् प्रतीत हुये जगत्का विलय करै तो प्रारब्धकर्मकी नाशक हो सकती है और ऐसे करती नही किंतु मिथ्या बोधन करताहै कदाचित् कहो कि मिथ्या बोधनसे जगत्का अपह्नव हो जायगा सोभी नही कि मायारूप जतानेसे जगत्का अपह्नव नही होता है क्योंकि इंद्रजाल आदिमें स्वरूपके विलापन (नाश) के विना भी मिथ्यात्वको देखते हैं भावार्थ यह है कि विद्या जगत्का अपह्नव करै तो प्रारब्धको नष्टकर सकती है सो है नही और मायामय बोधनसे जगत्का अपह्नव नही होता है ॥ ७९ ॥

अनपह्नुत्य लोकास्तदिंद्रजालमिदं त्विति ॥
जानंत्येवानपह्नुत्य भोगं मायात्वधीस्तथा ॥ ८० ॥

भाषार्थ–उसकाही विस्तारसे वर्णन करते हैं कि जैसे लौकिक (जन) इस इंद्रजालके स्वरूपका निरासन करके यह जानते हैं कि यह इंद्रजाल है इसी प्रकार भोगके अपह्नवको नकरके माया है यह ज्ञानभी हो जाता है ॥ ८० ॥

यत्र त्वस्य जगत्स्वात्मा पश्येत्कस्तत्र केन किम् ॥
किं जिघ्रेत् किं वदेद्वेति श्रुतौ तु बहु घोषितम् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ–अब दोश्लोकोंसे यह शंका करते हैं कि जिस ज्ञान अवस्थामें इस ज्ञानीको संपूर्ण जगत् आत्मरूपही हो जाता है उस दशामें कोन देखनेवाला किस नेत्र आदि इंद्रियसे किस देखने योग्य जगत्‌को देखै इसी प्रकार किसघ्राणरूप इंद्रियसे किस पुष्प आदिको सूंघे और किस वचनको किस वाक् इंद्रियसे कहै–इस प्रकार इंद्रियोंके व्यापारके अभावके द्योतनके लिये वाशब्द है–इस प्रकार श्रुतिमें बहुतवार कहा है भावार्थ यह है कि जब इस ज्ञानीको सब आत्मरूप होगया तब किससे किसको देखै किससे किसको सूंघे किससे क्या कथन करै इस प्रकार श्रुतिमें बहुत कहा है–यह श्रुतिसे द्रष्टा दर्शन दृश्यरूप जगत्‌के अभावको बोधनकरती है इससे पैदाहुयी विद्या जगत्‌का विलय अवश्य करेगी ऐसा होनेपर विद्वान्‌को भोग कैसे होगा॥८१॥

तेन द्वैतमपह्नुत्य विद्योदेति न चान्यथा ॥
तथा च विदुषो भोगः कथं स्यादिति चेच्छृणु ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–उस पूर्वोक्त श्रुतिके कथनसे द्वैतका अपह्नव करके विद्याका उदय होता है अन्यथा नहीं तिससे विद्वानको भोग कैसे होगा–ऐसी कोई शंका करै तो इसका उत्तर सुनों कि ॥ ८२ ॥

सुषुप्तिविषया मुक्तिविषया वा श्रुतिस्त्विति ॥
उक्तं स्वाप्ययसंपत्योरितिसूत्रे ह्यतिस्फुटम् ॥ ८३ ॥

भाषार्थ–यह पूर्वोक्त श्रुति सुषुप्तिके विषयमें है वा मुक्ति के विषयमें है यह "स्वाप्ययसंपत्योः" इस सूत्रके विषै अत्यंत स्फुट कहा है सूत्रका अर्थ यह है कि स्वाप्यय (अपनाध्वंस) अर्थात् सुषुप्ति और संपत्ति (मुक्ति) अर्थात् ब्रह्मरूप होना इनमें अन्यतर (कोईसा)की अपेक्षा श्रुतिको है अर्थात् दोनों अवस्थामें ही किसको देखना आदि नहीं बन सकता है ॥ ८३ ॥

अन्यथा याज्ञवल्क्यादेराचार्यत्वं न संभवेत् ॥
द्वैतदृष्टावविद्वत्ता द्वैतादृष्टौ न वाग्वदेत् ॥ ॥ ८४ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त श्रुतिको सुषुप्ति और मुक्तिके विषय न माननेमें बाधक (दोष) कहते हैं कि अन्यथा याज्ञवल्क्य आदि आचार्य, न होंगे क्योंकि यदि याज्ञवल्क्य आदिने द्वैतको देखा तो अद्वैतज्ञानके अभावसे अज्ञानी होनेसे आचार्य न होंगे और यदि द्वैतको नही देखा तो बोधनके योग्य शिष्यके न मिलनेसे आचार्य की बाणी शिष्य प्रति बोधनके लिये प्रवृत्त न होगी–इससे ज्ञानकी संप्रदायका भंग होजायगा–इससे पूर्वोक्त श्रुति सुषुप्ति और मुक्तिके विषयमें है यह मानने योग्य है ॥ ८४ ॥

निर्विकल्पसमाधौ तु द्वैतादर्शनहेतुतः ॥
सैवापरोक्षविद्येति चेत्सुषुप्तिस्तथा न किम् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि याज्ञवल्क्य आदि आचार्य अवस्थामें विद्यावान् थे परंतु उनकी अपरोक्षविद्या द्वैतके देखनेसे न थी किंतु निर्विकल्पसमाधिमें द्वैतके न दीखनेरूप हेतुसे थी निर्विकल्पसमाधि ही अपरोक्षविद्या है सो ठीक नही कि द्वैतकी अप्रतीतिसे ही अपरोक्षविद्या मानोंगे तो सुषुप्ति भी अपरोक्ष विद्या हो-जायगी ॥ ८५ ॥

आत्मतत्त्वं न जानाति सुप्तौ यदि तदा त्वया ॥
आत्मधीरेव विद्येति वाच्यं न द्वैतविस्मृतिः ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–अब अतिप्रसंग (दोष) के परिहारकी शंकाकरते हैं कि यदि सुषुप्तिमें द्वतदर्शनके अभाव होने परभी आत्माके ज्ञानका अभाव है इससे वह विद्या नही है तो आपको आत्मबुद्धिको अर्थात् आत्माके विवेकज्ञानको ही विद्या कहना चाहिये द्वैत (जगत्) के विस्मरणको नही ॥ ८६ ॥

उभयं मिलितं विद्या यदि तर्हि घटादयः ॥
अर्धविद्याभाजिनः स्युः सकलद्वैतविस्मृतेः ॥ ८७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि द्वैतके दर्शनका अभाव आत्मज्ञान ये दोनों मिलेहुये विद्या हैं एक २ नही तो द्वैतकी विस्मृतिकोभी विद्याका अंश माननेसे जडरूप घट आदिभी अर्धविद्याके भाजी होजायगे क्योंकि उनको संपूर्ण द्वैतका स्मरण नही है ॥ ८७ ॥

मशकध्वनिमुख्यानां विक्षेपाणां वहुत्वतः ॥
तव विद्या तथा न स्याद्घटादीनां यथा दृढा ॥ ८८ ॥

भाषार्थ–अब इसी पक्षमें समाधिमें स्थित मनुष्योंको आधी विद्याभी न होगी यह बात हंसीसे कहते हैं कि समाधिमेंभी मशक (मच्छर) आदिके बहुतसे शब्द-रूप विक्षेप होते रहते हैं इससे समाधिमें स्थित आपकोभी वैसी विद्या न होगी जैसी घट आदिकोंकी होती है ॥ ८८ ॥

आत्मधीरेव विद्येति यदि तर्हि सुखी भव ॥
दुष्टचित्तं निरुंध्याच्चेन्निरुंद्धि त्वं यथासुखम् ॥ ८९ ॥

भाषार्थ–यदि आत्मज्ञानही विद्या है और द्वैतका विस्मरण विद्या नही है वह हमको भी इष्ट है इससे तू भी उसके माननेसे सुखी हो कदाचित् कहो कि वह आत्म-ज्ञान दुष्टचित्तमें नही हो सकता इससे चित्तवृत्तिका निरोध करना चाहिये सो ठीक है कि तू दुष्टचित्तको रोकता है तो सुखसे रोक ॥ ८९ ॥

तदिष्टमेष्टव्यमायामयत्वस्य समीक्षणात् ॥
इच्छन्नप्यज्ञवन्नेच्छेत्किमिच्छन्निति हि श्रुतम् ॥ ९० ॥

भाषार्थ–वह चित्तका रोकना हमकोभी इष्ट है क्योंकि चित्तके दोषोंके दूर होने-पर अद्वितीय आत्मज्ञानके लिये इष्ट जो जगत्का मायामयरूप वह भली प्रकार दीखता है और इच्छा करता हुआ भी यह अज्ञ (मूर्ख वा जड) के समान इच्छा नही करता इससे श्रुतिमें क्या इच्छा करता हुआ किसकी कामनाके लिये शरीरको दुःख दे यह सुना है ॥ ९० ॥

रागो लिंगमबोधस्य सन्तु रागादयो बुधे ॥
इति शास्त्रद्वयं सार्थमेवं सत्यविरोधतः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार अभिप्रायके वर्णनमें कारण कहते हैं कि चित्तके विषयोंकी भूमियोंमें राग (प्रीति) है वही बोधके अभावका लिंग (चिह्न) है क्योंकि जिस वृक्षके कोटरमें अग्नि है वह हरा कहांसे होगा–यह तो तत्त्ववेत्ताको रागका निषेधक शास्त्र और शास्त्रार्थके समाप्त होनेसे जो ज्ञान उससे ही मुक्ति हो जायगी राग आदि यथेच्छ रहो उनके होनेका निवारण नही करते यह ज्ञानीको ही रागके अंगीकारका बोधक शास्त्र–ये दोनों, रागके निषेधक और बोधक शास्त्र सार्थक होते हैं अर्थात् तत्ववेत्ताको दृढरागके अभावमें दोनों बन सकते हैं क्योंकि कोई परस्पर विरोध

नहीं आता ह भावार्थ-यह है कि अज्ञानका कारण राग है-और ज्ञानीमें राग हो-य तो कुछ चिंता नहीं-ये दोनों शास्त्र अविरोधसे चरितार्थ होते हैं ॥ ९१ ॥

जगन्मिथ्यात्ववत्स्वात्मासंगत्वस्य समीक्षणात् ॥
कस्य कामायेति वचो भोक्त्रभावविवक्षया ॥ ९२ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार किसकी इच्छा करता हुआ इस अंशके अभिप्रायका वर्णन करके-किसकी कामनाके लिये शरीरको दुःख दे इस अंशका अभिप्राय कहते हैं कि जैसे जगत्के मिथ्याज्ञानसे वास्तविक काम्यके अभावकी विवक्षासे किमिच्छन् यह मंत्र कहा है इसी प्रकार आत्माको असंग जानकर वास्तविक (यथार्थ) भोक्ताके अभावकी विवक्षासे कस्यकामाय इस श्रुतिने कहा है ॥ ९२ ॥

पतिजायादिकं सर्वं तत्तद्भोगाय नेच्छति ॥
किंत्वात्मभोगार्थमिति श्रुतावुद्घोषितं बहु ॥ ९३ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि आत्माको भोक्ताका निषेध आसक्ति होनेपर कहना चाहिये और आसक्ति असंग होनेसे आत्मामें है नहीं यह ठीक नहीं कि आत्मामें आसक्ति अनुभव सिद्ध है इस अभिप्रायसे आसक्तिकी बोधक श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि पति और जाया आदिसबकी जो प्राणी इच्छा करता है वह पतिजाया आदिके भोगके लिये नहीं करता किंतु अपने भोगके लिये करता है इस प्रकार इस श्रुतिमें बहुत वर्णन किया है कि अरे पतिकी कामनाके लिये पति प्यारा नहीं होता किंतु अपनी कामनाके लिये सब प्रिय होते हैं इत्यादि ग्रंथ आत्माको भोगका साधन कहते हैं तिससे आत्मा भोक्ता है ॥ ९३ ॥

किं कूटस्थश्चिदाभासोऽथ वा किं वोभयात्मकः ॥
भोक्ता तत्र न कूटस्थोऽसंगत्वाद्भोक्तृतां व्रजेत् ॥ ९४ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार आत्माको भोक्ता दिखाकर उसके निषेधके लिये भोक्तामें विकल्पकी शंका करते हैं कि क्या कूटस्थ भोक्ता है वा चिदाभासरूपजीव है वा दोनों हैं उन तीनोंमें प्रथम कूटस्थ तो भोक्ता असंग होनेसे नहीं हो सकता है ॥ ९४ ॥

...दुःखाभिमानाख्यौ विकारो भोग उच्यते ॥
...श्च विकारी चेत्येतन्न व्याहतं कथम् ॥ ९५ ॥

...त् कहोकि कूटस्थ असंग भोक्ता दोनोंरूप रहो क्या दोष है

...य पतिः प्रियो भवति-आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति-

सो ठीक नहीं क्योंकि सुखदुःखके विकाररूप अभिमानको भोग कहते हैं इससे कूटस्थ है और विकारी है यह वचन किस प्रकार व्याहत (कहनेके अयोग्य) कैसे न होगा अर्थात् अवश्य होगा क्योंकि कूटस्थत्व और विकारित्व ये दोनों धर्म एकमें नही रह सकते ॥ ९५ ॥

विकारिबुद्ध्यधीनत्वादाभासे विकृतावपि ॥
निरधिष्ठानविभ्रांतिः केवला न हि तिष्ठति ॥ ९६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि विकारीरूप चिदाभास भोक्ता रहो सो भी ठीक नही कि चिदाभासभी विकारी बोधके आधीन है अत एव आभासमें विकारके होने परभी आरोप किये (माने हुये) विकारका अधिष्ठानभूत कूटस्थको छोडकर स्वतंत्ररूपसे चिदाभासकी स्थितिका असंभव है इससे केवल चिदाभासभी भोक्ता नही होसकता क्योंकि अधिष्ठानके विना भ्रम कही नही होता है इससे निरपेक्ष दोनोंकोभी भोक्ता नही कह सकते ॥ ९६ ॥

उभयात्मक एवातो लोके भोक्ता निगद्यते ॥
तादृगात्मानमारभ्य कूटस्थः शेषितः श्रुतौ ॥ ९७ ॥

भाषार्थ–तिससे तीसरा पक्ष ही शेष रहता है उसको दिखाते हैं कि एक भोक्ता नही हो सकता इससे कूटस्थरूप अधिष्ठान सहित चिदाभास लोकमें अर्थात् व्यवहारदशामें भोक्ता कहा जाता है परमार्थदृष्टिसे तो उभयरूपभी नही घट सकता है–कदाचित् कहो कि यह पुरुष असंगरूप है इत्यादिमें असंगके और जो यह प्राणियोंमें विज्ञानरूप है इत्यादिमें बुद्धिसाक्षीके सुननेसे भोक्ताके दोनोंरूप पारमार्थिक (सत्य) हैं लोकव्यवहारसे ही सिद्ध नही सो-भी ठीक नही कि पूर्वोक्त श्रुतिका वह अभिप्राय नही इससे उक्त शंकाका निवारण करते हैं कि बुद्धि है उपाधि जिसकी ऐसे आत्मासे लेकर बुद्धि आदिकी कल्पनाका अधिष्ठानरूप जो कूटस्थ उसको ही बुद्धि आदि अनात्माके निषेधद्वारा बृहदारण्यक आदि श्रुतिमें शेष रक्खा है भावार्थ–यह है कि उभयरूप ही भोक्ता इससे जगत्में कहा है क्योंकि उसी आत्मासे प्रारंभ करके श्रुतिमें कूटस्थको ही सत्यरूप होनेसे शेष रक्खा है ॥ ९७ ॥

आत्मा कतम इत्युक्ते याज्ञवल्क्यो विबोधयन् ॥
विज्ञानमयमारभ्यासंगं तं पर्यशेषयत् ॥ ९८ ॥

भाषार्थ–उसमें बृहदारण्यकके वाक्यको संक्षेपसे दिखाते हैं कि जब राजा

जनकने आत्मा कोनसा है यह पूछा तब याज्ञवल्क्य उनको विबोधन (समझाना) करते हुये जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय है वह है इस प्रकार विज्ञानमयसे लेकर—असंग यह पुरुष है इस वचनसे असंग कूटस्थका ही परिशेष किया है अर्थात् कूटस्थही सत्यरूप शेष रक्खा है अन्य सब मिथ्या कहा है ॥ ९८ ॥

कोऽयमात्मेत्येवमादौ सर्वत्रात्मविचारतः ॥
उभयात्मकमारभ्य कूटस्थः शेष्यते श्रुतौ ॥ ९९ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार बृहदारण्यकके असंग आत्माके प्रकारको दिखाकर ऐतरेय आदि श्रुतियोंमें कहे प्रकारको दिखाते हैं कि जिसकी हम उपासना करते हैं वह यह आत्मा कौन है इत्यादि वचनोंमें सर्वत्र आत्माके विचारसे अर्थात् अंतःकरणोपाधि आत्माके प्रारंभसे प्रज्ञानमात्ररूप कूटस्थको ही श्रुतिमें शेष रक्खा है—इसी प्रकार अन्यत्रभी समझना—ऐसे श्रुतियोंके देखनेसे उभयरूप भोक्ताको मिथ्यात्व है और असंग कूटस्थको अभोक्तृत्व है, यह सिद्ध भया ॥ ९९ ॥

कूटस्थसत्यतां स्वस्मिन्नध्यस्यात्माऽविवेकतः ॥
तात्विकीं भोक्तृतां मत्वा न कदाचिज्जिहासति ॥ २०० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि पूर्वोक्तरीतिसे भोक्ताके मिथ्यात्व होनेपर उसमें प्राणियोंकी सत्य बुद्धि किससे हो जाती है सो ठीक नहीं कि लोकमें प्रसिद्ध आत्मा-जो भोक्ता है वह अज्ञानसे अर्थात् मैं कूटस्थसे भिन्न हूं इस ज्ञानके अभावसे कूट-स्थकी सत्यताको अपनेमें मान कर और उसीके द्वारा अपनेको सत्य भोक्ता मान-कर कदाचित् भोगके त्यागकी इच्छा नही करता ॥ २०० ॥

भोक्ता स्वस्यैव भोगाय पतिजायादिमिच्छति ॥
एष लौकिकवृत्तांतः श्रुत्या सम्यगनूदितः ॥ १ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि भोक्तारूप आत्माका शेष कैसे प्रतिपादन करते हो सो ठीक नही कि हम कूटस्थ, आत्माका शेष प्रतिपादन नही करते किंतु लोक-प्रसिद्ध उभयरूप जो भोक्ता उसका शेष प्रतिपादन करना ही श्रुतिसे सुना जाता है कि जगत्में जो भोक्ता है वह अपने ही भोगके लिये पति जाया आदिकी इच्छा करता है अपने लिये नही यह लोकका वृत्तांत श्रुतिने भली प्रकार कहा है ॥ १ ॥

भोग्यानां भोक्तृशेषत्वान्मा भोग्येष्वनुरज्यताम् ॥
भोक्तर्येव प्रधानेऽतोनुरागं तं विधित्सति ॥ २ ॥

भाषार्थ—अब भोक्तामें ही प्रेमके लिये अनुवादको कहते हैं कि पति जाया आदि जो भोगकी वस्तु हैं वे भोक्ताकी ही उपकरण हैं इससे भोगोंमें अनुराग नही करना किंतु प्रधानरूप भोक्तामें ही करना इसका विधान श्रुति करती है ॥ २ ॥

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी ॥
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्माऽपसर्पतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—अब भोग्यविषयोंमें त्याग पूर्वक आत्मामें प्रेम करनेंमें दृष्टांतसे ईश्वरमें प्रेमकी प्रार्थना पूर्वक पुराणके वचनको कहते हैं कि अविवेकी अर्थात् आत्मज्ञानसे शून्य मनुष्योंको जैसी दृढप्रीति विषयोंमें होती है हे लक्ष्मीपते वह प्रीति तेरा स्मरण करते हुये मेरे हृदयसे चली जाओ अर्थात् मेरा मन विषयोंमें आसक्तिको छोडकर आपमें ही सदा टिको—अथवा अविवेकियोंकी जैसी दृढप्रीति विषयोंमें है वैसी प्रीति तेरा स्मरण करते हुये मेरे हृदयसे मत जाओ अर्थात् सदा आपमें ही प्रीति बनी रहो ॥ ३ ॥

इतिन्यायेन सर्वस्माद्भोग्यजाताद्विरक्तधीः ॥
उपसंहृत्य तां प्रीतिं भोक्तर्यैनं बुभुत्सते ॥ ४ ॥

भाषार्थ—इस पुराणोक्त न्यायसे संपूर्ण पतिजाया आदि भोगके समूहसे विरक्त है बुद्धि जिसकी ऐसा मनुष्य उस प्रीतिका, भोक्तामें उपसंहार करके इस आत्माके जाननेकी इच्छा करता है ॥ ४ ॥

स्रक्चन्दनवधूवस्त्रसुवर्णादिषु पामरः ॥
अप्रमत्तो यथा तद्वन्न प्रमाद्यति भोक्तरि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार आत्मामें ही भोगके उपसंहारसे जो फलित हुआ उसको दृष्टांतपूर्वक कहते हैं कि पामर (मूढ) मनुष्य स्रक् चंदन स्त्री वस्त्र सुवर्ण आदिमें जिस प्रकार अप्रमत्त रहता है अर्थात् सावधान होता है इसी प्रकार मुमुक्षुभी भोक्ता-रूप आत्मामें प्रमाद नही करता है किंतु सदा आत्मामें ही स्थित रहता है ॥५॥

काव्यनाटकतर्कादिमभ्यस्याति निरंतरम्
विजिगीषुर्यथा तद्वन्मुमुक्षुः स्वं विचारयेत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—अब सावधानीकोही बहुतसे दृष्टांतोंसे स्पष्ट करते हैं कि जैसे विजिगीषु (वादीकी पराजयका अभिलाषी) मनुष्य इस लोकमें काव्य नाटक तर्क आदिका निरंतर अभ्यास करता है इसी प्रकार मुमुक्षुभी सदैव अपने आत्माको विचारै॥६॥

जपयागोपासनादि कुरुते श्रद्धया यथा ॥
स्वर्गादिवांछया तद्वच्छ्रद्दध्यात्स्वे मुमुक्षया ॥ ७ ॥

भाषार्थ–जैसे जप यज्ञ उपासना आदिको श्रद्धासे स्वर्ग आदिकी वांछासे करता है उसी प्रकार मुक्त होनेकी इच्छासे आत्मामें श्रद्धा करै अर्थात् विश्वाससे आत्मविचार करै ॥ ७ ॥

चित्तैकाग्र्यं यथा योगी महायासेन साधयेत् ॥
अणिमादिप्रेप्सयैवं विविच्यात् स्वं मुमुक्षया ॥ ८ ॥

भाषार्थ–जिस प्रकार योगी चित्तकी एकाग्रताको अणिमा आदि सिद्धि-योंकी इच्छासे सिद्ध करता है इसी प्रकार मुमुक्षुभी अपनी आत्माको देह आदिसे विविक्त (पृथक्) जाने ॥ ८ ॥

कौशलानि विवर्धन्ते तेषामभ्यासपाटवात् ॥
यथा तद्वद्विवेकोऽस्याप्यभ्यासाद्विशदायते ॥ ९ ॥

भाषार्थ–अब अभ्यासके फलको दिखाते हैं कि जैसे अभ्यासके पाटव (चतुरता) से उनकी कुशलता तिस २ विषयमें बढती है इसी प्रकार मुमुक्षुकाभी विवेक अभ्याससे विशद (स्पष्ट) हो जाता है ॥ ९ ॥

विविंचता भोक्तृतत्वं जाग्रदादिष्वसंगता ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां साक्षिण्यध्यवसीयते ॥ १० ॥

भाषार्थ–अब विवेककी स्पष्टताका फल कहते हैं कि पूर्वोक्त अन्वयव्यतिरे-कसे भोक्ताके तत्वका अर्थात् पारमार्थिक सत्यरूपका विवेक (भोग्योंसे पृथक् जानना) करत हुये मनुष्यको जाग्रत् आदिमें जो साक्षी की असंगता है उसका निश्चय होजा-ता है अर्थात् साक्षीको असंग जान लेता है ॥ १० ॥

यत्र यद्दृश्यते द्रष्टा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥
तत्रैव तन्नेतरत्रेत्यनुभूतिर्हि संमता ॥ ११ ॥

भाषार्थ–अब अन्वयव्यतिरेकोंको दिखाते हैं कि जाग्रत् आदिके मध्यमें जिस स्थानमें द्रष्टा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्थामें जिसस्थूल सूक्ष्म आनंदरूप तीनप्रकार-के भोग्य पदार्थ को साक्षी होकर देखता है अर्थात् जानता है वह देखने योग्य प-दार्थ तिसी अवस्थामें टिकता है और दूसरी अवस्थामें नही होता और द्रष्टा तो सर्वत्र अनुगत (एकरूप) है यह अनुभव सबको संमत है ॥ ११ ॥

सयत्तत्रेक्षते किंचित्तेनानन्वागतो भवेत् ॥
दृष्ट्वैव पुण्यं पापं चेत्येवं श्रुतिषु डिंडिमः ॥ १२ ॥

भाषार्थ–अब अनुभवको दिखाकर वेदको भी दिखाते हैं कि वह आत्मा जो कुछ उस अवस्थामें देखता है अर्थात् भोग्य पदार्थको भोगता है उस भोग्यपदार्थसे अन्वागत (आसक्त) होकर रहता है अर्थात् उसका अनुयायी नही होता है उसके पुण्य पापके सुख दुःखरूप फलको देख ही कर अर्थात् उसको ग्रहण न करके स्वयं ही दूसरी अवस्थामें प्राप्त होजाता है यही इत्यादि श्रुतियोंमें डिंडिम (डंडोरा) है कि सो वहां जो कुछ देखता है उसमें अनासक्त असंग यह पुरुष जो है वह इसमें रमकर पुण्य पाप के संबंध बिना फिर प्रतियोनिमें गमन करता है ॥ १२ ॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपंचं यत्प्रकाशते ॥
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते ॥ १३ ॥

भाषार्थ–अब भोक्ताके तत्त्वका विवेक जिनसे हो ऐसी अन्य श्रुतियोंको दिखाते हैं कि जो सत्य ज्ञान आनंदरूप ब्रह्म साक्षी रूपसे स्थित होकर जाग्रत् आदि प्रपंचका प्रकाश करता है वही ब्रह्मरूप मैं हूं और बुद्धि चिदाभास रूप नहीं हूं यह जानकर अर्थात् श्रुति और अनुभवसे निश्चय करके प्रमातृत्व कर्तृत्व आदि संपूर्ण बंधनोंसे छुटता है ॥ १३ ॥

एक एवात्मा मंतव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १४ ॥

भाषार्थ–जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें एकही आत्मा मानना इस प्रकारके विवेक ज्ञानसे तीनों अवस्थाओंसे विविक्त (पृथक्) आत्माका पुनर्जन्म अर्थात् इस शरीरके पातके अनंत दूसरे शरीरकी प्राप्ति नही होती ॥ १४ ॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत् ॥
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥ १५ ॥

भाषार्थ–तीनों अवस्थाओंमें जो भोग्य पदार्थ है और भोक्ता और जो भोग ह इन तीनोंसे विलक्षण जो चिन्मात्र साक्षी सदाशिव अर्थात् सर्वोत्तम आनंदरूपसे सदैव शोभायमान है वह आत्मा मैं हूं ॥ १५ ॥

---

१ स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसंगोह्ययं पुरुषः सवाएष एतस्मिन्संप्रसादेरत्वाचरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्यां भवाति।

एवं विवेचिते तत्त्वे विज्ञानमयशब्दितः ॥
चिदाभासो विकारी यो भोक्तृत्वं तस्य शिष्यते ॥ १६ ॥

भाषार्थ– इस पूर्वोक्त प्रकारसे जब तत्वका विवेक हो गया अर्थात् असंग आत्माका निश्चय होनेपर–विज्ञानमय जिसको कहते हैं ऐसा जो विकारी चिदाभास उसकोही भोक्तृत्व शेष रहता है अर्थात् वही भोक्ता है ॥ १६ ॥

मायिकोऽयं चिदाभासः श्रुतेरनुभवादपि ॥
इंद्रजालं जगत्प्रोक्तं तदंतःपात्ययं यतः ॥ १७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि चिदाभासको भोक्ता मानोगे तो किसकी कामनाके लिये शरीरको दुःख दे यह वचन भोक्ताके अभावकी विवक्षाके लिये है यह जो पूर्व कहा है वह असंगत होगा–यह शंका करके और उस वचनको पारमार्थिक भोक्ताके अभावका बोधक स्वीकार करके चिदाभासरूप भोक्ताको मायिक सिद्ध करते हैं कि यह चिदाभास मायिक (मिथ्या) है क्योंकि माया आभाससे जीव ईश्वरको करती है यह श्रुति है और अनुभवभी है कि यह चिदाभास द्रष्टा आदि तीनोंके मध्यमें है उसकोही दिखाते हैं कि इस जगत्को इंद्रजाल कहते हैं और जगत्केही मध्यमें यह चिदाभास है अर्थात् इंद्रजालके समान मिथ्या जगत्के अंतर्गत होनेसे चिदाभासभी मिथ्या है यह सब विद्वानोंका अनुभव है ॥ १७ ॥

विलयोऽप्यस्य सुप्त्यादौ साक्षिणा ह्यनुभूयते ॥
एतादृशं स्वस्वभावं विविनक्ति पुनःपुनः ॥ १८ ॥

भाषार्थ–और जगत्के समान चिदाभास विनाशी है यहभी अनुभव दिखाते हैं कि सुप्ति मूर्च्छा आदिकोंमें इस चिदाभासके विलय (नाश) कोभी साक्षी देखते हैं और यह चिदाभासभी एतादृश (मिथ्या) अपने स्वभावको वारंवार विवेकसे जानता है अर्थात् कूटस्थसे पृथक् जब चिदाभास को जाना तब मिथ्यारूप अपने तत्त्वको कूटस्थसे पृथक् जानता है ॥ १८ ॥

विविच्य नाशं निश्चित्य पुनर्भोगं न वांछति ॥
मुमूर्षुः शायितो भूमौ विवाहं कोऽभिवांछति ॥ १९ ॥

भाषार्थ–कूटस्थसे पृथक् अपने स्वरूपको जानकर और अपने नाशका निश्चय करके फिर भोगकी इच्छा नहीं करता जैसे मुमूर्षु (मरनेयोग्य) भूमिपर शयन कराया कौन मनुष्य अपने विवाहकी वांच्छा करता है अर्थात् कोईभी नहीं करता है ॥ १९ ॥

जिह्नेति व्यवहर्तुं च भोक्ताऽहमिति पूर्ववत् ॥
छिन्ननास इव ह्रीतः क्लिश्यन्नारब्धमश्नुते ॥ २० ॥

भाषार्थ–और पूर्वके समान मैं भोक्ता हूं ऐसा व्यवहार करनेमेंभी लज्जित होता है कदाचित् कहोकि ज्ञानकी उत्पत्तिके अनंतर प्रारब्धके अंतपर्यंत कैसे व्यवहार करता है सो ठीक नही कि छिन्न है नासिका जिसकी ऐसे (नकटे) पुरुषके समान लज्जित होकर क्लेशको प्राप्त हुआ कि अब भी प्रारब्धकर्म नष्ट होजाय–यह मनाता हुआ प्रारब्धकर्मके फलको भोगता है ॥ २० ॥

यदा स्वस्यापि भोक्तृत्वं मंतुं जिह्नेत्ययं तदा ॥
साक्षिण्यारोपयेदेतदिति कैव कथा वृथा ॥ २१ ॥

भाषार्थ–अब ज्ञानके अनंतर साक्षी भोक्ता नही है यह कैमुतिकन्यायसे दिखाते हैं कि जब यह चिदाभास अपनेको भी भोक्ता मानने को अर्थात् मैं भोक्ता हूं यह जाननेको लज्जित होता है तब अपने में वर्तमान भोक्तृत्वको असंग साक्षीमें आरोप (मानना) करता है यह वृथा कथा कोन है अर्थात् कोई भी नही है क्योंकि आरोप मिथ्या होता है ॥ २१ ॥

इत्यभिप्रेत्य भोक्तारमाक्षिपत्यविशंकया ॥
कस्य कामायेति ततः शरीरानुज्वरो न हि ॥ २२ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त अर्थको श्रुतिके आरूढ (अनुकूल) करते हैं कि किसकी कामनाके लिये॰यह पूर्वोक्त श्रुति इसी अभिप्रायसे अर्थात् कूटस्थ वा चिदाभासको पारमार्थिक भोक्तृत्वके अभावके तात्पर्यसे शंकाको छोडकर भोक्ताका निषेध करती है तिससे शरीरका संताप नही है ॥ २२ ॥

स्थूलं सूक्ष्मं कारणं च शरीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥
अवश्यं त्रिविधोऽस्त्येव तत्र तत्रोचितो ज्वरः ॥ २३ ॥

भाषार्थ–अब तत्त्वज्ञानीको शरीरके अनुसार ज्वरका अभाव दिखानेके लिये शरीरके भेद और उनमें ज्वरके संभवको दिखाते हैं कि स्थूल सूक्ष्म कारण इन भेदोंसे शरीर तीन प्रकारका कहा है और तिस २ शरीरमें उचित ज्वरभी अवश्य (अयत्नसे) है अर्थात् सर्वत्र संताप है ॥ २३ ॥

वातपित्तश्लेष्मजन्यव्याधयः कोटिशस्तनौ ॥
दुर्गंधित्वकुरूपत्वदाहभंगादयस्तथा ॥ २४ ॥

भाषार्थ-अब स्थूल शरीरके ज्वरोंको कहते हैं कि वात पित्त श्लेष्म (कफ) इनसे उत्पन्न कोटियों व्याधि और तैसेही दुर्गंधि त्वचाका विरूप होना और देहका भंग आदि दुःख, स्थूल देहमें होते हैं ॥ २४ ॥

कामक्रोधादयः शांतिदांत्याद्या लिंगदेहगाः ॥
ज्वरा द्वयेऽपि बाधंते प्राप्त्याऽप्राप्त्या नरं क्रमात् ॥ २५ ॥

भाषार्थ-अब सूक्ष्म शरीरके ज्वरोंको दिखाते हैं कि काम क्रोध आदि और शांति दांति आदि ज्वर लिंगदेहमें होते हैं-ये दोनों प्रकारकेभी मिलने और न मिलनेसे मनुष्यको क्रमसे बाधते हैं इसीसे ज्वरके तुल्य होनेसे ज्वर कहाते हैं२५॥

स्वं परं च न वेत्त्यात्मा विनष्ट इव कारणे ॥
आगामि दुःखबीजं चेत्येतदिंद्रेण दर्शितम् ॥ २६ ॥

भाषार्थ-कारण शरीरका ज्वर छांदोग्य श्रुतिमें कहा है कि कारणशरीरमें आत्मा नष्टके समान अपने और परको नही जानता और कारण शरीर आगामी (भविष्य) दुःखोंका बीज है यह इंद्रने प्रजापति गुरुके आगे निवेदन इस श्रुतिसे[1] किया है कि कारण शरीरमें यह आत्मा ऐसे नही जानता कि यह मैं हूं और न इन भूतोंको जानता है विनाशमें लीन हुआ यह जानता है कि इस समय मैं भोगने योग्य विषयको नही देखताहूं-इस मंत्रसे अपने पराये ज्ञानसे शून्यता और अज्ञानसे नष्टप्रायता और अग्रिम दिनमें भविष्य दुःखोंका हेतु कारण शरीर है यह इंद्रने गुरुके आगे निवेदन किया है ॥ २६ ॥

एते ज्वराः शरीरेषु त्रिषु स्वाभाविका मताः ॥
वियोगे तु ज्वरैस्तानि शरीराण्येव नासते ॥ २७ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार तीनों देहोंमें ज्वरोंको कहकर उनकी निवृत्तिके अभावको कहते हैं कि तीनों प्रकारकेभी शरीरोंमें प्रतीत हुये ये ज्वर स्वाभाविक हैं अर्थात् शरीरके संग उत्पन्न होनेसे स्वाभाविक माने हैं-अब स्वाभाविक होनेकोही व्यतिरेक (निषेध) मुखसे दृढ करते हैं कि जिस कारणसे जब ज्वरोंसे उन शरीरोंका वियोग होता है अर्थात् दुःखोंका अभाव होता है तब वे शरीरही नही रहते इससे स्वाभाविक हैं अर्थात् शरीरके संगही हैं ॥ २७ ॥

---

१ नहि खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामि-

तंतोर्वियुज्येत पटो वालेभ्यः कम्बलो यथा ॥
मृदो घटस्तथा देहो ज्वरेभ्योऽपीति दृश्यताम् ॥ २८ ॥

भाषार्थ-अब वियोगमें दृष्टांतको कहते हैं कि जैसे तंतुओंसे पट और जैसे वालोंसे कंबल और जैसे मिट्टीसे घट वियुक्त (पृथक्) होता है ऐसेही देहभी ज्वरोंसे पृथक् होता है यह तुम देखो ॥ २८ ॥

चिदाभासे स्वतः कोऽपि ज्वरो नास्ति यतश्चितः ॥
प्रकाशैकस्वभावत्वमेव दृष्टं न चेतरत् ॥ २९ ॥

भाषार्थ-अब कूटस्थमें कैमुतिकन्यायसे ज्वराभाव दिखानेके अभिलाषी आचार्य प्रथम चिदाभासमें ज्वरका अभाव दिखाते हैं कि चिदाभासमें तीनों शरीरोंमें वर्तमान जो ज्वर उसके संबंध विना कोईभी ज्वर नही है क्योंकि जिससे प्रकाश है एक, स्वभाव जिसका ऐसे चित्को प्रकाशरूप देखा है अन्यरूप नही देखा ॥ २९॥

चिदाभासेऽप्यसंभाव्या ज्वराः साक्षिणि का कथा ॥
एवमप्येकतां मेने चिदाभासो ह्यविद्यया ॥ ३० ॥

भाषार्थ-अब जिसके लिये चिदाभासमें ज्वरका अभाव कहा उसको दिखाते हैं-कि जब चिदाभासमेंभी ज्वर नही हो सक्के तो साक्षीके विषै ज्वरकी क्या कथा है अर्थात् साक्षीमें नही हो सक्के ऐसा होनेपरभी चिदाभास अज्ञानसे एकताको मानलेता है-तिससेही मैं ज्वरवान् हूं यह अनुभव होता है ॥ ३० ॥

साक्षिसत्यत्वमध्यस्य स्वेनोपेते वपुस्त्रये ॥
तत्सर्वं वास्तवं स्वस्य स्वरूपमिति मन्यते ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-संक्षेपसे कही ऐक्यताका विस्तारसे वर्णन करते हैं-चिदाभास अपनेसे युक्त तीनों शरीरोंमें-साक्षीकी सत्यताका अध्यास करके उन ज्वरवाले तीनों शरीरोंको अपना वास्तवरूप मानता है ॥ ३१ ॥

एतस्मिन् भ्रांतिकालेऽयं शरीरेषु ज्वरत्स्वथ ॥
स्वयमेव ज्वरामीति मन्यते हि कुटुंबिवत् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त भ्रमके फलको दिखाते हैं कि यह चिदाभास इस पूर्वोक्त भ्रांतिके समयमें शरीरोंके दुःखी होनेपर मैंही दुःखी हूं-ऐसे कुटुंबी मनुष्योंके समान अपनेकोही दुःखी समझता है ॥ ३२ ॥

पुत्रदारेषु तप्यत्सु तपामीति वृथा यथा ॥
मन्यते पुरुषस्तद्वदाभासोऽप्यभिमन्यते ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–अब दृष्टांतको स्पष्टरीतिसे दिखाते हैं कि जैसे कुटुंबी मनुष्य पुत्र स्त्री इनके तपायमान होनेसे मैं तपताहूं ऐसे अपनेमेंही वृथा दुःख मानता है इसी प्रकार चिदाभासभी अपनेमें शरीरोंके दुःखोंको मानता है ॥ ३३ ॥

विविच्य भ्रांतिमुज्झित्वा स्वमप्यगणयन्सदा ॥
चिंतयन्साक्षिणं कस्माच्छरीरमनुसंज्वरेत् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार अज्ञान दशामें चिदाभासको भ्रांतिसे ज्वरको दिखाकर–विवेक अवस्थामें ज्वरके अभावको दिखाते हैं–चिदाभास–पूर्वोक्त भ्रान्तिको छोड-कर और कूटस्थ–अपनी आत्मा शरीर इनको पृथक् २ जानकर और अपनी आत्माकोभी नही गिनता हुआ अर्थात् अपनेभी अभावके ज्ञानसे अपनेमेंभी आदरको नही करता हुआ और अपने आत्मारूप ज्वर आदिसे रहित साक्षीकी सदा चिंता करता हुआ किस कारणसे ज्वरवाले शरीरका अनुयायी होकर ज्वरको प्राप्त हो अर्थात् नही होसक्ता ॥ ३४ ॥

अयथावस्तुसर्पादिज्ञानं हेतुः पलायने ॥
रज्जुज्ञानेऽहि धीध्वस्तौ कृतमप्यनुशोचति ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–अब भ्रांतिज्ञान ज्वरका, और तत्वज्ञान ज्वरके अभावका, कारण हैं यह बात दृष्टान्तको दिखाकर स्पष्ट करते हैं–जैसे मनुष्यके पलायनमें (दोडना) मिथ्या वस्तुरूप सर्प आदिका ज्ञान हेतु है–अर्थात् रज्जुको सर्प जानकर मनुष्य दोडता है और आदिशब्दसे स्थाणुमें कल्पित चौर समझना और जब रज्जुज्ञानसे सर्प आदिकी बुद्धि निवृत्त हो गई तब अपने किये पलायनको सोचता है कि मैं वृथा धावन किया कि यह तो रज्जु है सर्प नही ॥ ३५ ॥

मिथ्याभियोगदोषस्य प्रायश्चित्तप्रसिद्धये ॥
क्षमापयन्निवात्मानं साक्षिणं शरणं गतः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–अब साक्षीकी सदैव चिंता करता हुआ इस पूर्वोक्त अर्थको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि जैसे लोकमें मिथ्या अभियोग (दोष) का कर्ता मनुष्य उस दोषके प्रायश्चित्तके लिये जिसको दोष लगाया था उसकी वारंवार क्षमा कराता है अर्थात् मेरे अपराधको क्षमा करो यह कहता है इसीप्रकार यह चिदाभसभी

साक्षी असंग आत्मामें भोक्तृत्वका आरोपरूप जो मिथ्या अभियोगरूप दोष उसके प्रायश्चित्तके लिये साक्षीरूप आत्माकी शरण क्षमा करानेवालेके समान गया है ॥ ३६ ॥

आवृत्तपापनुत्त्यर्थं स्नानाद्यावर्त्यते यथा ॥
आवर्तयन्निव ध्यानं सदा साक्षिपरायणः ॥ ३७ ॥

भाषार्थ-उसमें ही अन्य दृष्टांतको कहते हैं कि जैसे पापका कर्ता पुरुष आवृत्त (अभ्यास किये) पापके दूर करनेके लिये शास्त्रोंमें विहित स्नानदान आदिकी आवृत्ति करता है तिसी प्रकार यह साक्षीमें तत्पर हुआ चिदाभासभी उसीमें आरोप किये संसारित्व दोषकी शांतिके लिये ध्यान की आवृत्ति करनेवालेके समान होता है ॥ ३७ ॥

उपस्थकुष्ठिनी वेश्या विलासेषु विलज्जते ॥
जानतोऽग्रे तथा भासः स्वप्रख्यातौ विलज्जते ॥ ३८ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार दृष्टांतोंसे साक्षीमें तत्परताका वर्णन करके चिदाभास अपने गुणोंके कथ नमें लज्जित होता है दसको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि जिसकी उपस्थ (योनि) में कुष्ठरोग है ऐसी वेश्या जैसे विलासों (भोगों) में लज्जित होती है ऐसेही चिदाभासभी जानते हुये चिदाभासके आगे अपने गुणोंके वर्णनमें लज्जित होता है ॥ ३८ ॥

गृहीतो ब्राह्मणो म्लेच्छैः प्रायश्चित्तं चरन् पुनः ॥
म्लेच्छैः संकीर्यते नैव तथा भासः शरीरकैः ॥ ३९ ॥

भाषार्थ-अब तीनों शरीरोंसे पृथक् किये चिदाभासका फिर उन शरीरोंके संग तादात्म्य (एकता) भ्रमके अभावमें दृष्टांत कहते हैं कि म्लेच्छोंने ग्रहण किया (मिलाया) ब्राह्मण जैसे प्रायश्चित्त करनेके अनंतर फिर म्लेच्छोंमे नही मिलता है इसी प्रकार चिदाभासभी शरीरोंके संग नही मिलता है ॥ ३९ ॥

यौवराज्ये स्थितो राजपुत्रः साम्राज्यवांछया ॥
राजानुकारी भवति तथा साक्ष्यनुकार्ययम् ॥ ४० ॥

भाषार्थ-केवल अपराधकी निवृत्तिके लियेही साक्षीका शरण लेना नही किंतु महान् फलभी है इस बातको दृष्टांतपूर्वक कहते हैं कि जैसे युवराज पदवीपर स्थित राजाका पुत्र साम्राज्य (चक्रवर्ती होना) की वांछासे राजाका अनुकारी होता है

अर्थात् राजाके समान प्रजाका अनुरंजन करता है तैसेही यह चिदाभासभी साक्षीका अनुकारी हो जाता है ॥ ४० ॥

यो ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवत्येव इति श्रुतिः ॥
श्रुत्वा तदेकचित्तः सन् ब्रह्म वेत्ति न चेतरत् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि युवराजको तो राजाके अनुसरणमें साम्राज्यका फल दीखता है ऐसेही साक्षीके अनुसरणमें फलको नही देखते इससे चिदाभास साक्षीके अनुसरणमें क्यों प्रवृत्त होता है सो ठीक नही कि जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्मही होता है और इसके कुलमें कोई ब्रह्मज्ञानीसे भिन्न नही होता शोक और पापको तरता है–गुहाकी ग्रंथि (वासना) ओंसे रहित होकर अमृत हो जाता है इस श्रुतिमें कहे ब्रह्म होनेरूप फलको सुनकर साक्षीमें एक चित्त होकर ब्रह्मको जानता है अन्यको नही इससे इस फलकी वांछाके लिये साक्षीका अनुसरण युक्त है–भावार्थ यह है– जो ब्रह्मको जाने वह ब्रह्म होता है इस श्रुतिको सुनकर ब्रह्ममें एक चित्त चिदाभास ब्रह्मको जानता है अन्यको नहीं ॥ ४१ ॥

देवत्वकामा ह्यग्न्यादौ प्रविशंति यथा तथा ॥
साक्षित्वेनावशेषाय स्वविनाशं स वांछति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ब्रह्म ज्ञानसे ब्रह्म होनेपर चिदाभास नष्टही हो जायगा तो कैसे अपने नाशमें चिदाभास प्रवृत्त होता है सो ठीक नही कि जैसे जगत्‌में देवता होनेके कामी मनुष्य अग्नि पर्वत प्रयाग गंगाप्रवेश आदिमें प्रवृत्त होते है ऐसेही साक्षी रूपसे स्थितिके लिये और चिदाभासरूप की निवृत्तिके अर्थ ब्रह्मज्ञानमें प्रवृत्त होता है ॥ ४२ ॥

यावत्स्वदेहदाहं स नरत्वं नैव मुञ्चति ॥
यावदारब्धदेहं स्यान्नाभासत्वविमोचनम् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि तत्वज्ञानसे आभासता चली जाती है तो तत्वज्ञानी भी जीव हैं यह व्यवहार कैसे होताहै सो ठीक नही कि जैसे अग्नि आदिमें प्रविष्ट पुरुष दाह आदिसे जबतक अपने देहके दाहको नही करता तबतक मनुष्य भावको नही छोडता है इसी प्रकार जबतक प्रारब्ध कर्मका क्षय नही होता तबतक चिदाभास रूपकी निवृत्ति नही होती है ॥ ४३ ॥

---

१ स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रंथिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति–

रज्जुज्ञानेऽपि कंपादिः शनैरेवोपशाम्यति ॥
पुनर्मंदांधकारे सा रज्जुः क्षिप्तोरगी भवेत् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहोकि भोक्ताके भ्रमका उपादान कारण जो अज्ञान उसके निवृत्त होनेसे फिर कैसे भोगोंमें प्रवृत्ति और मैं मर्त्य हूं यह विपरीत ज्ञान कैसे होते हैं सो ठीक नही क्योंकि जैसे रज्जुका ज्ञान होनेपरभी सर्पसे पैदा हुये कंप आदिकी शांति शनैः २ ही होती है और फिरभी मंद अंधकारमें फेंकी हुयी वह रज्जु सर्पिणी हो जाती है इसी प्रकार तत्वज्ञानके होनेपरभी भोगोंमें प्रवृत्ति और मर्त्य हूं यह ज्ञान होसकते हैं ॥ ४४ ॥

एवमारब्धभोगोऽपि शनैः शाम्यति नो हठात् ॥
भोगकाले कदाचित्तु मर्त्योऽहमिति भासते ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-सोई दार्ष्टांतिकमें दिखाते हैं कि इसी प्रकार प्रारब्धका भोगभी शनैः २ ही शांत होता है हठसे नही होता और भोगके समयमें कदाचित् यहभी भान होता है कि मैं मर्त्य हूं ॥ ४५ ॥

नैतावताऽपराधेन तत्त्वज्ञानं विनश्यति ॥
जीवन्मुक्तिव्रतं नेदं किन्तु वस्तुस्थितिः खलु ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि फिर मर्त्य बुद्धि होगी तो उससे तत्वज्ञानका बाध हो जायगा सो ठीक नही कि कदाचित् हुये 'मैं मर्त्य हूं' इस ज्ञानके होने रूप अपराधसे आगमरूप प्रमाणोंसे पैदा हुआ तत्त्वज्ञान नष्ट नही होता और यह मर्त्य बुद्धिका दूर करना रूप जीवन्मुक्तिका व्रत है वह नियमसे करने योग्य नही है किंतु सम्यक् (यथार्थ) ज्ञानसे भ्रांति ज्ञानसे निवृत्ति होती है यह वस्तुकी स्थिति (स्वभाव) है इससे कदाचित् मर्त्यबुद्धिके उदय होनेपरभी फिर तत्वज्ञानान्तरसे मर्त्य बुद्धिकाही बाध होता है मर्त्यबुद्धिसे तत्वज्ञानका बाध नही होता ॥ ४६ ॥

दशमोऽपि शिरस्ताडं रुदन्बुद्ध्वा न रोदिति ॥
शिरोव्रणस्तु मासेन शनैः शाम्यति नो तदा ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि रज्जुसर्प आदि स्थलमें विपरीत ज्ञानकी निवृत्ति होनेपरभी उसके कार्य कंप आदि होना रहो प्रकरणके (दशमस्त्वमासि) दशवां तू है इस दृष्टांतमें-वाक्यके विचारसे उत्पन्न ज्ञानसे भ्रमकी निवृत्ति होनेपर उसके कार्यको नही देखते सो ठीक नही कि दशवां मैं हूं यह जानकर दशवां मनुष्य अज्ञान दशामें शिरको पीटकर जैसे रोता था उस प्रकार नही रोता है परंतु शिरके

पीछले आधेवाक्यसे कहा जो शोकका मोक्ष (त्याग) है वह इतने पूर्वोक्त ग्रंथके समूहसे कहा और अज्ञान आवरण परोक्षज्ञान अपरोक्षज्ञान शोक मोक्ष और निरंकुश तृप्ति इस श्लोकमें कही सातों जीवकी अवस्थाओंके मध्यमें यह शोक निवृत्तिरूप शोक मोक्ष जीवकी छट्ठी अवस्था है और सातवीं तृप्ति अवस्थाका अब वर्णन करते हैं–भावार्थ यह है कि क्या इच्छा करता हुआ शरीरको दुःख दे इस श्लोकमें कहा शोकका मोक्ष पूर्वोक्त ग्रंथसे वर्णन जो किया है वह चिदाभासकी छट्ठी अवस्था है और सातवीं तृप्ति अवस्थाका अब वर्णन करते हैं कि ॥ ५१ ॥

सांकुशा विषयैस्तृप्तिरियं तृप्तिर्निरंकुशा ॥
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव तृप्यति ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–अपरोक्षज्ञानसे उत्पन्न जो तृप्ति उसका निरंकुशरूप प्रतियोगि (सांकुश)को दिखाकर वर्णन करते हैं कि विषयोंके लाभसे जो तृप्ति होती है वह अंकुश सहित है क्योंकि उस तृप्तिके समयमें अन्य विषयकी कामना बनी रहती है और आत्माके ज्ञानसे जो तृप्ति होती है वह निरंकुश होती है क्योंकि इस तृप्तिमें इस प्रकार मुमुक्षु तृप्त होता है कि मैं करनेके योग्य सब करलिया और प्राप्त होने योग्य (ब्रह्म) मुझे प्राप्त होगया अर्थात् करने वा प्राप्त होने योग्य कुछभी शेष नही रहा ॥ ५२ ॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ॥
बहु कृत्यं पुराऽस्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ–अब कृतकृत्यताका ही वर्णन करते हैं की इस विद्वान्को तत्त्वज्ञानके उदयसे पहिले इस लोककी इष्ट प्राप्ति और अनिष्टकी निवृत्तिके लिये कृषि वाणिज्य आदि और स्वर्ग आदिकी सिद्धिके लिये इन उपासना आदि और मोक्षके साधन ज्ञानकी सिद्धिके लिये श्रवण मनन आदि बहुत प्रकारका कृत्य रहा–वह सब अब (ब्रह्मज्ञान होने पर) कर लिया अर्थात् संसारके फलकी इच्छाके अभावसे और ब्रह्मानंदकी प्राप्तिसे वह सब कृषि वाणिज्य आदि प्रायः कृतसाही है निदान उसके करनेका कुछ फल नही है–भावार्थ–यह है कि इस लोक और परलोक और मुक्तिकी सिद्धिके लिये ज्ञानीको ज्ञानसे पूर्व बहुत कृत्य रहा वह सब अब करलिया ॥ ५३ ॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ॥
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार कृतकृत्यको कह कर उसका फल जो तृप्ति उसका वर्णन

करते हैं कि इस प्रकार प्रतियोगीके वर्णनपूर्वक जो यह कृतकृत्यता है उसका अनुसंधान (स्मरण) करता हुआ यह चिदाभास प्रतिक्षण तृप्त होता है ॥ ५४ ॥

दुःखिनाऽज्ञाः संसरंतु कामं पुत्राद्यपेक्षया ॥
परमानंदपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया ॥ ५५ ॥

भाषार्थ–उसी अनुसंधानको विस्तारसे दिखाते हैं कि दुःखी और अज्ञानी मनुष्य पुत्र आदिकी कामनासे संसार (जन्म मरण) को यथेच्छ प्राप्त हो परंतु परमानंदसे पूर्ण मैं किसकी इच्छासे संसारको प्राप्त हूं अर्थात् निरपेक्ष मेरा संसारसे कुछ प्रयोजन नही है ॥ ५५ ॥

अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ॥
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–और परलोकमें गमनके अभिलाषी पुरुष कर्मोंको करो संपूर्ण लोकोंका स्वरूप मैं क्यों किसी कर्मको किस प्रकार करूं अर्थात् परलोकार्थ कर्मभी मुझे कर्तव्य नही है ॥ ५६ ॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयंतु वा ॥
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अपने लिये प्रवृत्तिके न होने परभी परके अर्थ प्रवृत्ति हो जायगी सोभी ठीक नही क्योंकि वे शास्त्रोंकी व्याख्या करो वा वेदोंको पढाओ जो इसमें अधिकारी हैं–मेरा तो इसमें अधिकार नही है क्योंकि मैं क्रियासे रहित हूं अर्थात् वाणीके व्यापारका अकर्ता हूं ॥ ५७ ॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोति च ॥
द्रष्टारश्चेत्कल्पयंति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥ ५८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अपने देहके पोषणार्थ भिक्षा लाना और परलोकार्थ स्नान आदिका करना आपमें देखते हैं इससे क्रियासे रहितरूपकसे आपमें घट सकता है सोभी ठीक नही कि निद्रा भिक्षा स्नान शौच इनकी न मैं इच्छा करता हूं यदि द्रष्टा लोग मेरेमें कल्पना करें तो करो अन्योंकी कल्पनासे मुझे क्या अर्थात् वह मेरी बाधक नही है ॥ ५८ ॥

गुंजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ॥
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥ ५९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अन्यकी कल्पनासेभी बाध होता है सो ठीक नही कि गुंजा (चाहटनी) के समूहको कोई अग्नि समझे तो उस अग्निसे वह गुंजाका पुंज जैसे नष्ट नही होता इसी प्रकार मेरेमें अन्य पुरुषोंने आरोप किये जो संसारके धर्म हैं उनको मैंभी नहीं भज सकता हूं ॥ ५९ ॥

श्रृण्वंत्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम् ॥
मन्यंतां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥ ६० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अन्य फलोंकी इच्छाके अभावसे कर्मका अनुष्ठान मत हो तत्वज्ञानके लिये श्रवण आदि तो करने ही पडेंगे सो भी ठीक नही कि नही जाना है तत्व जिन्होंने ऐसे वे अज्ञानी सुनो जानता हुआ मैं क्यों सुनूं और तत्व ऐसा है वा अन्य प्रकारका है ऐसे संशयसे युक्त पुरुष मनन करो पूर्वोक्त संशयसे रहित मैं क्यों मनन करूं अर्थात् अज्ञानके अभावसे श्रवण मनन आदिका कर्ताभी मैं नही हो सकता–भावार्थ यह है कि अज्ञान है तत्वका जिनको वे सुनो मैं जानता हुआ क्यों सुनूं और संशयसे युक्त मनुष्य मनन करो असंशय मैं क्यों करूं ॥ ६० ॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्ययात् ॥
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि श्रवण मनन मत हों विपरीतज्ञानकी निवृत्तिके लिये निदिध्यासन तो ज्ञानीको अवश्य अपेक्षित है सो ठीक नही कि जिसे विपरीत-ज्ञान है वह निदिध्यासन करो विपरीतज्ञानके अभावसे मुझे निदिध्यासन करना निष्फल है क्योंकि देह आत्मा है यह जो विपरीतज्ञान उसको मैं कदाचित् भी नही भजता हूं अर्थात् वह मुझे कभी भी नही होता है ॥ ६१ ॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाऽप्यमुम् ॥
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि विपरीतज्ञानके अभावमें मैं मनुष्य हूं यह व्यवहार कैसे घटेगा सो ठीक नही कि मैं मनुष्य हूं यह व्यवहार तो विपरीतज्ञानके विना भी चिरकालसे है अभ्यास जिसका ऐसी वासनासे कल्पना किया जाता है ॥ ६२ ॥

प्रारब्धकर्माणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ॥
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि विपरीतज्ञानके नाशार्थ ध्यान करना चाहिये सो ठीक नही कि प्रारब्धकर्मके नाश होनेपर ही इस व्यवहारकी निवृत्ति होती है और प्रारब्धकर्मके क्षय बिना तो यह सहस्र प्रकारके ध्यानसे भी शांत नही होता ॥ ६३ ॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ॥
आबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि प्रारब्धसे उत्पन्न व्यवहारकी विरलता (श्रेष्ठता) के लिये ध्यान करने योग्य है सो ठीक नही कि यदि तू व्यवहारको विरल मानता है तो तू ध्यानको कर अर्थात् ध्यानसे व्यवहारनिवृत्ति तेरे मतमें रहो–और व्यवहारको अबाधक (हानिका न कर्ता) देखता हुआ मैं क्यों ध्यान करुं अर्थात् मेरी दृष्टिमें ज्ञानीका, व्यवहारबाधक, नही है ॥ ६४ ॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ॥
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ ६५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ध्यानका न करना हो परंतु विक्षेपकी निवृत्तिके लिये समाधितो करनी ही चाहिये सो ठीक नही कि जिससे मुझे विक्षेप नही है इससे समाधिभी मुझे नही है क्योंकि विक्षेप वा समाधि ये दोनों विकारी मनको होते हैं इससे विक्षेपकी निवर्तकसमाधिमें भी मेरा अधिकार नही है ॥ ६५ ॥

नित्यानुभवरूपस्य को मे वाऽनुभवः पृथक् ॥
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि समाधिका फल अनुभव तो करना चाहिये सो भी ठीक नहि कि नित्य अनुभव (ज्ञान)रूप जो मैं हूं मेरेसे पृथक् अनुभव कोन है अर्थात् कोई नही–इससे कृत्य (करने योग्य) कर लिया और प्राप्तहोने योग्य प्राप्त होगया यह निश्चय जो मेरा है सो सिद्धभया ॥ ६६ ॥

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथाऽपि वा ॥
ममाकर्तुरलेपस्य यथाऽरब्धं प्रवर्तताम् ॥ ६७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि सब कर्मोंमें आत्माको कर्ता न मानोगे तो सब व्यवहारोंमें नियम न रहैगा कि यही हो अन्य न हो सोभी ठीक नही कि लोकका वा शास्त्रोक्तव्यवहार अर्थात् भिक्षा भोजन और जब समाधि आदि वा अन्यथा (हिंसा आदि) जो व्यवहार है वह कर्ता भोक्तासे भिन्न जो मैं हूं उसे प्रारब्धकर्मके अनुसार वर्तो अर्थात् उससे मेरी कुछ हानि नही है ॥ ६७ ॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया ॥
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं का मम क्षतिः ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—अथवा कृतकृत्यभी मैं प्राणियोंके अनुग्रहकी कामनासे शास्त्रोक्तमार्गसे वर्तूं तो मेरी क्या हानि है अर्थात् कुछ नही है॥ ६८ ॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ॥
तारं जपतु वाक् तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥ ६९ ॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानंदे विलीयताम् ॥
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ ७० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि शास्त्रीयमार्गसे प्रवृत्ति मानोगे तो उसके अभिमानसे ही विकार हो जायगा सो ठीक नही कि देवपूजन स्नान शौच भिक्षा आदिमें देह प्रवृत्त हो-और वाणी ओंकारको जपो वा वेदांतशास्त्रको पढो-और बुद्धिसे विष्णुका ध्यान करो वा ब्रह्मानंदमें लय हो- इन सबका साक्षीस्वरूप मैं न करता हूं न कराता हूं ॥ ६९ ॥ ७० ॥

एवं च कलहः कुत्र संभवेत्कर्मिणो मम ॥
विभिन्नविषयत्वेन पूर्वापरसमुद्रवत् ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—इस पूर्वोक्त प्रकारसे कर्मके कर्ताभी मुझे कलह किस प्रकार हो सकता है क्योंकि पूर्व और पश्चिमके समुद्र जैसे भिन्न हैं इसी प्रकार मैं भी इनसे भिन्न हूं ॥ ७१ ॥

वपुर्वाग्धीषु निर्बंधः कर्मिणो न तु साक्षिणि ॥
ज्ञानिनः साक्ष्यलेपत्वे निर्बंधो नेतरत्र हि ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—कर्मीका देह वाणी बुद्धि इनमें आग्रह है साक्षीमें नही और ज्ञानीका साक्षी निर्लेप है इसमें आग्रह है देह आदिमें नही ॥ ७२ ॥

एवं चान्योन्यवृत्तांतानभिज्ञौ बधिराविव ॥
विवदेतां बुद्धिमंतो हसंत्येव विलोक्य तौ ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—इससे परस्परका जो वृत्तांत उसके अज्ञानी, जो ज्ञानी और कर्मी हैं वे दोनों बधिर मनुष्योंके समान विवादको करो उनको देखकर बुद्धिमान् मनुष्य हंसे होंगे, प्रशंसा न करेंगे ॥ ७३ ॥

यं कर्मी न विजानाति साक्षिणं तस्य तत्त्ववित् ॥
ब्रह्मत्वं बुध्यतां तत्र कर्मिणः किं विहीयते ॥ ७४ ॥

भाषार्थ–बिना विषय (निष्प्रयोजन) कलहके हेतुको कहते हैं कि कर्मका कर्ता मनुष्य कर्म करनेके उपयोगी जो देह वाणी बुद्धि हैं उनसे भिन्न जिस प्रत्यगात्मारूप साक्षीको नही जानता है और तत्वका ज्ञाता उस साक्षीको ही ब्रह्म समझ ले तो इसमें कर्मीकी क्या हानि है अर्थात् कुछ नही ॥ ७४ ॥

देहवाग्बुद्धयस्त्यक्ता ज्ञानिनाऽनृतबुद्धितः ॥
कर्मी प्रवर्तयत्वाभिर्ज्ञानिनो हीयतेऽत्र किम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ–और ज्ञानीने मिथ्या समझकर त्यागे हुये देह वाणी बुद्धियोंसे कर्मी मनुष्य प्रवृत्त हो अर्थात् देह आदिका द्वारा कर्मोंको करो उससे ज्ञानीकी क्या हानि है ॥ ७५ ॥

प्रवृत्तिर्नोपयुक्ता चेन्निवृत्तिः क्वोपयुज्यते ॥
बोधहेतुर्निवृत्तिश्चेद्बुभुत्सायां तथेतरा ॥ ७६ ॥

भाषार्थ–अब यह शंका करते हैं कि प्रयोजनसे शून्य होनेसे ज्ञानी कर्मके अनुष्ठानको नही मानते कि प्रवृत्तिका उपयोग नही है तो निवृत्तिका किसमें उपयोग है कदाचित् कहो कि निवृत्ति बोधका हेतु है तो बोधकी अभिलाषामें प्रवृत्तिकाभी उपयोग है ॥ ७६ ॥

बुद्धश्चेन्न बुभुत्सेत नाप्यसौ बुध्यते पुनः ॥
अबाधादनुवर्तेत बोधो न त्वन्यसाधनात् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ज्ञानीको बोधकी इच्छाके अभावसे प्रवृत्तिका उपयोग नही है सो ठीक नही कि ज्ञानीको बोधकी इच्छा न मानोंगे तो पुनः (फिर) बोधके अभावसे ज्ञानीका निवृत्ति भी उपयोग न होगा–कदाचित् कहो कि एक वार पैदा हुये बोधकी स्थिरताके लिये निवृत्तिकी अपेक्षा है सो ठीक नही कि बाधके अभावसेही बोधकी स्थिरता बनी रहैगी अन्य साधनसे नही अर्थात् वाक्यरूप प्रमाणोंसे पैदा हुआ ज्ञान किसी बलवान् प्रमाणसेभी नही बाधा जाता इससे उसकी अनुवृत्ति (स्थिरता) हो जायगी उसमें अन्य साधनकी अपेक्षा नही है ॥ ७७ ॥

नाविद्या नापि तत्कार्यं बोधं बाधितुमर्हति ॥
पुरैव तत्त्वबोधेन बाधिते ते उभे यतः ॥ ७८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि अन्य प्रमाणसे बाध मत हो परंतु अविद्या, और अविद्याके कार्य कर्तृत्वके अध्याससे बोधका बाधा हो जायगा सो ठीक नही कि अविद्या और उसके कार्यबोधको नही बाध सकते हैं क्योंकि पहिले ही उनदोनोंका तत्वबोध बाध कर चुका है ॥ ७८ ॥

बाधितं दृश्यतामक्षैस्तेन बाधो न शक्यते ॥
जीवन्नाखुनं मार्जारं हंति हन्यात्कथं मृतः ॥ ७९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अविद्याके बाधहोने परभी प्रतीत हुये उसके कार्यका बाधनहीं हो सकता उसकार्यसे बोधका बाध हो जायगा सो ठीक नही कि ज्ञानसे बाधा हुआ अविद्याका कार्य नेत्रोंसे दीखो परंतु वह बोधको इस प्रकार नही बाध सकता जैसे जो मार्जार जीवता हुआ ही मूसेको न मारेगा तो वह मरकर किस प्रकार मार सकता है॥ ७९ ॥

अपि पाशुपतास्त्रेण विद्धश्चेन्न ममार यः ॥
निष्फलेषुवितुन्नांगो नंक्ष्यतीत्यत्र का प्रमा ॥ ८० ॥

भाषार्थ–अब द्वैतके दर्शनसे तत्वबोधके बाधका अभाव कैमुतिकन्यायसे दृष्टांतके द्वारा दिखाते हैं कि जो समर्थ पाशुपत अस्त्रसे बिंधाभी नहीं मरा तो वह फल (भाल) से रहित बाणोंसे पीडाको प्राप्त है अंग जिसका ऐसा वह नाशको प्राप्त होजायगा इसमें क्या प्रमाण है अर्थात् नही ॥ ८० ॥

आदावविद्यया चित्रैः स्वकार्यैर्जृंभमाणया ॥
युद्ध्वा बोधोऽजयत्सोऽद्य सुदृढो बाध्यतां कथम् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ–दृष्टांतसे सिद्ध अर्थको दार्ष्टांतिकमें दिखाते हैं–प्रथम विद्याभ्यासके समयमें अनेक प्रकारके प्रमाता भोक्ता आदि अपने कार्योंसे वृद्धिको प्राप्त हुई अविद्याके संग युद्ध करके जो बोध अविद्याको जीतता भया–अभ्यासकी कुशलतासे भली प्रकार दृढ हुआ वही बोध अविद्याकी निवृत्ति होने पर निर्मूल उस अविद्याके कार्य अभ्याससे किस प्रकार बाधित हो सक्ता है अर्थात् नही बाधा जाता है ॥ ८१ ॥

तिष्ठंत्वज्ञानतत्कार्यशवा बोधेन मारिताः ॥
न भीतिर्बोधसम्राजः कीर्तिः प्रत्युत तस्य तैः ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त अर्थको श्रोताओंकी बुद्धिमें आरूढ होनेके लिये रूपकसे

वर्णन करते हैं कि अज्ञान और उसके कार्यरूप जो बोधके मारे हुये सब हैं वे भूमिपर टिको–उनसे बोधरूपी चक्रवर्तीका भय नही किन्तु प्रत्युत उनसे कीर्ति है ॥ ८२ ॥

य एवमतिशूरेण बोधेन न वियुज्यते ॥
प्रवृत्त्या वा निवृत्त्या वा देहादिगतयाऽस्य किम् ॥ ८३ ॥

भाषार्थ–जो मुमुक्षु पुरुष इस प्रकारके शूरवीर बोधसे वियुक्त नही होता अर्थात् अविद्या और उसके कार्योंके नाशक ब्रह्मज्ञानसे युक्त रहता है उस पुरुषको देह आदिकी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे क्या इष्ट और क्या अनिष्ट है अर्थात् कुछ नही॥८३॥

प्रवृत्तावाग्रहो न्याय्यो बोधहीनस्य सर्वथा ॥
स्वर्गाय वाऽपवर्गाय यतितव्यं यतो नृभिः ॥ ८४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ज्ञानीके समान अज्ञानीको भी प्रवृत्तिमें आग्रह युक्त नही सो ठीक नही कि बोधसे हीन पुरुषको प्रवृत्तिमें आग्रह करना युक्त है–क्योंकि मनुष्योंको स्वर्ग वा नरकके लिये यत्न करना योग्य है ॥ ८४ ॥

विद्वांश्चेत्तादृशां मध्ये तिष्ठेत्तदनुरोधतः ॥
कायेन मनसा वाचा करोत्येवाखिलाः क्रियाः ॥ ८५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि–विद्वान् आग्रह न करै तो कर्मीयोंके मध्यमें रहकर उसै क्या करना युक्त है इस लिये कहते हैं कि यदि विद्वान् कर्मीयोंके मध्यमें टिकै तो काया मन वाणीसे संपूर्ण कर्मोंको करै और उन कर्मीयोंकोभी मने न करै॥८५॥

एष मध्ये बुभुत्सूनां यदा तिष्ठेत्तदा पुनः ॥
बोधायैषां क्रियाः सर्वा दूषयंस्त्यजतु स्वयम् ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–अब तत्त्वज्ञानीयोंके मध्यमें टिके विद्वान्‌के कृत्यको कहते हैं कि यदि यह विद्वान् तत्वबोधके अभिलाषीयोंके मध्यमें टिके–तो उनको बोधके लिये उनके सब कर्मोंमें दोष देता हुआ आपभी संपूर्ण कर्मोंको त्याग दे ॥ ८६ ॥

अविद्वदनुसारेण वृत्तिर्बुद्धस्य युज्यते ॥
स्तनंधयानुसारेण वर्तते तत्पिता यतः ॥ ८७ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार ज्ञानीके कर्तव्यमें हेतुको कहते हैं–ज्ञानीकी वृत्ति अज्ञानीयोंके अनुसार युक्त है–क्योंकि पिताका वर्ताव बालकके अनुसार होता है ॥ ८७ ॥

अधिक्षिप्तस्ताडितो वा बालेन स्वपिता तदा ॥
न क्लिश्नाति न कुप्येत बालं प्रत्युत लालयेत् ॥ ८८ ॥

भाषार्थ-जैसे बालक अपने पिताका अधिक्षेप (गाली देना) करो वा ताडना दो तो पिता उसका क्लेश नही मानता प्रत्युत लाड करता है ॥ ८८ ॥

निंदितः स्तूयमानो वा विद्वानज्ञैर्न निंदति ॥
न स्तौति किंतु तेषां स्याद्यथा बोधस्तथाऽऽचरेत् ॥ ८९ ॥

भाषार्थ-अब दृष्टान्तको दार्ष्टान्तिकमें दिखाते हैं अज्ञानी विद्वान्की निन्दा करा वा स्तुति करो ज्ञानी उनकी न निंदा करता है न स्तुति-किन्तु ऐसा आचरण करता है कि जिससे अज्ञानीयोंको बोध होय ॥ ८९ ॥

येनायं नटनेनात्र बुध्यते कार्यमेव तत् ॥
अज्ञप्रबोधान्नैवान्यत्कार्यमस्त्यत्र तद्विदः ॥ ९० ॥

भाषार्थ-ज्ञानीके इस प्रकार आचरणमें हेतुको कहते हैं कि इस अज्ञानीको जिस प्रकारके आचरणसे इस जगत्में बोध होय उस प्रकारके आचरणको ज्ञानी अवश्य करै-अन्य कुछ न करै क्योंकि तत्वज्ञानीका इस लोकमें अज्ञानीयोंको भली प्रकार बोध करानेसे अन्य कोई कार्य्य नही है ॥ ९० ॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ॥
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरंतरम् ॥ ९१ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त और वक्ष्यमाणके तात्पर्यको कहते हैं कि यह ज्ञानी पूर्वोक्त प्रकारकी कृतकृत्यतासे और वक्ष्यमाण प्रकारसे प्राप्तिके योग्यकी प्राप्तिसे तृप्त हुआ अपने मनसे निरन्तर इस प्रकार मानता है कि ॥ ९१ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमंजसा वेद्मि ॥
धन्योऽहं धन्योहं ब्रह्मानंदो विभाति मे स्पष्टम् ॥ ९२ ॥

भाषार्थ-जिससे-मैं सदैवकालमें देशकाल आदिसे असंयुक्त अपने प्रत्यगात्माको साक्षात् जानता हूं- इससे मुझे धन्य है धन्य है-अर्थात् आत्मज्ञानके लाभसे मैं संतुष्ट हूं-और ब्रह्मरूप आनंद मुझे स्पष्ट प्रकाशित होता है इससे मुझे धन्यहै धन्य है-अर्थात् आत्मज्ञानका फल जो ब्रह्मानंद उसमें मैं संतुष्ट हूं ॥ ९२ ॥

धन्योऽहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥ ९३ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार इष्टप्राप्तिके संतोषको कह कर अनिष्ट निवृत्तिके सन्तोषको कहते हैं कि अब मैं संसाररूप दुःखको नही देखता इससे मुझे धन्य है धन्य है-और अनेक कर्मोंकी वासनाका समूहरूप मेरा अज्ञान कहीं पलायमान होगया-अर्थात् नष्ट हुआ-इससे मुझे धन्यहै धन्य है ॥ ९३ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥ ९४ ॥

भाषार्थ-अब अज्ञान निवृत्तिके फलको दिखाते हैं-अब मुझे किंचित्भी कर्तव्य नही है इससे मैं धन्य हूं धन्य हूं-और जो प्राप्त होने योग्य था वह सब प्राप्त होगया इससे मैं धन्य हूं ॥ ९४ ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ॥
धन्योऽहं धन्योहं धन्योधन्यः पुनःपुनर्धन्यः ॥ ९५ ॥

भाषार्थ-इससे परे जगत्में मेरी तृप्तिकी क्या उपमा होसक्ती है-इससे मुझे धन्य है धन्यहै-अबसे आगे कोई वक्तव्य (कहने योग्य) नही दीखता इससे मुझे धन्य है धन्य है-धन्य है धन्य है और फिरभी धन्य है धन्य है ॥ ९५ ॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ॥
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥ ९६ ॥

भाषार्थ-इस पूर्वोक्त संतोषके कारणरूप पुण्यपुंजका स्मरण करके जो संतोष उसको कहते हैं-बडा पुण्य है बडा पुण्य है जिसका ऐसा दृढफल हुआ और इस प्रकार पुण्यके संपादक जो हम वे भी महान् हैं अर्थात् ऐसे आत्मस्वरूप हम आश्चर्यस्वरूप हैं ॥ ९६ ॥

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥ ९७ ॥

भाषार्थ-अब सम्यक् ज्ञानके साधक शास्त्र और उसके उपदेश कर्ता आचार्यका स्मरण करके संतोष करते हैं कि यह शास्त्र आश्चर्यरूप है आश्चर्यरूप है-इसके गुरुभी आश्चर्यरूप है २-और इस शास्त्रसे उत्पन्न हुआ ज्ञान और ज्ञानकी प्राप्तिका सुख भी आश्चर्यरूप है २ अर्थात् सबसे उत्तम है ॥ ९७ ॥

तृप्तिदीपमिमं नित्यं येऽनुसंदधते बुधाः ॥
ब्रह्मानंदे निमज्जंतस्ते तृप्यंति निरंतरम् ॥ २९८ ॥

भाषार्थ–जो बुद्धिमान् मनुष्य इस तृप्तिदीपका नित्य अनुसंधान (विचार) करते हैं ब्रह्मानंदमें स्नान करते हुए वे निरन्तर तृप्त होते हैं ॥ ९८ ॥

इति श्री विद्यारण्यकृतपंचदश्याम्पंडितामिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतौ तृप्तिदीपविवेक प्रकरणम् ॥ ७ ॥

इति तृप्तिदीपविवेकप्रकरणम् ॥ ७ ॥

श्रीः ।

पञ्चदशी ।

भाषाटीकासमेता ।

अथ कूटस्थदीपप्रकरणम् ८

खादित्यदीपिते कुड्ये दर्पणादित्यदीप्तिवत् ॥
कूटस्थभासितो देहो धीस्थजीवेन भास्यते ॥ १ ॥

भाषार्थ–इस कूटस्थ प्रकरणमें मुमुक्षुके मोक्षका साधन जो ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान, उसको त्वं पदार्थके शोधनसे जन्य होनेसे त्वंपदार्थके शोधक कूटस्थ-दीपका प्रारंभ करते हुये आचार्य–त्वंपदके लक्ष्यअर्थ और वाच्यअर्थ जो क्रमसे कूटस्थ, जीव, है उनको भेदसे दृष्टांत देकर दिखाते हैं कि आकाशमें प्रसिद्ध जो सूर्य उसके प्रकाशसे प्रकाश हुयी भित्तिपर दर्पणमें प्रतिबिंबित सूर्यकी दीप्ति (प्रकाश) के समान, अर्थात् दर्पणमें पडकर लौटे सूर्यके और भित्तिपर आकाश-के सूर्यके इन दोनोंसे भित्तिके प्रकाशके समान, कूटस्थ (अविकारि चैतन्य) से प्रकाशित देहका बुद्धिमें प्रतिबिंबित चिदाभास प्रकाश करता है इससे यह प्रति-ज्ञात हुआ कि जैसे भित्तिके प्रकाशक सामान्य विशेषरूप दो प्रकाश सूर्यके हैं, इसी प्रकार देहके प्रकाशक दो चैतन्य हैं–भावार्थ यह है कि आकाशके सूर्यसे प्रकाश किये कुडच (भींत) को जैसे दर्पणका सूर्य प्रकाश करता है इसी प्रकार कूटस्थको प्रकाश किये देहको बुद्धिमें स्थित जीव प्रकाश करता है ॥ १ ॥

अनेकदर्पणादित्यदीप्तीनां बहुसंधिषु ॥
इतरा व्यज्यते तासामभावेऽपि प्रकाशते ॥ २ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि वहां दर्पणके सूर्यकी दीप्तिके बिना आकाशके सूर्यकी दीप्ति नही मिलती है यह शंका करके दर्पणके सूर्यकी दीप्तियोंसे आकाशके सूर्यकी दीप्तिको पृथक् करके दिखाते हैं कि जो अनेक दर्पणोंमें प्रतिबिंबित सूर्योंकी दीप्ति तहां २ मंडलाकार दीखती है उनकी संधियों (मध्य २) में आकाशके सूर्यकी दीप्तिभी जो सामान्यरूपसे प्रतीत होती है और दर्पणसे पैदा हुयी प्रभाओंके अभा-

वमें और होनेपरभी वह सर्वत्र प्रकाशित होती है इससे वह उनसे भिन्न है—भावार्थ यह है कि अनेक दर्पणके सूर्योंकी दीप्तियोंके मध्य २ की अनेक संधियोंमें आकाशके सूर्यकी दीप्ति स्पष्ट है और उनके अभावमेंभी प्रकाशित होती है ॥ २ ॥

चिदाभासविशिष्टानां तथाऽनेकधियामसौ ॥
संधिं धियामभावं च भासयन् प्रविविच्यताम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—अब दृष्टांतसे सिद्ध अर्थको दार्ष्टांतिकमें घटाते हैं कि तिसी प्रकार चिदाभास विशिष्ट अथात् चित्के प्रतिबिंबसे युक्त जो अनेक बुद्धिकी वृत्ति (घटज्ञान आदि शब्दोंके अर्थरूप) हैं उनकी संधि (मध्य) को जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें और उन्ही पूर्वोक्त बुद्धिवृत्तियोंके अभावको सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें प्रकाश करते हुये इस कूटस्थको उन वृत्तियोंसे भिन्न जानो—भावार्थ—यह है कि चिदाभाससे युक्त अनेक बुद्धियोंको और बुद्धियोंके प्रभावको प्रकाश करते हुये कूटस्थकोभी आकाशके सूर्यकी प्रभाके समान भिन्न जानों ॥ ३ ॥

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत् ॥
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते ॥ ४ ॥

भाषार्थ—अब देहके मध्यमें कूटस्थ और चिदाभासका भेद दिखानेके लिये देहसे बाहिरभी चिदाभास और ब्रह्मको पृथक् २ दिखाते हैं कि एक घटके समान है आकार जिसका ऐसी बुद्धिमें वर्तमान जो चिदाभास वह एक घटको ही प्रकाश करता है और उस घटका जो ज्ञातता नामका धर्म है अर्थात् मैं घट जाना इस व्यवहारका जो हेतु है वह घटकी कल्पनाका अधिष्ठानरूप जो साधनरूप ब्रह्मचैतन्य है उससे ही प्रकाशित होता है— भावार्थ यह है कि एक घटाकार बुद्धिमें स्थित चैतन्य घटका ही प्रकाश करता है और घटकी ज्ञातताका प्रकाश ब्रह्म चैतन्यसे होता है ॥ ४ ॥

अज्ञातत्वेन ज्ञातोऽयं घटो बुद्ध्युदयात्पुरा ॥
ब्रह्मणैवोपरिष्टात्तु ज्ञातत्वेनेत्यसौ भिदा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि ज्ञातताके प्रकाशक चैतन्यसेही घटकी प्रतीति हो जायगी बुद्धिका क्या प्रयोजन है सो ठीक नही कि बुद्धिके उदयसे पूर्व ब्रह्मसे इसी घटका अज्ञातरूपसे प्रकाश हुआथा और बुद्धिकी उत्पत्तिके अनंतर ज्ञातरूपसे ब्रह्मने प्रकाशित किया है यही भेद है अन्य नही ॥ ५ ॥

चिदाभासांतधीवृत्तिर्ज्ञानं लोहांतकुंतवत् ॥
जाड्यमज्ञानमेताभ्यां व्याप्तः कुंभो द्विधोच्यते ॥ ६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि एक घटके ज्ञात और अज्ञात दो रूप कैसे हो सकते हैं यह शंका करके उनके ज्ञानार्थ ज्ञातता और अज्ञातताके निमित्त ज्ञान और अज्ञानके स्वरूपको पृथक् २ दिखाते हैं कि चित्प्रतिबिंबरूप जो चिदाभास वह पुरः (अग्र) भागमें जिसके ऐसी जो बुद्धिकी वृत्ति वह ज्ञान कहाती है क्योंकि आचार्योंने यह बुद्धिका स्वरूप कहा है कि जो बोधसे इद्ध हो वह बुद्धि है और वह ऐसी है जैसा लोहेके मध्यमें कुंत (भाला) होता है और जडता अर्थात् स्वतः प्रकाशरहितको अज्ञान कहते हैं इन ज्ञान और अज्ञानोंसे व्याप्त जो घट वह दो प्रकारका कहाता है अर्थात् जाने हुयेको ज्ञात और न जाने हुयेको अज्ञात कहते हैं भावार्थ यह है कि लोहके पूर्वभागमें कुंतके समान चिदाभासके पूर्वभागमें जो बुद्धिकी वृत्ति उसे ज्ञान और जडताको अज्ञान कहते हैं इन दोनोंसे व्याप्त घट, ज्ञात अज्ञातभेदसे दो प्रकारका होता है ॥ ६ ॥

अज्ञातो ब्रह्मणा भास्यो ज्ञातः कुंभस्तथा न किम् ॥
ज्ञानत्वजननेनैव चिदाभासपरिक्षयः ॥ ७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अज्ञात घटका ब्रह्मसे प्रकाश रहो और ज्ञानसे (ज्ञात) जो घट उसका ब्रह्मचैतन्यसे प्रकाश क्यों मानते हो यह शंका करके यह कहते हैं कि जैसे अज्ञातताको पैदा करके अज्ञान उपक्षीण है ऐसे ज्ञातताको पैदा करके ज्ञानभी उपक्षीण है इससे अज्ञात घटके समान ज्ञात घटकाभी ब्रह्मसे ही प्रकाश होता है कि जैसे अज्ञात घट ब्रह्मसे भासमान होता है तैसे ही ज्ञात घटभी ब्रह्मसे प्रकाशमान क्यों न होगा किंतु अवश्य होगा क्योंकि ज्ञातताको पैदा करके ही चिदाभासका परिक्षय (नाश) हो जाता है ॥ ७ ॥

आभासहीनया बुद्ध्या ज्ञातत्वं नैव जन्यते ॥
तादृग्बुद्धेर्विशेषः को मृदादेः स्याद्विकारिणः ॥ ८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अज्ञातताके जन्मार्थ जैसे अज्ञानको मानते हो ऐसे ही ज्ञातताके जन्मार्थ बुद्धि ही बहुत है चिदाभास माननेका क्या प्रयोजन है सो ठीक नहीं कि चिदाभाससे रहित जो बुद्धि है वह ज्ञातताको पैदा नहीं कर सकती है क्यों कि चिदाभाससे रहित बुद्धिमें और विकाररूप मिट्टी आदिमें कुछ विशेष (भेद) नहीं है अर्थात् चिदाभाससे रहित बुद्धि घटआदिके समान अप्रकाशरूप है इससे ज्ञातताको पैदा नहीं कर सकती है ॥ ८ ॥

ज्ञात इत्युच्यते कुंभो मृदा लिप्तो न कुत्र चित् ॥
धीमात्रव्याप्तकुंभस्य ज्ञातत्वं नेष्यते तथा ॥ ९ ॥

भाषार्थ—अब चिदाभास रहित बुद्धिसे व्याप्त घटको ज्ञातताका अभाव दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि जैसे जगत्में शुक्ल वा कृष्णरूप मिट्टीसे व्याप्त (लिपा) घटको कोईभी ज्ञात नही कहता इसी प्रकार चिदाभास रहित बुद्धिसे व्याप्त घटकोभी ज्ञात नही मानते हैं ॥ ९ ॥

ज्ञातत्वं नाम कुंभेऽतश्चिदाभासफलोदयः ॥
न फलं ब्रह्मचैतन्यं मानात्प्रागपि सत्त्वतः ॥ १० ॥

भाषार्थ—अब फलितका वर्णन करते हैं कि जिससे केवल बुद्धि ज्ञातताके पैदा करनेमें समर्थ नही है इससे कुंभमें चिदाभासरूप फलकी जो उत्पत्ति वही ज्ञातता नामसे प्रसिद्ध है—कदाचित् कहो कि ब्रह्म चैतन्यरूप फलके रहते चिदाभासकी कल्पना न करनी चाहिये सो ठीक नही कि ब्रह्म चैतन्यको फल नही कह सकते क्योंकि वह मान (प्रमाणवृत्ति) से पूर्व कालमेंभी विद्यमान है और फलप्रमाणके उत्तर कालमें ही हुआ करता है—भावार्थयह है कि इससे घटमें चिदाभासरूप फलका उदय ही ज्ञातता प्रसिद्ध है और प्रमाणसे पहिलेभी विद्यमान होनेसे ब्रह्म चैतन्य फल नही हो सकता ॥ १० ॥

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन संमता ॥
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदांतोक्तिप्रमाणतः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि यह (परागर्थप्रमेयेषु) इत्यादि जो सुरेश्वरका वार्तिक उसके विरुद्ध है सो ठीक नही कि पराक् (बाह्य) जो घट आदि पदार्थ हैं उन प्रमेयों (प्रमाणके विषय) के विद्यमान होतसंते जो प्रमाणका फलरूप संवित् (ज्ञान) है वही इस वेदांतशास्त्रमें वेदांतरूप वाक्योंके प्रमाणसे मेय (जानने योग्य) अर्थ माना है—अर्थात् उनके फलको ही हम मेय मानते हैं ॥ ११ ॥

इति वार्तिककारेण चित्सादृश्यं विवक्षितम् ॥
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः सहस्र्यां विश्रुतो यतः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—और इस पूर्वोक्तसुरेश्वर वार्तिक कारने ब्रह्म चैतन्य सदृश चिदाभास प्रमाणका फल माना है ब्रह्म चैतन्य नही और यह वार्तिककारका अभिप्राय इससे जानते हैं कि उनके गुरु श्रीमान् आचार्योंने उपदेश सहस्री ग्रंथमें ब्रह्म चैतन्य औ-रचिदाभासका भेद कहा है ॥ १२ ॥

आभास उदितस्तस्माज्ज्ञातत्वं जनयेद्घटे ॥
तत्पुनर्ब्रह्मणाभास्यमज्ञातत्ववदेव हि ॥ १३ ॥

भाषार्थ–जिससे ब्रह्मचित् और फलका भेद प्रसिद्ध है इससे घटमें, उत्पन्न हुआ आभास ज्ञातताको पैदा करता है और उस ज्ञातता अज्ञातताके समान ब्रह्मसे ही प्रकाशित होती है यह प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

धीवृत्त्याभासकुंभानां समूहो भास्यते चिदा ॥
कुंभमात्रफलत्वात्स एक आभासतः स्फुरेत् ॥ १४ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार ब्रह्मचित् और आभासके कहे हुये भेदको, विषयभेद दिखाकर स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्मचैतन्यसे बुद्धिकी वृत्ति चिदाभास कुंभ इन तिनोंके समूहका प्रकाश होता है और चिदाभास तो केवल कुंभमें वर्तमान फलरूप है इससे चिदाभाससे केवल घटका ही स्फुरण (प्रकाश) होता है ॥ १४ ॥

चैतन्यं द्विगुणं कुंभे ज्ञातत्वेन स्फुरत्यतः ॥
अन्येऽनुव्यवसायाख्यमाहुरेतद्यथोदितम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ–अब कुंभका प्रकाश, चिदाभास और ब्रह्म दोनोंसे होता है इसमें लिंगको कहते हैं कि इसीसे घटमें द्विगुणचैतन्य है क्योंकि वह ब्रह्मसे ज्ञान होकर स्फुरता है अर्थात् ब्रह्म चिदाभास दोनोंसे प्रकाशित होता है और इसी घटकी ज्ञातताके अवभासक (प्रकाशक) चैतन्यको नैय्यायिक अनुव्यवसाय कहते हैं अर्थात् अनुव्यवसाय नामका अन्य ही ज्ञान मानते हैं ॥ १५ ॥

घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः ॥
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुग्रहतो भवेत् ॥ १६ ॥

भाषार्थ–अब व्यवहारके भेदसे भी चिदाभास और ब्रह्मका भेद मानने योग्य है यह वर्णन करते हैं कि यह घट है यह कथन तो आभासके प्रसादसे होता है और मैं घट जाना यह कथन ब्रह्मके अनुग्रहसे होता है ॥ १६ ॥

आभासब्रह्मणी देहाद्बहिर्यद्वद्विवेचिते ॥
तद्वदाभासकूटस्थौ विविच्येतां वपुष्यपि ॥ १७ ॥

भाषार्थ–जिस प्रकार चिदाभास और ब्रह्मका विवेक देहसे बाहिर किया है उसी प्रकार चिदाभास और कूटस्थका विवेक देहके भीतरभी करना योग्य है ॥ १७ ॥

अहंवृत्तौ चिदाभासः कामक्रोधादिकासु च ॥
संव्याप्य वर्तते तप्ते लोहे वह्निर्यथा तथा ॥ १८ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि जैसे देहसे बाहिर चिदाभाससे व्याप्य घटाकारवृत्ति है ऐसे देहके भीतर किसी विषयकी वृत्ति नही है इससे उसके व्यापक चिदाभासको कैसे मानते हो सो ठीक नही कि विषयाकारवृत्तिके अभावमें भी अहमाकारवृतिके होनेसे उसके व्यापक चिदाभासका स्वीकार दृष्टांतसे कहते हैं कि अहंवृत्ति और काम क्रोध आदिकोंमें चिदाभास उस प्रकार व्याप्त होकर वर्तता है जैसे तपायमान लोहेमें अग्नि एकरूप प्रतीत होती है ॥ १८ ॥

स्वमात्रं भासयेत्तप्तं लोहं नान्यत्कदाचन ॥
एवमाभाससहिता वृत्तयः स्वस्वभासिकाः ॥ १९ ॥

भाषार्थ-अब अहं आदि वृत्तियोंका चिदाभाससे प्रकाश, दृष्टांतसें स्पष्ट करते हैं कि जैसे तपायमान लोहा अपने स्वरूपहीका प्रकाश करता है अन्यका प्रकाश कदाचित् नही करता है-इसी प्रकार चिदाभास सहित अहं आदि वृत्तिभी अपना २ ही प्रकाश करती है अन्यका नही ॥ १९ ॥

क्रमाद्विच्छिद्य विच्छिद्य जायंते वृत्तयोऽखिलाः ॥
सर्वा अपि विलीयंते सुप्तिमूर्च्छासमाधिषु ॥ २० ॥

भाषार्थ- इस प्रकार चिदाभासको कह कर कूटस्थका स्वरूप कहनेके लिये उसके उपयोगी वृत्तियोंके अभावोंका समय दिखाते हैं कि इस प्रकार विच्छेद २ से (पृथक् २) संपूर्ण वृत्तियां क्रमसे होती हैं और वे संपूर्ण सुषुप्ति मूर्छा समाधियोंमें लय (नष्ट) हो जाती हैं अर्थात् नही रहती ॥ २० ॥

संधयोऽखिलवृत्तीनामभावाश्चावभासिताः ॥
निर्विकारेण येनासौ कूटस्थ इति चोच्यते ॥ २१ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि इस प्रकार समाधि आदिकोंमें वृत्तियोंका अभाव रहो इससे कूटस्थकी सिद्धि कैसे हो सकती है सो ठीक नही कि सपूर्ण वृत्तियोंकी संधि और अभावोंका जिस निर्विकाररूपसे प्रकाश होता है वह कूटस्थ कहाता है अर्थात् साक्षीरूपको कूटस्थ कहते हैं ॥ २१ ॥

घटे द्विगुणचैतन्यं यथा बाह्ये तथांऽतरे ॥
वृत्तिष्वपि ततस्तत्र वैशद्यं संधितोऽधिकम् ॥ २२ ॥

भाषार्थ-अब फलितका वर्णन करते हैं कि जैसे बाह्य घटमें द्विगुण चैतन्य है अर्थात् घटमात्रका अवभासक चिदाभास और घटकी ज्ञातताका अवभासक ब्रह्मचैतन्य

ये दोहैं तैसेही आंतर (भीतर) अहंकार आदि वृत्तियोंमेंभी कूटस्थ चैतन्य, और वृत्तियोंका अवभासक चिदाभास, यह द्विगुण चैतन्य है और जिससे द्विगुण चैतन्य है तिसीसे संधियोंकी अपेक्षा वृत्तियोंमें अधिक वैशद्य (निर्मलता) देखते हैं॥२२॥

ज्ञातताज्ञातते न स्तो घटवद्वृत्तिषु क्वचित् ॥
स्वस्य स्वेनागृहीतत्वात्ताभिश्चाज्ञाननाशनात् ॥ २३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि यहांभी घट आदिकोंके समान ज्ञातता, अज्ञातता-का भासक कूटस्थ क्यों नही मानते सो ठीक नही कि घटके समान कहीं भी वृत्तियों-में ज्ञातता, अज्ञातता, नही होती क्यों कि ज्ञान और अज्ञान की वृत्तियोंसे ज्ञातता अज्ञातता होती है ओर वृत्तियोंको स्वप्रकाशरूप होनेसे ज्ञानकी व्याप्ति नही होसकतीं और उन वृत्तियोंने उत्पन्न होते ही अपने अज्ञानको नष्ट कर दिया इससे अज्ञानकी व्याप्तिभी नही होसकती–भावार्थ यह है कि घटके समान वृत्तियोंमें ज्ञातता अज्ञातता नही होती क्योंकि अपना ज्ञान अपनेसे नही होता और उन वृत्तियोंसें अज्ञानका नाश होजाता है ॥ २३ ॥

द्विगुणीकृतचैतन्ये जन्मनाशानुभूतितः ॥
अकूटस्थं तदन्यत्तु कूटस्थमविकारतः ॥ २४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि कूटस्थ और चिदाभास दोनों चित् हैं तो एकको कूटस्थ और दूसरेको अकूटस्थ यह किस कारणसे कहते हो सो ठीक नही कि उस द्विगु-णीकृत चैतन्यमें चिदाभासके तो जन्म और नाश अनुभवसिद्ध हैं इससे चिदा-भास अकूटस्थ है और दूसरा अविकारी होनेसे कूटस्थ है ॥ २४ ॥

अंतःकरणतद्वृत्तिसाक्षीत्यादावनेकधा ॥
कूटस्थ एव सर्वत्र पूर्वाचार्यैर्विनिश्चितः ॥ २५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि चिदाभाससे भिन्न कूटस्थ स्वकपोलकल्पित (स्वयं-माना) है सो ठीक नही कि अंतःकरण और अंतःकरणकी वृत्तियोंका साक्षी चैतन्यरूप आनंदरूप सत्यस्वरूप आत्माकी शरण क्यों नही होता इत्यादि शास्त्रोंमें आचार्योंने सर्वत्र कूटस्थका ही वर्णन किया है ॥ २५ ॥

आत्माभासाश्च याश्चैवं मुखाभासाश्रया यथा ॥
गम्यंते शास्त्रयुक्तिभ्यामित्याभासश्च वर्णितः ॥ २६ ॥

भाषार्थ–और कूटस्थसे भिन्न चिदाभासकाभी वर्णन आचार्योंने ही किया है कि

आत्मा आभास और आश्रय ये तीनों इस प्रकार होते हैं जैसे मुख आभास और आश्रय होते हैं अर्थात् जैसे मुख आभास (प्रतिबिंब) आश्रय (दर्पण) ये तीनों हैं इसी प्रकार आत्मा (कूटस्थ) आभास (चिदाभास जीव) और आश्रय (अंतःकरण आदि) ये तीनों भी शास्त्र और युक्तियोंसे जाने जाते हैं यहां आभास शब्दसे कूटस्थसे भिन्न चिदाभासका वर्णन किया है और मनके साक्षी बुद्धिके साक्षी कूटस्थका प्रतिपादक यह शास्त्र है और रूप २ के प्रति-प्रतिरूप होता भया यह चिदाभासका प्रतिपादक शास्त्र है और एक विकारी दूसरा अविकारी है यह युक्ति पहिले कह आये हैं भावार्थ यह है कि जैसे मुख-प्रतिबिम्ब-दर्पण ये तीन होते हैं इसी प्रकार आत्मा चिदाभास अंतःकरण ये तीन होते हैं इस प्रकार शास्त्र और युक्तियोंसे आभासका वर्णन किया है ॥ २६ ॥

बुद्ध्यवच्छिन्नकूटस्थो लोकांतरगमागमौ ॥
कर्त्तुं शक्तो घटाकाश इवाभासेन किं वद ॥ २७ ॥

भाषार्थ—अब चिदाभासके विषयमें शंका करते हैं कि अपनेमें कल्पनाकी बुद्धिसे अवच्छिन्न (युक्त) कूटस्थ ही घटके द्वारा घटाकाशके समान अन्य लोकोंमें गमन और अगमन करनेको समर्थ है तो चिदाभासकी कल्पना क्यों करते हो अर्थात् क्यों मानते हो ॥ २७ ॥

शृण्वसंगः परिच्छेदमात्राज्जीवो भवेन्नहि ॥
अन्यथा घटकुड्याद्यैरवच्छिन्नस्य जीवता ॥ २८ ॥

भाषार्थ—पूर्वोक्त शंकाका समाधान करते हैं कि सुनो असंग कूटस्थ परिच्छेद (बुद्धि) मात्रसे जीव नही हो सकता—यदि परिच्छेदमात्रसे ही जीव मानोंगे तो घट कुड्य आदिसे अवच्छिन्न कूटस्थभी जीव हो जायगा इससे आभासका मानना आवश्यकहै २८

न कुड्यसदृशी बुद्धिः स्वच्छत्वादिति चेत्तथा ॥
अस्तु नाम परिच्छेदे किंस्वाच्छ्येन भवेत्तव ॥ २९ ॥

भाषार्थ—अब बुद्धि और कुड्यकी विषमतामें शंका करते हैं कि बुद्धि स्वच्छ (निर्मल) है इससे कुड्यके सदृश नही हो सकती इससे स्वच्छसे परिछिन्नके गमन अगमनमें दोष नही सो ठीक नही क्योंकि यह स्वच्छताका भेद रहो स्वच्छतासे परिच्छेदके विषे तुझे क्या है अर्थात् स्वच्छता परिच्छेदमें हेतु नही होती है ॥ २९ ॥

---

१ मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी—रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव.

प्रस्थेन दारुजन्येन कांस्यजन्येन वा न हि ॥
विक्रेतुस्तंडुलादीनां परिमाणं विशिष्यते ॥ ३० ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त अर्थको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि काष्ठका प्रस्थ हो चाहै कांसीका प्रस्थ हो उनसे तंडुल आदिका जो विक्रय (वेचना) करने वाला है उसके परिमाण (तोल) में कुछ विशेषता नही होती है अर्थात् स्वच्छता, अस्वच्छता, न्यून अधिक भावको पैदा नही कर सकते ॥ ३० ॥

परिमाणाविशेषेपि प्रतिबिंबो विशिष्यते ॥
कांस्ये यदि तदा बुद्धावप्याभासो भवेद्बलात् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि परिमाणकी विशेषता न रहो तोभी कांसीके प्रस्थमें प्रतिबिंब पडनेकी अधिकता है सो भी ठीक नही क्योंकि प्रतिबिंबकी विशेषता मानोंगे तो बुद्धिमें भी स्वच्छ होंनेसे आभास, बलसे हो जायगा अर्थात् आपनेही आभासको मान लिया ॥ ३१ ॥

ईषद्भासनमाभासः प्रतिबिंबस्तथाविधः ॥
बिंबलक्षणहीनः सन् बिंबवद्भासते स हि ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि हमने प्रतिबिंब माना है चिदाभास नही सो ठीक नही कि ईषत् (किंचित्) प्रकाशको आभास कहते हैं और प्रतिबिंबका भी भास न किंचित् ही होता है क्योंकि बिंबके लक्षणोंसे हीन वह प्रतिबिंब बिंबके समान भासता है इससे बिंबका आभास है ॥ ३२ ॥

ससंगत्वविकाराभ्यां बिंबलक्षणहीनता ॥
स्फूर्तिरूपत्वमेतस्य बिंबवद्भासनं विदुः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–अब आभासके लक्षणोंकी योग्यताको स्पष्ट करते हैं कि यह चिदाभास ससंग (संगसे युक्त) और विकारी है इससे बिंबके लक्षण जो असंग अविकारि हैं उनसे हीन है और जो इसमें स्फुरणरूप है वही बिंबके समान अवभासन है यह बुद्धिमान् मनुष्य जानते हैं और जैसे हेतुके लक्षणोंसे हीन होकर हेतुके समान जो दीखैं वे हेत्वाभास होते हैं इसी प्रकार चैतन्यके लक्षणसे हीन हो कर चेतनके समान जो दीखै वह चिदाभास होता है ॥ ३३ ॥

न हि धीभावभावित्वादाभासोऽस्ति धियः पृथक् ॥
इति चेदल्पमेवोक्तं धीरप्येवं स्वदेहतः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार चिदाभासकी अप्रयोजकताका निराकरण करके अब बुद्धिसे पृथक् उसकी सिद्धिके लिये पूर्वपक्षको कहते हैं कि जैसे मिट्टीके होतसंतेही होता हुआ घट मिट्टीसे पृथक् नही होता इसी प्रकार बुद्धिकी सत्तासे होनेवाला चिदाभासभी बुद्धिसे पृथक् नही होगा-ऐसा यदि कहोगे तो अल्प ही तुमने कहा क्योंकि ऐसे ही देहसे भिन्न बुद्धिभी सिद्ध न होगी ॥ ३४ ॥

देहे मृतेऽपि बुद्धिश्चेच्छास्त्रादस्ति तथासति ॥
बुद्धेरन्यश्चिदाभासः प्रवेशश्रुतिषु श्रुतः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ-अब प्रतिबंदीसे छूटनेकी शंका करते हैं कि देहके मरनेपरभी बुद्धि है अर्थात् देहसे भिन्न बुद्धि इस शास्त्रसे सिद्ध है कि वह आत्मा विज्ञान सहित हुआ इस श्रुतिके बलसे देहसे भिन्न बुद्धिको मानते हो तो बुद्धिसे अन्य चिदाभासभी प्रवेशकी बोधक श्रुतियोंमें सुना है ॥ ३५ ॥

धीयुक्तस्य प्रवेशश्चेन्नैतरेये धियः पृथक् ॥
आत्मा प्रवेशं संकल्प्य प्रविष्ट इति गीयते ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-अब यह शंका करते हैं कि बुद्धिसे युक्तका ही प्रवेश है अन्यका नही सो ठीक नही कि ऐतरेय श्रुतिमें यह कहा है कि बुद्धिसे अतिरिक्त आत्मा प्रवेशका संकल्प करके प्रविष्ट हुआ ॥ ३६ ॥

कथं न्विदं साक्षदेहं मदृते स्यादितीरणात् ॥
विदार्य मूर्धसीमानं प्रविष्टः संसरत्ययम् ॥ ३७ ॥

भाषार्थ-अब उस श्रुतिके ही अर्थको पढते हैं कि इंद्रिय और देह सहित यह जडका समूह मेरे विना कैसे होगा यह विचार कर यह परमात्मा जगत्में प्रविष्ट होकर संसारको प्राप्त होता है अर्थात् जाग्रत् आदि अवस्थाओंको भोगता है ॥ ३७ ॥

कथं प्रविष्टोऽसंगश्चेत्सृष्टिर्वाऽस्य कथं वद ॥
मायिकत्वं तयोस्तुल्यं विनाशश्च समस्तयोः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ-अब असंग आत्माके प्रवेशमें शंका करते हैं कि कदाचित् कहो कि असंग आत्माका प्रवेश कैसे हो सकता है तो इस आत्माकी सृष्टि कैसे हो सकती है यह तुम कहो अर्थात् यह शंका तुमारी सृष्टिमेंभी तुल्य है-कदाचित् कहो कि सृष्टिका कर्ता मायिक है तो प्रवेशका कर्ताभी मायिक है अर्थात् दोनों (सृष्टि जीव) मायिक हैं और उनका विनाश तुल्य है अर्थात् दोनोंका नाश होता है ॥ ३८ ॥

समुत्थायैष भूतेभ्यस्तान्येवानुविनश्यति ॥
विस्पष्टमिति मैत्रेय्यै याज्ञवल्क्य उवाच हि ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–अब प्रज्ञानघन इस श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि यह प्रज्ञानघन आत्मा इन देह इंद्रिय आदि पंच भूतोंके कार्यरूप निमित्तोंसे अर्थात् उपाधियोंकी महिमासे भली प्रकार उठकर अर्थात् मैं जीव हूं इस अभिमानको प्राप्त होकर और उन्हीं देह आदिकोंके नाश होते नष्ट होता है अर्थात् जीव अभिमानको त्याग देता है इस प्रकार सोपाधिकका विनाश, याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीके प्रति स्पष्ट कहा है-भावार्थ-यह है कि, यह आत्मा भूतोंकी महिमासे जीव भावको प्राप्त होकर और उनके नाश होनेके समय नाशको प्राप्त होता है यह याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीके प्रति स्पष्ट कहा है ॥ ३९ ॥

अविनाश्ययमात्मेति कूटस्थः प्रविवेचितः ॥
मात्रासंसर्ग इत्येवमसंगत्वस्य कीर्तनात् ॥ ४० ॥

भाषार्थ–यह आत्मा अविनाशी अनुच्छित्ति (नाशका अभाव) धर्मवान् है इस श्रुतिसे जीवसे भिन्न कूटस्थ दिखाया और मात्रा (देह आदि विषय) ओंका संसर्ग (संबंध) इस आत्माको नहीं होता है इस श्रुतिमें जीवको असंग कहा है ॥ ४० ॥

जीवापेतं वाव किल शरीरं म्रियते न सः ॥
इत्यत्र न विमोक्षोर्थः किंतु लोकांतरे गतिः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि जीवसे रहित यह शरीर मरता है और निश्चय है कि, जीव नहीं मरता इस श्रुतिसे औपाधिकजीवकोभी अविनाशी कहा है सो ठीक नहीं कि, वह श्रुति अन्य देहकी प्राप्तिके विषयमें है सर्वथा नाशके अभावको बोधन नहीं करती इससे जीवसे रहित शरीरका मरण है जीवका नहीं यहां विमोक्ष (अत्यंत नाशका न होना) अर्थ नहीं है किंतु लोकांतरमें गति अर्थात् जीवकी प्राप्ति अर्थ है ॥ ४१ ॥

नाहं ब्रह्मेति बुध्येत स विनाशीति चेन्न तत् ॥
सामानाधिकरण्यस्य बाधायामपि संभवात् ॥ ४२ ॥

---

१ प्रज्ञान घन एवैतेभ्यो भूतेभ्य समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति नप्रेत्य संज्ञास्ति । २ अविनाशी वारेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा । ३ मात्रा संसर्गस्त्वस्य भवति । ४ जीवापेतं वाव किल इदं म्रियते न जीवो म्रियते ।

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि जीवको अविनाशी माननेमें-मैं ब्रह्म हूं यह अविनाशी ब्रह्मके संग एकताका ज्ञान न घट सकेगा कि वह जीव विनाशी है तो उसको अहंब्रह्मास्मि यह बोध न होगा सो ठीक नहीं क्योंकि सामानाधिकरण्य (एकताका ज्ञान) बाधमेंभी हो सकता है अर्थात् जीवभावके बाधसे ब्रह्मभावका ज्ञान हो सकता है इससे विनाशी और अविनाशीकी एकता होनेमें कोई बाधक नहीं है ॥ ४२ ॥

योऽयं स्थाणुः पुमानेष पुंधिया स्थाणुधीरिव ॥
ब्रह्मास्मीति धिया शेषाप्यहंबुद्धिर्निवर्त्यते ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–अब बाधमें सामानाधिकरण्य करके वाक्यार्थज्ञानका प्रकार वार्तिककारोंने जो दृष्टांतपूर्वक कहा है उसको उदाहरणपूर्वक दिखाते हैं कि जो यह स्थाणु है वह पुरुष है इस वाक्यमें जैसे पुरुषबुद्धिसे स्थाणुबुद्धिकी निवृत्ति होती इसी प्रकार अहंब्रह्मास्मि इस बोधसे अहं बुद्धि (कर्ता भोक्ता अहं) कि निवृत्तिहै हो जाती है ॥ ४३ ॥

नैष्कर्म्यसिद्धावप्येवमाचार्यैः स्पष्टमीरितम् ॥
सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वमतोऽस्तु तत् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार वार्तिककार आचार्योंने नैष्कर्म्य सिद्धि ग्रंथमें स्पष्ट कहा है कि सामानाधिकरण्य बाधके लिये है इसी कारणसे ब्रह्माहमस्मि इस वाक्यमें बाधके लिये सामानाधिकरण्य रहो ॥ ४४ ॥

सर्वं ब्रह्मेति जगता सामानाधिकरण्यवत् ॥
अहं ब्रह्मेति जीवेन सामानाधिकृतिर्भवेत् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि श्रुतिमें बाधके विषै सामानाधिकरण्य कहीं नही देखा सो ठीक नहीं कि सर्वंह्येतद्ब्रह्म (यह सब ब्रह्म है) इस श्रुतिमें जैसे जगत्के संग सामानाधिकरण्य है ऐसे ही अहं ब्रह्म (मैं ब्रह्म हूं) यहां जीवके संग सामानाधिकरण्य हो जायगा ॥ ४५ ॥

सामानाधिकरण्यस्य बाधार्थत्वं निराकृतम् ॥
प्रयत्नतो विवरणे कूटस्थस्य विवक्षया ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि विवरणाचार्योंने बाधा सामानाधिकरण्यका खंडन कैसे किया है सोभी ठीक है कि उन्होंने अहं शब्दसे कूटस्थ लेनेकी इच्छासे सामा-

नाधिकरण्य बाधके लिये है इसका निराकरण प्रयत्नसे विवरणग्रंथमें किया है ॥ ४६ ॥

शोधितस्त्वंपदार्थो यः कूटस्थो ब्रह्मरूपताम् ॥
तस्य वक्तुं विवरणे तथोक्तमितरत्र च ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–अब कूटस्थकी विवक्षासे॰ इस पूर्वोक्तका वर्णन करते हैं कि शोधित अर्थात् बुद्धि आदिसे पृथक् किया जो त्वंपदका लक्ष्य अर्थ कूटस्थ है उसको ब्रह्म-रूप (सत्य आदिरूप) कहनेके लिये विवरण आदि और अन्य ग्रंथोंमें बाधा सामानाधिकरण्यके निषेध पूर्वक मुख्य सामानाधिकरण्य कहा है अर्थात् त्वंपदके लक्ष्य कूटस्थ और ब्रह्मका सामानाधिकरण्य सिद्ध किया है ॥ ४७ ॥

देहेंद्रियादियुक्तस्य जीवाभासभ्रमस्य या ॥
अधिष्ठानचितिः सैषा कूटस्थात्र विवक्षिता ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–अब कूटस्थ और ब्रह्मकी एकताकी संभावनाके लिये कूटस्थ शब्दके अर्थको कहते हैं कि देह इंद्रिय मन आदिसे युक्त जो आभासरूप जीव उस भ्रमका अधिष्ठान जो चिति (चेतन) है वह इस वेदांतशास्त्रमें कूटस्थपदसे विवक्षित (कहने योग्य) है ॥ ४८ ॥

जगद्भ्रमस्य सर्वस्य यदधिष्ठानमीरितम् ॥
त्रय्यंतेषु तदत्र स्याद्ब्रह्मशब्दविवक्षितम् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–अब ब्रह्म शब्दके अर्थको कहते हैं कि संपूर्ण जगत्‌रूप जो भ्रम उसका जो अधिष्ठान कहा है वह यहां वेदांतोंमें ब्रह्मशब्दसे विवक्षित है अर्थात् उसको ब्रह्म कहते हैं ॥ ४९ ॥

एतस्मिन्नेव चैतन्ये जगदारोप्यते यदा ॥
तदा तदेकदेशस्य जीवाभासस्य का कथा ॥ ५० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि जीव भ्रमका अधिष्ठान कूटस्थ नहीं हो सकता क्योंकि जीव आरोपित नहीं है सो ठीक नहीं कि जब इसी चैतन्यमें जगत्‌का आ-रोप है तो जगत्‌का एकदेश जो जीवाभास उसकी क्या कथा है अर्थात् उसका आरोप अवश्य हो सकता है और इससे जीव जगत्‌का एकदेश हो सकता है कि इस जीवरूपसे जगत्‌में प्रविष्ट होकर नामरूप किये ॥ ५० ॥

जगत्तदेकदेशाख्यसमारोप्यस्य भेदतः ॥
तत्त्वंपदार्थौ भिन्नौ स्तो वस्तुतस्त्वेकता चितेः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि जगत्का अधिष्ठान चैतन्य एक है इससे तत् त्वं पदोंके अर्थका भेद नहीं होगा तो तत् त्वंपदके अर्थ भिन्न २ हैं यहां पुनरुक्ति दोष होगा सो ठीक नहीं कि आरोप करने योग्य जो जगत् और जगत्का एकदेश (जीव) हैं उनके भेदसे तत् त्वंपदोंके अर्थ भिन्न २ है और वस्तुतः (सिद्धांतसे) तो चिति (चेतन) की एकता है अर्थात् उपाधिसे भेद है स्वतः नहींहै ॥ ५१ ॥

कर्तृत्वादीन्बुद्धिधर्मान् स्फूर्त्याख्यां चात्मरूपताम् ॥
दधद्विभाति पुरत आभासोऽतो भ्रमो भवेत् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि चिदाभासमें शुक्ति रजत आदिके समान अधिष्ठान और आरोप्य (भ्रमके योग्य) दोनोंधर्म नहीं देखते इससे आरोपित कैसे होसकता है सो ठीक नहीं कि कर्तृत्व आदि जो बुद्धिके धर्म हैं और स्फुरण लक्षण जो आत्माका धर्म है उन दोनोंको धारण करता हुआ चिदाभास अग्रभागमें (स्पष्ट) दीखता है इससे आभास भ्रम होता है अर्थात् बुद्धिरूप उपाधिसे कर्तृत्व आदि और चैतन्यको धारण करनेसे भ्रमरूप हो सकता है ॥ ५२ ॥

का बुद्धिः कोऽयमाभासः को वात्माऽत्र जगत्कथम् ॥
इत्यनिर्णयतो मोहः सोऽयं संसार इष्यते ॥ ५३ ॥

भाषार्थ-अब बुद्धि आदिकोंके स्वरूपका जो अज्ञान उसको भ्रमका कारण कहते हैं कि बुद्धि कौन है और यह आभास कौन है इसमें आत्मा कौन है जगत् कैसे हुआ इस प्रकार निर्णयको न करते हुये मनुष्यको जो मोह है उसको ही संसार कहते हैं ॥ ५३ ॥

बुद्ध्यादीनां स्वरूपं यो विविनक्ति स तत्त्ववित् ॥
स एव मुक्त इत्येवं वेदांतेषु विनिश्चयः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ-बुद्धि आदिके स्वरूपका जो विवेचन करता है अर्थात् पृथक् २ जानता है वही तत्त्ववेत्ता है और वही मुक्त है यह वेदांतोंमें निश्चय है अर्थात् बुद्धि आदिके स्वरूपका विवेक ही पूर्वोक्त भ्रमका निवर्तक है और वह विवेकी ही ज्ञानी है ॥५४॥

एवं च सति बंधः स्यात्कस्येत्यादिकुतर्कजाः ॥
विडंबना दृढं खंड्याः खंडनोक्तिप्रकारतः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—जब बंध और मोक्षका इस पूर्वोक्त प्रकारसे अविवेक ही मूल है तो अद्वैत-वादमें किसको बंध और किसको मोक्ष होगा इत्यादि कुतर्कोंसे तार्किकोंकी जो विडंबना हैं वे खंडनमें कहे हुए प्रकारसे भली प्रकार खण्डन करने योग्य है ॥५५॥

वृत्तेः साक्षितया वृत्तिप्रागभावस्य च स्थितः ॥
बुभुत्सायां तथाऽज्ञोऽस्मीत्याभासाज्ञानवस्तुनः ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार श्रुति और युक्तियोंसे बुद्धि आदिसे पृथक् कूटस्थको दिखा कर पुराणोक्त कूटस्थके विवेकको कहते हैं कि काम आदि वृत्तियोंकी उत्पत्तिके समयमें और वृत्तियोंसे पूर्व वृत्तियोंके प्रागभावके समयमें और बोधकी इच्छाके समयमें और बोधसे पूर्व मैं अज्ञ हूं—इस प्रकार अनुभूयमान अज्ञानके समयमें साक्षीरूप शिव (कूटस्थ) ही टिकता है ॥ ५६ ॥

असत्यालंबनत्वेन सत्यः सर्वजडस्य तु ॥
साधकत्वेन चिद्रूपः सदा प्रेमास्पदत्वतः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—जो मिथ्याभूत जगत्का आलंबन (अधिष्ठान) है और जो सत्यरूप और संपूर्ण जड पदार्थोंका प्रकाशक सदा प्रेमका आस्पद होनेसे आनंदरूप वह शिव है ॥ ५७ ॥

आनंदरूपः सर्वार्थसाधकत्वेन हेतुना ॥
सर्वसंबंधवत्त्वेन संपूर्णः शिवसंज्ञितः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—जो आनंदरूप संपूर्ण पदार्थोंका प्रकाशकरूप होनेसे और संपूर्ण पदार्थोंका संबंधी होनेसे संपूर्णरूप शिव है और यहां यह अनुमान है कि विवादका-आस्पद शिव, वृत्ति आदिसे भिन्न है वृत्ति आदिका साक्षी होनेसे जो वृत्ति आदि-से भिन्न नहीं वह वृत्ति आदिका साक्षीभी नहीं जैसे वृत्ति आदि विवादका स्थान शिव, सत्य होने योग्य है मिथ्याका अधिष्ठान होनेसे असत्य रजतका अधिष्ठान शुक्तिके समान विवादका स्थान शिव, चिद्रूप है जडमात्रका आभासक होनेसे जो चिद्रूप नहीं होता वह जडका प्रकाशकभी नहीं होता जैसे घट आदि-विवादका स्थान शिव, परमानंद रूप है, श्रेष्ठ प्रेमका आश्रय होनेसे, जो परमानंद नहीं- वह परम प्रेमका आस्पद नहीं जैसे घट आदि विवादका स्थान शिव, परिपूर्ण है—सबका संबंधी होनेसे, आकाशके समान—सबका संबंधी, संपूर्ण अर्थोंके प्रकाश करनेसे जानना विवादका स्थान शिव, सबका सबंधीहै सबका प्रकाशक होनेसे जो सबका संबंधी नहीं होता वह सबका प्रकाशकभी नहीं होता जैसे दीप आदि ॥ ५८ ॥

इति शैवपुराणेषु कूटस्थः प्रविवेचितः ॥
जीवेशत्वादिरहितः केवलः स्वप्रभः शिवः ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्त पुराणवाक्यके तात्पर्यको कहते हैं कि इस प्रकार सूत संहिता आदि शैव पुराणोंमें जीव, ईश्वर, आदिकी कल्पनासे रहित केवल, अद्वि-तीय, स्वयंप्रकाश, चैतन्यरूप, शिवरूप जो कूटस्थ है उसका विवेचन किया है॥५९॥

मायाभासेन जीवेशौ करोतीति श्रुतत्वतः ॥
मायिकावेव जीवेशौ स्वच्छौ तौ काचकुंभवत् ॥ ६० ॥

भाषार्थ—अब जीव ईशसे भिन्न कूटस्थको दिखाते हैं-कि, माया आभाससे जीव और ईश्वरको करती है इस श्रुतिसे जीव और ईश मायिक हैं अर्थात् माया और आविद्याके आधीन वे दोनों चिदाभास, मायिक हैं कदाचित् कहो कि मायिक मान-नेसे, वे, देह आदिसे विलक्षण न होंगे-सो ठीक नही क्योंकि कांचके कुंभकी समान वे दोनों स्वच्छ हैं अर्थात् जैसे काचका कुंभ पार्थिव होनेपरभी घट आदिसे स्वच्छ है इसी प्रकार मायिकभी जीव ईश्वर देह आदिसे स्वच्छ है ॥ ६० ॥

अनजन्यं मनो देहात्स्वच्छं यद्वत्तथैव तौ ॥
मायिकावपि सर्वस्मादन्यस्मात्स्वच्छतां गतौ ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि घट और काचके कुंभके हेतु जो मृद्विशेष (भिन्न-२ मिट्टी) हैं उनके भेदसे उनकी विलक्षणता उचित है जगत् और जीव ईश्वरके भेदका हेतु जो माया है वह एक है इससे जीव ईश्वर जगत्से विलक्षण कैसे हो सकते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि जैसे अन्नसे पैदा हुवा मनअन्नसेपैदा हुए देहसे स्वच्छ है तैसे ही जीव और ईश मायिक होनेपरभी अन्य सबसे स्वच्छ हैं ॥ ६१ ॥

चिद्रूपत्वं च संभाव्यं चित्त्वेनैव प्रकाशनात् ॥
सर्वकल्पनशक्ताया मायाया दुष्करं न हि ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि काच आदिके समान स्वच्छ रहो जीव और ईश, चेतन, कैसे हो सकते हैं सो ठीक नहीं क्योंकि चिद्रूपसे प्रकाश होनेसे जीव और ईशको चिद्रूप होनेकी संभावना हो सकती है, कदाचित् कहो कि मायिक जावेश चिद्रूप नहीं हो सके सो ठीक नहीं क्योंकि संपूर्ण कल्पना करनेमें समर्थ मायाको कौन वस्तु दुष्कर है अर्थात् मायामें सब वस्तु बन सक्ती हैं ॥ ६२ ॥

अस्मन्निद्राऽपि जीवेशौ चेतनौ स्वप्नगौ सृजेत् ॥
महामाया सृजत्येतावित्याश्चर्यं किमत्र ते ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—अब कैमुतिकन्यायसे पूर्वोक्त अर्थको दृढ करते हैं- कि हमारी निद्राभी स्वप्नके चेतन जीव ईशको रच लेती है तो महामाया जीव ईशको रचती है इस बातमें आपको क्या आश्चर्य है ॥ ६३ ॥

सर्वज्ञत्वादिकं चेशे कल्पयित्वा प्रदर्शयेत् ॥
धर्मिणं कल्पयेद्याऽस्याः को भारो धर्मकल्पने ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि ईश्वरको मायिक मानोगे तो जीवके समान असर्वज्ञ हो जायगा सो ठीक नहीं क्योंकि वह माया ईश्वरमें सर्वज्ञत्व आदिकोभी कल्पना करके दिखाती है-क्योंकि जिसने धर्मी (ईश्वर) की कल्पना की उसको धर्मकी कल्पना करनेमें कौन भार है अर्थात् सर्वज्ञत्वरूप धर्मकीभी कल्पना माया कर सकती है ॥ ६४ ॥

कूटस्थेऽप्यतिशंका स्यादिति चेन्माऽतिशंक्यताम् ॥
कूटस्थमायिकत्वे तु प्रमाणं न हि विद्यते ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि यह अतिप्रसंग (शंका) कूटस्थमेंभी हो सकती है अर्थात् कूटस्थभी मायिक हो जायगा—सो ठीक नहीं कि कूटस्थमें शंका मत करो क्योंकि कूटस्थभी मायिक है इसमें कोई प्रमाण नहीं है ॥ ६५ ॥

वस्तुत्वं घोषयंत्यस्य वेदांताः सकला अपि ॥
सपत्नरूपं वस्त्वन्यन्न सहंतेऽत्र किंचन ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि कूटस्थके वास्तवरूपमेंभी कोई प्रमाण नहीं मिलता सो ठीक नहीं कि संपूर्ण वेदांत इस कूटस्थको वस्तु कहते हैं और कूटस्थके पारमार्थिक होनेमें जो तर्क आदि सपत्न (शत्रु) हैं उनको किंचित् भी विद्वान् मनुष्य नहीं सहते ॥ ६६ ॥

श्रुत्यर्थं विशदीकुर्मो न तर्काद्वच्मि किंचन ॥
तेन तार्किकशंकानामत्र कोऽवसरो वद ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि जीव ईशके अवास्तव वास्तवमें श्रुतियोंको पढते हो तर्क तो कहते ही नहीं सो ठीक नहीं कि हम श्रुतिके अर्थको विशद करते हैं तर्कसे

किंचित् भी नहीं कहते तिससे तार्किकोंकी शंकाका यहां कौन अवसर है अर्थात् नहीं है ॥ ६७ ॥

तस्मात्कुतर्कं संत्यज्य मुमुक्षुः श्रुतिमाश्रयेत् ॥
श्रुतौ तु माया जीवेशौ करोतीति प्रदर्शितम् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ–तिससे मुमुक्षुपुरुष कुतर्कको त्यागकर श्रुतिका आश्रय ले और श्रुतिमें तो यह दिखाया ही है कि माया जीव और ईशको करती है ॥ ६८ ॥

ईक्षणादिप्रवेशांता सृष्टिरीशकृता भवेत् ॥
जाग्रदादिविमोक्षांतः संसारो जीवकर्तृकः ॥ ६९ ॥

भाषार्थ–ईक्षण आदि और प्रवेशपर्यंत सृष्टि तो ईश्वरकी की हुई है और जाग्रत्से मोक्षपर्यंत संसार जीवका किया है ॥ ६९ ॥

असंग एव कूटस्थः सर्वदा नास्य कश्चन ॥
भवत्यतिशयस्तेन मनस्येवं विचार्यताम् ॥ ७० ॥

भाषार्थ–कूटस्थकी असंगता और मरण जन्म आदिरूप व्यवहारकी असत्ताका वर्णन कर चुके इससे मुमुक्षु सदैव अपने मनमें यह विचारे कि कूटस्थ असंग ही है और इस कूटस्थको किंचन (कोई) भी व्यवहारका अतिशय (जन्ममरण आदि) नहीं है ॥ ७० ॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ॥
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ७१ ॥

भाषार्थ–अब कूटस्थमें जन्म आदिका अतिशय नहीं इसमें श्रुतिको प्रमाण कहते हैं कि न निरोध (नाश) है न उत्पत्ति है न कोई बद्ध (बंधा हुआ) है और न कोई साधक है और न कोई मुमुक्षु है और न कोई मुक्त है यही परमार्थता है अर्थात् सिद्धांत है ॥ ७१ ॥

अवाङ्मनसगम्यं तं श्रुतिर्बोधयितुं सदा ॥
जीवमीशं जगद्वापि समाश्रित्य प्रबोधयेत् ॥ ७२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि जहां तहां श्रुतियोंमें जीव ईश्वरका प्रतिपादन किस लिये किया है सो ठीक नहीं कि जीव ईश वा जगत्का आश्रय लेकर श्रुति, वाणी और मनसे अगम्य कूटस्थके बोधनार्थ मुमुक्षुको बोधन करती है ॥७२॥

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ॥
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वीत्याचार्यभाषितम् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि यदि एक ही तत्व श्रुतियोंसें जाना जाता है तो श्रुतियोंमें विगानं (फरक) क्या दीखता है सो ठीक नहीं कि तत्वमें भेद नहीं है किंतु उसके बोधनकी रीतियोंमें भेद है और वहभी बोधनके योग्य पुरुषके चित्तकी विषमताके अनुसार होता है यह सुरेश्वराचार्योंने कहा है कि जिस २ प्रक्रियासे पुरुषों को प्रत्यगात्माका ज्ञान हो वही२प्रक्रिया यहां श्रेष्ठ हैं यह आचार्योंने कहा है ॥७३॥

श्रुतितात्पर्यमखिलमबुद्ध्वा भ्राम्यते जडः ॥
विवेकी त्वखिलं बुद्ध्वा तिष्ठत्यानंदवारिधौ ॥ ७४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि श्रुति एकरूप है तो उसके वक्ता क्यों विवाद करते हैं सो ठीक नही कि श्रुतिके संपूर्ण तात्पर्यको न जानकर जड मनुष्य भ्रमको प्राप्त होता है और विवेकी तो श्रुतिके संपूर्ण तात्पर्यको जानकर आनंदके समुद्रमें टिकता है ॥ ७४ ॥

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यथा तथा ॥
चिदाकाशस्य नो हानिर्न वा लाभ इति स्थितिः ॥ ७५ ॥

भाषार्थ–अब विवेकीके निश्चयको कहते हैं कि यह मायारूप, मेघ चिदाकाशके जगत्‌रूप जलकी वर्षा जैसे तैसे करो न इससे हमें कुछ लाभ है और न हानि है यह सिद्धांत है ॥ ७५ ॥

इमं कूटस्थदीपं योऽनुसंधत्ते निरंतरम् ॥
स्वयं कूटस्थरूपेण दीप्यतेऽसौ निरंतरम् ॥ ७६ ॥

भाषार्थ–अब ग्रंथके अभ्यासका फल कहते हैं कि इस कूटस्थदीपका जो मुमुक्षु स्मरण करता है वह स्वयं कूटस्थरूपसे सदैव प्रकाशित होता है ॥ ७६ ॥

इति श्रीविद्यारण्यकृतपंचदश्याः पं॰मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतौ कूटस्थदीपप्रकरणम् ॥ ८ ॥

॥ इति कूटस्थदीपप्रकरणम् ॥ ८ ॥

श्रीः ।

पञ्चदशी ।

भाषाटीकासमेता ।

अथ ध्यानदीपप्रकरणम् ९

संवादिभ्रमवद्ब्रह्मतत्त्वोपास्त्याऽपि मुच्यते ॥
उत्तरे तापनीयेऽतः श्रुतोपास्तिरनेकधा ॥ १ ॥

भाषार्थ–इस वेदांतशास्त्रमें नित्य अनित्य वस्तुके विवेक आदि चार साधनोंसे युक्त और श्रवण मनन, निदिध्यासन, शील मुमुक्षुको तत् त्वंपदके अर्थकी विवेचनाके द्वारा महावाक्योंके अर्थज्ञानसे मोक्ष होता है–यह प्रतिपादन (वर्णन) किया है उसमें उपनिषदोंके सुननेसेभी जिसको बुद्धिकी मंदता आदि प्रतिबंधसे महावाक्योंके अर्थका अपरोक्षज्ञान न हुआ हो उसकोभी महावाक्योंके अर्थ ज्ञानार्थ उपासनाओंके दिखानेका अभिलाषी आचार्य–प्रथम दृष्टांत सहित यह कहते हैं कि ब्रह्मतत्वकी उपासनासेभी मुक्ति होती है कि संवादीके भ्रमके समान ब्रह्मतत्वकी उपासनासेभी मुक्ति होती है इसीसे उत्तरतापनीयमें अनेक प्रकारसे ब्रह्मतत्वकी उपासना सुनी है अर्थात् वर्णन की है ॥ १ ॥

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः ॥
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥ २ ॥

भाषार्थ–अब संवादी भ्रमको ही दिखाते हैं कि मणि और दीपककी जो दो प्रभा हैं उनको मणि समझ कर दौडते हुये जो दो मनुष्य हैं उन दोनोंके मिथ्याज्ञानमें कोई विशेष नहीं है अर्थात् दोनोंको भ्रम है तथापि अर्थक्रियामें विशेष है अर्थात् मणिकी प्रभामें मणिकी बुद्धिसे तो मणि मिलती है और दीपककी प्रभामें मणिका लाभ नहीं होता ॥ २ ॥

दीपोऽपवरकस्यांतर्वर्तते तत्प्रभा बहिः ॥
दृश्यते द्वार्यथान्यत्र तद्वद्दृष्टा मणेः प्रभा ॥ ३ ॥

भाषार्थ–अब वार्तिकका व्याख्यान करते हैं कि किसी मंदिरमें अपवरक (आच्छादनकर्ता) के मध्यमें दीपक वर्तता है और दीपककी प्रभा बाहिर द्वारपर रत्नके समान वर्तुल (गोल) दीखती है और तैसे ही दूसरे मंदिरमें अपवरकके मध्यमें स्थित रत्न (मणि) की प्रभा बाहिर द्वारदेशमें दीपककी प्रभाके समान रत्नकी तुल्य वर्तुल नहीं दीखती है किंतु अन्यथा दीखती है ॥ ३ ॥

दूरे प्रभाद्वयं दृष्ट्वा मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः ॥
प्रभायां मणिबुद्धिस्तु मिथ्याज्ञानं द्वयोरपि ॥ ४ ॥

भाषार्थ–दूसरे इन दोनों प्रभाओंको देखकर दौडते हुये जो दो मनुष्य हैं उन दोनोंकी जो प्रभाओंमें मणिबुद्धि है वह दोनोंका मिथ्याज्ञान है अर्थात् दोनों भ्रांत हैं ॥ ४ ॥

न लभ्यते मणिर्दीपप्रभां प्रत्यभिधावता ॥
प्रभायां धावताऽवश्यं लभ्येतैव मणिर्मणेः ॥ ५ ॥

भाषार्थ–तथापि दीपककी प्रभाके प्रति दौडते हुये मनुष्यको मणिका लाभ नही होता है और मणिकी प्रभामें दौडते हुये मनुष्यको तो मणिका लाभ अवश्य होता है ॥ ५ ॥

दीपप्रभामणिभ्रांतिर्विसंवादिभ्रमः स्मृतः ॥
मणिप्रभामणिभ्रांतिः संवादिभ्रम उच्यते ॥ ६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि यह वार्तिकका अर्थ रहो प्रकरणमें क्या आया सो ठीक नही कि दीपककी प्रभामें जो मणिकी भ्रांति है वह विसंवादीभ्रम कहा है, और मणिकी प्रभामें जो मणिकी भ्रांति है वह संवादी भ्रम कहाता है ॥ ६ ॥

बाष्पं धूमतया बुद्ध्वा तत्रांगारानुमानतः ॥
वह्निर्यदृच्छया लब्धः स संवादिभ्रमो मतः ॥ ७ ॥

भाषार्थ–इस प्रत्यक्षके विषयमें संवादी भ्रमको दिखाकर अनुमानमेंभी दिखाते हैं कि किसी देशमें टिके बाष्प (भाफ) को धूम जानकर वहां यह अनुमान कोई करे कि यह देश, अग्निमान् है, धूम होनेसे, महानसके समान–और उस देशमें गये पुरुषको यदि दैवगतिसे अग्नि मिलजाय तो बाष्पमें जो उसका धूमज्ञान है वह संवादीभ्रम माना है ॥ ७ ॥

गोदावर्युदकं गंगोदकं मत्वा विशुद्धये ॥
संप्रोक्ष्य शुद्धिमाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥ ८ ॥

भाषार्थ–अब वेदमें संवादीभ्रमको कहते हैं कि गोदावरीके जलको गंगाजल मानकर और शुद्धिके लिये अपने देहपर छिडककर मनुष्य शुद्धिको प्राप्त होता है वहभी संवादीभ्रम माना है अर्थात् गोदावरीका जलभी वेदमें शुद्धिका हेतु प्रसिद्ध है इससे उसके प्रोक्षणसेभी शुद्धि है तथापि गोदावरीके जलमें जो गंगाजलकी बुद्धि है वह भ्रमही है ॥ ८ ॥

ज्वरेणाप्तः सन्निपातं भ्रांत्या नारायणं स्मरन् ॥
मृतः स्वर्गमवाप्नोति स संवादिभ्रमो मतः ॥ ९ ॥

भाषार्थ–अन्यभी संवादीभ्रमके उदाहरण देते हैं कि ज्वरसे संनिपातको प्राप्त हुआ मनुष्य यह नारायणका स्मरण मेरे स्वर्गका साधन है इस ज्ञानके विनाभी संनिपातसे पैदा हुये भ्रमके वश अन्य सावधान पुरुषके समान नारायणका स्मरण करता हुआ मरकर स्वर्गको प्राप्त होता है वह संवादी भ्रम कहाता है–क्योंकि दुष्ट चित्तोंने स्मरण कियाभी हरि पापोंको हरता है–और पापी अजामिलभी पुत्रके नारायणनामका उच्चारण करके मुक्तिको प्राप्त हुआ इत्यादि पुराणके वचनोंसे नारायणके नामको पुत्र नाम समझना भ्रम है ॥ ९ ॥

प्रत्यक्षस्यानुमानस्य तथा शास्त्रस्य गोचरे ॥
उक्तन्यायेन संवादिभ्रमाः संति हि कोटिशः ॥ १० ॥

भावार्थ–इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्रके विषयमें पूर्वोक्त न्यायसे कोटियों संवादी भ्रम हैं अर्थात् कार्यकारी भ्रम हैं ॥ १० ॥

अन्यथा मृत्तिकादारुशिलाः स्युर्देवताः कथम् ॥
अग्नित्वादिधियोपास्याः कथं वा योषिदादयः ॥ ११ ॥

भाषार्थ–अब विपक्ष (न मानना) में बाधकको कहकर पूर्वोक्त अर्थको दृढ करते हैं कि अन्यथा (संवादी भ्रमको न मानोंगे तो) फल सिद्धिके लिये मिट्टी, काष्ठ, शिला, ये देवता मानकर पूजनके योग्य किस प्रकार होते क्योंकि ये स्वतः देवता नही हैं और योषित (स्त्री) आदिभी अग्नि आदिकी बुद्धिसे उपासनाके योग्य कैसे

---

१ हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः–आक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ।

होते अर्थात् नही होते—जैसे कि पंचाग्निविद्यामें जो यह कहा है कि स्त्रीपुरुष दोनों गोतमाग्नि हैं और पृथिवी मेघ और यह स्वर्ग लोक, ये सब गोतमाग्नि हैं अर्थात् इनकी अग्नि समझ कर जो उपासना करना है उससे ब्रह्म लोक मिलता है और आदि पदसे (मनके ब्रह्मरूपसे उपासना करै) इसको ग्रहण और आदित्यका ब्रह्म नाम है इसका ग्रहण समझना—अर्थात् भ्रमके न माननेमें ये सब असंगत हो जांयगे—भावार्थ यह है कि उक्त भ्रम न मानोंगे तो मिट्टी काठ शिला देवता कैसे होंगे और स्त्री आदिकोंकी अग्नि आदिकी बुद्धिसे उपासना कैसे होगी इससे संवादी भ्रमका मानना आवश्यक है ॥ ११ ॥

अयथावस्तुविज्ञानात्फलं लभ्यत ईप्सितम् ॥
काकतालीयतः सोऽयं संवादिभ्रम उच्यते ॥ १२ ॥

भाषार्थ—अब अनेक ग्रंथोंमें वर्णन किये संवादीभ्रमको संक्षेपसे दिखाते हैं कि जहां अयथार्थ वस्तु (विपरीत) के ज्ञानसे काकतालीयन्याय (दैवगति) से वांच्छित फलकी प्राप्ति हो जाय वह, यह, संवादी भ्रम माना है और काकके आते ही तालके फलके पडनेसे जो अकस्मात् काकका मरण उसे काकतालीय कहते हैं १२

स्वयंभ्रमोऽपि संवादो यथा सम्यक्फलप्रदः ॥
ब्रह्मतत्त्वोपासनाऽपि तथा मुक्तिफलप्रदा ॥ १३ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि अयथार्थ वस्तु विषयक ब्रह्मकी उपासनासे मुक्ति न होगी सो ठीक नही कि जैसे स्वयं भ्रमरूपभी संवादी, भ्रम सम्यक् फलका दाता है इसी प्रकार ब्रह्मतत्वकी उपासनाभी मुक्तिरूप फलकी दाता है ॥ १३ ॥

वेदांतेभ्यो ब्रह्मतत्त्वमखंडैकरसात्मकम् ॥
परोक्षमवगम्यैतदहमस्मीत्युपासते ॥ १४ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि ब्रह्मतत्वकी जानकर उपासना करते हो वा बिना जाने जानकर तो नहीं कह सकते क्योंकि मोक्षके हेतु ज्ञानके होतसंते उपासनाही व्यर्थ हो जायगी और दूसरा पक्ष इससे नही घट सकता कि उपासनाके विषयके ज्ञान विना उपासना किसकी होगी—सो ठीक नही कि वेदांतोंसे अखंड एक रसरूप ब्रह्मतत्वको परोक्ष जानकर अहंब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूं) ऐसी उपासनाकी जाती है अर्थात् ब्रह्म आत्माकी एकताका जो अपरोक्ष ज्ञान है वह वेदांतोंसे नही होता इससे

---

१ योषा वा व गोतमाग्निः पुरुषो वा व गोतमाग्निः पृथिवी वा व गोतमाग्निः पर्जन्यो वा व गोतमाग्निरसौ वा व द्युलोकः गोतमाग्निः । २ मनोब्रह्मेत्युपासीत ॥

उपासना व्यर्थ नहीं है और शास्त्रके द्वारा परोक्ष जाना जो ब्रह्म है वह उपासनाका विषय है ॥ १४ ॥

प्रत्यग्व्यक्तिमनुल्लिख्य शास्त्राद्विष्ण्वादिमूर्तिवत् ॥
अस्ति ब्रह्मेति सामान्यज्ञानमत्र परोक्षधीः ॥ १५ ॥

भाषार्थ-अब उपासनाके योग्य ब्रह्मतत्वके परोक्षज्ञानका स्वरूप वर्णन कहते हैं कि जहां बुद्धि आदिके साक्षी आनंदरूप आत्माकी प्रत्यक् व्यक्तिका उल्लेख (नाम) न हो ऐसा जो सत्यज्ञान आदि शास्त्रके वाक्योंसे पैदा हुआ (ब्रह्म है) यह ज्ञान-वह सामान्य ज्ञान इस उपासनामें इस प्रकार परोक्षज्ञान कहा है जैसे विष्णु आदिकी मूर्तिके प्रतिपादक शास्त्रसे विष्णुका परोक्षज्ञान होता है ॥ १५ ॥

चतुर्भुजाद्यवगतावपि मूर्तिमनुल्लिखन् ॥
अक्षैः परोक्षज्ञान्येव न तदा विष्णुमीक्षते ॥ १६ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि शास्त्रसे विष्णु आदिकी चतुर्भुज मूर्ति आदिका ज्ञान होनेसे उसका ज्ञान परोक्ष कैसे हो सकता है सो ठीक नहीं कि चतुर्भुज आदिका ज्ञान होनेपरभी मूर्तिको नेत्रोंसे विषय नहीं करता हुआ पुरुष उस समय विष्णुको नहीं देखता इससे परोक्षज्ञानी ही है ॥ १६ ॥

परोक्षत्वापराधेन भवेन्नातत्त्ववेदनम् ॥
प्रमाणेनैव शास्त्रेण सत्त्वमूर्त्तेर्विभासनात् ॥ १७ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि विष्णु आदिके परोक्ष ज्ञानमें व्यक्तिके उल्लेखका अभाव होनेसे भ्रमत्व हो जायगा सो ठीक नहीं कि परोक्षताके अपराधसे अतत्ववेद नहीं होता अर्थात् परोक्षज्ञान भ्रमका कारण नहीं होता किंतु प्रमाणरूप शास्त्रसे सत्वमूर्तिके भासमान होनेसे यह ज्ञान यथार्थ है क्योंकि भ्रम वही होता है जिसका विषय असत्य हो ॥ १७ ॥

सच्चिदानंदरूपस्य शास्त्राद्भानेऽप्यनुल्लिखन् ॥
प्रत्यंचं साक्षिणं तत्तु ब्रह्मसाक्षान्न वीक्षते ॥ १८ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि सच्चिदानंद व्यक्तिका उल्लेखी ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान जो शास्त्रसे पैदा होता है वह परोक्ष कैसे हो सकता है सो ठीक नहीं कि सत्य ज्ञान अनंत ब्रह्म है नित्य शुद्ध बुद्ध सत्य मुक्त निरंजन जो है वही सब है तत् सत् रूप

[1] सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म–नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरंजनः सद्धीदं सर्वं तत्सत् ।

है इत्यादि शास्त्रसे सच्चिदानंदरूप ब्रह्मका भान होनेपरभी प्रत्यक् साक्षीरूपके अनुल्लेखसे, उस ब्रह्मके प्रत्यक् आत्मस्वरूपको न जानता हुआ मुमुक्षुपुरुष उस ब्रह्मको साक्षात् नही देखता–भावार्थ यह है कि शास्त्रसे सच्चिदानंदरूपके भान होनेपरभी साक्षीरूप प्रत्यक् व्यक्तिको विषय न करनेसे वह मुमुक्षु तिस ब्रह्मको साक्षात् नही देखता है ॥ १८ ॥

शास्त्रोक्तेनैव मार्गेण सच्चिदानंदनिश्चयात् ॥
परोक्षमपि तज्ज्ञानं तत्त्वज्ञानं न तु भ्रमः ॥ १९ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि उस पूर्वोक्त ब्रह्मज्ञानको तत्त्वज्ञान कैसे कहते हो सो ठीक नही कि शास्त्रोक्त मार्गसे ही सच्चिदानंदरूपके निश्चयसे परोक्षभी ब्रह्मज्ञान तत्त्वज्ञानही है भ्रमरूप नही अर्थात् यथार्थ ज्ञान है ॥ १९ ॥

ब्रह्म यद्यपि शास्त्रेषु प्रत्यक्त्वेनैव वर्णितम् ॥
महावाक्यैस्तथाऽप्येतद्दुर्बोधमविचारिणः ॥ २० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि जैसे सत्यज्ञान आदि वाक्योंसे ब्रह्मसच्चिदानंदरूप जाना जाता है इसी प्रकार तत्त्वमसि आदि वाक्योंसे प्रत्यक् रूपकाभी बोध होजायगा इससे शास्त्रसे जन्य ज्ञानभी प्रत्यक् व्यक्तिको विषय करनेसे अपरोक्षही हो जायगा सो ठीक नही कि यद्यपि वेदांत शास्त्रोंमें महावाक्योंसे ब्रह्मका प्रत्यक् रूपसे वर्णन किया है तथापि वह वर्णन किया प्रत्यक्रूप अन्वयव्यतिरेकके उस मनुष्यको जाननेको अशक्य है जिसको तत् त्वं पदके अर्थका विवेक नही है इससे केवल वाक्यसे अपरोक्ष ज्ञान नही होताहै– भावार्थ यह है कि यद्यपि शास्त्रोंमें महावाक्योंसे प्रत्यक् ब्रह्मका वर्णन किया है तथापि विचारहीनको उसका ज्ञान दुर्लभ है ॥ २० ॥

देहाद्यात्मत्वविभ्रांतौ जाग्रत्यां न हठात्पुमान् ॥
ब्रह्मात्मत्वेन विज्ञातुं क्षमते मंदधीत्वतः ॥ २१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि सम्यक्ज्ञान, प्रमाण वस्तुके आधीन है, और प्रमाणभी तत्त्वमसि आदि महावाक्यरूप है, और ब्रह्म आत्माकी एकतारूप वस्तुभी है तो विचारके विना प्रत्यक् ब्रह्म दुर्बोध कैसे है सो ठीक नही कि जबतक देह आदिकोंमें आत्मत्व बुद्धि जागती है तबतक मनुष्य हठसे और मंदबुद्धिके कारण ब्रह्मको आत्मस्वरूप जाननेमें समर्थ नही होताहै अर्थात् ब्रह्म आत्माकी एकताका विरोधी और विचारसे निवृत्त होने योग्य जो देह इंद्रिय आदिमें आत्मत्वका भ्रम

उसके लिये विचार अपेक्षित है भावार्थ यह है कि देह आदिमें आत्माका भ्रम के रहते मंदबुद्धि मनुष्य हठसे ब्रह्मको आत्मस्वरूप नही जान सकता ॥ २१ ॥

ब्रह्ममात्रं सुविज्ञेयं श्रद्धालोः शास्त्रदर्शिनः ॥
अपरोक्षद्वैतबुद्धिः परोक्षाद्वैतबुद्ध्यनुत् ॥ २२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि देह इंद्रिय आदि द्वैत भ्रमके रहते अद्वितीय ब्रह्मका परोक्ष ज्ञानभी न होगा सो ठीक नही कि जो शास्त्रका द्रष्टा श्रद्धावान् है उसको ब्रह्ममात्रका ज्ञान भली प्रकार हो सकता है क्योंकि अपरोक्ष द्वैतका ज्ञान परोक्ष अद्वैत ज्ञानका निवर्तक नही हो सकता है अर्थात् वे परस्पर विरोधी नही है ॥ २२ ॥

अपरोक्षशिलाबुद्धिर्न परोक्षेशतां नुदेत् ॥
प्रतिमादिषु विष्णुत्वे को वा विप्रतिपद्यते ॥ २३ ॥

भाषार्थ–अब अपरोक्ष भ्रम परोक्ष यथार्थ ज्ञानका अविरोधी है इसमें दृष्टांत कहते हैं कि प्रत्यक्ष जो शिलाका ज्ञान है वह अपरोक्ष ईश्वरज्ञानको दूर नही कर सकता–क्योंकि प्रतिमा आदिकोंमें विष्णुके स्वरूपमें कोन विवाद करता है अर्थात् सब विष्णुरूप मानते हैं ॥ २३ ॥

अश्रद्धालोरविश्वासो नोदाहरणमर्हति ॥
श्रद्धालोरेव सर्वत्र वैदिकेष्वधिकारतः ॥ २४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि कोई २ विवादभी करते हैं सो ठीक नही कि अश्रद्धालु जो है उसके अविश्वासमें तो उदाहरण देनाही योग्य नही है क्योंकि सब वेदोक्त कर्मोंमें श्रद्धावान् पुरुषकाही अधिकार है ॥ २४ ॥

सकृदाप्तोपदेशेन परोक्षज्ञानमुद्भवेत् ॥
विष्णुमूर्त्युपदेशो हि न मीमांसामपेक्षते ॥ २५ ॥

भाषार्थ–एकवारही यथार्थ वक्ता जो आप्त मनुष्य उसके उपदेशसे परोक्ष ज्ञान होता है क्योंकि विष्णुकी मूर्तिके उपदेशमें कुछ मीमांसा (विचार) की अपेक्षा नही है कहतेही विष्णुबुद्धि हो जाती है ॥ २५ ॥

कर्मोपास्ती विचार्येते अनुष्ठेयाविनिर्णयात् ॥
बहुशाखाविप्रकीर्णं निर्णेतुं कः प्रभुर्नरः ॥ २६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि फिर शास्त्रोंमें विचार क्यों किये जाते हैं यह शंका

करके करने योग्य कर्म और उपासनाके भेदसे संदेहकी निवृत्तिके लिये विचारकी कर्तव्यताको कहते हैं कि करने योग्यके अनिर्णयसे कर्म और उपासनाका विचार करते हैं क्योंकि अनेक शाखाओंसे युक्त जो वेद है उसके निर्णय करनेको कौन मनुष्य प्रभु (समर्थ) है ॥ २६ ॥

निर्णीतोऽर्थः कल्पसूत्रैर्ग्रथितस्तावताऽस्ति कः ॥
विचारमंतरेणापि शक्तोऽनुष्ठातुमंजसा ॥ २७ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि, तो कर्म उपासनाकाभी न करनाही प्राप्त हुआ सो ठीक नही कि जैमिनी आदि पूर्वाचार्योंने जिस अर्थका निश्चय करा है वह कल्पसूत्रोंमें ग्रथित (संग्रह किया) है उससेही अर्थात्, कल्पसूत्रोंके लेखसेही, उनमें जिसका विश्वास है ऐसा पुरुष विचारके विनाभी कोन पुरुष सुखपूर्वक अनुष्ठान (करना) करनेको समर्थ है अर्थात् विचारशीलही कर सकता है अन्य नही॥२७॥

उपास्तीनामनुष्ठानमार्षग्रंथेषु वर्णितम् ॥
विचाराक्षममर्त्याश्च तच्छ्रुत्वोपासते गुरोः ॥ २८ ॥

भाषार्थ—कदाचित् उपासनाके विचाराभावसे अनुष्ठान न होगा अर्थात् कोईन करेगा सो ठीक नही कि आर्ष (ऋषियोंके कहे) ग्रंथोंमें उपासनाओंका करना कहा है और विचारमें असमर्थ मनुष्य कल्पसूत्रोंमें कहे उनके उपासनाको गुरुके मुखसे सुनकर उपासना करते हैं इससे विचार आवश्यक है ॥ २८ ॥

वेदवाक्यानि निर्णेतुमिच्छन्मीमांसतां जनः ॥
आप्तोपदेशमात्रेण ह्यनुष्ठानं हि संभवेत् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि फिर आजकलकेभी ग्रंथकार वेदवाक्योंका विचार क्यों करते हैं सो ठीक नही कि वेदोंके वाक्योंका निर्णय करनेके लिये मीमांसा (विचार) का अभिलाषी जन आप्त मनुष्योंके उपदेश मात्रसे वह अनुष्ठान कर सकता है इससे आजकलभी विचार आवश्यक है ॥ २९ ॥

ब्रह्मसाक्षात्कृतिस्त्वेवं विचारेण विना नृणाम् ॥
आप्तोपदेशमात्रेण न संभवति कुत्रचित् ॥ ३० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि ब्रह्मकी उपासनाके समान ब्रह्मका साक्षात्कारभी विना विचार उपदेशसेही हो जायगा सो ठीक नही कि ब्रह्मका साक्षात्कार (प्रत्यक्ष) तो विचारके विना मनुष्योंको आप्तोंके उपदेशमात्रसे कहींभी नही होता इससे विचार आवश्यक है ॥ ३० ॥

परोक्षज्ञानमश्रद्धा प्रतिबध्नाति नेतरत् ॥
अविचारोऽपरोक्षस्य ज्ञानस्य प्रतिबंधकः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ–आप्तोंके उपदेशसेही उपासना करनेका उपयोगी परोक्षज्ञान हो जाता ह और अपरोक्ष ज्ञान तो विचारके बिना नही होता यह कह आये, अब उसमें कारणका वर्णन करते हैं कि जिससे अश्रद्धा (अविश्वास) ही परोक्ष ज्ञानका प्रतिबंधक है अविचार नहीं इससे अश्रद्धाकी निवृत्ति होनेपर एक वारके उपदेशसेही परोक्ष ज्ञान होजायगा और अविचारका है प्रतिबंध जिसमें ऐसे अपरोक्ष ज्ञानकी तो विचारद्वारा अविचारकी निवृत्तिके विना उत्पत्ति नही होती है इससे विचार कर्तव्य है– भावार्थ यह है कि अश्रद्धा परोक्ष ज्ञानकी प्रतिबंधक है अन्यकी नही और अविचार अपरोक्ष ज्ञानका प्रतिबंधक है ॥ ३१ ॥

विचार्याप्यापरोक्ष्येण ब्रह्मात्मानं न वेत्ति चेत् ॥
आपरोक्ष्यावसानत्वाद्भूयो भूयो विचारयेत् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि विचार करनेपरभी जब अपरोक्ष ज्ञान न हो तब क्या करै सो ठीक नही कि विचार करभी अर्थात् तत् त्वंपदके अर्थका निश्चयके अनंतरभी ब्रह्मआत्माकी एकताका, अपरोक्ष ज्ञान, न होय तोभी वारंवार विचारही करना क्योंकि विचारसे अन्य कोई अपरोक्ष ज्ञानका हेतु नही है ॥ ३२ ॥

विचारयन्नामरणं नैवात्मानं लभेत चेत् ॥
जन्मांतरे लभेतैव प्रतिबंधक्षये सति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि वारंवार विचार करनेपरभी साक्षात्कार न होय तो विचार व्यर्थ हो जायगा सो ठीक नही कि यदि विचार करता हुआ मरण पर्यंत आत्माको प्राप्त नहोय तो जन्मांतरमें प्रतिबंधका क्षय होनेपर अवश्य प्राप्त होगा– अर्थात् उसको आत्मज्ञान हो जायगा ॥ ३३ ॥

इह वाऽमुत्र वा विद्येत्येवं सूत्रकृतोदितम् ॥
शृण्वंतोऽप्यत्र बहवो यन्न विद्युरिति श्रुतिः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि यह किससे जाना कि जन्मांतरमें फल होता है इस शंकाका उत्तर ब्रह्मसूत्रके कर्ता व्यासके वचनसे कहते हैं कि इस लोकमें वा पर- लोकमें विद्या फल देती है यह सूत्रकारने कहा है और सुनते हुयेभी बहुतसे मुमुक्षु इस जन्ममें जिस ज्ञानको नही जानते यह श्रुति है ॥ ३४ ॥

गर्भ एव शयानः सन् वामदेवोऽवबुद्धवान् ॥
पूर्वाभ्यस्तविचारेण यद्वदध्ययनादिषु ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–इस जन्ममें श्रवण आदिका जो कर्ता है उसको जन्मांतरमें अपरोक्ष ज्ञान होता है इसमेंभी इस[1] श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि गर्भमें सोता हुआही वामदेव पूर्वजन्माभ्यासके विचारसे, ब्रह्मको जानता भया कि गर्भमेंही रहता मैं इन देवताओंको जानताहूं जैसे अध्ययन आदिकोंमें फल जन्मांतरमें होता है ॥ ३५ ॥

बहुवारमधीतेऽपि तदा नायाति चेत्पुनः ॥
दिनांतरेऽनधीत्यैव पूर्वाधीतं स्मरेत्पुमान् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–अब दृष्टांतको स्पष्ट करते हैं कि यदि बहुतवार पढने परभी न आवे तो पुनः दूसरे दिन विनापढेही पूर्व पढे हुयेका पुरुष स्मरण कर लेता है अर्थात् स्वतः ही आजाता है ॥ ३६ ॥

कालेन परिपच्यंते कृषिगर्भादयो यथा ॥
तद्वदात्मविचारोऽपि शनैः कालेन पच्यते ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–अब अन्यभी दृष्टांत दिखाते हैं कि जैसे कृषि, गर्भ, आदिका परिपाक समयपर होता है ऐसेही आत्मविचारभी शनैः २ काल पाकरही पकता है ॥ ३७ ॥

पुनःपुनर्विचारेऽपि त्रिविधप्रतिबंधतः ॥
न वेत्ति तत्त्वमित्येतद्वार्तिके सम्यगीरितम् ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–वारंवार विचार करनेपरभी तीन प्रकारके प्रतिबंधसे तत्त्वको नही जानता यह वार्तिककारोंने भली प्रकार वर्णन किया है अर्थात् पुनः २ विचारको बाधकर प्रतिबंधसे ब्रह्मसाक्षात्कार नही होता ॥ ३८ ॥

कुतस्तज्ज्ञानमिति चेत्तद्धि बंधपरिक्षयात् ॥
असावपि च भूतो वा भावी वा वर्ततेऽथ वा ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–अब उनही वार्तिकोंको कहते हैं और प्रथम पहिले जिसको ज्ञान न हुआ हो इस कालमें ज्ञान होनेके कारणको पूछते हैं कि वह ज्ञान कैसे होता है ऐसा यदि कोई कहे तो वह ज्ञान बंधनके परिक्षय (नाश) से होता है और वह बंधभी भूत भविष्यत् वर्तमानके भेदसे तीन प्रकारका है ॥ ३९ ॥

---

[1] गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानिविश्व ।

अधीतवेदवेदार्थोऽप्यत एव न मुच्यते ॥
हिरण्यनिधिदृष्टांतादिदमेव हि दर्शितम् ॥ ४० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो की प्रतिबंध रहो वह क्या करेगा सो ठीक नही कि जिसने वेद और वेदके अर्थको पढ लिया है वह प्रतिबंधके होनेसेही मुक्त नही होता और प्रतिबंधके रहते ज्ञान नही होता यह बात हिरण्य निधि (सोनेका खजाना) के दृष्टांतसे दिखाई है कि दबी हुयी हिरण्यकी निधिको ऊपर २ विचरते क्षेत्रकारोंसे अन्य जैसे नही जानते इसी प्रकार ये संपूर्ण प्रजा, प्रतिदिन ब्रह्म लोकमें जाती हुयी असत्यसे युक्त हुई–इस ब्रह्म लोकको नही जानती ॥ ४० ॥

अतीतेनापि महिषीस्नेहेन प्रतिबंधतः ॥
भिक्षुस्तत्त्वं न वेदेति गाथा लोके प्रगीयते ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–अब व्यतीत हुये प्रतिबंधसे ज्ञानके अभावको कहते हैं कि भूतभी महिषीके स्नेहरूप प्रतिबंधसे कोई भिक्षु तत्त्वको न जानता भया यह गाथा लोकमें गाई जाती है वह गाथा यह है कि कोई संन्यासी गृहस्थके समय किसी महिषीमें स्नेह करके फिर संन्यासके अनंतर श्रवणमें प्रवृत्त हुआभी उसी स्नेहरूप प्रतिबंधसे गुरुके उपदेश किये तत्वको न जानता भया ॥ ४१ ॥

अनुसृत्य गुरुः स्नेहं महिष्यां तत्त्वमुक्तवान् ॥
ततो यथावद्वेदैष प्रतिबंधस्य संक्षयात् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि फिर, महिषीके स्नेही उसको कैसे ज्ञान हुआ सो ठीक नही कि उसको तत्वका उपदेश कर्ता गुरु महिषीमें स्नेहके अनुसार ही तत्वको कहता भया अर्थात् महिषीरूप उपाधिवाले ब्रह्मका वर्णन करता भया तिससे वह संन्यासी प्रतिबंधके नाश होनेपर यथार्थ ब्रह्मको जानता भया अर्थात् महिषीको असत्य समझ कर ब्रह्मज्ञानी होता भया ॥ ४२ ॥

प्रतिबंधो वर्तमानो विषयासक्तिलक्षणः ॥
प्रज्ञामांद्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार भूत प्रतिबंधको दिखाकर वर्तमानको दिखाते हैं कि वर्तमान-प्रतिबंध ये हैं कि चित्तकी विषयोंमें आसक्ति और बुद्धिकी मंदता अर्थात् तीक्ष्ण

---

१ हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरंतो न विंदेयुः एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छंत्य एतं ब्रह्मलोकं न विंदंति अनृतेन हि प्रत्यूढाः ।

बुद्धिका न होना और कुतर्क अर्थात् शुष्कतर्कोंसे श्रुतिके अन्यथा अर्थ करने-और विपर्ययमें दुराग्रह अर्थात् आत्माको कर्ता आदि माननेमें हठ करना-युक्तिसे रहित आग्रहको दुराग्रह कहते हैं इन प्रतिबंधोंमें एकके भी होनेमें ज्ञान नही हुआ करता है ॥ ४३ ॥

शमाद्यैः श्रवणाद्यैश्च तत्र तत्रोचितैः क्षयम् ॥
नीतेऽस्मिन्प्रतिबंधेऽतः स्वस्य ब्रह्मत्वमश्नुते ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-अब इस प्रतिबंधकीभी निवृत्तिके हेतुओंको कहते हैं कि शम- दमन-उपराम-तितिक्षा-सावधानता और श्रवण, मनन, निदिध्यासन-ये जो तिस २ समयमें उचित हैं उनसे इस प्रतिबंधके क्षय होनेपर अपने प्रत्यगात्माके ब्रह्मरूपको प्राप्त होता है ॥ ४४ ॥

आगामिप्रतिबंधश्च वामदेवे समीरितः ॥
एकेन जन्मना क्षीणो भरतस्य त्रिजन्मभिः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-अब भावी प्रतिबंधको दिखाते हैं कि आगामी प्रतिबंध वामदेवमें भली प्रकार कहा कि जन्मांतरका हेतु आगामी प्रतिबंध (प्रारब्धका शेष) जिसकी भोगके बिना निवृत्ति ही नही होती है और निवृत्तिमेंभी कालके नियम नही हैं वह प्रतिबंध वामदेवका तो एक जन्मसे नष्ट भया और भरतका तीन जन्ममें क्षीण हुआ ॥ ४५ ॥

योगभ्रष्टस्य गीतायामतीते बहुजन्मनि ॥
प्रतिबंधक्षयः प्रोक्तो न विचारोऽप्यनर्थकः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि एक जन्म तीन जन्मके कहनेसे कालका नियम तो तुमने ही कह दिया सो ठीक नही कि योगभ्रष्टके प्रतिबंधका क्षय गीतामें बहुत जन्मोंके बीतनेपर कहा है इससे विचार भी निष्फल नही क्योंकि प्रतिबंधकी निवृत्ति होनेपर ही अपरोक्षज्ञानरूप फलका संभव है ॥ ४६ ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानात्मतत्त्वविचारतः ॥
शुचीनां श्रीमतां गेहे साभिलाषोऽभिजायते ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-अब गीतामें कहे अर्थको ही कहते हैं कि योगसे भ्रष्ट मनुष्य पुण्यात्माओंके लोकोंमें प्राप्त होकर अर्थात् स्वर्ग आदिमें जाकर वहां बहुत कालतक सुख भोगकर उस भोगके अनंतर अभिलाषा होय तो इस लोकमें मातापिताके वीर्यसे शुद्ध जो लक्ष्मीवालोंका कुल उसमें जन्म लेता है ॥ ४७ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ॥
निस्पृहो ब्रह्मतत्त्वस्य विचारात्तद्धि दुर्लभम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ-अथवा वह योगभ्रष्ट निस्पृह अर्थात् विषयोंसे अत्यंत विरक्त होय तो बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें ही ब्रह्मतत्वके विचारसे पैदाहोताहै क्योंकि वह योगियोंके कुलमें जन्म अत्यंत दुर्लभ है और आत्मतत्वके विचारसे जिनका चित्त एकाग्र है वे योगी होते हैं उनके कुलमें जन्म होना पुण्यका फल है ॥ ४८ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ॥
यतते च ततो भूयस्तस्मादेतद्धि दुर्लभम् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-अब उसकी दुर्लभताको कहते हैं कि जिससे तिस जन्ममें पूर्वदेहके उसी बुद्धिके संयोगको अर्थात् तत्त्वविचारके योग्य बुद्धिको प्राप्त होता है और कुछ यही लाभ नही है किंतु उसी पूर्वजन्मके यत्नसे फिर भी आत्माके विचारमें अधिक यत्न करता है-तिससे यह योगियोंके कुलमें जन्म दुर्लभ है अर्थात् पुण्यके विना मिलना कठिन है ॥ ४९ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ॥
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ५० ॥

भाषार्थ-अब पुनः अभ्यासमें कारणको कहते हैं कि योगभ्रष्ट वह मनुष्य तिसी पूर्वजन्मके अभ्याससे अवश (पराधीन) आकर्षण (खींचना) किया जाता है अर्थात् वह पूर्वाभ्यास उसी तरफ खींच ले जाता है इस प्रकार करते २ अनेक जन्मोंमें सिद्धिको भली प्रकार प्राप्त हुआ, वह, परमगतिको प्राप्त हो जाता है अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥ ५० ॥

ब्रह्मलोकाभिवांछायां सम्यक् सत्यां निरुध्य तम् ॥
विचारयेद्य आत्मानं न तु साक्षात्करोत्ययम् ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-अब अन्यभी आगामी प्रतिबंधको दिखाते हैं कि ब्रह्मलोककी वांछा होनेपर उसको भली प्रकार रोक कर जो आत्मविचारको करै वह आत्माके साक्षात्कारको प्राप्त नही होता अर्थात् ब्रह्मलोककी वांछारूप प्रतिबंधसे वह ब्रह्मज्ञानी नही होता ॥ ५१ ॥

वेदांतविज्ञानसुनिश्चितार्था इति शास्त्रतः॥
ब्रह्मलोके स कल्पांते ब्रह्मणा सह मुच्यते ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि फिर उसकी कभीभी मुक्ति न होगी सो ठीक नही कि वेदांतके ज्ञानसे भली प्रकार निश्चित किया है अर्थ जिन्होंने ऐसे संन्यासी शुद्ध अंतः-करण हुये अंत समयमें ब्रह्मलोकमें सब मुक्त हो जाते हैं–और ब्रह्माके संग वे सब प्रलयके समय परंपद परमेश्वरके मध्यमें प्रविष्ट हो जाते हैं इस शास्त्रके कथनानुसार वे ब्रह्म लोककी प्राप्तिके अनंतर तत्त्वको जानकर ब्रह्मके संग उनकी मुक्ति हो जाती है ॥ ५२ ॥

केषांचित्स विचारोऽपि कर्मणा प्रतिबध्यते ॥
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य इति श्रुतेः ॥ ५३ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार तत्त्वविचार करनेपर प्रतिबंधके वश यहां ब्रह्म साक्षात्कार नही होता यह कह कर जो मनुष्य महापापी है–उनको वह विचारभी दुर्लभ है इसका वर्णन करते हैं कि किन्हीं२ मनुष्योंके तो उस, विचारकाभी कर्मसे प्रतिबंध हो जाता है क्योंकि श्रवणके लियेभी वह ब्रह्म बहुतसे मनुष्योंको लभ्य नही अर्थात् ब्रह्मकी वार्ताओंका श्रवणभी दुर्लभ है यह श्रुतिमें लिखा है ॥ ५३ ॥

अत्यंतबुद्धिमांद्याद्वा सामग्र्या वाप्यसंभवात् ॥
यो विचारं न लभते ब्रह्मोपासीत सोऽनिशम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ–इतने ग्रंथसे प्रतिबंधके रहते तत्वका साक्षात्कार और उसका हेतु विचार नही होता यह कहकर अब यह कहते हैं कि विचारमें असमर्थ मनुष्य पुरुषार्थ चाहै तो वह क्या करै कि अत्यंत बुद्धिकी मंदतासे वा सामग्रीके न होनेसे जिसको बिचारकी प्राप्ति न हो अर्थात् उपदेशका कर्ता गुरु न मिलै वा देशकालके अभावसे विचार न कर सकै तो वह रात्रिदिन ब्रह्मकी उपासना न करै ॥ ५४ ॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य न ह्युपास्तेरसंभवः ॥
सगुणब्रह्मणीवात्र प्रत्ययावृत्तिसंभवात् ॥ ५५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि निर्गुणब्रह्मतत्त्वको गुण रहित होनेसे उसकी उपा-सना न घटैगी सो ठीक नही कि निर्गुणब्रह्मतत्वकी उपासनाका असंभव नहीं है क्योंकि सगुणब्रह्मके समान निर्गुणब्रह्ममेंभी प्रत्ययावृत्ति (ब्रह्माकारवृत्ति) का संभव है अर्थात् ब्रह्माकार प्रतीतिको ही उपासना कहते हैं ॥ ५५ ॥

---

१ वेदांतविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परांतकाले परामृताः परि-मुच्यंति सर्वे ॥ ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यांते कृतात्मानः प्रविशंति परंपदम् ।

अवाङ्मनसगम्यंतन्नोपास्यमितिचेत्तदा ॥
अवाङ्मनसगम्यस्य वेदनं न च संभवेत् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि निर्गुणब्रह्म वाणी और मनका अविषय होनेसे उपासनाके योग्य नही है सो ठीक नहीं कि यदि वाणी और मनके अविषयकी उपासना न मानोंगे तो वाणी और मनके अविषयका वेदन (ज्ञान) भी न होगा अर्थात् यह दोष उसके ज्ञानमेंभी आसकता है ॥ ५६ ॥

वागाद्यगोचराकारमित्येवं यदि वेत्त्यसौ ॥
वागाद्यगोचराकारमित्युपासीत नो कुतः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ब्रह्म वाणी और मनका अगोचर है यही ज्ञान इस मुमुक्षुको होता है तो वाणी आदिका अविषयाकार ब्रह्म है यह उपासनाभी क्यों न होगी अर्थात् अवश्य होगी ॥ ५७ ॥

सगुणत्वमुपास्यत्वाद्यदि वेद्यत्वतोऽपि तत् ॥
वेद्यं चेल्लक्षणावृत्त्या लक्षितं समुपास्यताम् ॥ ५८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ब्रह्मको उपासना योग्य मानोगे तो सगुण होजायगा सोभी ठीक नही आपके मतमेंभी ब्रह्मको जानने योग्य होनेसे सगुण हो जाना तुल्य है कदाचित् कहो कि वेद्य तो लक्षणावृत्तिसे ब्रह्मको मानते हैं तो लक्षणासे ज्ञातकी ही उपासना करो इसमें क्या दोष है ॥ ५८ ॥

ब्रह्मविद्धि तदेव त्वं न त्विदं यदुपासते ॥
इति श्रुतेरुपास्यत्वं निषिद्धं ब्रह्मणो यदि ॥ ५९ ॥

भाषार्थ-अब यह शंका करते हैं कि ब्रह्मकी उपासना श्रुतिमें निषिद्ध है कि जो वाणी और मनका अगम्य है वही ब्रह्म जानो, इस प्रकार पुरुष जो उपासना करते हैं उसको तू नही जानता इस श्रुतिसे ब्रह्मकी उपासनाका निषेध है कि जिसको मनसे नहीं जानता और मन जिससे मानाजाता है उसीको तू ब्रह्म जान, और जिसकी उपासना करते हैं वह ब्रह्म नही है ॥ ५९ ॥

विदितादन्यदेवेति श्रुतेर्वेद्यत्वमस्य न ॥
यथा श्रुत्यैव वेद्यं चेत्तथा श्रुत्याऽप्युपास्यताम् ॥ ६० ॥

---

[1] यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतं तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदंयदिदमुपासते ।

भाषार्थ–अब उपासनाके समान वेद्य (जानने योग्य) में भी तुल्य दोषको कहते हैं कि वह ब्रह्म विदित (ज्ञान) और अविदितसे अन्यहै इस श्रुतिसे ब्रह्मको वेद्यत्व (जानने योग्य) भी नहीं है कदाचित् कहो कि ऐसे विदित अविदितसे अन्य ब्रह्मका ज्ञान श्रुति कहती है तो वैसेही ब्रह्मकी उपासना करो अर्थात् उपासनामेंभी यह समाधान तुल्य है ॥ ६० ॥

अवास्तवी वेद्यता चेदुपास्यत्वं तथा न किम् ॥
वृत्तिव्याप्तिर्वेद्यता चेदुपास्यत्वेऽपि तत्समम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ब्रह्मकी वेद्यता वास्तव नहीं है तो ब्रह्मकी उपासनाकोभी अवास्तवाक्य न मानों कदाचित् कहो ब्रह्मकी वेद्यता तो ब्रह्माकार वृत्तिकी व्याप्तिसे हो जाती है तो उपासनामेंभी ब्रह्माकार वृत्तिकी व्याप्ति तुल्य है ॥ ६१ ॥

का ते भक्तिरुपास्तौ चेत्कस्ते द्वेषस्तदीरय ॥
मानाभावो न वाच्योऽस्यां बहु श्रुतिषु दर्शनात् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ब्रह्मकी उपासनामें आपकी क्या भक्ति है अर्थात् क्यों मानते हो तो ब्रह्मकी उपासनामें आपका क्या द्वेष है यह तुम कहो कदाचित् कहो कि निर्गुण ब्रह्मकी उपासनामें कोई प्रमाण नहीं है सोभी ठीक नहीं है क्योंकि बहुतसी श्रुतियोंमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासनाको देखते हैं ॥ ६२ ॥

उत्तरस्मिंस्तापनीये शैब्यप्रश्नेऽथ काठके ॥
मांडूक्यादौ च सर्वत्र निर्गुणोपास्तिरीरिता ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–अब बहुत श्रुतियोंमें उपासनाको दिखाते हैं कि उत्तर तापनीय उपनिषद्में कहा है कि प्रथम देवता प्रजापतिको बोले सूक्ष्मसेभी सूक्ष्म इस ओंकाररूप आत्माको हमारे प्रति कहो इत्यादिसे बहुधा निर्गुणकी उपासना कही है और तैसेही शैब्यके प्रश्नके विषै प्रश्नोपनिषद्में पंचम प्रश्नके विषै कहा है कि जो इस ब्रह्मको तीन मात्रा वाले ओ इस अक्षरसेही कहता है–इस काठकमें अर्थात् कठवल्लीमें और संपूर्ण वेद जिस पदको मानते हैं यह प्रारंभ करके यही अक्षर ब्रह्म है यही श्रेष्ठ आलंबन है इत्यादिसे ओंकारकी उपासना कही है–और मांडूक्य उपनिषद्में भी ओं यह अक्षरही संपूर्ण जगत्रूप है इत्यादिसे अवस्थाओंसे अतीत तुरीय ब्रह्मकी

---

१ तद्विदितादथो ऽविदितादधि । २ तावद्देवा हवै प्रजापतिमब्रुवन्नणोरणीयांसमिममात्मानमोंकारं नो व्याचक्ष्व । ३ यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिधीयीत । ४ सर्वे वेदा यत्पदमामनंति एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदालंबनं श्रेष्ठम् । ५ ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् ।

उपासना कही है आदि पदसे तैतिरीय मुंडक आदि उपनिषद् समझने-भावार्थ यह है कि उत्तर तापनीय और शैव्य और कठवल्ली और मांडूक्य आदि संपूर्ण उपनिषदोंमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना कही है ॥ ६३ ॥

अनुष्ठानप्रकारोऽस्याः पंचीकरण ईरितः ॥
ज्ञानसाधनमेतच्चेन्नेति केनात्र वारितम् ॥ ६४ ॥

भाषार्थ-अब निर्गुण उपासना करनेका प्रकार कहते हैं कि निर्गुण उपासना करनेका प्रकार पंचीकरणके विषै कहा है कदाचित् कहो कि वह तो ज्ञानका साधन है मुक्तिका साधन नही सोभी ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्मतत्त्वकी उपासनासेभी मुक्त होता है यह कहते हुये हमको वहभी अनुकूल है अर्थात् वह ज्ञानसाधन नही यह कोन निवारण करता है ॥ ६४ ॥

नानुतिष्ठति कोऽप्येतदिति चेन्माऽनुतिष्ठतु ॥
पुरुषस्यापराधेन किमुपास्तिः प्रदुष्याति ॥ ६५ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि निर्गुण उपासनाको कोई भी नही करता किंतु सगुणोपासना करते हैं तो मतकरो क्या पुरुषोंके अपराध (न करना) से निर्गुण उपासनामें दोष हो सकता है अर्थात् नही होता ॥ ६५ ॥

इतोऽप्यतिशयं मत्वा मंत्रान्वश्यादिकारिणः ॥
मूढा जपंतु तेभ्योऽतिमूढाः कृषिमुपासताम् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ-अब प्रमाण सिद्धके न करनेसे त्याग नही होता इसमें दृष्टांत कहतेहैं कि-जैसे कालांतरमें फलकी दाता सगुणउपासनाओंसे वशीकरण आदिके मंत्रोंमें इस लोकके फलकी अधिकताको देखकर मूढोंकी वशीकरण मंत्रके जप आदिमें प्रवृत्ति होनेपरभी विवेकी पुरुष सगुण उपासनाको नही त्यागते-और जैसे नियमसे करनेकी है अपेक्षा जिनको ऐसे वशीकरण आदि मंत्रोंसे भी कृषिआदिमें अधिकता और नियमकी अपेक्षाके अभावको मानकर अत्यंत मूढोंकी प्रवृत्ति होनेपरभी उनके मंत्रोंके अनुष्ठानको कोई नही त्यागते-तैसे संसारके फलाभिलाषी पुरुष निर्गुण उपासनाको नभी करो तोभी मुमुक्षु पुरुष निर्गुण उपासनाको नही त्यागते-भावार्थ यह है कि इनसेभी अधिकताको मानकर मूढपुरुष वशीकरण मंत्रोंको जपो और उनसेभी मूढपुरुष कृषिको करो ॥ ६६ ॥

तिष्ठंतु मूढाः प्रकृता निर्गुणोपास्तिरीर्यते ॥
विद्यैक्यात्सर्वशाखास्थान् गुणानत्रोपसंहरेत् ॥ ६७ ॥

भाषार्थ-अब प्रासंगिकको समाप्त करके प्रकरणमें आते हैं कि जगत्में मूढ रहो अब प्रकृत जो निर्गुण उपासना उसका वर्णन करते हैं कि विद्या (ज्ञान) की एकतासे संपूर्ण शाखाओंके गुणोंका एकस्थानमें ही उपसंहार (समाप्ति) करै अर्थात् निर्गुण उपासनाको एक होनेसे तिस २ शाखामें सुने जो उपासना योग्योंके गुण है उनको एक निर्गुणमें ही समाप्त करके उपासना करनी ॥६७॥

आनंदादेर्विधेयस्य गुणसंघस्य संहृतिः ॥
आनंदादय इत्यस्मिन् सूत्रे व्यासेन वर्णिता ॥ ६८ ॥

भाषार्थ-वे गुण दो प्रकारके हैं कि विधेय और निषेध्य अर्थात् कर्तव्य और न कर्तव्य हैं उनमें आनंद ब्रह्म है-विज्ञान आनंदब्रह्म है नित्य शुद्ध बुद्ध सत्य मुक्त निरंजन विभु अद्वय आनंदपर प्रत्यक् एकरस है इत्यादि जो विधान करनेके योग्य गुण हैं उनका उपसंहार आनंद आदि गुण प्रधानके हैं इस अधिकरणमें व्यासजीनें कहा है भावार्थ-यह है कि विधानके योग्य आनंद आदि गुणोंका उपसंहार आनंदादयः इस सूत्रमें व्यासजीने वर्णन किया है ॥ ६८ ॥

अस्थूलादेर्निषेध्यस्य गुणसंघस्य संहृतिः ॥
तथा व्यासेन सूत्रेऽस्मिन्नुक्ताऽक्षरधियां त्विति ॥ ६९ ॥

भाषार्थ-और जो अस्थूल अनणु अह्रस्व अदृश्य अग्राह्य अशब्द अस्पर्श अरूप अव्यय आदि निषेधके योग्य गुण हैं उनके समूहका उपसंहार-अक्षरधियां त्ववरोधः इस सूत्रमें व्यासजीने वर्णन कियो है अर्थात् जिनकी अक्षररूप ब्रह्ममें बुद्धि है उनको सामान्यरूप और उनकी भावनासे अवरोध होता है अर्थात् उपसंहार हो जाता है ॥ ६९ ॥

निर्गुणब्रह्मतत्त्वस्य विद्यायां गुणसंहृतिः ॥
न युज्येतेत्युपालंभो व्यासं प्रत्येव मां न तु ॥ ७० ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि निर्गुण विद्यामें गुणोंका उपसंहार उचित नहीं है क्योंकि उसकी निर्गुणता ही न रहैगी सो ठीक नही कि निर्गुणब्रह्मतत्त्वकी विद्या (ज्ञान) में गुणोंका उपसंहार उचित नही यह आपकी शंका व्यासजीके प्रति ही है

१ आनंदो ब्रह्म विज्ञानमानंदं ब्रह्म नित्यः शुद्धः बुद्धः सत्यो मुक्तः निरंजनः विभुरद्वयः आनंदः यः प्रत्यगेकरसः । २ अस्थूलमन एव ह्रस्वं यत्तददृश्यमग्राह्यमशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ।

हमारे प्रति नही क्योंकि हम तो व्यासजीके कहे हुयेका ही वर्णन करते हैं अपनी उक्तिसे नही कहते ॥ ७० ॥

हिरण्यश्मश्रुसूर्यादिमूर्तीनामनुदाहृतेः ॥
अविरुद्धं निर्गुणत्वमिति चेत्तुष्यतां त्वया ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि सुवर्णके समान हैं श्मश्रु जिसकी ऐसी जो सूर्य आदिकी मूर्ति हैं उनके न कहनेसे यहभी निर्गुणकी ही उपासना है सो ठीक नहीं कि ऐसा मानोगे तो निर्गुण माननेमें कोई विरोध नही इससे आपकोभी संतोष करना चाहिये ॥ ७१ ॥

गुणानां लक्षकत्वेन न तत्त्वेंऽतःप्रवेशनम् ॥
इति चेदस्त्वेवमेव ब्रह्म तत्त्वमुपास्यताम् ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि आनंद आदि और अस्थूल आदि गुणोंका उपासनाके योग्य ब्रह्मतत्वके मध्यमें अप्रवेश है तो उन गुणोंसे विशिष्टकी उपासना कैसे होगी सो ठीक नही कि उनका तत्वके मध्यमें प्रवेश न हो तो भी वे गुण लक्षक हैं उनसे लक्षित जो ब्रह्म वही उपासनाके योग्य है ॥ ७२ ॥

आनंदादिभिरस्थूलादिभिश्चात्माऽत्र लक्षितः ॥
अखंडैकरसः सोऽहमस्मीत्येवमुपासते ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—अब उसी उपासनाके प्रकारको दिखाते हैं कि इन पूर्वोक्त श्रुतियोंमें आनंद आदि और अस्थूल आदि गुणोंसे जो आत्मा लक्षित किया है वह अखंड एकरसरूप मैं हूं इस प्रकार मुमुक्षुजन उपासना करते हैं ॥ ७३ ॥

बोधोपास्त्योर्विशेषः क इति चेदुच्यते शृणु ॥
वस्तुतंत्रो भवेद्बोधः कर्तृतंत्रमुपासनम् ॥ ७४ ॥

भाषार्थ—अब विद्या और उपासनाके भेदको कहते हैं कि बोध और उपासनाके भेद क्या है ऐसा कहोगे तो सुनो कि बोध वस्तुके आधीन है और उपासना कर्ताके आधीन है ॥ ७४ ॥

विचाराज्जायते बोधोऽनिच्छायां न निवर्तयेत् ॥
स्वोत्पत्तिमात्रात्संसारे दहत्यखिलसत्यताम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ—अब अन्य विशेषताके लिये बोधके हेतु आदिको दिखाते हैं कि वस्तुके तत्वविचारसे वह बाध होता है जिसको, बोध मत हो, यह अनिच्छा निवृत्त

(नष्ट) नहीं करसकती और उत्पन्न होता ही वह बोध संसारमें संपूर्ण प्रपंचकी सत्यताको नष्ट करदेता है अर्थात् उस ज्ञानसे संसारमें मिथ्यात्वबुद्धिका निश्चय हो जाता है ॥ ७५ ॥

तावता कृतकृत्यः सन्नित्यतृप्तिमुपागतः ॥
जीवन्मुक्तिमनुप्राप्य प्रारब्धक्षयमीक्षते ॥ ७६ ॥

भाषार्थ–उतने ही तत्वज्ञानकी उत्पत्तिमात्रसे कृतकृत्यताको प्राप्त हुआ और सदैव तृप्त, मुमुक्षु जीवन्मुक्तिको प्राप्त होकर प्रारब्धके क्षयको देखता है ॥ ७६ ॥

आप्तोपदेशं विश्वस्य श्रद्धालुरविचारयन् ॥
चिंतयेत् प्रत्ययैरन्यैरनंतरितवृत्तिभिः ॥ ७७ ॥

भाषार्थ–अब उपासनाको बोधसे विलक्षणताकी सिद्धिकेलिये, उपासनाकी विलक्षणताको दिखाते हैं कि आप्त जो गुरु उनके उपदेशको अर्थात् उपासनाके योग्य-स्वरूपके प्रतिपादक जो वाक्य उनके समूहको विश्वाससे मानकर विचारता हुआ पुरुष उपासनाके योग्य तत्वको इस प्रकार चिंतन करै जो विजातीय प्रतीतियोंसे व्यवहित न हो अर्थात् तदाकार वृत्ति ही रक्खे ॥ ७७ ॥

यावच्चिंत्यस्वरूपत्वाभिमानः स्वस्य जायते ॥
तावद्विचिंत्य पश्चाच्च तथैवामृति धारयेत् ॥ ७८ ॥

भाषार्थ–अब चिंताके कालकी अवधिको कहते हैं कि जबतक चिंताके योग्य स्वरूप (ब्रह्म)का अभिमान अपनेको न हो अर्थात् वह ब्रह्म मैं हूं यह बुद्धि न हो तबतक चिंताको करके उसी प्रकारकी वृत्तिको मरणपर्यंत धारण करै ॥ ७८ ॥

ब्रह्मचारी भिक्षमाणो युतः संवर्गविद्यया ॥
संवर्गरूपतां चित्ते धारयित्वा ह्यभिक्षत ॥ ७९ ॥

भाषार्थ–अब उपासकको तद्रूपताका अभिमान, उदाहरण दिखाकर स्पष्ट करते हैं कि कोई संवर्गविद्यासे युक्त ब्रह्मचारी अर्थात् प्राणका उपासक भिक्षा मांगता हुआ अपने चित्तमें संवर्ग रूपताको धार कर भिक्षाको मांगता भया कि हे अभिप्रतारिन् राजन् चार महात्माओंको (उदान व्यान समान अपान) कोन एक वह देव निगलता भया और वह भुवनका रक्षक है और देहमें टिके और बसते हुये उसको

---

१ महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यंति मर्त्याः अभिप्रतारिन् बहुधा वसंतम् ।

बहुधा मनुष्य नही देखते हैं अर्थात् उदान आदिका लय जिसमें हो ऐसे प्राणको नही जानते हैं इस मंत्रको पढकर ही उक्त ब्रह्मचारीने भिक्षाटन किया ॥ ७९ ॥

पुरुषस्येच्छया कर्तुमकर्तुं कर्तुमन्यथा ॥
शक्योपास्तिरतो नित्यं कुर्यात्प्रत्ययसंततिम् ॥ ८० ॥

भाषार्थ–मरणपर्यंत धारण करनेमें निमित्तको दिखाते हुये–अनिच्छा (इच्छाका अभाव) जिसका निवारण नही कर सकती यह जो बोधका धर्म, उससे विलक्षणता कहते हैं कि उपासना पुरुषकी इच्छासे करनेको न करनेको और अन्यथा करनेको शक्य है अर्थात् चाहै जैसे कर सकते हैं इससे पुरुषकी इच्छाके आधीन होनेसे उपासना सर्वदा करने योग्य है अर्थात् सदैव ब्रह्माकार प्रतीतियोंका विस्तार करै ॥ ८० ॥

वेदाध्यायी ह्यप्रमत्तोधीते स्वप्नेधिवासतः ॥
जपिता तु जपत्येव तथा ध्याताऽपि वासयेत् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ–अब सदा चिंतनका फल कहते हैं कि अप्रमत्त (सावधान) वेदका पाठी अर्थात् सदैव पढनेवाला और सदैव जपका कर्ता ये दोनों स्वप्नमेंभी अधिवास (दृढवासना) से पढना और जपको ही करते रहैं इसी प्रकार उपासकभी वासनाकी दृढतासे स्वप्न आदिमेंभी ध्यानको ही करता है ॥ ८१ ॥

विरोधिप्रत्ययं त्यक्त्वा नैरंतर्येण भावयन् ॥
लभते वासनावेशात्स्वप्नादावपि भावनाम् ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–अब स्वप्नआदिमेंभी ध्यानके अनुवर्तनमें कारणको कहते हैं कि विरोधी जो प्रत्यय (प्रतीति) उसको छोडकर निरंतर भावना करता हुआ मनुष्य वासनाकी दृढतासे स्वप्नआदिमेंभी भावना (ध्यान) को प्राप्त होता है ॥ ८२ ॥

भुंजानोऽपि निजारब्धमास्थातिशयतोऽनिशम्॥
ध्यातुं शक्तो न संदेहो विषयव्यसनी यथा ॥ ८३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि प्रारब्धकर्मके वश विषयोंको भोगतेहुयेको कैसे भावनाकी सिद्धि होगी सो ठीक नही कि विषयोंके व्यसनीके समान विश्वासका अतिशय (अधिकता) होनेपर ध्यानकी सिद्धिको कहते हैं कि विश्वासकी अधिकतासे रात्रिदिन अपने प्रारब्धको भोगता हुआ विषयोंके व्यसनवालेके समान ध्यान कर सकता है इसमें संदेह नही ॥ ८३ ॥

परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि ॥
तदेवास्वादयत्यंतः परसंगरसायनम् ॥ ८४ ॥

भाषार्थ—अब दृष्टांतका विवरण करते हैं—कि परपुरुषमें है व्यसन जिसका ऐसी स्त्री घरके कार्यमें व्यग्र (लगी) भी हुयी उसी परपुरुषके संगरूप रसायन (औषध) का अपने मनमें स्वाद लेती है ॥ ८४ ॥ ॥

परसंगं स्वादयंत्या अपि नो गृहकर्म तत् ॥
कुंठीभवेदपि त्वेतदापातेनैव वर्तते ॥ ८५ ॥

भाषार्थ—परपुरुषके संगका स्वाद लेती हुयीभी उसका वह घरका कर्म कुंठित नही होता अर्थात् ज्योंका त्यों मरणपर्यंत चला जाता है परंतु उसकी वासना परपुरुषके संगमें ही रहती है ॥ ८५ ॥

गृहकृत्यव्यसनिनी यथा सम्यक्करोति तत् ॥
परव्यसनिनी तद्वन्न करोत्येव सर्वथा ॥ ८६ ॥

भाषार्थ—अब मरणपर्यंत गृहके कार्यकी स्थितिका वर्णन करते हैं कि घरके कार्योंका जिसै व्यसन है वह स्त्री गृहकार्यको जैसे भली प्रकार करती है उस प्रकार परपुरुषका जिसको व्यसन है वह सर्वथा नही करती ॥ ८६ ॥

एवं ध्यानैकनिष्ठोऽपि लेशाल्लौकिकमारभेत् ॥
तत्त्वविन्त्वविरोधित्वाल्लौकिकं सम्यगाचरेत् ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—अब दार्ष्टांतिकमें घटाते हैं कि इसी प्रकार एक ध्यानमें ही निष्ठा जिसकी ऐसा पुरुषभी लेशमात्र (थोडासा) लौकिक कर्म करता है—कदाचित् कहो कि तत्वज्ञानी लौकिक व्यवहारको लेशमात्रसे करता है वा भली प्रकारसे, सो ठीक नही कि तत्त्वज्ञानी तो लौकिकव्यवहारको भली प्रकार करता है क्योंकि व्यवहार तत्वज्ञानका, विरोधी नही है ॥ ८७ ॥

मायामयः प्रपंचोऽयमात्मा चैतन्यरूपधृक् ॥
इतिबोधे विरोधः को लौकिकव्यवहारिणः ॥ ८८ ॥

भाषार्थ—अविरोधको ही दिखाते हैं कि यह प्रपंच मायामय है और आत्मा चैतन्यरूपधारी है ऐसा बोध होनेपर लौकिक व्यवहारके कर्ताका कोन विरोध है अर्थात् कोई नही ॥ ८८ ॥

अपेक्षते व्यवहृतिर्न प्रपंचस्य वस्तुताम् ॥
नाप्यात्मजाड्यं किं त्वेषा साधनान्येव कांक्षति ॥ ८९ ॥

भाषार्थ–व्यवहारको प्रपंचकी सत्यताकी अपेक्षा नही है और न आत्माकी जडताकी अपेक्षा है अर्थात् ऐसा नही है कि प्रपंच सत्य, और आत्मा जड, होय तो व्यवहार चलै किंतु व्यवहार अपने साधनोंकी ही अपेक्षा करता है ॥ ८९ ॥

मनोवाक्कायतद्बाह्यपदार्थाः साधनानि तान् ॥
तत्त्वविन्नोपमृद्नाति व्यवहारोऽस्य नो कुतः ॥ ९० ॥

भाषार्थ–अब व्यवहारके साधनोंको दिखाते हैं कि मन वाणी देह और गृह, क्षेत्र आदि बाह्यपदार्थ ये साधन हैं इनको तत्त्वज्ञानी निवारण नहीं करता है तो तत्त्वज्ञानीका व्यवहार क्यों न होगा अर्थात् अवश्य होगा ॥ ९० ॥

उपमृद्नाति चित्तं चेद्ध्याताऽसौ न तु तत्त्ववित् ॥
न बुद्धिमर्दयन् दृष्टो घटतत्त्वस्य वेदिता ॥ ९१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि विषयका निवारण तत्त्वज्ञानीको मत हो चित्तकी निवृत्ति तो होनी ही चाहिये सो ठीक नहीं कि यदि तत्त्वज्ञानी चित्तका उपमर्दन करता है तो वह ध्यानी है तत्त्वज्ञानी नहीं क्योंकि घटके तत्त्वका ज्ञाता कोईभी बुद्धिको पीडित करता नहीं देखा ॥ ९१ ॥

सकृत्प्रत्ययमात्रेण घटश्चेद्भासते सदा ॥
स्वप्रकाशोऽयमात्मा किं घटवच्च न भासते ॥ ९२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि स्थूल घटके दर्शनमें चित्तकी पीडाकी अपेक्षा नहीं है–सूक्ष्मरूप ब्रह्मके ज्ञानमें चित्तकी पीडा अवश्य चाहिये सो ठीक नहीं कि यदि एकवार ही प्रतीतिमात्रसे घट भासता है तो सदैव स्वप्रकाशरूप यह आत्मा क्या घटके समान नहीं भासता अर्थात् स्वप्रकाश आत्मा घटसेभी अत्यंत स्पष्टरीतिसे भासता है ॥ ९२ ॥

स्वप्रकाशतया किं ते तद्बुद्धिस्तत्त्ववेदनम् ॥
बुद्धिश्च क्षणनाश्येति चोद्यं तुल्यं घटादिषु ॥ ९३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ब्रह्म स्वप्रकाश रहो ब्रह्मविषयक जो बुद्धि है वही तत्त्वज्ञान है और वह बुद्धि क्षणिक है इससे ब्रह्ममें पुनः २ (वारंवार) स्थितिकी

अपेक्षा करेगी सो ठीक नही कि स्वप्रकाशरूपब्रह्म बुद्धिको तत्त्वज्ञानरूप, और बुद्धिको क्षणिक मानोगे तो यह शंका घट आदिमेंभी तुल्य है ॥ ९३ ॥

घटादौ निश्चिते बुद्धिर्नश्यत्येव यदा घटः ॥
इष्टो नेतुं तदा शक्य इति चेत्सममात्मनि ॥ ९४ ॥

भाषार्थ–यदि घटका ज्ञान क्षणिकभी है तोभी एकवार निश्चित किये घटसे सदा व्यवहार कर सकते हैं उसमें चित्तकी स्थिरताका कुछ प्रयोजन नही सो ठीक नही कि यदि घट आदिके निश्चय होनेपर बुद्धि नष्ट हो जाती है और उस घटको अन्य स्थानमें ले जा सकते हैं तो यह बात आत्मामेंभी तुल्य है ॥ ९४ ॥

निश्चित्य सकृदात्मानं यदापेक्षा तदैव तम् ॥
वक्तुं मंतुं तथा ध्यातुं शक्नोत्येव हि तत्त्ववित् ॥ ९५ ॥

भाषार्थ–अब आत्मामें समताकाही वर्णन करते हैं कि एकवार आत्माके निश्चयको करके तत्त्वज्ञानी जिस समय अपेक्षा हो उसीसमय उस आत्माके कहने, माननेमें, और ध्यान करनेमें समर्थ है अर्थात् कथन आदि कर सकता है ॥ ९५ ॥

उपासक इव ध्यायँल्लौकिकं विस्मरेद्यदि ॥
विस्मरत्वेव सा ध्यानाद्विस्मृतिर्न तु वेदनात् ॥ ९६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानीकोभी उपासकके समान आत्माके स्मरण वश जगत्का अनुसंधान नही देखते सो ठीक नही कि यदि उपासकके समान ध्यानीकोभी लौकिक पदार्थोंका विस्मरण हो जायगा तो वह विस्मरण हो परंतु वह विस्मरण ध्यानसे होता है ज्ञानसे नही ॥ ९६ ॥

ध्यानं त्वैच्छिकमेतस्य वेदनान्मुक्तिसिद्धितः ॥
ज्ञानादेव तु कैवल्यमिति शास्त्रेषु डिंडिमः ॥ ९७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि तत्वज्ञानीकोभी मुक्तिके लिये ध्यान कर्तव्य है सो ठीक नही कि इस तत्वज्ञानीको ध्यान तो इच्छाके अनुसार कर्तव्य है क्योंकि मुक्ति तो ज्ञानसे ही सिद्ध है और वेदांतशास्त्रोंमें यह डिंडिम (प्रसिद्धि वा ढंडोरा) है कि ज्ञानसे ही इन श्रुतियोंके अनुसार मोक्ष होता है कि ज्ञानसे वह कैवल्य होता

---

१ ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते । तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ॥ ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ।

है जिससे मुक्ति होती है—उस ब्रह्मको जानकर मृत्युका अवलंघन करता है अन्य मार्ग मोक्षके लिये नही है—देवको जानकर सब पापोंसे छुटता है ॥ ९७ ॥

तत्त्वविद्यदि न ध्यायेत्प्रवर्तेत तदा बहिः ॥
प्रवर्ततां सुखेनायं को बाधोऽस्य प्रवर्तने ॥ ९८ ॥

भाषार्थ—कदाचित् तत्त्वज्ञानीको ध्यानकी आवश्यकता न मानोगे तो वह बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त हो जायगा सो ठीक नही कि यदि यह कहोगे कि तत्वज्ञानी ध्यान करैगा तो बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त हो जायगा तो सुखसे प्रवृत्त हो इसकी प्रवृत्तिमें कोई बाध (हानि) नही है ॥ ९८ ॥

अतिप्रसंग इति चेत् प्रसंगं तावदीरय ॥
प्रसंगो विधिशास्त्रं चेन्न तत्तत्त्वविदं प्रति ॥ ९९ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि बाह्य विषयोंमें प्रवृत्ति माननेमें अतिप्रसंग (दोष) होगा सो ठीक नही कि यदि अतिप्रसंग कहोगे तो प्रथम उस अति प्रसंगको कहो—विधिशास्त्रको प्रसंग कहोगे तो सो भी नही कह सकते क्योंकि वह विधिशास्त्र तत्त्वज्ञानीके लिये नही है किंतु विधि और निषेध दोनोंभी अज्ञानीके लिये हैं ॥ ९९ ॥

वर्णाश्रमवयोवस्थाभिमानो यस्य विद्यते ॥
तस्यैव च निषेधाश्च विधयः सकला अपि ॥ १०० ॥

भाषार्थ—विधि और निषेध शास्त्रको अज्ञानीके विषयमें ही दिखाते हैं कि वर्ण आश्रम वय (आयुः) की स्थिति इनका अभिमान जिसको है उसकेलियेही संपूर्ण विधि और निषेध हैं ज्ञानीके लिये तो न विधि है और न निषेध है ॥१००॥

वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥
नात्मनो बोधरूपस्येत्येवं तस्य विनिश्चयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानीकोभी देहधारी होनेसे वर्ण आश्रम आदिका अभिमान है सो ठीक नही कि वर्ण आश्रम आदि देहके विषे मायासे कल्पित हैं बोधरूप आत्मामें नही है इस प्रकारका निश्चय तत्त्वज्ञानीको होता है ॥ १ ॥

समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा ॥
हृदयेनास्तसर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥ २ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ज्ञानीको पूर्वोक्त तत्त्वका निश्चय रहो शास्त्रने तो उसकेभी कर्म कहे हैं सो ठीक नही कि जिस ज्ञानीनें हृदयमेंसे संपूर्ण आस्था (आसक्ति विशेष) ओंका त्याग कर दिया है और उत्तम है अभिप्राय (निर्मल-ज्ञान) जिसका ऐसा मुक्त पुरुष समाधि वा कर्मको मत करो वा करो कोई हानि उसकी नही है ॥ २ ॥

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः ॥
न समाधानजप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥ ३ ॥

भाषार्थ–अब विद्वानको कुछभी कर्तव्य नही इसमें अन्य वचनकाभी उदाहरण देते हैं कि नैष्कर्म्य (कर्मके त्याग) से उसका कुछ अर्थ नही है और न कर्मोंसे है और न समाधिसे और न जपसे कुछ अर्थ है जिसका मन वासनाओंसे रहित है ॥ ३ ॥

आत्मासंगस्ततोऽन्यत्स्यादिंद्रजालं हि मायिकम् ॥
इत्यचंचलनिर्णीते कुतो मनसि वासना ॥ ४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि विद्वान्कोभी वासना निवृत्तिके लिये ध्यान कर्तव्य है सो ठीक नही कि आत्मा असंग है और उससे अन्य सब मायाका इंद्रजाल है इस प्रकार अचंचल निर्णय किये मनमें वासना कहांसे हो सकती हैं अर्थात् नही होसकती हैं ॥ ४ ॥

एवं नास्ति प्रसंगोऽपि कुतोऽस्यातिप्रसंजनम् ॥
प्रसंगो यस्य तस्यैव शंक्येतातिप्रसंजनम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार जब ज्ञानीको प्रसंग ही नही तो अतिप्रसंग कहांसे होगा क्योंकि जिसके प्रसंग (विषयोंका संग) होता है उसको ही अतिप्रसंगकी शंका हुआ करती है ॥ ५ ॥

विध्यभावान्न बालस्य दृश्यतेऽतिप्रसंजनम् ॥
स्यात्कुतोऽतिप्रसंगोऽस्य विध्यभावे समे सति ॥ ६ ॥

भाषार्थ–अब इसका उदाहरण देते हैं कि जैसे बालकको विधिके अभावसे अति-प्रसंग (दोष) नही देखते हैं इसी प्रकार विधिका अभाव समान होनेपर ज्ञानी-कोभी अतिप्रसंग कैसे हो सकता है ॥ ६ ॥

न किंचिद्वेत्ति बालश्चेत्सर्वं वेत्त्येव तत्त्ववित् ॥
अल्पज्ञस्यैव विधयः सर्वे स्युर्नान्ययोर्द्वयोः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि बालकको तो विधिके अभावमें अज्ञता हेतु है विद्वा-नूमें वह अज्ञता नही है सो भी ठीक नही कि यदि बालक किंचित्भी नही जानता है तो तत्त्वज्ञानी सबको जानता है अर्थात् उसकी सर्वज्ञता ही विधिके अभावमें हेतु है क्योंकि अल्पज्ञको ही सब विधि होती हैं अन्य जो अज्ञ सर्वज्ञ दोनों हैं उनके लिये विधि नही होती हैं ॥ ७ ॥

शापानुग्रहसामर्थ्यं यस्यासौ तत्त्वविद्यदि ॥
तन्न शापादिसामर्थ्यं फलं स्यात्तपसो यतः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि व्यास आदिके समान शाप और अनुग्रहमें जिसकी सामर्थ्य हो वही तत्त्वज्ञानी है अन्य नही सो ठीक नही क्योंकि शापआदिका जो सामर्थ्य है वह तपका फल है ॥ ८ ॥

व्यासादेरपि सामर्थ्यं दृश्यते तपसो बलात् ॥
शापादिकारणादन्यत्तपो ज्ञानस्य कारणम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि व्यासआदि ज्ञानियोंकोभी शापआदिका सामर्थ्य देखते हैं सो भी ठीक नही कि व्यासआदिका जो शाप और अनुग्रहका सामर्थ्य है वह तपके बलसे है तत्त्वज्ञानसे नही कदाचित् कहो कि तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर इस श्रुतिसे[1] तपसे हीनको, तत्त्वज्ञानभी न होना चाहिये सोभी ठीक नही कि शापआदिके कारण तपसे, भिन्न जो तप वह ज्ञानका कारण होता है अर्थात् तपभी अनेकप्रकारका है ॥ ९ ॥

द्वयं यस्यास्ति तस्यैव सामर्थ्यज्ञानयोर्जनिः ॥
एकैकं तु ततः कुर्वन्नेकैकं लभते फलम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि तो उन व्यासआदिकोंको तत्वज्ञानी होनेपर शाप आदिकी कारणता, कैसे देखते हैं सो ठीक नही कि दोनों प्रकारका तप जिसने किया है उसको ही शापआदिका सामर्थ्य और ज्ञान दोनों पैदा होते हैं और एक २ तपको करता हुआ मनुष्य एक २ फलको ही प्राप्त होता है दोनोंको नही ॥ १० ॥

---

१ तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व ।

सामर्थ्यहीनो निंद्यश्चेद्यतिभिर्विधिवर्जितः ॥
निंद्यंते यतयोऽप्यन्यैरनिशं भोगलंपटैः ॥ १११ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि सामर्थ्यसे हीन जो विधिवर्जित (शास्त्रोक्तका त्यागी) है उसकी संन्यासी निंदा करैंगे तो करो उन संन्यासियोंकीभी तो भोग-लंपट मनुष्य निंदा करते हैं ॥ १११ ॥

भिक्षावस्त्रादि रक्षेयुर्यद्येते भोगतुष्टये ॥
अहो यतित्वमेतेषां वैराग्यभरमंथरम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि तो संन्यासीभी भोगोंसे संतोषके लिये विषयोंका संचय करैं सो ठीक नही कि यदि ये संन्यासीभी भोगोंसे प्रसन्न होनेके लिये भिक्षा और वस्त्र आदिकी रक्षा करैं तो इनका संन्यासी होना आश्चर्य है क्योंकि वह वैरा-ग्यके भारसे मंद हैं अर्थात् वैराग्यरहित हैं ॥ १२ ॥

वर्णाश्रमपरान्मूढा निंदंत्वित्युच्यते यदि ॥
देहात्ममतयो बुद्धं निंदंत्वाश्रममानिनः ॥ १३ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि विषयोंमें लंपट पामरोंकी की हुई निंदासे कर्मके कर्ताओंकी कुछ हानि नही-सो भी ठीक नही कि यदि वर्ण आश्रममें तत्परोंकी मूढ निंदा करैं ऐसा कहोगे तो देहाभिमानी, कर्ममें तत्पर, मूर्ख, आश्रमके अभि-मानी, ज्ञानीकीभी निंदा करो उससे तत्त्वज्ञानीकी कुछ हानि नही ॥ १३ ॥

तदित्थं तत्त्वविज्ञाने साधनानुपमर्दनात् ॥
ज्ञानिनाऽऽचरितुं शक्यं सम्यग्राज्यादि लौकिकम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ-अब प्रसंगसे कहेकी समाप्तिकरके प्रकरणमें आते हैं कि तिससे इस पूर्वोक्त प्रकारसे तत्त्वविज्ञानके होनेपर लौकिक व्यवहारके साधन जो मन आदि हैं उनके लयका जो अभाव उससे ज्ञानी मनुष्य लौकिक राज्य आदिको भली प्रकार कर सकता है अर्थात् राज्य आदि करनेमें उसकी कुछभी हानि नही है ॥ १४ ॥

मिथ्यात्वबुद्ध्या तत्रेच्छा नास्ति चेत्तर्हि माऽस्तु तत् ॥
ध्यायन्वाऽथ व्यवहरन्यथाऽऽरब्धं वसत्वयम् ॥१५॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानीकी प्रपंचके मिथ्याज्ञानसे राज्य आदिमें इच्छा ही न होगी सो ठीक नही कि यदि मिथ्यात्वबुद्धिसे उनमें इच्छा नही है तो

मत हो क्योंकि यह ज्ञानी ध्यान वा व्यवहारको करता हुआ अपने प्रारब्धके अनुसार वसो कुछ चिंता नहीं है ॥ १५ ॥

उपासकस्तु सततं ध्यायन्नेव वसेद्यतः ॥
ध्यानेनैव कृतं तस्य ब्रह्मत्वं विष्णुतादिवत् ॥ १६ ॥

भाषार्थ–अब उपासककी ज्ञानीसे विषमताको दिखाते हैं कि जिससे उपासकको ब्रह्मभाव ध्यानसे ही हुआ है अन्य प्रमाणोंसे नहीं इससे उपासक निरंतर ध्यान करता हुआ ही वसै उसमें यह दृष्टांत है कि जैसे अपनेमें ध्यानसे संपादनकिया विष्णुत्व पारमार्थिक (सत्य)नहीं होता है ऐसे ही उपासकका ब्रह्मत्वभी पारमार्थिक नहीं है ॥ १६ ॥

ध्यानोपादानकं यत्तद्ध्यानाभावे विलीयते ॥
वास्तवी ब्रह्मता नैव ज्ञानाभावे विलीयते ॥ १७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ध्यानसे संपादन किया ब्रह्मभावभी पारमार्थिक हो जायगा सो ठीक नहीं कि ध्यान जिसका उपादान कारण है ऐसे वाग्धेनु आदि ध्यानका अभाव होनेपर नष्ट हो जाते हैं और जिससे ब्रह्मता वास्तव है इससे ज्ञानके अभावमें लय नहीं होती ॥ १७ ॥

ततोऽभिज्ञापकं ज्ञानं न नित्यं जनयत्यदः ॥
ज्ञापकाभावमात्रेण न हि सत्यं विलीयते ॥ १८ ॥

भाषार्थ–और वास्तव होनेसे ही ब्रह्मत्व, ज्ञानसे पैदाभी नहीं होता यह कहते हैं कि जिससे यह ब्रह्मत्व नित्य है तिससे ज्ञान उसका अवबोधक (जनानेवाला) है जनक नहीं है क्योंकि ज्ञापकके अभावमात्रसे सत्यताका नाश नहीं होता है अर्थात् जो ज्ञानसे पैदा होता तो ज्ञानके नाश होनेपर ब्रह्मत्वभी लयको प्राप्त हो जाता इससे ज्ञानसे जन्य ब्रह्मत्व नहीं है ॥ १८ ॥

अस्त्येवोपासकस्यापि वास्तवी ब्रह्मतेति चेत् ॥
पामराणां तिरश्चां च वास्तवी ब्रह्मता न किम् ॥ १९ ॥

भाषार्थ–अब ज्ञानीके समान उपासकके ब्रह्मत्वकीभी सत्यतामें शंका करते हैं कि यदि उपासककीभी ब्रह्मता वास्तवी (सच्ची) है तो क्या पामर (मूर्ख) और तिरछे (सर्प आदि) इनकी ब्रह्मता सत्य नहीं है ॥ १९ ॥

आज्ञानादपुमर्थत्वमुभयत्रापि तत्समम् ॥
उपवासाद्यथा भिक्षा वरं ध्यानं तथान्यतः ॥ १२० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि विद्यमानभी वह ब्रह्मत्व अज्ञानसे पामरोंके पुरुषार्थका उपयोगी नही होता सो ठीक नही कि यह दोष तो दोनों पक्षमें तुल्य है अर्थात् उपासकके भी पुरुषार्थका उपयोगी अज्ञातब्रह्म नही है–कदाचित् कहो कि उपासनाका क्या फल है सो भी ठीक नही कि उपवाससे जैसे भिक्षा श्रेष्ठ है तैसे ही अन्य कर्मोंसे ध्यानभी श्रेष्ठ है ॥ १२० ॥

पामराणां व्यवहृतेर्वरं कर्माद्यनुष्ठितिः ॥
ततोऽपि सगुणोपास्तिर्निर्गुणोपासना ततः ॥ २१ ॥

भाषार्थ–अन्य कर्मोंसे श्रेष्ठताको ही दिखाते हैं कि पामरोंके व्यवहारसे जैसे कर्मोंका करना श्रेष्ठ है और कर्मोंसे सगुणब्रह्मकी उपासना और उससेभी निर्गुणोपासना तिसी प्रकार श्रेष्ठ है ॥ २१ ॥

यावद्विज्ञानसामीप्यं तावच्छ्रैष्ठ्यं विवर्द्धते ॥
ब्रह्मज्ञानायते साक्षान्निर्गुणोपासनं शनैः ॥ २२ ॥

भाषार्थ–अब उत्तरोत्तर श्रेष्ठतामें कारण कहते हैं कि जबतक ज्ञानकी समीपता है तबतक श्रेष्ठताकी वृद्धि होती है क्योंकि शनैः २ निर्गुणकी जो उपासना है वह साक्षात् ब्रह्मज्ञान रूप है ॥ २२ ॥

यथा संवादिविभ्रांतिः फलकाले प्रमायते ॥
विद्यायते तथोपास्तिर्मुक्तिकालेतिपाकतः ॥ २३ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त अर्थको दृष्टांत देकर दृढ करते हैं की जैसे संवादीभ्रम, फलके होनेपर प्रमाणरूप हो जाता है इसी प्रकार उपासनाभी मुक्तिके समयमें अत्यंत पाकसे विद्या (ज्ञान)रूप होजाती है अर्थात् उपसना ही ज्ञानरूप हो जाती है ॥२३॥

संवादिभ्रमतः पुंसः प्रवृत्तस्यान्यमानतः ॥
प्रमेति चेत्तथोपास्तिर्मांतरे कारणायताम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि संवादीभ्रम स्वयं प्रमाणरूप नही होता किंतु भ्रमसे प्रवृत्त हुये मनुष्यको इंद्रिय और विषयके संबंधसे प्रमा हो जाती है सो ठीक नही कि कदाचित् कहो कि संवादिभ्रमसे प्रवृत्त हुये मनुष्यको अन्य प्रमा-

णसे यदि प्रमा होती है तो उपासनाभी निदिध्यासनरूप होकर महावाक्योंसे पैदा हुये अपरोक्षज्ञानमें कारण हो जायगी ॥ २४ ॥

मूर्तिध्यानस्य मंत्रादेरपि कारणता यदि ॥
अस्तु नाम तथाप्यत्र प्रत्यासत्तिर्विशिष्यते ॥ २५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि इस प्रकार मूर्तिके ध्यानआदिभी चित्तकी एकाग्रताके संपादनद्वारा अपरोक्षज्ञानके कारण हो जांयगे सो ठीक नही कि यदि मूर्तिका ध्यान और मंत्रआदिभी ज्ञानके कारण होजांयगे तो हो तथापि उपासनामें ज्ञानकी समीपताका विशेष है अर्थात् उपासनाके अनंतर ही ब्रह्मज्ञान होता है और मूर्तिआदिके ध्यानआदिसे विलंबसे होता है ॥ २५ ॥

निर्गुणोपासनं पक्कं समाधिः स्याच्छनैस्ततः ॥
यः समाधिर्निरोधाख्यः सोऽनायासेन लभ्यते ॥ २६ ॥

भाषार्थ–अब समीपताके प्रकारको ही दिखाते हैं कि जब निर्गुणउपासना पकजाती है तब सविकल्पक समाधि हो जाती है फिर शनैः २ निरोध नामकी समाधि हो जाती है और उस निरोध नामकी समाधिकेभी निरोध होनेपर निर्बीज समाधि जो सबका निरोधरूप इस[1] सूत्रमें कही है उसका अनायाससे लाभ होता है ॥ २६ ॥

निरोधलाभे पुंसोऽतरसंगं वस्तु शिष्यते ॥
पुनःपुनर्वासितेऽस्मिन्वाक्याज्जायेत तत्त्वधीः ॥ २७ ॥

भाषार्थ–अब निर्विकल्पक समाधिके फलको कहते हैं कि निरोधसमाधिका लाभ होनेपर मनुष्यके अंतर्गत असंग वस्तु (ब्रह्म)का शेष रह जाता है और पुनः २ (वारंवार) इस असंग वस्तुकी भावना करनेपर तत्त्वमसिआदि महावाक्योंसे तत्त्वज्ञान होजाता है अर्थात् मैं ब्रह्म हूं यह ज्ञान होता है ॥ २७ ॥

निर्विकारासंगनित्यस्वप्रकाशैकपूर्णताः ॥
बुद्धौ झटिति शास्त्रोक्ता आरोहंत्यविवादतः ॥ २८ ॥

भाषार्थ–अब तत्त्वज्ञानके स्वरूपको स्पष्ट करते हैं कि निर्विकार–असंग–नित्य–स्वप्रकाश–एक–पूर्ण ये जो ब्रह्मके रूप शास्त्रोंमें कहे हैं वे शीघ्र ही विना विवादके बुद्धिमें जम जाते हैं–अर्थात् निर्विकारआदि स्वरूप ब्रह्मका ज्ञान हो जाता है ॥२८॥

---

१ सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

योगाभ्यासस्त्वेतदर्थोऽमृतबिंद्वादिषु श्रुतः ॥
एवं च दृष्टद्वारापि हेतुत्वादन्यतो वरम् ॥ २९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि निर्विकल्पक समाधिसे अपरोक्षज्ञान होता है इसमें क्या प्रमाण है सो ठीक नही कि योगाभ्यासका फल ज्ञान है यह अमृतबिंदुआदि श्रुतियोंमें कहा है–इससे दृष्टके द्वारा अर्थात् निर्विकल्पक समाधिके लाभसे और निर्गुण उपासना, अपरोक्षज्ञानके समीप होनेसे सगुण उपासनासे श्रेष्ठ है ॥ २९ ॥

उपेक्ष्य तत्तीर्थयात्राजपादीनेव कुर्वताम् ॥
पिंडं समुत्सृज्य करं लेढीति न्याय आपतेत् ॥ ३० ॥

भाषार्थ–इस प्रकार जब अपरोक्षज्ञानका साधन है तो उसको त्याग कर जो अन्यकर्मोंमें प्रवृत्त हैं उनके श्रमको वृथा दिखाते हैं कि निर्गुणउपासनाको छोड-कर जो तीर्थयात्रा और जप आदिको करते हैं उनमें यह न्याय घटैगा कि जैसे कोई मनुष्य पिंडको त्यागकर अपने हाथको चाटने लगै ऐसे ही वे हैं ॥ ३० ॥

उपासकानामप्येवं विचारत्यागतो यदि ॥
बाढं तस्माद्विचारस्यासंभवे योग ईरितः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि जो आत्मतत्त्वविचारको त्यागकर निर्गुणोपासना करते हैं उनकोभी यह न्याय समान है सो ठीक है कि यदि विचारके त्यागसे उपासकोंकोभी ऐसा ही मानोगे तो सत्य आपका कथन है कि जिससे उपासकोंमेंभी उक्त न्याय घटता है तिसीसे विचारके असंभवमें योग कहा है अर्थात् उपासनाका विधान है ॥ ३१ ॥

बहुव्याकुलचित्तानां विचारात्तत्त्वधीर्नहि ॥
योगो मुख्यस्ततस्तेषां धीदर्पस्तेन नश्यति ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–अब विचारके असंभवमें कारण कहते हैं कि बहुत व्याकुल जिनका चित्त है उनके विचारसे तत्त्वज्ञान नही होता है इससे योग ही मुख्य होनेसे कर्तव्य है क्योंकि तिस योगसे बुद्धिका दर्प (अभिमान) नष्ट हो जाता है ॥ ३२ ॥

अव्याकुलधियां मोहमात्रेणाच्छादितात्मनाम् ॥
सांख्यनामा विचारः स्यान्मुख्यो झटिति सिद्धिदः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार व्याकुल चित्तोंको योगकी मुख्यताको कहकर समाहित चित्तोंको विचारकी ही मुख्यताको कहते हैं कि जिनकी बुद्धि तो व्याकुल नही है

और केवल मोहसे मन आच्छादित है उनको सांख्य नामका विचार करने योग्य है क्योंकि वही मुख्य और शीघ्र सिद्धिका दाता है ॥ ३३ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–अब सांख्य योग दोनो मुक्तिके कारण हैं इसमें गीताका वचन प्रमाण देते हैं कि जिस स्थानको सांख्य प्राप्त होते हैं उसी स्थानमें योगीजन जाते हैं इस प्रकार फलके द्वारा सांख्य और योगको जो एक देखता है वही शास्त्रके अर्थको भली प्रकार देखता है ॥ ३४ ॥

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यमिति हि श्रुतिः ॥
यस्तु श्रुतेर्विरुद्धः स आभासः सांख्ययोगयोः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–केवल गीताका वाक्य ही नही है किंतु उस वाक्यकी मूल श्रुतिकोभी दिखाते हैं कि मुक्तिके कारण सांख्य योग हैं क्योंकि श्रुतिमें यह लिखा है कि सांख्ययोगसे आत्मा प्राप्त होने योग्य है कदाचित् कहो कि सांख्य योग दोनोंको तत्त्वज्ञानके द्वारा मुक्तिका कारण मानोगे तो सांख्य शास्त्रमें कहे तत्त्वभी कारण हो जायगे सो ठीक नही कि सांख्य और योगमें जो श्रुतिसे विरुद्ध है वह आभास है अर्थात् प्रतीतिमात्र है और जो आभास होता है उसका बाध हो जाता है ॥ ३५ ॥

उपासनं नातिपक्वमिह यस्य परत्र सः ॥
मरणे ब्रह्मलोके वा तत्त्वं विज्ञाय मुच्यते ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो यदि उपासक तत्त्वज्ञानसे पहिले मर जाय तो उसका मोक्ष न होगा सो ठीक नही कि जिसकी उपासना अत्यंत पकी न हो वह इस जन्ममें वा परलोकमें मरणके समय वा ब्रह्मलोकमें तत्त्वको जानकर मुक्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

यं यं वाऽपि स्मरन् भावं त्यजत्यंते कलेवरम् ॥
तंतमेवैति यच्चित्तस्तेन यातीति शास्त्रतः ॥ १३७ ॥

भाषार्थ–अब मरणसमयमें ज्ञानसे मुक्तिके लाभमें प्रमाण कहते हैं कि जिस २ भावका स्मरण करता हुआ मनुष्य अंतसमयमें देहको त्यागता है उसी २ भावको प्राप्त होता है क्योंकि शास्त्रमें यह लिखा है जिसमें चित्त हो उसी मार्गसे जाता है ॥ १३७ ॥

अंत्यप्रत्ययतो नूनं भावि जन्म तथा सति ॥
निर्गुणप्रत्ययोऽपि स्यात्सगुणोपासने यथा ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुति और स्मृतिके वाक्योंसे अंतसमयकी प्रतीतिसे भाविजन्म कहा है ज्ञानसे मुक्ति नही कही सो ठीक है कि अंतके निश्चयसे भाविजन्म अवश्य होता है कदाचित् कहो कि मरणकालमें ज्ञानसे मोक्ष होता है इसमें ये दोनों वाक्य प्रमाण क्यों दिये सो ठीक नही कि जब अंतकी प्रतीतिसे भाविजन्मका निश्चय है तो जैसे सगुण उपासनामें मरणके समय पूर्व अभ्यासके वश सगुणब्रह्माकार, प्रतीति होती है तैसे ही निर्गुण उपासककोभी निर्गुणब्रह्म विषयक प्रतीति हो जाती है ॥ ३८ ॥

नित्यनिर्गुणरूपं तन्नाममात्रेण गीयताम् ॥
अर्थतो मोक्ष एवैष संवादिभ्रमवन्मतः ॥ ३९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि निर्गुणप्रतीतिके अभ्याससे निर्गुणब्रह्मकी प्राप्ति ही होगी मुक्ति न होगी सो ठीक नही कि वह ब्रह्म नित्यनिर्गुणरूप है ऐसे नाममात्र-से कहो अर्थात् शब्दका ही भेद है अर्थसे तो यही मोक्ष है क्योंकि स्वरूपसे स्थिति-को मोक्ष कहते हैं जैसे संवादिभ्रम नाममात्रसे भ्रम है वस्तुतः तत्त्वज्ञानरूप है ऐसेही यह मोक्षहै ॥ ३९ ॥

तत्सामर्थ्याज्जायते धीर्मूलाविद्यानिवर्तिका ॥
अविमुक्तोपासनेन तारकब्रह्मबुद्धिवत् ॥ ४० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि मनकी क्रियारूप निर्गुण उपासनाभी मुक्तिका साधन नही होसकती सो ठीक नही कि निर्गुण उपासनाके सामर्थ्य (बलसे) मूल अवि-द्याका निवर्त्तक ब्रह्मज्ञान होता है जैसे अविमुक्त सगुणब्रह्मकी उपासनासे तारक ब्रह्मविद्या होती है इसीप्रकार निर्गुण उपासनासे निर्गुणब्रह्मज्ञान होता है ॥ ४० ॥

सोऽकामो निष्काम इति ह्यशरीरो निरिंद्रियः ॥
अभयं हीति मुक्तत्वं तापनीये फलं श्रुतम् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि निर्गुण उपासनाका मोक्ष फल है इसमें क्या प्रमाण है सो ठीक नही कि वह अकाम है निष्काम है आत्मकाम है उसमुक्तके प्राण नहीं निकसते किंतु वहां ही लीन होजाते हैं ब्रह्मरूप हुआ वह ब्रह्मको प्राप्त होता है वह शरीर, इंद्रिय, प्राण, मन, इनसे रहित है सच्चिदानंदरूप स्वराट् (स्वयं प्रकाश) होता है–और जो इस प्रकार जानता है वह चिन्मयओंकाररूप है और यह सब

जगत् चिन्मय है तिससे परमेश्वर एक ही वह होता है यही अमृत अभय है यह ब्रह्म अभय है–इससे जो ऐसे जानता है वह ब्रह्मरूप ही होता है– यही रहस्य (गुप्त) है[1] इत्यादिवाक्योंसे तापनीय उपनिषदमें निर्गुण उपासनाका मोक्ष-फल सुना है–भावार्थ–यह है कि वह कामनाओंसे रहित है अशरीर निरिंद्रिय है अभयरूप है ऐसा मुक्तरूप फल, तापनीयउपनिषदमें निर्गुणउपासनाका सुना है ॥ ४१ ॥

उपासनस्य सामर्थ्याद्विद्योत्पत्तिर्भवेत्ततः ॥
नान्यः पंथा इति ह्येतच्छास्त्रं नैव विरुध्यते ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि उपासनाके सामर्थ्यसे मुक्ति हो जायगी तो ज्ञानसे अन्यमार्ग मोक्षका नही है इस श्रुतिका विरोध होगा, सो ठीक नही कि उपासनाके बलसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे मोक्ष होता है अर्थात् उपासना ज्ञानके द्वारा मोक्षका कारण है साक्षात् नही इससे ज्ञानसे अन्य कोईभी मोक्षका पंथा (मार्ग) नही है [2]इस शास्त्रकाभी विरोध नही है ॥ ४२ ॥

निष्कामोपासनान्मुक्तिस्तापनीये समीरिता ॥
ब्रह्मलोकः सकामस्य शैब्यप्रश्ने समीरितः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–मरणके समय वा ब्रह्मलोकमें तत्त्वको जानकर मुक्त होता है इस पूर्वोक्त अर्थमें श्रुतिका प्रमाण देते हैं कि तापनीय उपनिषदमें निष्काम उपासनासे मुक्ति कही है और सकाम मनुष्यको ब्रह्मलोककी प्राप्ति शैब्यप्रश्नमें भलीप्रकार कही है४३

य उपास्ते त्रिमात्रेण ब्रह्मलोके स नीयते ॥
स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरुषमीक्षते ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–अब शैब्यप्रश्नोपनिषदके अर्थको पढते हैं कि जो त्रिमात्रॐ इस अक्षरसे परं पुरुषका ध्यान करता है वह सूर्यरूप तेजमें संपन्न हुआ इस प्रकार पापसे रहित होता है जैसे त्वचासे सर्प–फिर वह सामवेदोंकी महिमासे ब्रह्मलोकमें जाता है और इन[3] मंत्रोंसे सकामको ब्रह्मलोककी प्राप्ति सुनी है–कदाचित् कहो कि शैब्य

---

१ सो कामो निष्कामः आत्मकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामंत्यत्रैव समलीयंते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति अशरीरो निरिंद्रियोऽप्राणो ह्यमनाः सच्चिदानंदमात्रः स्वस्वराट् भवति य एवं वेद चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद्ब्रह्माभयं वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् । २ नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय । ३ यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण परंपुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नो यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवंह वै सपाप्मनाविनिर्मुक्तः ससामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ।

प्रश्नमें सकामको ब्रह्मलोकमें गमन ही कहा है सो ठीक नही क्योंकि वहां तत्त्वका साक्षात्कारभी सुना है कि ब्रह्मलोकमें गया वह उपासक, यह जो जीवघन है अर्थात् जीव समष्टिरूप हिरण्यगर्भ है उससे श्रेष्ठ जो पुरुष है अर्थात् निरुपाधि चैतन्यरूप परमात्मा है उसको साक्षात् देखता है. भावार्थ—यह है कि जो ओंकारसे उपासना करता है वह ब्रह्मलोकमें जाता है और वह हिरण्यगर्भसे परम (श्रेष्ठ) परमात्माको देखता है ॥ ४४ ॥

अप्रतीकाधिकरणे तत्क्रतुन्याय ईरितः ॥
ब्रह्मलोकफलं तस्मात्सकामस्येति वर्णितम् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—और बादरायण (व्यास) ने कहा है कि अप्रतीक (निर्गुण) आलंबनसे ब्रह्मलोकमें जाता है और दोनोंपक्षोंमें दोष है इससे तत्क्रतुन्यायभी अप्रतीकअधिकरणमें कहा है अर्थात् जिस कामनासे क्रतु (यज्ञ) करोगे उसी फलकी प्राप्ति होती है तिससे सकामपुरुषकोभी ब्रह्मलोकरूप फल होता है यह उक्त अधिकरणमें वर्णन किया है ॥ ४५ ॥

निर्गुणोपास्तिसामर्थ्यात्तत्र तत्त्वमवेक्षते ॥
पुनरावर्तते नायं कल्पांते च विमुच्यते ॥ ४६ ॥

भाषार्थ— अब सकामको तत्त्वज्ञानमें कारणको कहते हैं कि निर्गुणउपासनाके सामर्थ्यसे उस ब्रह्मलोकमें तत्त्वको देखता है और इस जगत्रूप आवर्त (भवर) में यह फिर नही आता है किंतु कल्पके अंतमें ब्रह्माके संग मुक्त हो जाता है इत्यादि श्रुतिस्मृतियोंसे उसका फिर जन्म नही होता ॥ ४६ ॥

प्रणवोपास्तयः प्रायो निर्गुणा एव वेदगाः ॥
क्वचित्सगुणताप्युक्ता प्रणवोपासनस्य हि ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—अब प्रणव (ओं) की उपासनाके प्रसंगसे ओंकारकी उपासनाके जो दो भेद बुद्धिमें स्थित हैं उनको कहते हैं कि प्रायः वेदमें प्रणवकी उपासना निर्गुण ही हैं और कहीं २ प्रणवकी उपासना सगुणभी कही है ॥ ४७ ॥

परापरब्रह्मरूप ओंकार उपवर्णितः ॥
पिप्पलादेन मुनिना सत्यकामाय पृच्छते ॥ ४८ ॥

---

१ अप्रतीकालंबनान्नयतीति बादरायणः । २ इमं मानवमावर्तं नावर्तते न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते— ब्रह्मणा सहते सर्वे० ।

भाषार्थ– अब दोनों भेदोमें प्रमाण कहते हैं कि पिप्पलादमुनिने प्रश्नकरते हुये सत्यकामके प्रति परब्रह्म अपरब्रह्मरूप ओंकारका वर्णन किया है कि हे सत्यकाम यह ओंकार पर और अपर ब्रह्मरूप है तिससे विद्वान् इसी मार्गसे एकतर (कोईसे) को प्राप्त होता है ॥ ४८ ॥

एतदालंबनं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥
इति प्रोक्तं यमेनापि पृच्छते नचिकेतसे ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–कठवल्लीमें यमनेभी इस आलंवन (आश्रय) को जानकर इत्यादि मंत्रोंसे जो जिसकी इच्छा करता है तिसको वही होता है यह पूछते हुये नचिकेताके प्रति कहा है ॥ ४९ ॥

इह वा तरणे वाऽस्य ब्रह्मलोकेऽथ वा भवेत् ॥
ब्रह्मसाक्षात्कृतिः सम्यगुपासीनस्य निर्गुणम् ॥ ५० ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त अर्थका उपसंहारकरते हैं कि इसी लोकमें, मरणके समय वा ब्रह्मलोकमें, ब्रह्मका साक्षात्कार, भली प्रकार निर्गुणके उपासकको, होता है ॥५०॥

अर्थोऽयमात्मगीतायामपि स्पष्टमुदीरितः ॥
विचाराक्षम आत्मानमुपासीतेति संततम् ॥ ५१ ॥

भाषार्थ–और जो विचारसे तत्त्वज्ञानमें असमर्थ है उसका निर्गुणब्रह्मके ध्यानमें अधिकार है यह अर्थ आत्मगीतामेंभी स्पष्ट कहा है अर्थात् विचार न होसके तो निरंतर आत्माकी उपासना करै ॥ ५१ ॥

साक्षात्कर्तुमशक्तोऽपि चिंतयेन्मामशंकितः ॥
कालेनानुभवारूढो भवेयं फलितो ध्रुवम् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–अब आत्मगीताके वाक्योंकोही कहते हैं कि जो मुमुक्षु साक्षात्करनेको असमर्थ है वह शंकाको छोडकर मेरी चिंता करै तो समयपर अनुभव (ज्ञान) में आरुढ हुआ मैं निश्चयसे फलित होता हूं अर्थात् कालांतरमें मेरा ज्ञान हो जाता है ॥ ५२ ॥

यथाऽगाधनिधेर्लब्धौ नोपायः खननं विना ॥
मल्लाभेऽपि तथा स्वात्मचिंतां मुक्त्वा न चापरः ॥ ५३ ॥

---

१ एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेन एकतरमन्वेति ।

भाषार्थ—अब ध्यान, सम्यक्ज्ञानका उपाय, है इसमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे अगाधनिधिके लाभमें खनन (खोदने) से अन्य कोई उपाय नहीं है इसी प्रकार मेरे लाभमेंभी अपने आत्माकी चिंतासे अन्य उपाय नहीं है ॥ ५३ ॥

देहोपलमपाकृत्य बुद्धिकुद्दालकात्पुनः ॥
खात्वा मनोभुवं भूयो गृह्णीयान्मां निधिं पुमान् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—बुद्धिरूप कुद्दालकसे देहरूप पत्थरको दूर करके और फिर खोद-कर मनमें विद्यमान जो निधिरूप मैं हूं मुझे पुरुष ग्रहण करै अर्थात् जाने॥ ५४ ॥

अनुभूतेरभावेऽपि ब्रह्मास्मीत्येव चिंत्यताम् ॥
अप्यसत्प्राप्यते ध्यानान्नित्याप्तं ब्रह्म किं पुनः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—ज्ञानमें असमर्थका ध्यानमें अधिकार है इसमें अन्य वचनको पढते हैं कि अनुभवके अभावमेंभी मैं ब्रह्म हूं इसी प्रकार चिंता करै और ध्यानकरनेसे असत् अर्थात् प्रथम अविद्यमानभी देवत्व आदिकी प्राप्ति जब ध्यानसे होती है तो स्वरूपसे नित्यप्राप्त सर्वरूपब्रह्मकी प्राप्ति होनेमें कोन आश्चर्य है ॥ ५५ ॥

अनात्मबुद्धिशैथिल्यं फलं ध्यानाद्दिने दिने॥
पश्यन्नपि न चेद्ध्यायेत्कोऽपरोऽस्मात्पशुर्वद ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—अब ब्रह्मध्यानके प्रत्यक्ष सिद्ध फलको कहते हैं कि ध्यानसे दिन दिन अनात्मबुद्धिकी शिथिलता होती है और इस शिथिलतारूपफलको देखता हुआ जो ध्यान, न करै उससे परे पशु कोन है यह तुम कहो ॥ ५६ ॥

देहाभिमानं विध्वस्य ध्यानादात्मानमद्वयम् ॥
पश्यन्मर्त्योऽमृतो भूत्वा ह्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्त अर्थको संक्षेपसे दिखाते हैं कि देहमें जो अहं (मैं हूं) यह अभिमान है इसका विध्वंस करके अर्थात् त्यागकर और ध्यानसे अद्वयआत्माको देखता हुआ मर्त्य अमृत होकर इसी शरीरमें अपना निजरूप जो सच्चिदानंदब्रह्म है उसको प्राप्त होता है ॥ ५७ ॥

ध्यानदीपमिमं सम्यक्परामृशति यो नरः ॥
मुक्तसंशय एवायं ध्यायति ब्रह्म संततम् ॥ ५८ ॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यारण्यप्रणीत
पंचदश्यां ध्यानदीपप्रकरणम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ-अब ध्यानदीपके अनुसंधानका फल कहते हैं कि इस ध्यानदीपका जो मनुष्य भलीप्रकार परामर्श (स्मरण) करता है वह मुक्त संशय होकर ही निरंतर ब्रह्मका ध्यान करता है ॥ ५८ ॥

इतिश्री विद्यारण्यकृत पंचदश्यां पं० मिहिरचंद्रकृत भाषाविवृतौ ध्यानदीपप्रकरणम् ९

॥ इति ध्यानदीपप्रकरण ॥ ९ ॥

श्रीः ।

पञ्चदशी ।

भाषाटीकासमेता ।

अथ नाटकदीपप्रकरणम् १०

परमात्माऽद्वयानंदपूर्णः पूर्वं स्वमायया ॥
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः १ ॥

भाषार्थ–करनेको इष्ट ग्रंथकी निर्विघ्नसमाप्तिके लिये अपनेको अभिमत जो देवता उसके तत्त्वका स्मरणरूप मंगलको करता हुआ ग्रंथकार, मंदबुद्धि जो अधिकारी हैं उनकोभी अनायाससे प्रपंचरहित ब्रह्मात्मतत्वकी प्रतिपत्ति (ज्ञान) की सिद्धिके लिये–अध्यारोप और अपवादसे निष्प्रपंचका विस्तार करते हैं क्योंकि शिष्योंके बोधार्थ तत्त्वके ज्ञाताओंने यही क्रम कल्पित किया है, इस न्यायके अनुसार आत्मामें अध्यारोपका वर्णन प्रथम करते हैं कि सृष्टिसे पूर्व अद्वयआनंदपूर्ण जो इन श्रुतियोंमें प्रसिद्ध है कि हे सोम्य यह जगत् सृष्टिसे पूर्व सत्‌रूप ही हुआ एक, अद्वितीय, विज्ञान, आनंदब्रह्म, पूर्ण है–और जो स्वगत आदि भेदसे शून्य, है परमानंद परिपूर्ण परमात्मा है वह महेश्वर माया (प्रकृति)से अर्थात् अपनेमें वर्तमान अपनी मायारूप शक्तिसे स्वयं जगत्‌रूप होकर जीवरूपसे उस जगत्‌में प्रविष्ट हुआ अर्थात् जीवभावको प्राप्त हुआ–भावार्थ–यह है कि अद्वयआनंद पूर्णरूप परमात्मा अपनी मायासे जगत्‌रूप होकर जीवरूपसे प्रविष्ट हुआ ॥ १ ॥

विष्णवाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवता भवेत् ॥
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति मर्त्यताम् ॥ २ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि यदि परमात्माही एक सब शरीरोंमें प्रविष्ट है तो पूज्य, पूजक, आदि भेदसे उत्तम, अधमभाव, न होगा सो ठीक नहीं कि विष्णु

---

१ अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते । शिष्याणां बोधसिद्ध्यर्थं तत्त्वज्ञैः कल्पितः क्रमः । २ सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं विज्ञानमानंदं ब्रह्म पूर्णमदः पूर्णम्–मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्–स्वयमेव जगद्भूत्वा तदात्मानं स्वयमकुरुत सच्चत्यच्चाभवत्–तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्–अनेन जीवेनात्मना नुप्रविश्य ।

आदि उत्तम देहोंमें प्रविष्ट हुआ परमात्मा देवता हो जाता है, और मनुष्य आदिके अधम देहोंमें स्थित हुआ मर्त्यभावको प्राप्त होता है, अर्थात् यह उत्तम अधम-भाव स्वाभाविक नही है किंतु शरीररूप उपाधिके भेदसे है इससे कुछ विरोध नहीं है ॥ २ ॥

अनेकजन्मभजनात् स्वविचारं चिकीर्षति ॥
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार आत्मामें संक्षेपसे अध्यारोपको दिखाकर अब कारणोंसहित उसके अपवाद (निषेध) को संक्षेपसे दिखाते हैं कि अनेकजन्मोंमें किये जो कर्म हैं उनके ब्रह्ममें समर्पणरूप भजनसे जब अपने आत्मारूप ब्रह्मका ज्ञान साधन जो श्रवण मनन आदि विचार है उसको करना चाहता है तब अपने विचारसे पैदा हुये ज्ञानसे अपने आनंद आदिरूपकी आच्छादक मायाके नष्ट होनेपर स्वयं आप ही शेष रह जाता है-भावार्थ-यह है कि अनेक जन्मोंके भजनसे अपने विचारको जब चाहता है तो विचारसे मायाके नष्ट होनेपर स्वयं आत्मा ही शेष रह जाता है ॥ ३ ॥

अद्वयानंदरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता ॥
बंधः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते ॥ ४ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि सो ब्रह्म मैं हूं ऐसे जानकर संपूर्ण बंधनोंसे छुटता है इत्यादि श्रुतियोंने[1] बंधकी निवृत्तिरूप मोक्ष ज्ञानका फल कहा है तुम परमात्माके शेषको ज्ञानका फल कैसे कहते हो सो ठीक नही कि अद्वितीयब्रह्ममें वास्तव तो न बंध है और न मोक्ष है किंतु अद्वयानंदरूपमें द्वैत और दुःख आदि मानना जो भ्रम है वही बंध कहा है और स्वरूपसे स्थिति अर्थात् पूर्वोक्तभ्रमकी जो निवृत्ति है उसकोही मुक्ति कहते हैं इससे पूर्वोक्तश्रुतिका विरोध नही है ॥ ४ ॥

अविचारकृतो बंधो विचारेण निवर्तते ॥
तस्माज्जीवपरात्मानौ सर्वदैव विचारयेत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि जनक आदि कर्मसे[2] ही संसिद्धिको प्राप्त हुये इस स्मृतिसे मोक्षका साधन कर्म कहा है विचारसे पैदा हुये ज्ञानका क्या फल है सो ठीक नही कि अविचारसे अर्थात् अज्ञानसे किया जो बंधन है उसकी निवृत्ति विचा-

---

१ तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबंधैः प्रमुच्यते । २ कर्मणैवाहि संसिद्धिमास्थिताजनकादयः ।

रसे पैदा हुये ज्ञानसे होती है और पूर्वोक्तस्मृतिमें संसिद्धिपदसे चित्तकी शुद्धि लेते हैं तिससे जीव और परमात्माके स्वरूपका सदैव विचार करै ॥ ५ ॥

अहमित्यभिमंता यः कर्ताऽसौ तस्य साधनम् ॥
मनस्तस्य क्रिये अंतर्बहिर्वृत्ती क्रमोत्थिते ॥ ६ ॥

भाषार्थ–अब प्रथम जीवरूपका वर्णन करते हैं कि जो चिदाभासविशिष्ट अहंकार व्यवहार दशामें देह आदिमें अहं (मैं हूं) यह अभिमान करता है वह कर्ता है अर्थात् जीव है उसका साधन (करण) मन है और उस मनकी अर्थात् काम आदि वृत्तिवाले अंतःकरणकी अंतः और बहिः (भीतर बाहिरकी) दो वृत्ति क्रमसे उठती हैं ॥ ६ ॥

अंतर्मुखाऽहमित्येषा वृत्तिः कर्तारमुल्लिखेत् ॥
बहिर्मुखेदमित्येषा बाह्यं वस्त्विदमुल्लिखेत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ–अब उन दोनों वृत्तियोंके स्वरूप और विषयको पृथक् २ दिखाते हैं कि उस मनकी जो अंतर्मुख (अहं) (मैं) यह वृत्ति है वह कर्ताका उल्लेख (विषय) करती है और बहिर्मुख जो इदं (यह है) वृत्ति है वह बाह्य घट आदि विषयोंका उल्लेख करती है ॥ ७ ॥

इदमो ये विशेषाः स्युर्गंधरूपरसादयः ॥
असांकर्येण तान् भिंद्यात् घ्राणादींद्रियपंचकम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि मनसे ही संपूर्ण व्यवहार सिद्ध हो जायगा नेत्र आदि इंद्रिय व्यर्थ हो जायगी सो ठीक नही कि इदंके जो विशेषरूप–गंधरूप रस आदि हैं उनको, असांकर्यसे (पृथक् २) घ्राण आदि पांचों इंद्रिय भेदन करती (जानती) हैं अर्थात् मन सामान्यमात्रका ग्राहक है विशेषका नही ॥ ८ ॥

कर्तारं च क्रियां तद्व्यावृत्तविषयानपि ॥
स्फोरयेदेकयत्नेन योऽसौ साक्ष्यत्र चिद्वपुः ॥ ९ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार जीवके स्वरूपका निरूपण करके परमात्माका निरूपण करते हैं कि जो पूर्वोक्त अहंकाररूप कर्ताको, और–अहम् इदम् आदि मनकी वृत्तिरूप क्रियाको, और परस्पर विलक्षण गन्धादि इद्रियोंके विषयको, एकयत्नसे (एकवार) प्रकाश करै वह इस वेदान्तशास्त्रमें चिद्रूपसाक्षी कहाता है ॥ ९ ॥

ईक्षे शृणोमि जिघ्रामि स्वादयामि स्पृशाम्यहम् ॥
इति भासयते सर्वं नृत्यशालास्थदीपवत् ॥ १० ॥

भाषार्थ–अब साक्षीको एक यत्नसे सबके प्रकाशको दिखाते हैं मैं रूपको देखता हूं शब्दको सुनता हूं गन्धको सूंघता हूं रसका स्वाद लेता हूं और त्वचाका स्पर्श करता हूं इत्यादि ज्ञानोंमें ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीका एकयत्नसे जो नृत्य शालामें स्थित दीपकके समान प्रकाश करता है वह साक्षी है ॥ १० ॥

नृत्यशालास्थितो दीपः प्रभुं सभ्यांश्च नर्तकीम् ॥
दीपयेदविशेषेण तदभावेऽपि दीप्यते ॥ ११ ॥

भाषार्थ–अब दृष्टांतको स्पष्ट करते हैं जैसे नृत्य शालामें स्थित दीपक, राजा, सभासद, और नर्तकी (वेश्या) इन सबको अविशेषसे प्रकाश करता है और उनके न होनेपर स्वयंभी प्रकाशित रहता है इसी प्रकार सबका प्रकाशक साक्षी स्वप्रकाशरूप है ॥ ११ ॥

अहंकारं धियं साक्षी विषयानपि भासयेत्
अहंकाराद्यभावेऽपि स्वयं भात्येव पूर्ववत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ–अब दृष्टांतको दार्ष्टांतिकमें घटाते हैं कि पूर्वोक्तदीपकके समान साक्षीभी अहंकार, बुद्धि, और विषय, इनका प्रकाश करता है आसुषुप्ति आदिके समय अहंकार आदिके अभावमें स्वयंभी पूर्वके समान भासता है ॥ १२ ॥

निरंतरं भासमाने कूटस्थे ज्ञप्तिरूपतः ॥
तद्भासा भास्यमानेयं बुद्धिर्नृत्यत्यनेकधा ॥ १३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि प्रकाशरूप बुद्धिको ही अहंकार आदि संपूर्ण वस्तुवोंका प्रकाशक माननेसे निर्वाह हो जायगा उससे भिन्न साक्षीके माननेका क्या प्रयोजन है, सो ठीक नही है, कि निर्विकार कूटस्थ, स्वप्रकाश चैतन्यरूपसे निरंतर प्रकाशमान होते हैं यह बुद्धि उस प्रकाशमान चैतन्यकी प्रकाश की हुई, यह घट है, यह पट है, ऐसे अनेक प्रकार नृत्य करती है अर्थात् अनेक प्रकारके विकार बुद्धिमें होते हैं–निदान, विकाररूप बुद्धि जड होनेसे स्वयं प्रकाशरूप नही हो सकती, इससे बुद्धिसे भिन्न सबका प्रकाशक साक्षी स्वीकार करने योग्य है ॥ १३ ॥

अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः ॥
तालादिधारीण्यक्षाणि दीपः साक्ष्यवभासकः ॥ १४ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त अर्थको श्रोताओंकी बुद्धिमें सुखसे आनेके लिये नाटकरूपसे वर्णन करते हैं अहंकार प्रभु (राजा) के तुल्य है अर्थात् उस अहंकारमें सम्पूर्ण विषयोंका भोग और अल्पविषयोंके भोगके अभिमानसे आनंद और शोक दोनों नृत्यके अभिमानीपुरुषके समान होते हैं इससे अहंकार प्रभुकी तुल्य है और विषय सभासद हैं और बुद्धि अनेक प्रकारके विकारवाली होनेसे नर्तकी है और बुद्धिके जो विकार उनके अनुकूल व्यापार करनेसे ताल आदिके जो धारिपुरुष उनके समान इंद्रिय हैं–और इन सबका प्रकाशक होनेसे साक्षीदीपकके समान है –भावार्थ– यह है कि अहंकार प्रभु है और विषय सभासद–बुद्धि–नर्तकी इंद्रिय–ताल आदिधारी पुरुष और साक्षीदीपकके समान सबका प्रकाशक है ॥ १४ ॥

स्वस्थानसंस्थितो दीपः सर्वतो भासयेद्यथा ॥
स्थिरस्थायी तथा साक्षी बहिरंतः प्रकाशयेत् ॥ १५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि साक्षीकोभी अहंकार आदिका प्रकाशक मानोगे तो तिस २ विषयके संगसम्बंधहोने और न होनेसे साक्षीभी विकारी हो जायगा सो ठीक नही है कि जैसे दीपकगमन आदिको न करता हुआ अपने देशमें स्थित ही अपने समीपके सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाश करता है इसी प्रकार स्थिर है स्थिति जिसकी ऐसा साक्षीभी बाहिर और भीतरके सम्पूर्ण विषयोंको प्रकाश करता है ॥ १५ ॥

बहिरंतर्विभागोऽयं देहापेक्षो न साक्षिणि ॥
विषया बाह्यदेशस्था देहस्यांतरहंकृतिः ॥ १६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि साक्षी बाहिर और भीतरका प्रकाशक नहीं हो सक्ता है क्योंकि साक्षीपूर्व, अपर, अंतरबाह्य, इनसे रहित है इस श्रुतिसे[1] साक्षीको बाह्य और भीतरके विभागका अभाव कहा है, सो ठीक नही, कि बाहिर भीतरका जो यह विभाग है वह देहकी अपेक्षासे है साक्षीमें नहीं और रूप आदि विषय बाह्यदेशमें स्थित हैं और अहंकार, देहके मध्यमें स्थित है ॥ १६ ॥

अंतस्था धीः सहैवाक्षैर्बहिर्याति पुनः पुनः ॥
भास्यबुद्धिस्थचांचल्यं साक्षिण्यारोप्यते वृथा ॥ १७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि स्थिर साक्षी, बाहर भीतर प्रकाश करता है यह बात अविकारी साक्षीको अयुक्त है क्योंकि मैं घटको देखता हूं यहां प्रथम अहं (मैं)

---

१ अपूर्वमनपरन्तबाह्यम् ।

इस अहंकारका साक्षी होकर भासे हुयेका फिर घटको देखता हूं घटाकारवृत्तिको स्फुरतिसे साक्षीका बाहिरगमन प्रतीत होता है सो ठीक नही देहके भीतर स्थित हुई, बुद्धिरूप आदि ग्रहणके लिये नेत्र आदिके द्वारा वारंवार बाहिर जाती है तिससे साक्षीके द्वारा प्रकाशमान बुद्धिकी जो चंचलता है उसका वृथा आरोप साक्षीमें मूर्ख मनुष्य करते हैं इससे साक्षीमें वास्तविक चांचल्यता नही है ॥ १७॥

गृहांतरगतः स्वल्पो गवाक्षादातपोऽचलः ॥
तत्र हस्ते नर्त्यमाने नृत्यतीवातपो यथा ॥ १८ ॥

भाषार्थ—अब प्रकाशकमें प्रकाश किये कि चंचलताका आरोप दिखाते हैं कि गवाक्ष (झरोखा)मेंसे घरकेभीतर आया जो निश्चल और स्वयं आतप (धूप)है उसमें मनुष्य अपने हस्तको नचावे तो उसके संग आतपभी, नृत्य (चलना) करनेके समान जैसे प्रतीत होता है ॥ १८ ॥

निजस्थानस्थितः साक्षी बहिरंतर्गमागमौ ॥
अकुर्वन् बुद्धिचांचल्यात् करोतीव तथा तथा ॥ १९ ॥

भाषार्थ—अब दार्ष्टांतिकको कहते हैं कि इसी प्रकार अपने स्थानमें स्थित, साक्षी बाहिर और भीतर गमन और आगमनको न करताभी बुद्धिकी चंचलतासे करते हुयेके समान प्रतीत होता है ॥ १९ ॥

न बाह्यो नांतरः साक्षी बुद्धेर्देशौ हि तावुभौ ॥
बुद्ध्याद्यशेषसंशांतौ यत्र भात्यस्ति तत्र सः ॥ २० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि अपने स्थानमें स्थित साक्षी इस कहनेसे क्या बाह्यदेशमें स्थित साक्षीको मानते हो सो ठीक नहीं कि साक्षी न बाह्य है और न भीतर है क्योंकि वे दोनों देशबुद्धिके हैं जब बुद्धि इंद्रिय आदि सम्पूर्ण शांत हो जाते हैं ऐसी सुषुप्ति आदि अवस्थामें जो भासता है उस अवस्थामें वह साक्षी है ॥ २० ॥

देशः कोऽपि न भासेत यदि तर्ह्यस्त्वदेशभाक् ॥
सर्वदेशप्रकृत्यैव सर्वगत्वं न तु स्वतः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि संपूर्ण व्यवहारोंके शांत होनेपर कोई देश ही न मिलेगा तो साक्षीकी स्थिति कहां होती सो ठीक नहीं कि यदि कोईभी देश न भासेगा, तो, न भासो, साक्षीका अदेशभास, ही मानेंगे कदाचित् कहो कि देश आदिके अभावमें सर्वगत सर्वसाक्षी, कहना विरुद्ध होयगा सो ठीक नहीं क्योंकि

सब देशोंकी कल्पनासे ही सर्वगत है स्वतः नहीं अर्थात् अद्वितीय और असंग होनेसे उसका यह स्वाभाविक धर्म नहीं ॥ २१ ॥

अंतर्बहिर्वा सर्वं वा यं देशं परिकल्पयेत् ॥
बुद्धिस्तद्देशगः साक्षी तथा वस्तुषु योजयेत् ॥ २२ ॥

भाषार्थ–सर्वगतके समान सर्वसाक्षी भी वास्तविक नही इसका वर्णन करते हैं कि अंतः वा बाहिर वा संपूर्ण जिस देशकी कल्पना बुद्धि करती है उसी देशमे गामी (जाताहुआ) साक्षी तिसी प्रकार वस्तुओंमें युक्त होता है अर्थात् बुद्धिके द्वारा ही देशका संबंध है स्वभावसे नही ॥ २२ ॥

यद्यद्रूपादि कल्प्येत बुद्ध्या तत्तत्प्रकाशयन् ॥
तस्य तस्य भवेत्साक्षी स्वतो वाग्बुद्ध्यगोचरः ॥ २३ ॥

भाषार्थ–अब वस्तुओंके योगको ही विस्तारसे दिखाते हैं कि बुद्धि जिस २ रूप आदिकी कल्पना करती है तिस २ का प्रकाश करता हुआ साक्षी, तिस २ का साक्षी होता है और स्वतः (स्वयं) तो बुद्धि वाणीका अगोचर (अविषय) है अर्थात् वाणी आदिका अविषय उसका निजरूप है ॥ २३ ॥

कथं तादृङ् मया ग्राह्य इति चेन्मैव गृह्यताम् ॥
सर्वग्रहोपसंशांतौ स्वयमेवावशिष्यते ॥ २४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि वाणी मनके अगोचरको मुमुक्षु कैसे ग्रहण करेगा सो ठीक नही कि उसका न ग्रहण करनाही हमको इष्ट है कि पूर्वोक्तसाक्षीको हम कैसे ग्रहण कर सकते हैं तो मत ग्रहण करो कदाचित् कहो कि आत्माको अग्राह्य मानोगे तो विचारसे मायाके नष्ट होनेपर स्वयं परमात्माका जो शेष कहा है वह न घटेगा सो ठीक नही कि संपूर्णके ग्रह (जानने) की शांति होनेपर अर्थात् द्वैतके मिथ्यात्वनिश्चयसे उसकी प्रतीतिके न होनेपर स्वयं परमात्मा ही शेष रहता है उसके शेष रखनेमें कोई यत्न नही करना पडता है भावार्थ–यह है कि तादृश (वैसे) साक्षीको हम कैसे ग्रहण करें (जानैं) तो मत ग्रहण करो क्योंकि संपूर्ण ग्रहों (ज्ञान) की शांति होनेपर वह स्वयं ही शेष रह जाता है ॥ २४ ॥

न तत्र मानापेक्षाऽस्ति स्वप्रकाशस्वरूपतः ॥
तादृग्व्युत्पत्त्यपेक्षा चेच्छ्रुतिं पठ गुरोर्मुखात् ॥ २५ ॥

भाषार्थ–यद्यपि पूर्वोक्तन्यायसे स्वात्मा शेष रहता है तथापि उसके अपरोक्ष-

ज्ञानार्थ कोई प्रमाण तो चाहिये सोभी नही कि उस परमात्माको स्वप्रकाशरूप होनेसे उसमें किसी प्रमाणकी अपेक्षा नही है और स्वप्रकाशकी स्वयं स्फूर्ति (भान) में प्रमाणकी अपेक्षा नही है इस व्युत्पत्तिकी अपेक्षा है तो गुरुके मुखसे श्रुतिको पढ अर्थात् श्रुतिसे प्रतीत हो जायगा कि स्वप्रकाशके भासनेके लिये किसीभी प्रमाणकी आवश्यकता नही है-भावार्थ–यह है कि स्वप्रकाशरूप आत्मामें प्रमाणकी अपेक्षा नही है यदि इस व्युत्पत्तिकी अपेक्षा है तो गुरुके मुखसे श्रुतिकी पढ ॥ २५ ॥

यदि सर्वग्रहत्यागोऽशक्यस्तर्हि धियं व्रज ॥
शरणं तदधीनोंतर्बहिर्वैषोऽनुभूयताम् ॥ २६ ॥

भावार्थ–इस प्रकार उत्तम अधिकारीको आत्माके ज्ञानका उपाय कहकर मंद अधिकारीकोभी वह उपाय दिखाते हैं कि यदि संपूर्ण ग्रहका त्याग करनेको अशक्य है तो बुद्धिकी शरण जाओ क्योंकि वह बुद्धि जिस २ बाह्य वा अंतरविषयकी कल्पना करती है तिस २ का साक्षीरूप होनेसे तिसके आधीन यह परमात्मा अनुभव करने योग्य है भावार्थ–यह है कि सबका ज्ञान नही त्याग सकते हो तो बुद्धिकी शरणजाओ उस बुद्धिसे बाहिर वा भीतरके विषयोंका साक्षी यह परमात्मा जानने योग्य है ॥ २६ ॥

इति श्री विद्यारण्यकृत पंचदश्याः पं० मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृतौ नाटकदीपः ॥१०॥

इति नाटकदीपः प्रकरणं दशमम् ॥ १० ॥

श्रीः ।

पञ्चदशी ।

भाषाटीकासमेता ।

ब्रह्मानन्दे योगानन्दः प्रकरणम् ११

ब्रह्मानंदं प्रवक्ष्यामि ज्ञाते तस्मिन्नशेषतः ॥
ऐहिकामुष्मिकानर्थव्रातं हित्वा सुखायते ॥ १ ॥

भाषार्थ–करनेको इष्ट ग्रंथकी निर्विघ्नसमाप्ति, और समाप्तिके विरोधी पापकी निवृत्ति, के लिये अपनेको अभिमत जो देवता उसके तत्त्वका स्मरणरूपमंगल करते हुये–और श्रोताओंकी प्रवृत्तिके लिये प्रयोजन और अभिधेयको प्रगट करते हुये, आचार्य ग्रंथारंभकी प्रतिज्ञा करते हैं कि निर्विशेष परब्रह्मको साक्षात् करनेको जो असमर्थ मंदबुद्धि हैं उनपरभी सविशेषब्रह्मके निरूपणसे दया की जाती है अर्थात् उनके लिये सविशेष ब्रह्मका निरूपण है, इस वचनसे सविशेषब्रह्मरूप देवता-ओंके तत्त्वको निर्विशेषब्रह्मरूप कहा है और ब्रह्मानंदको कहता हूं यहां आनंदरूप-ब्रह्मके वाचकशब्दके प्रयोगसे–और जो मनसे ध्यान करता है उसको ही वाणीसे क-हता है इस श्रुतिमें कहे न्यायसे ब्रह्मका स्मरणरूप मंगल सिद्धहुआ और ब्रह्म संपूर्ण वेदांतोंसे प्रतिपादन किया जाता है और वेदांतके प्रकरणरूप इस ग्रंथकाभी ब्रह्म ही विषय है इससे ब्रह्मशब्दके प्रयोगसे विषयभी सूचित किया और उत्तरके (पिछले) आधे श्लोकसे अनिष्टकी निवृत्ति और इष्टकी प्राप्तिरूप दो प्रयोजनभी मुखसे सूचित किये–कि ब्रह्म जो आनंद उसको कहता हूं यहां वाच्य (अर्थ) वाचक (शब्द) इनके अभेदसे ग्रंथभी ब्रह्मानंद है जिस ब्रह्मानंदके अर्थात् प्रतिपाद्य प्रतिपादकरूपके ज्ञान होनेपर इस लोकके और परलोकके जो अनर्थोंका समूह है अर्थात् देह पुत्र आदिमें जो अहं ममके अभिमानसे जो आध्यात्मिकदुःख हैं और परलोकमें होने-वाले जो अनर्थ हैं उनका समूह अशेषरूपसे जो है उसको त्याग कर सुखरूपब्रह्म ही होता है–भावार्थ– यह है कि ब्रह्मानंदको कहता हूं क्योंकि तिसका ज्ञान होनेपर

---

१ निर्विशेषं परं ब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः ये मंदास्तेनुकंप्यंते सविशेषनिरूपणैः । आनंदो ब्रह्म । २ यद्धि मनसा ध्यायाति तद्वाचा वदति ।

संपूर्ण इस लोक और परलोकके अनर्थोंका जो समूह है उसको त्यागकर सुखरूप-ब्रह्म ही होता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान हो जाता है ॥ १ ॥

ब्रह्मवित्परमाप्नोति शोकं तरति चात्मवित् ॥
रसो ब्रह्मरसं लब्ध्वाऽऽनंदीभवति नान्यथा ॥ २ ॥

भाषार्थ-ब्रह्मज्ञान अनिष्टनिवृत्ति और इष्टप्राप्तिका हेतु है इसमें बहुतसे श्रुति-स्मृतियोंके वचन प्रमाण हैं यह दिखानेका अभिलाषी ग्रंथकार प्रथम, ब्रह्मका ज्ञाता परं ब्रह्मको प्राप्त होता है ऐसे ही भगवान्‌के ज्ञाताओंसे सुना है कि आत्मज्ञानी शोकको तरता है-हे भगवन् सो मैं शोचता हूं तिससे मुझे आप शोकसे पार करो-इन दो वचनोंके अर्थको पढते हैं कि ब्रह्मको वेत्ता (ज्ञाता) परम उत्कृष्टरूप आनंद-ब्रह्मको प्राप्त होता है-और आत्मवित् जो है अर्थात् भूमा शब्दके वाच्य देश,काल, वस्तु,के परिच्छेदसे शून्य आत्माको जो जानता है वह शोकको तरता है अर्थात् अपने संसर्गीपुरुषको शोच जो दे उस शोकरूप संसारको तरता है अर्थात् लांघता है-कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त तैत्तिरीय श्रुतिके वाक्यमें ब्रह्मज्ञानको परप्राप्तिकी हेतुता प्रतीत होती है आनंद प्राप्तिकी हेतुता नही, यह शंका करके आनंद प्राप्तिकी हेतुताके प्रतिपादनपूर्वक-वह ब्रह्मरस है यह मनुष्यरसको ही पा कर आनंद होता है इस तैत्तिरीय वाक्यको अर्थसे पढते हैं कि सत्यज्ञान अनंतब्रह्म है तिस इस आत्मासे आकाश हुआ- इस श्रुतिमें प्रकरणकी आदिमें ब्रह्म और आत्मा शब्दोंसे कहा जो आत्मा वह रस (सार) है अर्थात् आनंदरूप है-आनंदरूप-रसको प्राप्त होकर अर्थात् ब्रह्म मैं हूं ऐसे जानकर आनंदवाला होता है, अर्थात् अपरिच्छिन्न सबसे उत्तम सुखको प्राप्त होता है और अन्यथा अर्थात् ब्रह्म आत्माकी एकताके ज्ञान विना अन्यसाधनोंके करनेसे आनंदका भागी नही होता है-भावार्थ-यह है कि ब्रह्मज्ञानी परब्रह्मको प्राप्त होता है और आत्मज्ञानी शोकको तरता है और ब्रह्मरस है और रसको प्राप्त होकर आनंद होता है अन्यथा नहीं ॥ २ ॥

प्रतिष्ठां विंदते स्वस्मिन् यदा स्यादथ सोऽभयः ॥
कुरुतेऽस्मिन्नंतरं चेदथ तस्य भयं भवेत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार अन्वयके मुख (रीति) से इष्टप्राप्ति और अनिष्ट निवृत्तिके बोधक वाक्योंको दिखाकर अन्वय और व्यतिरेकसे अनर्थनिवृत्तिके

---

१ तावद्ब्रह्मविदाप्नोति परं श्रुतं ह्येवमेव भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मवित्-सोहं भगवः शोचामि तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु । २ रसो वै रसः रसं ह्येवायं लब्ध्वानंदी भवति सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः ।

बोधक इन दो वाक्योंके अर्थको पठते हैं कि जिसकालमें यह मुमुक्षु विद्वानोंके अनुभवसे जानने योग्य इस इंद्रियोंके अविषय और अनात्मीय अर्थात् स्वरूपसे जो अपना नही है और शब्दसे कहनेके अयोग्य और अनिलयन अर्थात् निराधार (अपनी महिमामें स्थित)ब्रह्ममें अभय (अद्वितीय) को जानता है क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि द्वितीयसे भय होता है यहां भयशब्दसे भयका हेतुभेद लखा जाता है अर्थात् जिसमें भय (भेद) न हो ऐसी प्रतिष्ठा, अर्थात् संशय विपर्यय रहित ब्रह्म मैं हूं इस स्थिति को गुरुके समीप वास आदिसे श्रवण आदिके द्वारा प्राप्त होता है उसी समय वह विद्वान् भयरहित मोक्षरूप अद्वितीयब्रह्मको प्राप्त होता है क्योंकि इस श्रुतिमें लिखा है कि जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्म ही होता है- और जिसकालमें यह पूर्वोक्त मुमुक्षु इस अदृश्य प्रत्यग्से अभिन्न ब्रह्ममें अल्पभी अंतर (भेद) को करता है अर्थात् अपनेको उपासक, और ब्रह्मको उपास्य, समझता है उसीसमयमें उसको संसारसंबंधि दुःखरूप भय होता है-भावार्थ-यह है कि जब यह मुमुक्षु अपने आत्मामें स्थितिको प्राप्त होता है तब तो यह अभय होता है और जब इस ब्रह्ममें किंचित् भी भेद करता है तो तिस मुमुक्षुको भय होता है ॥ ३ ॥

वायुः सूर्यो वह्निरिंद्रो मृत्युर्जन्मांतरेंतरम्॥
कृत्वा धर्मं विजानंतोऽप्यस्माद्भीत्या चरंति हि ॥ ४ ॥

भाषार्थ-भेदके द्रष्टाओंको भय होता है इसको दृढ करनेके लिये ब्रह्म आत्माकी एकताके ज्ञानसे जो रहित हैं उन वायु आदिकोंको भयके दिखानेवाले इत्यादि मंत्रके अर्थको पठते हैं कि इस ब्रह्मके भयसे पवन चलता है-वायु सूर्य अग्नि इंद्र मृत्यु ये जगत्के नियामक पांचोंभी देवता अतीत (बीते) जन्ममें इष्ट पूर्त आदि धर्मको जानते हुयेभी अर्थात् जानकर करतेभी अंतरको, अर्थात् प्रत्यक्ब्रह्मके भेदको करके इस ब्रह्मकी भीतिसे वायु आदिके जन्ममें चरते हैं अर्थात् अपने २ व्यापारोंमें प्रवृत्त होते हैं-यहां हि शब्दके पठनेसे इस कठ श्रुतिमें जो यमने प्रसिद्धि कही है उसको दिखाया है कि इस ब्रह्मके भयसे अग्नि तपती है सूर्य तपता है और भयसे इंद्र वायु और पांचवां मृत्यु धावता है-भाषार्थ-यह है कि वायु सूर्य अग्नि इंद्र मृत्यु ये सब पूर्वजन्ममें भेदको

१ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विंदतेऽथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैषएतस्मिन्नुदरमंतरं कुरुतेऽथ तस्य भयं भवति । २ द्वितीयाद्वैभयं भवति । ३ ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति । ४ भीषास्माद्वातः पवते । ५ भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिंद्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ।

करके और धर्मको भली प्रकार जानते हुयेभी इस ब्रह्मकी भीतिसे अपने २ कार्योंको करते हुये विचरते हैं ॥ ४ ॥

आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन ॥
एतमेव तपेन्नैषा चिंता कर्माग्निसंभृता ॥ ५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि आत्मज्ञानी शोकको तरता है इत्यादि पूर्वोक्त-वाक्योंमें यह स्पष्ट नही भासता है कि ब्रह्मानंदका ज्ञान अनर्थनिवृत्तिका हेतु है यही शंका करके उस वाक्यको कहते हैं जिसमें ब्रह्मानंदका ज्ञान अनर्थनिवृत्तिका हेतु प्रतीत हो कि ब्रह्मके आनंदको जो जानता है अर्थात् अपरोक्षरूप ब्रह्मा-नंदका ज्ञाता पुरुष किसीसेभी भयको प्राप्त नही होता अर्थात् इस लोकके व्याघ्र आदिसे और परलोकके भय हेतु पापआदिसे भयभीत नही होता–कदाचित् कहो कि तत्त्वज्ञानीको पाप आदिसे भय नही यह किससे जानते हो सो ठीक नहीं कि इस ज्ञानीको यह ताप नही होता कि मैं क्या साधु नही किया क्या मैं पाप किया इस वाक्यके अर्थको पढते हैं कि कर्माग्निसे संभृत (की) जो यह चिंता अर्थात् कर्मरूप जो यह चिंता अर्थात् कर्मरूप जो न करने और करनेसे अग्निके समान संतापका हेतु अग्नि जिसकी जो यह चिंता कि मैं पुण्य नही किया पाप क्यों किया वह चिंता इस तत्त्ववेत्ता (ज्ञानी) को ही नहीं तपाती और अज्ञानी तो उस चिंतासे सदैव तपता है–भावार्थ–यह है कि आनंदरूप-ब्रह्मको जानता हुआ किसे भय नही मानता है और कर्मरूपअग्निसे पैदा हुयी चिंताभी इसी ज्ञानीको तपायमान नही करती ॥ ५ ॥

एवं विद्वान्कर्मणी द्वे हित्वाऽऽत्मानं स्मरेत्सदा ॥
कृते च कर्मणी स्वात्मरूपेणैवैष पश्यति ॥ ६ ॥

भाषार्थ–पुण्यपापको दुःखके, न देनेमें हेतुके दिखानेवाले इन दो वाक्योंके अर्थ-को पढते हैं कि जो इस (जो पुरुष आदित्यमें ब्रह्म है यह एक है) पूर्वोक्त प्रका-रसे जानता है और इन दो पुण्यपापोंको छोडता है वही इस आत्माको प्रसन्न करता है अर्थात् आत्माका स्मरण करता है क्योंकि इसने मिथ्या समझ कर पुण्य-पापको त्याग दिया इससे कर्मकी चिंता ही इसको नही होती उसका ताप तो कहांसे होगा, और यही विद्वान् किये हुये इन्ही पुण्य पापोंको अपने आत्मस्वरूपसे ही देखता है कि जो कुछ यह है वह सब आत्मा है इससे आत्मरूप होनेसेभी सुख

---

१ एत ५ हवाव न तपति किमह५ साधुना करवं किमहं पापमकरवं । २ स य एवं विद्वानेते आत्मान ५ स्पृणुत उभे ह्येवैष एते आत्मान ५ स्पृणुते ।

दुःख संताप नही दे सकते–भावार्थ–यह है कि इस पूर्वोक्त प्रकारसे जो विद्वान् है वह पुण्यपापरूपकर्मोंको त्यागकर सदैव आत्माका स्मरण करता है और इन पुण्यपापरूप किये हुये कर्मोंकोभी आत्मरूपसे ही देखता है ॥ ६ ॥

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यंते सर्वसंशयाः ॥
क्षीयंते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ७ ॥

भावार्थ–कदाचित् कहो कि विना भोगे कोटियों कल्पोंमें भी कर्म क्षीण नही होता है इस शास्त्रसे अनादिसंसारमें बहुत जन्मोंमें किये जो पुण्यपापरूपकर्म हैं वे अनगिनत अप्रसिद्ध आत्मरूप जाननेके अयोग्य जब हैं तो उनकी चिंता क्यों न होगी सो ठीक नही कि कारणसे युक्त वे कर्म ज्ञानसे नष्ट हो चुके इससे चिंताके जनक नही इस लिये हृदयग्रंथियोंकी निवृत्तिके बोधक मुंडक आदि श्रुतिके वाक्यको पढते हैं कि हिरण्यगर्भ आदिकों पर(श्रेष्ठ)पदभी उससे अवर (निकृष्ट) है तिस परमात्माके साक्षात् करनेपर उसके हृदय (बुद्धि) की अर्थात् चिदात्माकी ग्रंथि दृढ संश्लेष (संबंध) रूप अन्योन्य अध्यासका भेदन होता है अर्थात् नष्ट हो जाता है–और संपूर्ण ये संशय नष्ट होते हैं कि आत्मा देहसे भिन्न है वा नही–भिन्न है तो कर्ता है वा नही अकर्ताभी है तो वह ब्रह्मसे भिन्न है वा नही–और अभिन्न है तो वह कर्म आदिं सहित मुक्तिका साधन है वा केवल–ये सब संदेह दूर हो जाते हैं, क्योंकि तत्वसे साक्षात्की वस्तुको संशय विपर्यय ज्ञानकी विषयता नही देखी है और पुण्यपापरूप संचितकर्म क्षीण हो जाते हैं अर्थात् अपने कारण अज्ञानके नाशसे नष्ट हो जाते हैं–भावार्थ–यह हैं–कि ब्रह्माके पदसेभी श्रेष्ठ उस परमात्माके ज्ञान होनेपर इसके हृदयकी वासनाओंका भेदन, हो जाता है और संपूर्ण संशय छेदन, हो जाते हैं और संपूर्ण कर्म क्षीण, हो जाते हैं ॥ ७ ॥

तमेव विद्वानत्येति मृत्युं पंथा न चेतरः ॥
ज्ञात्वा देवं पाशहानिः क्षीणैः क्लेशैर्न जन्मभाक् ॥ ८ ॥

भावार्थ–कदाचित् कहो कि इस जगत्में कर्मोंको करता हुआ ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करै इससे अन्यथा तेरेको कर्तव्य नही है और कोई कर्म तेरेमें लिपायमान नही है जो विद्या और अविद्या दोनोंको संग जानता है वह अविद्यासे मृत्युको तिरकर विद्यासे अमृतको भोगता है इस श्रुतिसे और कर्मसे ही जनक आदि संसिद्धिको प्राप्त हुये और जैसे मधुसे युक्त अन्न और अन्नसे युक्त मधु औषध-

---

१ नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि । २ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः एवं त्वयि तान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे विद्यांचाविद्यांच यस्तद्वेदोभय ँ सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।

रूप हैं इसी प्रकार तप और विद्या दोनों महान् औषध हैं इस[1] स्मृतिसे केवल वा ज्ञानसे युक्त कर्म मुक्तिका हेतु होगा—यह शंका करके पूर्वोक्तवाक्यमें तप शब्द पापकी निवृत्तिका वाचक इससे है कि आङ् शब्द जो (आस्थिताः) पदमें पठा है वह पाप-निवृत्तिका वाचक है और संसिद्धिशब्दसे ज्ञानका साधन चित्तकी शुद्धि लेते हैं विद्या शब्दसे उपासना लेते हैं इससे कर्म मुक्तिके साधन, नही इस अभिप्रायसे अन्यसाधनके निषेध बोधके इस[2] श्वेताश्वतर वाक्यके अर्थको पढते हैं कि उस ब्रह्मको ही विद्वान् मनुष्य जानकर मृत्युका अवलंबन करता है और इतरमार्ग अर्थात् दोनों वा केवल कर्मरूपमोक्षका उपाय नही है- कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त-वाक्योंमें अन्वयव्यतिरेकोंसे इस लोकके अनर्थकी निवृत्ति ही प्रधानतासे भासती है परलोकके अनर्थकी निवृत्ति नही भासती यह शंका करके अनिष्टताभी हो सकता है जब भावी जन्मको मानो इससे कारण सहित भावीजन्मके निषेध बोधक इस[3] श्वेताश्वतरके वाक्यके अर्थको पढते हैं कि स्वप्रकाश प्रत्यगभिन्न ब्रह्मको प्रत्यक्ष जानकर जो स्थित है उसके कामक्रोध आदि सब पाशोंकी हानि (नाश) होति है और जब पाशनामके राग आदिक्लेश क्षीण होजाते हैं तभी भावी जन्मके हेतु कर्मके अभावसे भावी जन्मको प्राप्त नही होता है भावार्थ—यह है कि उसको जानकर विद्वान् मृत्युको लांघता है अन्य कोई मार्ग नही है और ब्रह्मको जानकर पाशकी हानि होती है और क्लेशोंके क्षीण होनेसे जन्मको प्राप्त नही होता ॥ ८ ॥

देवं मत्वा हर्षशोकौ जहात्यत्रैव धैर्यवान् ॥
नैनं कृताकृते पुण्यपापे तापयतः क्वचित् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि शोकको तिरना आदि जो फल है वह सुना जाता है उसको कोई जानता नही है क्योंकी ज्ञानियोंकी इष्टप्राप्ति अनिष्टकी निवृत्ति-के लिये प्रवृत्तिको देखते हैं यह शंका करके दृढ जिनको अपरोक्षज्ञान है उनकी अप्रवृत्तिकी बोधक इस[4] कठश्रुतिके अर्थको पढते हैं कि धैर्यवान् अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि साधनोंसे युक्त पुरुष चिदानंदरूप देवको जानकर इसी जन्ममें हर्ष और शोकको त्याग देता है—और कर्माग्निसे पैदा हुई चिंता इसको दुःख नही दे-ती इस पूर्वोक्तअर्थमें विशेषताके बोधक इस याज्ञवल्क्यके वाक्यका जो अर्थ उसको पढते है कि और इसको पूर्व जन्ममें न किया पुण्य और कियाहुआपाप

---

१ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु चान्नेन संयुतम् एवं तपश्च विद्या च संयुक्तं भेषजं महत् । २ तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यते यनाय । ३ ज्ञात्वादेवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणि । ४ अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा देवं हर्षशोकौ जहाति । ५ कृताकृतेनतपतः ।

कदाचित्‌भी दुःख नही देते और इस जन्मके तो किये और न कियेभी पुण्य पाप ताप दुःख नही देते यहां तापशब्दसे चित्त विकार विशेष लेते हैं और किया हुआ पुण्य सद्धर्मरूप विकारको पैदा करता है और न किया विषादको और पाप, पुण्य से विपरीत फल देता है कि न किया पाप, हर्षको पैदा करता है और किया पाप विषादको–और तत्त्वज्ञानीको तो दोनोंभी दोनोंप्रकारके विकारके हेतु कदाचित् नही होते क्योंकि उसको विकाररहित ब्रह्मरूपका ज्ञान है–भावार्थ–यह है धीरपुरुष इसीजन्ममें देवको जानकर हर्षशोकको त्यागता है और किये और न किये पुण्य पाप इसको कभीभी तपायमान नही करते ॥ ९ ॥

इत्यादि श्रुतयो बह्वयः पुराणैः स्मृतिभिः सह ॥
ब्रह्मज्ञानेऽनर्थहानिमानंदं चाप्यघोषयन् ॥ १० ॥

भाषार्थ–इतने ही वाक्य प्रमाण नही हैं अन्यभी हैं इसका वर्णन करते हैं कि पुराण और स्मृतियोंसहित इत्यादि बहुतसी श्रुति और स्मृति ब्रह्मज्ञान होनेपर अनर्थकी हानि और आनंदकी प्राप्तिका घोषण (ढंडोरा) करती है यहां आदि शब्दसे इनका ग्रहण है कि इसी जगत्‌में ब्रह्मको जान लिया तो सत्यरूप है, और यहां न जाना तो महान् नाश है–जो पुरुष इस ब्रह्मको जानते हैं वे अमृत होते हैं और उनसे अन्य दुःखको ही भोगते हैं जो २ देवताओंमें जानता भया सोई २ ब्रह्म होता भया और उस ब्रह्मका निश्चय करके मृत्युके मुखसे छुटता है–और संपूर्ण भूतोंमें स्थित आत्माको और आत्मामें संपूर्ण भूतोंको भली प्रकार देखता हुआ आत्मयाजी (ज्ञानी) स्वाराज्य (मोक्ष) को प्राप्त होता है ये श्रुति, और स्मृति, पुराणोंके वचनभी पूर्वोक्त अर्थमें प्रमाण है ॥ १० ॥

आनंदस्त्रिविधो ब्रह्मानंदो विद्यासुखं तथा ॥
विषयानंद इत्यादौ ब्रह्मानंदो विविच्यते ॥ ११ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ब्रह्मानंद इस आनंदपदका ब्रह्म विशेषण है इससे अन्यभी कोई आनंद है यह प्रतीत होता है और वह कै प्रकारका और कैसा है इस आकांक्षाकी निवृत्तिके लिये उसके भेदोंको दिखाकर ब्रह्मानंदपदकी विवेचना करते हैं कि ब्रह्मानंद और विद्यानंद और विषयानंद इन भेदोंसे आनंद तीन प्रकारका है उनमें दो जो आनंद हैं उनका मूल ब्रह्मानंद है इससे, प्रथम तीन अध्यायोंसे ब्रह्मानंदको विभाग करके दिखाते हैं ॥ ११ ॥

---

१ इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नचेदिहावेदीन्महती विनष्टिः य एतद्विदुरमृतास्ते भवंति अथेतरे दुःखमेवापियंति तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत् निचाय्यतं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते। सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्नात्मयाजीवैस्वाराज्यमधिगच्छति। क्षेत्रज्ञस्यात्मविज्ञानाद्विशुद्धिः परमामता।

भृगुः पुत्रः पितुः श्रुत्वा वरुणाद्ब्रह्मलक्षणम् ॥
अन्नप्राणमनोबुद्धीस्त्यक्त्वाऽऽनंदं विजज्ञिवान् ॥ १२ ॥

भाषार्थ–उसमें प्रथम तैत्तिरीयश्रुतिके देखनेसे आनंदरूप ही ब्रह्म जाना जाता है इस अभिप्रायसे भृगुवल्लीके अर्थको संक्षेपसे दिखाते हैं कि भृगुनामका पुत्र अपने वरुणपितासे ब्रह्मके लक्षणोंको सुनकर कि जिससे ये भूत पैदा होते हैं और जिससे जीते हैं और प्रलय होते हुये ये जिसमें प्रवेश करते हैं उसको तू ब्रह्म जान–ऐसे सुनकर अन्नमय आदिकोशोमें ब्रह्मके लक्षणके असंभवसे उनको ब्रह्मभिन्नका निश्चय करके आनंदमयकोशमें जो पांचवां आनंद जो सुना है कि सबसे पिछलेको ब्रह्म जान उस बिंबरूपमें ब्रह्मके लक्षणोंके योगसे उसको ही ब्रह्म जानता भया–भावार्थ–यह है कि भृगु नामपुत्र, वरुण अपने पितासे ब्रह्मके लक्षणोंको सुनकर और अन्न प्राण मन बुद्धि इनको त्यागकर आनंदमयकोशको ब्रह्म समझता भया ॥ १२ ॥

आनंदादेव भूतानि जायंते तेन जीवनम् ॥
तेषां लयश्च तत्रातो ब्रह्मानंदो न संशयः ॥ १३ ॥

भाषार्थ–किस प्रकार ब्रह्मका लक्षण युक्त करता भया यह शंका करके युक्त करनेके प्रकारको कहते हैं कि आनंदसे ही निश्चयसे ये भूत पैदा होते हैं और पैदा होकर आनंदसे ही जीते हैं और लय होते हुये आनंदमें ही प्रवेश करते हैं इस श्रुतिमेंभी यही लिखा है कि विषयोंके आनंदके लिये ही ये भूत पैदा होते हैं और उनसे ही उनका जीवन होता है–और उसमेंभी उनका लय होता है अर्थात् सुषुप्तिके समय अपने स्वरूपभूत आनंदके विना अन्य किसीकाभी अनुभव नही है इससे आनंद ब्रह्म ही है इससे सबके अनुभव सिद्ध यही आनंद है इसमें संशय नही है–भावार्थ–यह है कि आनंदसे भूत पैदा होते हैं आनंदसे जीवते है और आनंदमें ही लय होते हैं इससे वह ब्रह्मानंद है इसमें संशय नही करना ॥ १३ ॥

भूतोत्पत्तेः पुरा भूमा त्रिपुटी द्वैतवर्जनात् ॥
ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो ॥ १४ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार तैत्तिरीयश्रुतिके अनुसार ब्रह्मको आनंदरूप दिखाकर छांदोग्य श्रुतिके अनुसारभी आनंदरूप दिखानेका अभिलाषी आचार्य सनत्कुमार

---

१ यतो वा इमानि भूतानि जायंते येन जातानि जीवंति यत्प्रयंत्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा ।२ आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते आनंदेन जातानि जीवंति आनंदं प्रयंत्यभिसंविशंति ।

नारदका है संवाद जिसमें ऐसे सातवें अध्यायमें जिस वाक्यमें ब्रह्मकी भूमा कहाहै उसके संक्षेपसे अर्थको कहते हैं कि जहां न अन्यको देखता है, न सुनता है न जानताहै वह भूमाहैं अर्थात् आकाश आदि भूतोंकी उत्पत्तिसे पूर्व और उन भूतोंके कार्य जरायुज अंडज आदिसे पूर्व त्रिपुटी द्वैतके वर्जनसे अर्थात् ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, इन तीनों पुटों (आकारों) के, द्वैतका जो अभाव उससे भूमा है अर्थात् देश, काल, वस्तु, के परिच्छेदसे शून्य परमात्मा है–अब उसी द्वैतके वर्जनको कहते हैं कि ज्ञाता ज्ञान ज्ञेयरूप जो त्रिपुटी है वह प्रलयकालमें नहीं होती यह संपूर्ण वेदांतोंका संमत (निश्चय) है–भावार्थ–यह है कि भूतोंकी उत्पत्तिसे पहिले त्रिपुटीरूप द्वैतके अभावसे केवल भूमा (ब्रह्म) ही हुआ क्योंकि प्रलयकालमें ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, रूप त्रिपुटी नही होती यह सब वेदांतोंका सिद्धांत है ॥ १४ ॥

विज्ञानमय उत्पन्नो ज्ञाता ज्ञानं मनोमयः ॥
ज्ञेयाः शब्दादयो नैतत्त्रयमुत्पत्तितः पुरा ॥ १५ ॥

भाषार्थ–अब ज्ञाता आदिके स्वरूपको दिखाते हैं कि परमात्मासे उत्पन्न जो बुद्धि, वह है उपाधि जिसकी ऐसा जीव वह विज्ञानमय; ज्ञाता है–और मनमें प्रतिबिंबित मनो मय चैतन्य वह, ज्ञान है और शब्द स्पर्श आदि, ज्ञेय प्रसिद्ध ही हैं ये ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, तीनों कार्य होनेसे उत्पत्तिसे पहिले कारणसे भिन्नरूपसे नही हैं ॥ १५ ॥

त्रयाभावे तु निर्द्वैतः पूर्ण एवानुभूयते ॥
समाधिसुप्तिमूर्च्छासु पूर्णः सृष्टेः पुरा तथा ॥ १६ ॥

भाषार्थ–अब फलितको कहते हैं कि ज्ञाता आदि तीनोंके अभावमें द्वैतसे रहित पूर्ण ही जैसे समाधि सुषुप्ति मूर्छाओंमें प्रतीत होता है तैसेही सृष्टिसे पहिलेभी ज्ञाता आदि त्रिपुटीके अभावसे पूर्णही प्रतीत होता है–अर्थात् सुषुप्ति मूर्च्छासे उठे मनुष्यको जो द्वैतका स्मरण होता है वह द्वैतरहित अनुभव कर्ता (ज्ञाता) के विना नही हो सकता इससे ज्ञाताकी सिद्धि है वही पूर्णरूप भूमा है ॥ १६ ॥

यो भूमा स सुखं नाल्पे सुखं त्रेधा विभेदिनि ॥
सनत्कुमारः प्राहैवं नारदायातिशोकिने ॥ १७ ॥

भाषार्थ–ब्रह्म पूर्णरूप रहो आनंदरूप क्यों मानते हो यह शंका करके

---

१ यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्याद्विजानाति स भूमा।

अन्वयव्यतिरेकोंसे भूमाको जिससे सुखरूपता प्रतीत हो इस वाक्यके अर्थको पढते हैं कि जो भूमा (बडा) है वह सुखरूप है और देशकालवस्तुसे तीन प्रकारका जिसमें भेद है उस अल्पमें सुख नही है क्योंकि अद्वैतमें ही दुःखके हेतुओंका अभाव है इस प्रकार अत्यंतशोकसे युक्त नारदमुनिके प्रति सनत्कुमारने कहा है ॥ १७ ॥

सपुराणान् पंच वेदान् शास्त्राणि विविधानि च ॥
ज्ञात्वाऽप्यनात्मवित्त्वेन नारदोऽतिशुशोच ह ॥ १८ ॥

भाषार्थ–अब उस नारदके अत्यंत शोक होनेमें हेतु कहते हैं कि वह नारदमुनि पुराणोंसहित पांचों वेद और अनेकप्रकारके शास्त्रोंको जानकरभी आत्मज्ञानी न होनेसे अत्यंत शोच करता भया ॥ १८ ॥

वेदाभ्यासात्पुरा तापत्रयमात्रेण शोकिता ॥
पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभंगगर्वैश्च शोकिता ॥ १९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि वेदशास्त्रका ज्ञान तो शोकका निवर्तक प्रसिद्ध है वह अत्यंतशोकका हेतु कैसे हो सकता है सो ठीक नही कि वेदके अभ्याससे पहिले तो आध्यात्मिक आदि तीनों तापोंका ही दुःख था और वेदाभ्यासके अनंतर तो पठित वेदका अभ्यास करना और विस्मरण (भूलना) और अपनेसे अधिकसे भंग (तिरस्कार) गर्व अर्थात् अपनेसे न्यूनको देखकर अपनेको अधिक समझना इन कारणोंसे नारदको शोक हुआ ॥ १९ ॥

सोऽहं विद्वन्प्रशोचामि शोकपारं नयात्र माम् ॥
इत्युक्तः सुखमेवास्य पारमित्यभ्यधादृषिः ॥ २० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि इस प्रकार सर्वज्ञभी नारदको क्यों शोक हुआ ठीक नही कि हे भगवन् सो मैं शोच करता हूं तिस मुझे शोकसे पार करो इस नारदके वचनसे ही नारदका शोक प्रतीत होता है–इस प्रकार जब शोक निवृत्तिका उपाय नारद मुनिने पूछा, तब सनत्कुमार ऋषिने भूमाशब्दका अर्थ जो सुखरूप ब्रह्म वही शोकका पार कहा अर्थात् सुखको ही जानने योग्य वर्णन किया–भावार्थयह है कि हे भगवन् सो मैं शोच करता हूं इस संसारमें मुझे शोकसे पार करो इस प्रकार पूछा है जिनको ऐसे सनत्कुमार ऋषि नारदमुनिके प्रति सुखको ही शोकका पार कहते भये ॥ २० ॥

१ यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति । २ सोहं भगवः शोचामि तं मां भगवान् शोकस्य पारं तारयतु ।

सुखं वैषयिकं शोकसहस्रेणावृतत्वतः ॥
दुःखमेवेति मत्वाऽऽह नाल्पेऽस्ति सुखमित्यसौ ॥ २१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि स्रक् (माला) आदिसे पैदा हुआ सुख बहुत होने-पर अल्पमें सुख नही यह नही बन सकता है सो ठीक नही है कि विषयोंका जो सुखहै वह सहस्रों शोकोंसे युक्त है इससे विष मिले अन्नके समान अनेकदुःखरूप है यह मानकर सनत्कुमारने अल्पमें सुख नही ऐसे कहा है ॥ २१ ॥

ननु द्वैते सुखं माभूदद्वैतेऽप्यस्ति नो सुखम् ॥
अस्ति चेदुपलभ्येत तथा च त्रिपुटी भवेत् ॥ २२ ॥

भाषार्थ–अब द्वैतके विषे सुखके अभावको मानकर अद्वैतमेंभी सुख नही यह शंका करते हैं कि द्वैतमें तो सुख न हो परंतु अद्वैतमें भी सुख नही है क्योंकि यदि सुख होता तो विषयोंके सुखतुल्य प्रतीत होता जिससे प्रतीत नही होता इससे नही है- कदाचित् सुखकी उपलब्धि मानेगें सो ठीक नही क्योंकि अद्वैतमें सुख मानोंगे तो त्रिपुटी हो जायगी अर्थात् ज्ञान, ज्ञाता, और ज्ञेयके विना सुख नही हुआ करता है और तीनोंको मानोंगे तो अद्वैतकी हानि हो जायगी भावार्थ–यह है कि द्वैतमें सुख नही है तो मत हो अद्वैतमें भी सुख नही है यदि होता तो प्रतीत होता और मानोंगे तो त्रिपुटी हो जायगी ॥ २२ ॥

मास्त्वद्वैते सुखं किं तु सुखमद्वैतमेव हि ॥
किं मानमिति चेन्नास्ति मानाकांक्षा स्वयंप्रभे ॥ २३ ॥

भाषार्थ–अब सिद्धांती अद्वैतमें सुखके अभावको अंगीकार करते हैं कि अद्वैतमें सुख मत हो किंतु अद्वैत सुखरूप ही है कदाचित् कहो कि अद्वैत सुखरूप है इसमें क्या प्रमाण है ऐसा मत कहो क्योंकि स्वप्रकाशरूप होनेसे उसमें प्रमाण-की अपेक्षा नही है ॥ २३ ॥

स्वप्रभत्वे भवद्वाक्यं मानं यस्माद्भवानिदम् ॥
अद्वैतमभ्युपेत्यास्मिन्सुखं नास्तीति भाषते ॥ २४ ॥

भाषार्थ–स्वप्रकाशमें क्या प्रमाण है यह शंका करोगे तो आपके ही वचनको प्रमाण कहते हैं कि ब्रह्मके स्वप्रकाश होनेमें आपका वचन ही प्रमाण इससे है जिस-से आप इस अद्वैतको स्वीकार करकेभी इसमें सुख नही है इसको कहते हो

अर्थात् अद्वैतको मानकर सुखके अभावकी ही शंका करते हो इससे वह स्वप्रकाश-रूप है ॥ २४ ॥

नाभ्युपैम्यहमद्वैतं तद्वचोनूद्य दूषणम् ॥
वच्मीति चेत्तदा ब्रूहि किमासीद्द्वैततः पुरा ॥ २५ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि मैं अद्वैतको नही मानता किंतु आपके माने अद्वैतका अनुवाद करके दूषण देता हूं इससे स्वप्रकाशकी सिद्धि न होगी सो ठीक नही कि यदि अद्वैतको तू कहता ही है तो कहो अद्वैतका कैसा स्वरूप द्वैतसे पूर्व था ॥ २५ ॥

किमद्वैतमुत द्वैतमन्यो वा कोटिरंतिमः ॥
अप्रसिद्धो न द्वितीयोऽनुत्पत्तेः शिष्यतेऽग्रिमः ॥ २६ ॥

भाषार्थ—किम् शब्दसे सूचित किये विकल्पको दिखाते हैं कि द्वैतसे पूर्व अद्वैत था वा द्वैत था वा अन्य कोई तीसरा था इन तीनोंमें तीसरा तो अप्रसिद्ध है अर्थात् द्वैत, और अद्वैतसे विलक्षणरूप तीसरा लोकमें नही देखते हैं और द्वैतसे पूर्व द्वैत पैदा ही नही हो सकता इससे दूसरे पक्षकोभी नही कह सकते इससे प्रथमपक्ष (अद्वैत) ही शेष रहता है इससे आपको स्वीकार करना पडेगा कि द्वैतसे पूर्व अद्वैत था ॥ २६ ॥

अद्वैतसिद्धिर्युक्त्यैव नानुभूत्येति चेद्वद ॥
निर्दृष्टांता सदृष्टांता वा कोटचंतरमत्र नो ॥ २७ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि पूर्वोक्तरीतिसे युक्तिके द्वारा अद्वैत सिद्ध होता है अनुभव (ज्ञान) से नही हो सकता सो ठीक नही कि अद्वैतकी सिद्धि युक्तिसे है अनुभवसे नही ऐसा कहोगे तो युक्तिसे अद्वैतकी सिद्धि है वह युक्ति दृष्टांत रहित है वा दृष्टांत सहित है और तीसरी कोटि इसमें हो नही सकती अर्थात् ये दो विकल्प ही हो सकते हैं ॥ २७ ॥

नानुभूतिर्न दृष्टांत इति युक्तिस्तु शोभते ॥
सदृष्टांतत्वपक्षे तु दृष्टांतं वद मे मतम् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—पूर्वोक्तविकल्पमें प्रथम पक्षका हंसीसे निराकरण करते हैं कि यह युक्ति तुमारी शोभाको प्राप्त होती है कि न अनुभव है न दृष्टांत है अर्थात् अद्वैतकी सिद्धि युक्तिसे ही की, यह कहते हुये आपने अनुभवको तो माना नहीं और दृष्टांतके विना युक्ति कुछभी सिद्ध न करसकेगी इससे दृष्टांत नही है यह कहना आपका

अयोग्य है और दृष्टांतको मानता है तो दोनोंवादियोंको जो संमत हो उस दृष्टांतको कहो ॥ २८ ॥

अद्वैतः प्रलयो द्वैतानुपलंभेन सुप्तिवत् ॥
इति चेत्सुप्तिरद्वैतेत्यत्र दृष्टांतमीरय ॥ २९ ॥

भाषार्थ–अब पूर्ववादी यह शंका करता है कि दृष्टांतसेही अद्वैत को सिद्ध करैं कि प्रलय अद्वैत होने योग्य है द्वैतको अनुपलब्धिसे–जो जो द्वैतकी अनुपलब्धिमान् है वह २ द्वैतरहित होता है जैसे स्वाप (सोना) ऐसा कहते हो तो सुप्ति अद्वैत है इसमें दृष्टांत कहो अपनी सुप्ति है वा अन्यकी, अपनी तो इससे नही कह सकते कि वह अन्यको प्रतीत नही हो सकती उसके लिये अन्य दृष्टांत देना पडैगा ॥ २९ ॥

दृष्टांतः परसुप्तिश्चेदहो ते कौशलं महत् ॥
यः स्वसुप्तिं न वेत्त्यस्य परसुप्तौ तु का कथा ॥ ३० ॥

भाषार्थ–अब दूसरे पक्षमें शंका करते हैं कि यदि तू परकी सुषुप्तिको दृष्टांत कहता है तो तेरी बडी कुशलता है अर्थात् अप्रसिद्ध परसुप्तिको, तू दृष्टांत नही कहसकता क्योंकि जो आप सुप्तिको अनुभवसे जानने योग्य न मानकर अपनी ही सुषुप्तिको नही मानते उन आपको परसुप्तिमें क्या कथा है अर्थात् परसुषुप्तिका ज्ञान होता है इसमें क्या कहना है अर्थात् नही होता है ॥ ३० ॥

निश्चेष्टत्वात्परः सुप्तो यथाऽहमिति चेत्तदा ॥
उदाहर्तुः सुषुप्तेस्ते स्वप्रभत्वं बलाद्भवेत् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ–अनुमानसे परसुप्तिकी सिद्धिके लिये शंका करते हैं कि जैसे चेष्टा रहित होनेसे अन्य मनुष्य सुप्त हैं ऐसे ही मैं भी सुप्त हूं यहां यह अनुमान है कि विवादका आश्रय अन्य, सुप्त है,प्राणोंसे युक्त होकर चेष्टारहित होनेसे–मेरे समान–ऐसे पूर्वोक्तअनुमानसे सुप्तिको सिद्ध करोगे तो मेरे प्रति सुषुप्तिको उदाहरण (दृष्टांत) माननेवाले आपके मतमें बलसे अर्थात् सुषुप्तिके उदाहरण देनेसे स्वप्रभत्व (स्वप्रकाशरूप) सुषुप्ति सिद्ध हो जायगी ॥ ३१ ॥

नेंद्रियाणि न दृष्टांतस्तथाऽप्यंगीकरोषि ताम् ॥
इदमेव स्वप्रभत्वं यद्भानं साधनैर्विना ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–अब बलसे स्वप्रकाश सिद्धिको ही दिखाते हैं कि न तो उस समय सुषुप्तिकी ग्राहक इंद्रिय हैं क्योंकि वे अपने कारणमें लीनहोचुकी और पर सुप्तिके

अप्रसिद्ध होनेसे कोई संप्रतिपन्न (उत्तम) दृष्टांतभी नही है तो भी उस सुषुप्तिके १ आप मानते हो तो यही ज्ञानके साधनों विना जो भान है वही सुषुप्तिको स्वप्रकाशरूप सिद्ध करता है– यहां यह अनुमान है कि विवादका आश्रय सुषुप्ति–स्वप्रकाश है-ज्ञानसाधनोंके विनाभी प्रकाशमान होनेसे-जैसे सांख्यका माना आत्मा और प्राभाकरोंका माना संवेदन (ज्ञान)–और शाक्योंका माना आत्मा स्वप्रकाशरूप है–भावार्थ– यह है कि इंद्रिय और दृष्टांतोंके न होने परभी उस सुषुप्तिको तू अंगीकार करता है इससे यही उसकी स्वप्रकाश मानता है कि साधनोंके विना पदार्थका भान होना ॥ ३२ ॥

स्तामद्वैतस्वप्रभत्वे वद सुप्तौ सुखं कथम् ॥
शृणु दुःखं तदा नास्ति ततस्ते शिष्यते सुखम् ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार प्रलयके दृष्टांतरूपसे कही हुई सुषुप्तिको अद्वैत और स्वयंप्रकाशरूप सिद्ध करके सुषुप्तिमें सुखकी सिद्धिके लिये पूर्वपक्षीकी आकांक्षाको कहते हैं कि सुषुप्ति अद्वैत स्वयंप्रकाश रहो परंतु यह कहो कि सुषुप्तिमें सुख कैसे है तो इसका उत्तर सुनो कि सुषुप्तिमें सुखका विरोधी दुःख नही है इससे तेरे मतमें ही सुख शेष रह जायगा अर्थात् प्रकाश और अंधकारके समान परस्पर विरोध होनेसे दुःखके अभावमें सुख ही मानना पडेगा ॥ ३३ ॥

अंधः सन्नप्यनंधः स्याद्विद्धोऽविद्धोथ रोग्यपि ॥
अरोगीति श्रुतिः प्राह तच्च सर्वे जना विदुः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–अब सुषुप्तिमें दुःखके अभावमें श्रुति और अनुभव प्रमाण देते हैं कि तिससे इस जगत्‌रूप, सेतुको तरकर अंधभी अंध नही रहता-बाणोंसे बिंधाभी बिंधा नही रहता-रोगीभी रोग रहित होजाता है तिससे हे भगवन् यद्यपि यह शरीर अंध है तोभी अनंध होजाता है यह श्रुति देहके अभिमानसे पैदा हुये अंध आदि दोषोंका सुषुप्तिमें निषेध करती है और व्याधि आदिसे पीडित मनुष्यकोभी सुषुप्तिमें व्याधिके दुःखका अनुभव नही होता है यह सब जनोंमें प्रसिद्ध है भावार्थ– यह है कि अंध अनंध-विद्ध अविद्ध और रोगी अरोगी हो जाते हैं यह श्रुति कहती है और यह सब जन जानते हैं ॥ ३४ ॥

---

१ तस्माद्वा एतं सेतुं तीर्त्वांधः सन्ननंधो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवति उपतापी सन्ननुपतापी भवति यद्य पीदं भगवः शरीरमंधं भवत्यनंधः स भवति ।

न दुःखाभावमात्रेण सुखं लोष्टशिलादिषु ॥
द्वयाभावस्य दृष्टत्वादिति चेद्विषमं वचः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि जहां दुःखका अभाव हो वहां सुख कहोगे तो लोष्ट शिला आदिमेंभी सुख हो जायगा इससे केवल दुःखके अभावसे सुखकी कल्पना नही कर सकते क्योंकि लोष्टशिला आदिमें तो सुखदुःख दोनोंका अभाव देखते हैं इससे आपका वचन विषम है अर्थात् दृष्टांतका दार्ष्टांतिकके अनुसारी नही है ॥ ३५ ॥

मुखदैन्यविकासाभ्यां परदुःखसुखोहनम् ॥
दैन्याद्यभावतो लोष्टे दुःखाद्यूहो न संभवेत् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ– अब दृष्टांतकी अनुकूलताके अभावको प्रतिपादन करते हैं कि अन्य मनुष्यके सुख और दुःखका ऊहन (ज्ञान) मुखकी कांति और दीनतासे कर लेते हैं अर्थात् यह सुखी है–प्रसन्न मन होनेसे–संप्रतिपन्नके समान–यह दुःखी है उदासीन मुख होनेसे– संप्रतिपन्नके समान इस प्रकार अनुमानसे अन्यके सुख दुःख जाने जाते हैं–और लोष्ट शिला आदिमें दीनता आदिके अभावसे सुख और दुःखका ऊहन नहीं कर सकते हैं इससे वहां दुःखके अभावका भी निश्चय नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

स्वकीये सुखदुःखे तु नोहनीये ततस्तयोः ॥
भावो वेद्योनुभूत्यैव तदभावोपि नान्यतः ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–अब पराये सुखदुःखोंसे अपने सुखदुःखोंकी विषमता दिखाते हैं कि अपने सुखदुःखोंके तो अनुमान करनेकी आवश्यकता नही है क्योंकि वे अनुभवसे जाने जाते हैं और जैसे जिस प्रकार उन सुख दुःखोंका भाव (होना) अनुभवसे ही जाना जाता है तैसे ही उन सुखदुःखोंका अभावभी अन्य जो अनुमान आदि हैं उनसे नही जाना जाता किंतु प्रत्यक्षसे ही जाना जाता है ॥ ३७ ॥

तथा सति स्वसुप्तौ च दुःखाभावोऽनुभूतितः ॥
विरोधिदुःखराहित्यात्सुखं निर्विघ्नमिष्यताम् ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–अब फलितका वर्णन करते हैं कि तथा सति (तैसे होनेपर) अर्थात् अपने सुख आदिका ज्ञान अनुभवसे होनेपर अपनी सुषुप्तिमें विद्यमान जो दुःखका अभाव है वह भी अनुभवसे ही सिद्ध है तिससे अपने विरोधी दुःखसे रहित होनेसे निर्विघ्नसुखको सुषुप्तिमें मानों ॥ ३८ ॥

महत्तरप्रयासेन मृदुशय्यादिसाधनम् ॥
कुतः संपाद्यते सुप्तौ सुखं चेत्तत्र नो भवेत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ– शय्या आदि साधनोंकी अन्यथा अनुपपत्तिसेभी सुषुप्तिमें सुखको दिखाते हैं कि यदि सुषुप्तिमें सुख न होता तो बडे प्रयाससे अर्थात् द्रव्यका व्यय, शरीरपीडा, आदिसे कोमलशय्या,मंच, आदिका संपादन (संचय) जो सुखका साधन है उसको क्यों करते हैं इससे प्रतीत होता है कि सुषुप्तिमें सुख है ॥ ३९ ॥

दुःखनाशार्थमेवैतदिति चेद्रोगिणस्तथा ॥
भवत्वरोगिणस्त्वेतत्सुखायैवेति निश्चिनु ॥ ४० ॥

भाषार्थ–अब अर्थापत्तिकी अन्यथा उपपत्तिकी शंका करते हैं कि कदाचित् कहो कि दुःखके नाशके लिये ही कोमलशय्या आदिका संपादन है सो ठीक नही कि रोग आदि दुःखकी निवृत्तिके लिये जो रोगी मनुष्यके अर्थ शय्या आदिका संपादन है वह दुःखनिवृत्तिके लिये हो तो हो–परन्तु जो रोगी नही है उसका शय्या आदिका जो संपादन है वह तो केवल सुखके लिये ही है यह प्रतीत होता है–तिससे सुषुप्तिमें सुखका निश्चय है ॥ ४० ॥

तर्हि साधनजन्यत्वात्सुखं वैषयिकं भवेत् ॥
भवत्वेवात्र निद्रायाः पूर्वं शय्यासनादिजम् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि सुषुप्तिके सुखकी साधनोंसे उत्पत्ति मानोगे तो आत्मारूप वह सुख न होगा सो ठीक नही कि साधनोंसे जन्य (उत्पन्न) होनेसे विषयोंका सुख हो जायगा यह जो तुम कहते हो सो निद्रासे पहिले सुखको कहते हो वा निद्राके अनंतरकालके सुखको कहते हो यह विकल्प करके प्रथमको स्वीकार करते हैं कि निद्रासे पूर्व तो शय्या आसन आदि सुख होता ही है ॥ ४१ ॥

निद्रायां तु सुखं यत्तज्जन्यते केन हेतुना ॥
सुखाभिमुखधीरादौ पश्चान्मज्जेत्परे सुखे ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–अब दूसरेका खंडन करते हैं कि सुषुप्तिमें तो शय्या आदिका अनुसंधान ही नही रहता इससे शय्या आदिसे उत्पन्न वह सुख नही हो सकता अर्थात् उसके पैदा करनेवाला कोई हेतु ही नही है–कदाचित् कहो कि यदि निद्रामें जो सुख है वह किसीसे उत्पन्न नहीं है तो वह विषय सुखके समान प्रतीत क्यों नही होता सो ठीक नही क्योंकि उस समय उसका ज्ञाता सुखमें निमग्न (डूबा) है इससे

विषय सुखके समान उसका ज्ञान नही होता कि प्रथम, निद्रासे पूर्वकालमें जीवकी बुद्धि शय्या आसन आदिका जो सुख उसके अभिमुख रहती है और पीछे निद्राके समयमें परम जो आत्मारूप सुख है उसमें जीव लीन हो जाता है अर्थात् उसको शय्या आदिका अनुसंधान नहीं रहता है-भावार्थ- यह है कि निद्रामें सुख किस हेतुसे पैदा हो सकता है अर्थात् कारणके अभावसे नही है किंतु निद्रासे पूर्वसुखके अभिमुख जीव निद्रामें परमसुखमें लीन हो जाता है ॥ ४२ ॥

जाग्रद्व्यावृत्तिभिः शांतो विश्रम्याथ विरोधिनि ॥
अपनीते स्वस्थचित्तोऽनुभवेद्विषये सुखम् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–अब संक्षेपसे पूर्वोक्त अर्थका तीन श्लोकोंसे विवरण करते हैं कि जाग्रत् अवस्थामें किये व्यापारोंसे श्रांत (थका) जीव कोमल शय्या आदिके विषे विश्राम (शयन) को करके फिर व्यापारोंसे उत्पन्न हुआ जो विरोधी दुख है उसकी निवृत्ति होनेपर स्वस्थचित्त होकर शय्या आदिके विषय पैदा हुये विषय-सुखका अनुभव करता है अर्थात् जानता है ॥ ४३ ॥

आत्माभिमुखधीवृत्तौ स्वानंदः प्रतिबिंबति ॥
अनुभूयैनमत्रापि त्रिपुट्या श्रांतिमाप्नुयात् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–अब विषय सुखके स्वरूपको दिखाते हुये परमसुखमें डूबनेका निमित्त होनेसे उसके ज्ञानमेंभी श्रमको दिखाते हैं कि आत्माके अभिमुख जो बुद्धिकी वृत्ति है उसमें आत्मरूप आनंदका प्रतिबिंब पडता है अर्थात् नहीं प्राप्त हुये विषयके संपादन आदिसे दुःखको मानकर उसकी निवृत्तिके लिये मृदु शय्या आदिपर सोते हुये मनुष्यकी बुद्धि अंतर्मुख हो जाती है उस बुद्धिकी वृत्तिमें अपना स्वरूप जो आनंद उसका प्रतिबिंब इस प्रकार पडता है जैसे अपने संमुख दर्पणमें अपना पडता है–यही विषयानंद कहाता है और समयमेंभी इस विषयानंका अनुभव करके त्रिपुटीसे जीव श्रांति (श्रम) को प्राप्त होता है अर्थात् ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय–इन तीनोंके परिश्रमको प्राप्त होता है–भावार्थ–यह है कि आत्माके अभिमुख जो बुद्धिकी वृत्ति उसमें अपने आनंदका प्रतिबिंब पडता है और वहांभी विषय सुखको जानकर जीव त्रिपुटीके परिश्रमको मानता है ॥ ४४ ॥

तच्छ्रमस्यापनुत्त्यर्थं जीवो धावेत्परात्मनि ॥
तेनैक्यं प्राप्य तत्रत्यो ब्रह्मानंदः स्वयं भवेत् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ–फिर उसी परिश्रमके दूर करनेके लिये अर्थात् त्रिपुटीसे पैदा हुये दुः-

खकी शांतिके लिये जीव परमात्माकी तरफ दौडता है अर्थात् आनंदरूपब्रह्मके अभिमुख होता है फिर उस ब्रह्मके संग एकरूपको प्राप्त होकर आपभी वहां (सुषुप्तिमें) स्थित होकर ब्रह्मानंदरूप हो जाता है क्योंकि श्रुतिमें लिखा है कि हे सोम्य उस समय सत् (ब्रह्म) के संग संपन्न हो जाता है अर्थात् सतमें मिल जाता है ॥ ४५ ॥

दृष्टांताः शकुनिः श्येनः कुमारश्च महानृपः ॥
महाब्राह्मण इत्येते सुप्त्यानंदे श्रुतीरिताः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–इस सुषुप्तिके आनंदमें श्रुतियोंमें कहे हुये शकुनि श्येन–कुमार–महानृप और महाब्राह्मण ये दृष्टांत हैं अर्थात् शकुनि आदिकोंने सुषुप्तिके आनंदको देखा है इससे सुषुप्तिमें सुख नहीं है यह मत ठीक नहीं है ॥ ४६ ॥

शकुनिः सूत्रबद्धः सन् दिक्षु व्यापृत्य विश्रमम् ॥
अलब्ध्वा बंधनस्थानं हस्तस्तंभाद्युपाश्रयेत् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–उन दृष्टांतोंमें प्रथम उसे शकुनि (पक्षी) को दो श्लोकोंसे दीखाते हैं जो इस छांदोग्य श्रुतिमें कहा है कि जैसे हाथ आदिके मध्यमें सूतसे बंधा हुआ पक्षी तिस २ दिशामें उडकर और वहां आश्रयको प्राप्त न होकर अपने बंधनका स्थान जो हाथ और स्तंभ आदि है उसका ही आश्रय लेता है इसी प्रकार हे सोम्य यह मन दिशा २ में जाकर और वहां आश्रयको न पाकर अपने बंधन प्राणका ही आश्रय लेता है क्यों कि हे सोम्य इस मनका बंधन प्राण है अर्थात् हाथ आदिके विषैका ही आधारसूत्रसे बंधा हुआ पक्षी–भोजनके ग्रहणार्थ पूर्व आदि दिशाओंमें उडकर और वहां आधारको प्राप्त न होकर अपने बंधनके स्थानको ही जिस प्रकार प्राप्त होता है ॥ ४७ ॥

जीवोपाधिमनस्तद्वद्धर्माधर्मफलाप्तये ॥
स्वप्ने जाग्रति च भ्रांत्वा क्षीणे कर्मणि लीयते ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–तिसी प्रकार जीवका उपाधिरूप मनभी पुण्य पापके फलरूप जो सुख दुःख हैं उनके अनुभवके लिये स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाओंके विषे तहां २ भ्रम कर और भोगके दाता कर्मके नाश होनेपर अपना उपादानकारण जो अज्ञान है

१ सता सोम्य तदा संपन्नो भवति । २ तत्र तावत्स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बंधनमेवोपाश्रयते एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपाश्रयते प्राणबंधनं हि सौम्य मनः ।

उसमें लीन हो जाता है और मनके लय होनेसे मन है उपाधि जिसकी ऐसा जीव परमात्मा ही हो जाता है ॥ ४८ ॥

श्येनो वेगेन नीडैकलंपटः शयितुं व्रजेत् ॥
जीवः सुप्त्यै तथा धावेद्ब्रह्मानंदैकलंपटः ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-अब श्येनके दृष्टांतका जिसमें विस्तारसे वर्णन है उस बृहदारण्यके वाक्यका संक्षेपसे अर्थ कहते हैं कि जैसे इस आकाशमें श्येन वा सुपर्ण (गरुड) पक्षी जहां तहां भ्रमकर और थकनेके अनंतर अपने पक्षोंको सकोडकर अपने आलय (घोंसला) के विषे ही आजाता है इसी प्रकार यह पुरुषभी उस आनंदके लिये दौडता है जहां शयन करके किसीभी कामनाको नहीं करता और न किसी स्वप्नको देखता है-भावार्थ- यह है कि जैसे आकाशमें सर्वत्र विचरता हुआ श्येन (बाज) नामका पक्षी आकाशके गमनमें जो श्रम उसके दूर करनेके लिये शयन करनेके लिये अपने एक नीडका ही अभिलाषी शीघ्र अपने नीडमें ही गमन करता है तैसे ही मन है उपाधि जिसकी ऐसा जीव, एक ब्रह्मानंदका अभिलाषी ही होकर शयनके लिये शीघ्र हृदयआकाशमें गमन करता है ॥ ४९ ॥

अतिबालः स्तनं पीत्वा मृदुशय्यागतो हसन् ॥
रागद्वेषाद्यनुत्पत्तेरानंदैकस्वभावभाक् ॥ ५० ॥

भाषार्थ-अब कुमार महाराज महाब्राह्मण ये तीनों जैसे आनंदकी सीमा (अवधि)को प्राप्त होकर शयन करते हैं ऐसेही यह जीवभी सुषुप्तिमें शयन करता है यह बात बालाकि ब्राह्मणका जो वाक्य है उसको तात्पर्यको कहकर तीन श्लोकोंसे कहते हैं कि जैसे अत्यंत छोटा बालक अपने कंठतक स्तनपान करानेके अनंतर कोमल शय्यापर सुलाया, वह अपने पराये आदिके ज्ञानसे रहित हुआ सुखकी मूर्ति होकर टिकता है ॥ ५० ॥

महाराजः सार्वभौमः संतृप्तः सर्वभोगतः ॥
मानुषानंदसीमानं प्राप्यानंदैकमूर्तिभाक् ॥ ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-और जैसे महाराज चक्रवर्ती राजा निर्मल बुद्धिके न होनेपरभी संपूर्ण जो मनुष्योंके आनंद हैं उनसे युक्त होनेसे किसी पदार्थकी भी प्रार्थनाके

---

१ तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रांतः संहत्यपक्षौ स्वालयायैव ध्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्मा आनंदाय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति । २ स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वाऽतिघ्नीमानंदस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ।

अभावसे अर्थात् लौकिक आनंदकी अवधिको प्राप्त होकर केवल आनंद मूर्ति हो-कर टिकता है ॥ ५१ ॥

महाविप्रो ब्रह्मवेदी कृतकृत्यत्वलक्षणाम् ॥
विद्यानंदस्य परमां काष्ठां प्राप्यावतिष्ठते ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–और जैसे ब्रह्मज्ञानी महाब्राह्मण अर्थात् प्रत्यक् (जीव)से अभिन्न ब्रह्मका साक्षात् ज्ञाता श्रेष्ठ ब्राह्मण–मैं कृतार्थ हूं इस विद्याके आनंदकी परम सीमाको अर्थात् जीवन्मुक्तिको प्राप्त होकर परमानंद रूपही टिकता है–तैसेही सुप्त (सोया) मनुष्यभी आनंद रूपही टिकता है ॥ ५२ ॥

मुग्धबुद्धातिबुद्धानां लोके सिद्धा सुखात्मता ॥
उदाहृतानामन्ये तु दुःखिनो न सुखात्मकाः ॥ ५३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहोकि ये कुमार आदि तीनों ही दृष्टांत क्यों दिये अन्यभी क्यों न दिये इस शंकाके दूर करनेके लिये तीनों दृष्टांतोंके उदाहरणके तात्पर्यको कहते हैं कि विवेकसे शून्य मुग्ध (बालक)जो है वह मुग्धोंमें, और विवेकियों में सार्वभौम, और अत्यंत विवेकियोंमें आनंदरूप ब्रह्मका ज्ञाता– सुखी हैं और इनसे जो अन्य हैं वे सब कालमें राग द्वेष आदिसे युक्त होनेसे दुःखी हैं इससे येही दृष्टांत दिये हैं ॥ ५३ ॥

कुमारादिवदेवायं ब्रह्मानंदैकतत्परः ॥
स्त्रीपरिष्वक्तवद्वेद न बाह्यं नापि चांतरम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ये पूर्वोक्त तीनो सुखी रहो प्रकरणमें क्या आया यह शंका करके दृष्टांतके बोधक श्रुतिके वाक्यका जो तात्पर्य उसको कहते हैं कि जैसे पूर्वोक्त कुमार आदि तीनों आनंदके भागी हैं इसीप्रकार यह सुषुप्तिमें स्थित मनु-ष्यभी एक ब्रह्मानंदमें तत्पर (आसक्त)हुआ स्त्रीसे आलिंगन है जिसका ऐसा-कामी पुरुषके जैसे बाह्य और भीतरके विषयोंके ज्ञानसे शून्य होनेसे सुखमूर्ति होता है तैसेही सुषुप्तिमें प्राज्ञ परमात्माके संग एक भावको प्राप्तहुआ जीवभी बाह्य भीतरके विषयोंके ज्ञानके अभावसे आनंदरूपही होता है सोई इस ज्योतिर्ब्राह्मणमें कहा है कि जैसे प्यारी स्त्रीसे संयुक्त मनुष्य बाह्य आभ्यंतर कुछ नहीं जानता इसी प्रकार प्राज्ञ आत्मासे संयुक्त यह पुरुषभी बाह्य आंतर कुछ नहीं जानता ॥ ५४ ॥

---

१ तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नांतरमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेदनांतरम् ।

बाह्यं रथ्यादिकं वृत्तं गृहकृत्यं यथांतरम् ॥
तथा जागरणं बाह्यं नाडीस्थः स्वप्न आंतरः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ–अब दृष्टांत और दार्ष्टांतिक दोनोंमें बाह्य आभ्यंतर शब्दके अर्थोंको दिखाते हैं कि जैसे रथ्या (गली) आदिका जो वृत्तांत है वह बाह्य और घरका जो कृत्य है वह आंतर है इसी प्रकार जागरण बाह्य है और जाग्रत् अवस्थाकी वासनासे नाडीके मध्यमें प्रतीत हुआ जो स्वप्न है वह आंतर है ॥ ५५ ॥

पितापि सुप्तावपितेत्यादौ जीवत्ववारणात् ॥
सुप्तौ ब्रह्मैव नो जीवः संसारित्वासमीक्षणात् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–अब जीव सुप्तिमें ब्रह्मानंदरूप टिकता है इसमें युक्तिकी बोधक इस श्रुतिके तात्पर्यको कहते हैं कि इस सुषुप्तिमें पिताभी पिता नहीं रहता अर्थात् अध्यास किये (माने) जो पितृत्व आदि जीवके धर्म हैं उनकी निवृत्ति होनेसे जीवभावकीभी प्रतीतिके न होनेसे और मैं संसारी हूं इसकेभी अदर्शनसे जीव ब्रह्महीहै–जीव नहीं है ॥ ५६ ॥

पितृत्वाद्यभिमानो यः सुखदुःखाकरः स हि ॥
तस्मिन्नपगते तीर्णः सर्वाञ्छोकान्भवत्ययम् ॥ ५७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि पितृत्व आदि अभिमानके अभावमें भी मैं सुखी हूं इत्यादि संसार क्यों न होजाय सो ठीक नहीं कि संसारका मूल देहाभिमान है उसके अभावमें संसारका भी अभाव मानते हुये आचार्य पूर्वोक्तसे अग्रिम इस वाक्यके तात्पर्यको कहते हैं कि पिता आदिका जो अभिमान है वह सुख दुःखका आकर है उस अभिमानके नाश होनेपर यह जीव हृदयके संपूर्ण शोकोंको तरता है ॥ ५७ ॥

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसाऽऽवृतः ॥
सुखरूपमुपैतीति ब्रूते ह्याथर्वणी श्रुतिः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुतियोंने मुखसे सुखकी प्राप्ति नहीं कही यह शंका करके जिसमें सुखकी प्राप्ति कही है ऐसे श्रुति वाक्यके अर्थको पढते हैं कि सुषुप्तिके समयमें जब जाग्रत् आदिरूप प्रपंचका अपनी उपादानरूप तमोगुणी

१ अत्र पिताऽपिता भवति । २ तीर्णोहि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति ।

प्रकृतिमें लय हो जाता है तब उस तमोगुणी प्रकृतिसे आच्छादित जीव सुख-रूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है यह अथर्वण वेदकी श्रुतिका अर्थ है ॥ ५८ ॥

सुखमस्वाप्समत्राहं न वै किंचिदवेदिषम् ॥
इति सुप्ते सुखज्ञाने परामृशति चोत्थितः ॥ ५९ ॥

भाषार्थ--केवल यह बात श्रुति सिद्धही नही किंतु सबके अनुभव सिद्धभी है कि सुषुप्तिसे उठा पुरुष यह स्मरण सुषुप्तिके सुखका जो ज्ञान उसका करता है कि इतने कालतक मैं सुखसे सोया मैं कुछ नही जाना--इससेभी प्रतीत है कि सुषुप्तिमें सुख है ॥ ५९ ॥

परामर्शोऽनुभूतेस्तीत्यासीदनुभवस्तदा ॥
चिदात्मत्वात्स्वतो भाति सुखमज्ञानधीस्ततः ॥ ६० ॥

भाषार्थ--कदाचित् कहो कि परामर्श अप्रमाण है तो कैसे उसके बलसे सुखकी सिद्धि होगी सो ठीक नही कि परामर्श अप्रमाण रहो उस परामर्श (स्मरण)का मूल जो अनुभव उसके बलसे सुखकी सिद्धिको दिखाते हैं कि स्मरण उसी विष-यका होता है जिस विषयका अनुभव हुआ हो अन्यका नही इससे सुषुप्तिमें अनु-भव था यह जाना जाता है--कदाचित् कहो कि सुषुप्तिमें मनसहित ज्ञान इंद्रियोंका लय होनेसे कैसे अनुभव सिद्ध होगा--इस शंकामें यह विकल्प है कि सुखके अनु-भवका साधन नही यह कहते हो--वा अज्ञानके अनुभवका साधन नही यह कहते हो इन दोनोंमें प्रथम तो नही कह सकते क्योंकि स्वप्रकाश चित्स्वरूप सुखको इंद्रियोंकी अपेक्षा नही है--दूसरा पक्षभी ठीक नही कि स्वप्रकाशरूप सुखके बलसेही उसके आवरण (ढकना) करनेवाले अज्ञानकी प्रतीति हो जायगी इस अभिप्रायसे कहते हैं कि तिस स्वप्रकाशरूप सुखसे अज्ञानका ज्ञान सुषुप्तिमें होता है भावार्थ यह है कि अनुभव किये पदार्थका स्मरण हुआ करता है इससे सुषुप्तिमें अनुभव है और चित् रूप सुखका भान स्वतः (आपही) होता है और उस सुखसे अज्ञानका ज्ञान होता है ॥ ६० ॥

ब्रह्म विज्ञानमानंदमिति वाजसनेयिनः ॥
पठंत्यतः स्वप्रकाशं सुखं ब्रह्मैव नेतरत् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ--कदाचित् कहो कि सुषुप्तिका सुख स्वप्रकाश रहो पूर्व जो कहा है कि स्वयं ब्रह्मानंद हो जाता है सो ब्रह्मरूप न होगा सो ठीक नही कि विज्ञान आनंदरूप ब्रह्म है यह वाजसनेयी कहते हैं इससे स्वप्रकाश सुख रूप ब्रह्म है अन्य नही है ॥ ६१ ॥

यदज्ञानं तत्र लीनौ तौ विज्ञानमनोमयौ ॥
तयोर्हि विलयावस्था निद्राऽज्ञानं च सैव हि ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अनुभव और स्मरणका अधिकरण एक ही होता है अर्थात् जिसको अनुभव होता है उसीको स्मरण होता है इस नियमसे, मैं सुखसे सोया कुछ ज्ञान न रहा यह जो सुषुप्तिके सुख और अज्ञानका विज्ञानमय नामके जीवको स्मरण हुआ है तो उस जीवको ही सुख आदिकाअनुभवभी कहना चाहिये सो ठीक नही क्योंकि अज्ञानका कार्य जो विज्ञान है वह अज्ञानमें लीन हो गया इस अभिप्रायसे कहते हैं कि मैं कुछ नही जाना यह जो प्रातःकाल उठे पुरुषको अज्ञानका स्मरण होता है उससे अनुमान किया जो सुषुप्तिकालका अज्ञान है उसी अज्ञानमें प्रमाता प्रमाणरूपसे प्रसिद्ध जो विज्ञान और मनोमय हैं वे दोनों लीन हो जाते हैं अर्थात् विज्ञान आदि आकारको छोडकर अपने कारणरूप (अज्ञान)से स्थित हो जाते हैं इससे विज्ञानोपाधि जो जीव हैं उसको अनुभव नही हो सकता है–क्योंकि उन विज्ञान और मनोमयोंकी जो विलय अवस्था है उसको ही निद्रा कहते हैं सोई कहा है कि विज्ञानकी जो विरति (अभाव) उसको ही सुषुप्ति कहते हैं[1] कदाचित् कहो कि निद्रामें लीन हो जाते हैं ऐसा ही क्यों न कहते हो सो ठीक नही क्योंकि उसी निद्राको बुद्धिमान् मनुष्य अज्ञान कहते हैं–भावार्थ–यह है कि जो अज्ञान है उसमें विज्ञान और मनोमय दोनों लीन हो जाते हैं और उन दोनोंकी विलय अवस्थाको निद्रा कहते हैं और वही निद्रा अज्ञान कहाती है ॥ ६२ ॥

विलीनघृतवत्पश्चात्स्याद्विज्ञानमयो घनः ॥
विलीनावस्थ आनंदमयशब्देन कथ्यते ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि जो विज्ञानमय सुषुप्तिकालके सुखके अनुभवके समयमें न था वह प्रातःकाल जाग्रत्के समयमें उसके स्मरणका कर्ता कैसे होगा सो ठीक नही कि विलय अवस्थामेंभी उसके स्वरूपका नाश नही होता इससे विलय अवस्थारूप उपाधिवाला जो आनंदमय है उसको तो उक्त सुखका अनुभव होता है और विज्ञानमय नामकी जो सघन (दृढ) उपाधि है उस वालेको स्मरण होता है इससे अनुभव और स्मरण एकमें घटते हैं इस अभिप्रायसे कहते हैं कि जैसे अग्निके संयोग आदिसे विलीन (द्रव, वा, तपा) घृत पीछे वायु

---

१ विज्ञानविरतिः सुप्तिः ।

आदिके संबंधसे घन हो जाता है इसी प्रकार जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें भोगके दाता कर्मोंके नाश होनेसे निद्रारूपसे लयको प्राप्त हुआ अंतःकरणभी फिर प्रातःकाल जागरणके समय भोगके दाता कर्मके वश होकर विज्ञानके आकारसे घन हो जाता है इससे विज्ञान है उपाधि जिसकी ऐसा विज्ञानमय आत्माभी घन होता है और उसकी ही जब विलय अवस्था उपाधि होती है तब वही आनंदमय कहता है—भावार्थ— यह है कि विलीन घृतके समान पीछेसे विज्ञानमय, घन हो जाता है और विलीन जिसकी अवस्था है उसको आनंदमय कहते हैं, ॥ ६३ ॥

सुप्तिपूर्वक्षणे बुद्धिवृत्तिर्या सुखबिंबिता ॥
सैव तद्बिंबसहिता लीनानंदमयस्ततः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—अब विलीन अवस्थावालेको ही आनंदमय कहते हैं इसको ही स्पष्ट करते हैं कि सुषुप्तिके पूर्वले क्षणमें सुखका है प्रतिबिंब जिसमें ऐसी जो बुद्धिकी वृत्ति है फिर वही स्वरूपभूतसुखके प्रतिबिंबसे सहित हुई निद्रारूपसे विलीन आनंदमय कहाती है ॥ ६४ ॥

अंतर्मुखो य आनंदमयो ब्रह्मसुखं तदा ॥
भुंक्ते चिद्बिंबयुक्ताभिरज्ञानोत्पन्नवृत्तिभिः ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार आनंदमयके स्वरूपको दिखा कर उसको ही जागरणके समयमें विज्ञानरूप होकर स्मरण होनेके लिये उस समय सुखके अनुभवको कहते हैं कि सुखके प्रतिबिंब सहित जो अंतर्मुख, बुद्धिकी वृत्ति उससे पैदा हुये संस्कारोंसे युक्त जो अज्ञानोपाधि आनंदमय है वह सुषुप्तिके समयमें अपने स्वरूपभूत ब्रह्मसुखको, चिदाभाससे युक्त जो अज्ञानसे पैदा हुई सुख आदि हैं विषय जिनके ऐसी वृत्ति हैं उन वृत्तियोंसे अर्थात् सत्वगुणके परिणामविशेषोंसे भोगता है भावार्थ—यह है कि अंतर्मुख जो आनंदमय है वह सुषुप्तिमें चिदाभासके प्रति बिंबसे युक्त और अज्ञानसे उत्पन्न वृत्तियोंसे ब्रह्मसुखको भोगता है ॥ ६५ ॥

अज्ञानवृत्तयः सूक्ष्मा विस्पष्टा बुद्धिवृत्तयः ॥
इति वेदांतसिद्धांतपारगाः प्रवदंति हि ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि जाग्रत्अवस्थाके समान सुषुप्तिमेंभी मैं सुखको जानता हूं यह अभिमान क्यों नही होता सो ठीक नही कि अज्ञानकी जो वृत्ति हैं वे सूक्ष्म होनेसे स्पष्ट नही हैं और बुद्धिकी जो वृत्ति हैं वे स्पष्ट हैं यह वेदांतके पारगामी आचार्य कहते हैं ॥ ६६ ॥

मांडूक्यतापनीयादिश्रुतिष्वेतदतिस्फुटम् ॥
आनंदमयभोक्तृत्वं ब्रह्मानंदे च भोग्यता ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—अब आनंदमय, सूक्ष्मअविद्याकी वृत्तियोंसे ब्रह्मानंदको भोगता है इसमें प्रमाणको कहते हैं कि मांडूक्य और तापनीय आदिकी श्रुतियोंमें यह अत्यंत स्फुट है कि आनंदमय भोक्ता है और ब्रह्मानंद भोग्य है ॥ ६७ ॥

एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनतां गतः ॥
आनंदमय आनंदभुक्चेतोमयवृत्तिभिः ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—अब सुषुप्तिमें टिका अर्थात् सुषुप्तिका अभिमानी प्रज्ञानघनके भावको प्राप्त हुआ आनंदमय (अत्यंत आनंदरूप) चेतनमुख और एकरूप होकर आनंदको भोगता है इस मांडूक्य आदिकी श्रुतिके[1] वाक्यका अर्थ पढते हैं कि एकरूपको प्राप्त हुआ सुषुप्तिमें स्थित प्रज्ञानघनताको प्राप्त हुआ आनंदमय चेतनके प्रतिबिंबसे युक्त वृत्तियोंसे आनंदका भोक्ता है ॥ ६८ ॥

विज्ञानमयमुख्यैर्यो रूपैर्युक्तः पुराधुना ॥
स लयेनैकतां प्राप्तो बहुतंदुलपिष्टवत् ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्तश्रुतिमें जो एकीभूत पद है उसके अर्थको कहते हैं कि जो आत्मा पहिले अर्थात् जाग्रत्अवस्थामें विज्ञानमय है मुख्य जिनमें ऐसे रूपोंसे युक्तरहा वही अब विज्ञान मन आदि उपाधियोंके लय (नाश) से एकताको प्राप्त इस प्रकार हो जाता है जैसे अनेक तंडुलोंका चूर्ण—और इस[2] श्रुतिमें भी लिखा है कि वह यह आत्मा ब्रह्म है जो विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, हैं ॥ ६९ ॥

प्रज्ञानानि पुरा बुद्धिवृत्तयोथ घनोऽभवत् ॥
घनत्वं हिमबिंदूनामुदग्देशे यथा तथा ॥ ७० ॥

भाषार्थ—अब प्रज्ञानघन शब्दके अर्थको कहते हैं कि सुषुप्तिसे पूर्व जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें जो प्रज्ञाननामकी बुद्धिकी वृत्ति रही वे ही सुषुप्तिके समयमें

---

१ सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानंदमयो ह्यानंदभुक् चेतोमुखः । २ स वा अयमात्मा ब्रह्मविज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयः ।

घट आदि विषयोंके अभाव होनेसे घन होता भया अर्थात् चित्‌रूपके संग ऐसे एक रूप हो गया जैसे उत्तरदिशा (हिमालय) में हिमकी बिंदु घन (कठिन) हो जाती हैं ॥ ७० ॥

तद्घनत्वं साक्षिभावं दुःखाभावं प्रचक्षते ॥
लौकिकास्तार्किका यावद्दुःखवृत्तिविलोपनात् ॥ ७१ ॥

भाषार्थ–अब प्रज्ञानशब्दका जो अर्थ उसके निरूपणके प्रसंगसे कुछ कहते हैं कि जो यह वेदांतोंमें साक्षीरूप कहा प्रज्ञानघन है उसको ही शास्त्रके संस्कारसे रहित लौकिकमनुष्य और, तार्किक आदि शास्त्रीमनुष्य दुःखाभाव कहते हैं क्योंकि जितनी दुःखकी वृत्ति हैं उन सबका उससे लय हो जाता है ॥ ७१ ॥

अज्ञानबिंबिता चित्स्यान्मुखमानंदभोजने ॥
भुक्तं ब्रह्मसुखं त्यक्त्वा बहिर्यात्यथ कर्मणा ॥ ७२ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त श्रुतिवाक्यके चेतोमुख शब्दका अर्थ कहते हैं कि आनंदके भोगमें अर्थात् सुषुप्तिकालका जो आनंद उसके स्वाद लेनेमें अज्ञानमें है प्रतिबिंब जिसका ऐसा चैतन्य हेतु है–कदाचित् कहो कि सुषुप्तिमें आनंदमयरूप होकर जीव ब्रह्मसुखको भोगता है तो उस ब्रह्मसुखको त्यागकर बाहिर दुःखके स्थानरूप जागरणमें क्यों आता है सो ठीक नहीं कि पुण्य और पापकी पाशमें बंधा हुआ जीव उसी कर्मकी प्रेरणासे साक्षात् कियेभी ब्रह्मसुखको त्यागकर बाहर ही आता है अर्थात् जाग्रत्‌आदि अवस्थाओंको प्राप्त होता है–भावार्थ–यह है कि अज्ञानमें प्रतिबिंबित चित्–आनंदके भोगमें हेतु है और कर्मके अनुसार भोगे हुये ब्रह्मसुखको त्यागकर फिर बाहिर आजाता है ॥ ७२ ॥

कर्म जन्मांतरेभूद्यत्तद्योगाद्बुध्यते पुनः ॥
इति कैवल्यशाखायां कर्मजो बोध ईरितः ॥ ७३ ॥

भाषार्थ–यह किससे प्रतीत होता है यह शंका करके इस कैवल्यश्रुतिके वाक्यके अर्थको-पढते हैं कि फिर जन्मांतरमें जो कर्म किया था उसके योगसे फिर बोध (ज्ञान) को प्राप्त होकर सोता है इस प्रकार कैवल्यशाखामें कर्मसे उत्पन्न बोध कहा है ॥ ७३ ॥

कंचित्कालं प्रबुद्धस्य ब्रह्मानंदस्य वासता ॥
अनुगच्छेद्यतस्तूष्णीमास्ते निर्विषयः सुखी ॥ ७४ ॥

---

१ पुनश्च जन्मांतरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः ।

भाषार्थ–अब इसमें प्रमाण कहते हैं कि सुषुप्तिमें ब्रह्मानंदका अनुभव हुआ था कि प्रवृद्ध (जगे) मनुष्यकी अल्पकालपर्यंत सुषुप्तिमें अनुभूत (भोगे) ब्रह्मानंदकी वासना (संस्कार) अनुगमन करती है अर्थात् चली जाती है क्यों कि जिस कारण प्रबोध होनेपर विषयके अनुभव रहित भी सुखी हुआ चुपचाप बैठा रहता है इससे प्रतीत होता है कि सुषुप्तिमें ब्रह्मानंदका अनुभव हुआ था ॥ ७४ ॥

कर्मभिः प्रेरितः पश्चान्नानादुःखानि भावयन् ॥
शनैर्विस्मरति ब्रह्मानंदमेषोखिलो जनः ॥ ७५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि सब काल तूष्णीं क्यों नही रहता सो ठीक नही कि पूर्वोक्तकर्मोंको प्रेरे हुये फिर संपूर्णजन दुःखोंकी भावना करते हुये शनैः २ ब्रह्मानंदको भूल जाते हैं अर्थात् उनको सब काल ब्रह्मानंदका स्मरण नहीं रहता है ॥ ७५ ॥

प्रागूर्ध्वमपि निद्रायाः पक्षपातो दिनेदिने ॥
ब्रह्मानंदे नृणां तेन प्राज्ञोस्मिन्विवदेत कः ॥ ७६ ॥

भाषार्थ–इससे भी सुषुप्तिके ब्रह्मानंदमें विवाद न करना चाहिये कि संपूर्णमनुष्योंका निद्राके पूर्व भाग और पश्चात्भागमें ब्रह्मानंदमें प्रतिदिन पक्षपात (स्नेह) है क्योंकि निद्रासे पूर्व तो कोमल शय्या आदिका संपादन करते हैं और निद्राके अंतमें ब्रह्मानंदके त्यागमें असमर्थ हुये तूष्णीं बैठे रहते हैं तिससे इस ब्रह्मानंदमें कोन विद्वान् विवाद करेगा अर्थात् कोईभी न करेगा ॥ ७६ ॥

ननु तूष्णीं स्थितौ ब्रह्मानंदश्चेद्भाति लौकिकाः ॥
अलसाश्चरितार्थाः स्युः शास्त्रेण गुरुणात्र किम् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि तूष्णीं बैठे रहनेसे यदि वह ब्रह्मानंद मिलै जो गुरुसेवा आदिसे मिलता है तो संपूर्ण लौकिकमनुष्य आलस्यसे ही चरितार्थ हो जायगे शास्त्र और गुरुसेवाका क्या प्रयोजन है अर्थात् वे वृथा हो जायगे ॥ ७७ ॥

वाढं ब्रह्मेति विद्युश्चेत्कृतार्थास्तावतैव ते ॥
गुरुशास्त्रे विनाऽत्यंतं गंभीरं ब्रह्म वेत्ति कः ॥ ७८ ॥

भाषार्थ–यह बात सत्य है कि यदि वे लौकिकमनुष्य यह जानते हैं कि यह ब्रह्मानंद है तो उतनेसे ही वे कृतार्थ हैं परन्तु ऐसा कोन पुरुष है जो गुरु

और शास्त्रके विना उस ब्रह्मको जानता है जो अत्यंत गंभीर, अवगाहन करनेके अयोग्य, वाणी और मनसे अगम्य; सर्वज्ञ, सबके अंतर सबका आत्मा, है—अर्थात् ऐसे ब्रह्मके ज्ञानमें गुरुशास्त्र ही हेतु हैं अन्य नहीं है ॥ ७८ ॥

जानाम्यहं त्वदुक्त्याद्य कुतो मे न कृतार्थता ॥
शृण्वत्र त्वादृशो वृत्तं प्राज्ञंमन्यस्य कस्यचित् ॥ ७९ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि आपके कहे ब्रह्मानंद इस वचनसे ब्रह्मानंदके ज्ञाता मुझे कृतार्थता क्यों नहीं होती सो ठीक नहीं कि इसमें आपके सदृश (तुल्य) जो कोई अपनेको पंडितका अभिमानी है उसके वृत्तांतको सुन उससे ही तू समझ जायगा कि ॥ ७९ ॥

चतुर्वेदविदे देयमिति शृण्वन्नवोचत ॥
वेदाश्चत्वार इत्येवं वेद्मि मे दीयतां धनम् ॥ ८० ॥

भाषार्थ—अब उसी वृत्तांतको कहते हैं कि चारोंवेदके ज्ञाता मनुष्यको गौ आदि दे इस वचनको सुनता हुआ कोई मनुष्य बोला कि वेद चार हैं यह मैं जानता हूं इससे मुझे धन देना चाहिये ऐसे जो कहै उसके समान ही आपभी हैं ॥ ८० ॥

संख्यामेवैष जानाति न तु वेदानशेषतः ॥
यदि तर्हि त्वमप्येवं नाशेषं ब्रह्म वेत्सि हि ॥ ८१ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि जो वेद चार हैं यह जानता है वह वेदोंकी संख्याको ही जानता है संपूर्णवेदोंके स्वरूपको नहीं जानता है तो आपभी उस चारोंवेदोंके ज्ञानीके समान संपूर्णब्रह्मको नहीं जानते हैं किंतु शब्दमात्रको ही जानते हो ॥ ८१ ॥

अखंडैकरसानंदे मायातत्कार्यवर्जिते ॥
अशेषत्वसशेषत्ववार्तावसर एव कः ॥ ८२ ॥

भाषार्थ—संख्यासे अन्य जैसे वेदका स्वरूप है ऐसा स्वगत आदि भेदसे रहित आनंदरूपब्रह्ममें कोई ऐसा अंश नहीं है जिससे न जाननेसे आप संपूर्णको अज्ञानी बताते हो इस अभिप्रायसे वादी शंका करता है कि अखंड—एकरस—आनंदरूप और माया और मायाके कार्योंसे वर्जित, ब्रह्ममें अशेष (सब) और सशेष (न्यून) बातका क्या अवसर है सो ठीक नहीं कि ॥ ८२ ॥

शब्दानेव पठस्याहो तेषामर्थं च पश्यसि ॥
शब्दपाठेऽर्थबोधस्ते संपाद्यत्वेन शिष्यते ॥ ८३ ॥

भाषार्थ—ब्रह्मज्ञानमेंभी अशेषता आदिको दिखानेके लिये जो यह कहता है कि मैं ब्रह्मको जानता हूं उसके प्रति विकल्प करके पूछते हैं कि क्या आप अखंड-एकरस-अद्वितीय-सच्चिदानंद आदि शब्दोंको ही पढते हो अथवा उनके अर्थोंकोभी जानते हो अर्थात् स्वगत आदि भेद शून्य क्या है इसकोभी जानते हो—यदि शब्दोंको ही पढते हो तो आपको अर्थोंका ज्ञान संपादन करनेको शेष रहताहै ॥ ८३ ॥

अर्थे व्याकरणाद्बुद्धे साक्षात्कारोऽवशिष्यते ॥
स्यात्कृतार्थत्वधीर्यावत्तावद्गुरुमुपास्व भोः ॥ ८४ ॥

भाषार्थ—दूसरे पक्षमें भी शेष रहनेको दिखाते हैं कि यदि व्याकरण और निगम आदिसे आपने पूर्वोक्तशब्दोंके अर्थकोभी जान लिया है अर्थात् परोक्षज्ञान हो भी गया है तो संशय और विपर्यय आदिके निरासार्थ साक्षात्कार (अपरोक्षज्ञान) करना शेष रहता है—कदाचित् कहो कि तो कब संपूर्ण ज्ञान होगा तो उसकी अवधिको दिखाते हैं कि जब तक आपकी यह बुद्धि हो कि मैं कृतार्थ हूं तब तक गुरुकी उपासना करो अर्थात् कृतार्थबुद्धि ही ब्रह्मज्ञानकी संपूर्णता है ॥ ८४ ॥

आस्तामेतद्यत्र यत्र सुखं स्याद्विषयैर्विना ॥
तत्र सर्वत्र विद्ध्येतां ब्रह्मानंदस्य वासनाम् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ—अब प्रासंगिकको समाप्त करके प्रकरणमें आते हैं कि यह शंका समाधान रहो परंतु जिस २ कालमें अर्थात् तूष्णीं आदिके समयमें विषयोंके ज्ञानविना सुखकी प्रतीति हो वहां २ विषयोंसे उत्पन्न न होने और सामान्य अहंकारसे आवृत (ढका) होनेसे ब्रह्मानंदकी ही वह वासना जाननी—अर्थात् वही २ ब्रह्मानंद मानना योग्य है ॥ ८५ ॥

विषयेष्वपि लब्धेषु तदिच्छोपरमे सति ॥
अंतर्मुखमनोवृत्तावानंदः प्रतिबिंबति ॥ ८६ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार ब्रह्मानंद और वासनानंदको दिखाकर तीन प्रकारके आनंदकी समाप्तिके लिये आत्माके अभिमुख बुद्धिकी वृत्तिमें आनंदका प्रतिबिंब पडता है यह जो पहिले विषयानंद कह आये हैं उसका ही फिर अनुवाद करते हैं—कि स्रक्,

चंदन, आदि विषयोंका लाभ होनेपरभी जब २ विषयोंकी इच्छाका उपराम होता है—अर्थात् विषयोंमें मन नहीं रहता तब २ अन्तर्मुख जो मन उसकी वृत्तिमें जो अपने आत्मानंदका प्रतिबिंब पडता है उसको विषयानंद कहते हैं ॥ ८६ ॥

ब्रह्मानंदो वासना च प्रतिबिंब इति त्रयम् ॥
अंतरेण जगत्यस्मिन्नानंदो नास्ति कश्चन ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—अब फलितार्थका वर्णन करते हैं कि पूर्वोक्तप्रकारसे स्वप्रकाशरूपसे सुषुप्तिमें भासता हुवा जो ब्रह्मानंद है—और तूष्णीं बैठे हुयेको घट आदि विषयोंके ज्ञान विना प्रतीत हुवा जो वासनानन्द है और जो वांछित विषयोंके लाभसे अंतर्मुख-मनमें प्रतिबिंबित विषयानंद है—इन तीनोंआनंदोंसे अन्य इस जगतमें कोई आनन्द नही है—कदाचित् कहो कि पहिले इस वचनसे ब्रह्मानंद, विद्यासुख, और विषयानन्द, यह तीन प्रकारका आनंद कहा और अब ब्रह्मानंद, वासनानन्द, और प्रतिबिंब, यह तीन प्रकारका पूर्वोक्तसे विलक्षण आनंद कहते हो इससे पूर्व, और उत्तर ग्रंथका विरोध है और अभ्यासके योगसे जितना २ अहंकारका विस्मरण होता है सूक्ष्मदृष्टिसे उतने २ ही निजानंदका अनुमान होता है और ब्रह्ममें तत्परमनुष्य उदासीन कालमेंभी आनंदवासनाकी उपेक्षा करके मुख्यानंदकी भावना करता है—इन दो वचनोंसे पूर्वोक्त दोनों प्रकारोंसे भिन्न निजानंद और मुख्यानंद दो आनंद कहे हैं तैसे ही दूसरे अध्यायमें मन्दबुद्धि जिज्ञासुको आत्मानंदसे बोध करावै—इसँ वचनसे आत्मानंदभी पूर्वोक्तोंसे अन्य कहा है—और जो पहिले योगानंद कहा है इसँ वचनमें योगानंदभी प्रतीत होता है और ब्रह्मानंद नामके ग्रंथमें तीसरे अध्यायमें जो कहा वह अद्वैतानंद है इसँ वचनमें अद्वैतानंदकोभी देखते हैं इससे यह तुह्मारा कथन विरुद्ध है कि इन तीनोंसे अन्य जगत्में कोई आनंद नहीं—सो यह शंका तुह्मारी ठीक नहीं क्योंकि विद्यानंदका विषयानंदके विषय अंतर्भाव इससे कहैंगे कि वह विषयानंदके समान अंतःकरणकी वृत्तिरूपँ है और निजानंद, मुख्यानंद, आत्मानंद, योगानंद, अद्वैतानंद, ये पाचों ब्रह्मानंदसे भिन्न नहीं हैं—सोई दिखाते हैं कि इतने २ अहंकारका विस्मरण होता है—इस पूर्वोक्तश्लोकमें योगलक्षणरूप उपायसे योगानंदरूपसे विवक्षित जो अर्थात् कहा जो निजानंद है वही इसँ उत्तरके श्लोकमें ब्रह्मानंद कहा है कि जब द्वैतका भान न हो और न निद्रा हो वहां जो सुख

१ आनंदस्त्रिविधो ब्रह्मानंदो विद्यासुखं तथा विषयानंदः । २ यावद्यावदहंकारो विस्मृतोऽभ्यासयोगतः तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानंदोऽनुमीयते । तादृक् पुमानुदासीनकालेप्यानंदवासनाम् । उपेक्ष्य मुख्यमानंदं भावयत्येव तत्परः । ३ मंदप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानंदेन बोधयेत् । ४ योगानंदः पुरोक्तो यः । ५ ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे तृतीयाध्याय ईरितः अद्वैतानंद एव स्यात् । ६ विषयानंदवद्विद्यानंदो धीवृत्तिरूपकः । ७ न द्वैत भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम् । स ब्रह्मानं दइत्याह भगवानर्जुनं प्राति ।

है वही ब्रह्मानन्द है यह भगवान् ने अर्जुनके प्रति कहा है इससे निजानंद ब्रह्मानंदसे भिन्न नही है-तिसी प्रकार मुख्यानंदभी ब्रह्मानंदरूप ही है क्योंकि विषयानंद और वासनानंद इन दोनोंका जनक स्वप्रकाशरूप ब्रह्मानन्द है-इसे वचनमें गौण जो विषयानंद वासनानंद हैं उनका जनक जो ब्रह्मानंद कहा है वही तादृक् पुमान्० इस पूर्वोक्तश्लोकमें मुख्यानंद कहा है-आत्मानंद और अद्वैतानंद-को तो ब्रह्मानंदरूप इससे समझना कि जो पहिले योगानंद कहा है उसको आत्मा-नंद मानो यह जो तीसरे और पहिले अध्यायमें योगानंदरूप कहनेको इष्ट ब्रह्मानंद है उसको ही योगानंदशब्दसे अनुवादपूर्वक आत्मानंद कहकर फिर द्वैतसहित यह ब्रह्म कैसे हो सकता है यह प्रश्न करके और आकाशसे शरीरपर्यंतको ब्रह्म कहा है इससे आत्मानंद और अद्वैतानंद ये दोनों ब्रह्मानंदरूप हैं यह पूर्वोक्त ठीक है-तिससे ब्रह्मानंद वासनानंद विषयानंद ये तीन ही आनंद जो कहे हैं वे ठीक हैं कदाचित् कहो कि ब्रह्मानंद और वासनानंदसेभी अन्य निजानंदको योगी जानो इसे[2] वचनमें ब्रह्मानंद वासनानन्दसे भिन्न निजानंदका दिखाना ठीक न होगा सो ठीक नही कि एक ब्रह्मानंद ही जगत्कारणरूप उपाधिसे सहित और रहित हो-नेसे भिन्न हो सकता है सोई दिखाते हैं कि ब्रह्मानंदके निरूपणसमयमें आनंदसे ही ये भूत पैदा होते हैं यह कहँ कर ब्रह्मानंदको जो जगत्का कारण कहा है इससे ब्रह्मानंद मायासहित है क्योंकि मायासे रहित जगत्का कारण नही हो सकता-और निजानंदरूपके समयमेंभी जितना २ अहंकार अभ्यासके योगसे नष्ट होता है उतना २ ही सूक्ष्मदृष्टिको निजानंदका अनुमान होता है इत्यादि ग्रंथसे कारण-सहित अहंकारका लय कहा है इससे निजानंद मायारहित है-इससे सब निर्दोष है-भावार्थ- यह है कि ब्रह्मानंद और वासनानंद और विषयानंद इन तीनों आनं-दोंके विना इस जगत्में अन्य कोई आनंद नही है ॥ ८७ ॥

तथा च विषयानंदो वासनानंद इत्यमू ॥
आनंदौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानंदः स्वयंप्रभः ॥ ८८ ॥

भावार्थ-कदाचित् कहो कि इस अध्यायमें ब्रह्मानंदके विवेकका प्रकरण है अन्य आनंदोंका जो वर्णन है वह प्रकरणविरुद्ध है सो ठीक नही कि विषयानंद और वासनानंद ये दोनों ब्रह्मानंदसे पैदा होते हैं इससे ब्रह्मानंद ज्ञानके उपयोगी होनेसे प्रकरणकी असंगति नही है इस अभिप्रायसे कहते हैं कि इस प्रकार आनंदके तीन-

---

१ तथा च विषयानंदो वासनानन्द इत्यमू । आनंदौ जनयन्नास्ते ब्रह्मानंदः स्वयंप्रभः । २ नन्वेवं वासना-नंदात् ब्रह्मानंदादपीतरम् । वेत्तुयोगी निजानंदम् । ३ आनंदाद्ध्येवेमानि भूतानि जायंते ।

भद होनेसे जो स्वप्रकाशरूप आनंद है वह विषयानंद, और वासनानंदको पैदा करता है और वही ब्रह्मानंद जानना ॥ ८८ ॥

श्रुतियुक्त्यनुभूतिभ्यः स्वप्रकाशचिदात्मके ॥
ब्रह्मानंदे सुप्तिकाले सिद्धे सत्यन्यदा शृणु ॥ ८९ ॥

भाषार्थ–अब वृत्तांतके कथनपूर्वक अगले ग्रंथके वर्णनके तात्पर्यको कहते हैं कि सुषुप्तिके समय संपूर्ण जगत्का लय होनेपर अज्ञानसे आवृत जीव सुखरूपको प्राप्त होता है इस पूर्वोक्तश्रुतिसे और मैं सुखसे सोया इस स्मरणकी अन्यथा असिद्धिसे जो मानी युक्ति उससे और पूर्वोक्त इस अर्थापत्तिरूप युक्तिसे कल्पना किये अनुभवसे अर्थात् श्रुति युक्ति और ज्ञानसे सुषुप्तिके समयमें जब स्वप्रकाश चेतनरूप ब्रह्मानंदकी सिद्धि होनेपर अब इसके अनंतर जाग्रत् आदि अन्य कालोंमें भी जो ब्रह्मानंदके ज्ञानका उपाय है उसको तुम सुनो ॥ ८९ ॥

य आनंदमयः सुप्तौ सविज्ञानमयात्मताम् ॥
गत्वा स्वप्नं प्रबोधं वा प्राप्नोति स्थानभेदतः ॥ ९० ॥

भाषार्थ–अब प्रतिज्ञा किये ब्रह्मानंदज्ञानका उपाय दिखानेके लिये उसकी सिद्धिकी साधक जीवकी दोनों अवस्थाओंकी प्राप्ति और उसके कारणको दिखाते हैं कि सुषुप्तिके समय विलीन है अवस्था जिसकी ऐसा आनंदमयशब्दका जो अर्थ है इस वचनसे जो आनंदमय कहा है वह विज्ञान (बुद्धि) रूप उपाधिवाला होनेसे विज्ञानमयरूपको प्राप्त होकर आगे वर्णनके योग्य स्थानोंके योगसे अपने कर्मानुसार स्वप्न और जागरणको प्राप्त होता है ॥ ९० ॥

नेत्रे जागरणं कंठे स्वप्नः सुप्तिर्हृदंबुजे ॥
आपादमस्तकं देहं व्याप्य जागर्ति चेतनः ॥ ९१ ॥

भाषार्थ–अब जाग्रत् आदि अवस्थाके उपयोगी स्थानोंको दिखाते हैं कि नेत्रोंमें जागरण और कण्ठमें स्वप्न और हृदयरूपकमलमें सुषुप्ति होती है और चरणसे मस्तकपर्यंत देहमें व्यापक होकर चेतन (जीव) जागता है इस श्लोकमें नेत्र शब्द संपूर्ण देहका उपलक्षण है ॥ ९१ ॥

देहतादात्म्यमापन्नस्तप्तायःपिंडवत्ततः ॥
अहं मनुष्य इत्येवं निश्चित्यैवावतिष्ठते ॥ ९२ ॥

---

१ सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति । २ सुखमहमस्वाप्सम् । ३ विलीनावस्थ आनंदमय शब्देन कथ्यते ।

भाषार्थ–अब दृष्टांतको दिखाकर देहकी व्यापकता स्पष्ट करते हैं कि देहके संग तपाये हुये लोहेके पिंडकी तुल्य तादात्म्य (एकरूप) को प्राप्त हुवा जीव जिससे मनुष्यत्व आदि जातिवाले देहके संग तादात्म्यको प्राप्त हुवा है तिससे मैं मनुष्य हूं यह निस्सन्देह जानकर टिकता है अर्थात् अपनेको मनुष्य मान लेता है ॥ ९२ ॥

उदासीनः सुखी दुःखीत्यवस्थात्रयमेत्यसौ ॥
सुखदुःखे कर्मकार्ये त्वौदासीन्यं स्वभावतः ॥ ९३ ॥

भाषार्थ–अब देहमें तादात्म्यके अभिमानसे ही अन्य अवस्थाओंको दिखाते हैं कि फिर यह जीव मैं उदासीन हूं सुखी और दुःखी हूं इन तीन अवस्थाओंको प्राप्त होता है उन तीनोंमें सुख और दुःख अपने किये कर्मके कार्य हैं अर्थात् अपने कर्मसे सुखी और दुःखी होता है और उदासीनता, स्वभावसे होती है अर्थात् कर्मसे जन्य नहीं है ॥ ९३ ॥

बाह्यभोगान्मनोराज्यात्सुखदुःखे द्विधा मते ॥
सुखदुःखांतरालेषु भवेत्तूष्णीमवस्थितिः ॥ ९४ ॥

भाषार्थ–अब निमित्तके भेदसे सुखदुःखके दो भेद कहते हैं कि बाह्य (विषय) भोगसे और मनोराज्यसे सुख दुःख दो प्रकारके माने हैं और सुखदुःखके मध्य २ में तूष्णीं स्थिति (उदासीनता) होती है ॥ ९४ ॥

न कापि चिंता मेस्त्यद्य सुखमास इति ब्रुवन् ॥
औदासीन्ये निजानंदभानं वक्त्यखिलो जनः ॥ ९५ ॥

भाषार्थ–जिस लिये जाग्रत् आदि अवस्थाओंका वर्णन किया उसको अब दिखाते हैं कि संपूर्ण मनुष्य उदासीनतामें यह कहते हैं कि अब हमें घर आदिकी कुछ चिंता नहीं है हम सुखसे स्थित हैं–यही निजानन्द है अर्थात् उदासीनताके समयमें जो निजानंदका कथन है अर्थात् स्वरूपानंदकी स्फूर्ति है उससे प्रतीत है कि जागरण अवस्थामें भी निजानंदका भान मानना योग्य है ॥ ९५ ॥

अहमस्मीत्यहंकारसामान्याच्छादितत्वतः ॥
निजानंदो न मुख्योयं किं त्वसौ तस्य वासना ॥ ९६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि उदासीनताके समय प्रकाशमानको निजानंद मानोगे तो वह ब्रह्मानंद ही हुआ तो पहिले जो वही वासनानंद कहा है वह ठीक न

होगा यह शंका करके समाधान देते हैं कि सामान्य अहंकारसे आच्छादित होनेसे वह ब्रह्मानंद नही हो सकता कि मैं हूं इस सामान्य अहंकारसे आच्छादित है इससे वह निजानंद मुख्य (ब्रह्मानंद) नही है किंतु यह ब्रह्मानंदकी वासना (संस्कार) है क्योंकि मैं हूं इस ज्ञानमें मैं देवदत्त हूं इसके समान देवदत्त आदि विशेषरूपसे अहंकार नही भासता ॥ ९६ ॥

नीरपूरितभांडस्य बाह्ये शैत्यं न तज्जलम् ॥
किं तु नीरगुणस्तेन नीरसत्तानुमीयते ॥ ९७ ॥

भाषार्थ–अब मुख्यानंदसे अन्य वासनानंदमें दृष्टांत देते हैं कि जलसे पूर्ण घटके बाह्यभागके स्पर्शसे जो शीतता स्पर्श होती है वह जल नही है क्योंकि वह द्रव नही है किंतु जलका गुण है उससे जलकी सत्ताका अनुमान होता है कि विवादका स्थान जो घटमें प्रतीत शीत है वह जलसे उत्पन्न होने योग्य है शीत होनेसे जलमें प्रतीत शीतके समान है ॥ ९७ ॥

यावद्यावदहंकारो विस्मृतोभ्यासयोगतः ॥
तावत्तावत्सूक्ष्मदृष्टेर्निजानंदोनुमीयते ॥ ९८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि शीतसे नीरका अनुमान रहो प्रकरणमें क्या आया यह आशंका करके तिसी प्रकार वासनानंदसे भी मुख्यानंदका अनुमान दिखाते हैं कि अभ्यासके योगसे महान् आत्मामें ज्ञानको रोके और उसको शांत आत्मामें रोके इस [1]श्रुतिमें कहे निरोध समाधिके करनेके अनंतर जितनी २ अहंकार आदि जो चित्तकी वृत्ति हैं उनके लयके वश चित्तकी सूक्ष्मता होती है उतनी २ ही निजानंदकी प्रकटता होती है यहां अनुमान है कि अहंकारके संकोचसे युक्त जो द्वितीय आदि क्षण हैं वे पहिले २ क्षणोंसे अधिक आनंदवाले हैं–अहंकारके संकोचविशेषसे युक्त कालरूप होनेसे, अहंकारके संकोचसे युक्त प्रथम क्षणके समान–भावार्थ–यह है कि अभ्यासके योगसे जितना २ अहंकारका विस्मरण होता है उतना २ ही सूक्ष्मदृष्टिसे निजानंदका अनुमान होता है ॥ ९८ ॥

सर्वात्मना विस्मृतः सन्सूक्ष्मतां परमां व्रजेत् ॥
अलीनत्वान्न निद्रेषा ततो देहोपि नो पतेत् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ–अब बुद्धिकी सूक्ष्मताका अवधि जो साक्षात्कार उसको दिखाते हैं कि

१ अभ्यासयोगतो ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छांत आत्मनि ।

सर्वात्मासे (पूरा) हुआ है विस्मरण जिसका ऐसा अहंकार परम (अत्यंत) सूक्ष्म भावको प्राप्त हो जाता है—कदाचित् कहो कि वह निद्राही है सो ठीक नही कि संपूर्ण वृत्तियोंका विलय होनेपर भी अंतःकरणके लय न होनेसे यह निद्रा नही है क्योंकि कारण रूपसे बुद्धिकी जो स्थिति उसको सुषुप्ति कहते हैं यह आचार्योंने कहा है अब अंतःकरणस्वरूपके लयके अभावमें प्रमाण कहते हैं कि जहां सुषुप्ति आदिमें अहंकारका लय होता है वहां देहका पात देखा है और यहां तो अहंकारका लय इससे नही है| कि देहका पात नही होता है—भावार्थ यह है कि सर्वथा विस्मरण किया अहंकार परम सूक्ष्म हो जाता है और अहंकारके लीन न होनेसे यह निद्रा नही है और तिससे देह भी नही गिरता है ॥ ९९ ॥

न द्वैतं भासते नापि निद्रा तत्रास्ति यत्सुखम् ॥
स ब्रह्मानंद इत्याह भगवानर्जुनं प्रति ॥ १०० ॥

भाषार्थ—अब फलितको कहते हैं कि जिस कालमें न द्वैतभासै और न निद्रा आती हो उस कालमें प्रतीत होता जो सुख है वह ब्रह्मानंद है यह भगवान्ने गीताके छटे अध्यायमें अर्जुनके प्रति कहा है अर्थात् भगवान्के कथनसेही उसको ब्रह्मानंद जानना ॥ १०० ॥

शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ॥
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—अब जिन श्लोकोंसे भगवान्ने वर्णन किया है उन श्लोकोंके अर्थकोही क्रमसे पढते हैं कि धीरतासे युक्त जो बुद्धिरूप कारण उससे शनैः२ मनका उपराम करै अब मनके उपरामकी अवधिको कहते हैं कि मनको आत्मामें भली प्रकार स्थित करके अर्थात् यह संपूर्ण आत्माही है उससे अन्य कुछ नही है इस[2] प्रकार मनकी आत्मामें स्थितिको करके किसीकीभी चिंता न करै यही योगकी परम अवधि है भावार्थ यह है कि धैर्यसे युक्त जो बुद्धि उससे शनैः२ उपरामको प्राप्त हो फिर मनको आत्मामें भली प्रकार स्थित करके किसीकाभी चिंतन न करै ॥ १०१ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम् ॥
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—पूर्वोक्त योगके संपादनमें प्रवृत्त (लगा) जो योगी उसके कर्तव्यको

१ बुद्धेः कारणात्मनावस्थानं सुषुप्तिः । २ आत्मैवेदं सर्वं न ततोन्यत्किंचिदस्ति ।

कहते हैं कि स्वभावके दोषसे चंचल और इसीसे अस्थिर जो मन है अर्थात् एक विषयमें नियमसे स्थित नही जो मन वह जिस २ शब्द आदि विषयरूप निमित्तसे चलायमान हो तिस २ विषयके सकाशसे उस मनका नियमन (रोकना) करके अर्थात् शब्द आदि विषयोंमें मिथ्या आदि दोषके देखनेसे आभासमात्र मानकर और वैराग्यकी भावनासे इस मनको रोककर आत्माकेही वशमें करै इस प्रकार अभ्यास करते योगीका मन अभ्यासके बल आत्मामें ही शांतिको प्राप्त होता है भावार्थ यह है कि चंचल और अस्थिर मन जिस २ विषयसे चलायमान हो उस २ विषयसे रोककर इस मनको आत्माके ही वशमें करै ॥ २ ॥

प्रशांतमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ॥
उपैति शांतरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ-मनकी शांतिके फलको कहते हैं कि शांत है रजो गुण जिसका अर्थात् क्षीण हुआ है मोह आदि रजो गुण जिसका और इसीसे अत्यंत शांत (विक्षेप रहित) है मन जिसका ऐसा जो ब्रह्मरूप अर्थात् यह सब ब्रह्महो है[1] इस निश्चयसे जो जीवन्मुक्त है और जो अधर्म आदिसे रहित है उस योगीको उत्तम सुख प्राप्त होता है अर्थात् नाश और न्यून अधिक भावरूप दोषोंसे रहित सुख मिलता है ॥ ३ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया॥
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ ४ ॥

भाषार्थ-अब संग्रह किये अर्थका जिनमें विस्तार है उन गीताके श्लोकोंको पढते हैं कि जिस कालमें योगकी सेवासे संपूर्ण विषयोंसे निवारण किया (रोका) चित्त उपरामको प्राप्त हो और जिस कालमें समाधिसे अंतःकरणसे शुद्ध चैतन्य परमात्माको देखता हुआ आत्मामें ही संतोषको प्राप्त होता है अर्थात् विषयोंसे संतुष्ट नही होता ॥ ४ ॥

सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम् ॥
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ५ ॥

भाषार्थ-और जिस कालमें आत्मामें स्थित यह योगी, आत्यंतिक (अनंत) और बुद्धिग्राह्य अर्थात् जिसके जाननेके लिये इंद्रियोंकी अपेक्षा, बुद्धिको, नहो

---

१ ब्रह्मैवेदं सर्वम् ।

और जो अतींद्रिय हो अर्थात् इंद्रियोंसे पैदा न हो और न विषयोंसे उत्पन्न हो ऐसे सुखको जानता है और आत्मामें स्थित यह योगी जिस कालमें तत्त्वसे चलायमान न हो अर्थात् आत्मस्वरूपको न भूले ॥ ५ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ॥
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ६ ॥

भाषार्थ–और जिस आत्माके लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक अन्य लाभको न माने सोई इस स्मृतिमें लिखा है और जिस आत्माके तत्वमें स्थित हुआ यह गुरु (भारी वा महान्) दुःखसे भी चलायमान नहीं होता अर्थात् प्रल्हादके समान शस्त्र आदिके प्रहारसे भयभीत नहीं होता ॥ ६ ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ॥
स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥ ७ ॥

भाषार्थ–अब वर्णन किये योगकी घटना करते हैं कि दुःखके संयोगोंका है वियोग (अभाव) जिसमें ऐसे उसको योग जाने–ऐसे योगके अनुष्ठानमें रीतिको कहते हैं कि निर्वेदसे रहित चित्तसे उस योगको निश्चयसे करै अर्थात् एक रस, मनसे योगाभ्यासको करै ॥ ७ ॥

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ॥
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यंतं सुखमश्नुते ॥ ८ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त अर्थको समाप्त करते हैं कि विगत (नष्ट) है पाप (विघ्न) जिसका ऐसा योगी–इस पूर्वोक्त प्रकारसे सदैव आत्माका योग (स्मरण) करता हुआ सुखसे (विना श्रम) ऐसे अत्यंत (नाशहीन) सुखको प्राप्त होता है जिसमें ब्रह्मका स्पर्श भली प्रकारसे हो अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ ८ ॥

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिंदुना ॥
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥ ९ ॥

भाषार्थ–अनिर्वेदसे किया योगाभ्यास फल पर्यंत होता है इसका दृष्टांत सहित वर्णन करते हैं कि जैसे कुशाके अग्रभागसे उठाई एक बिंदुसे समुद्रका उत्सेक (बाहिरसे सींचना) खेदके विना होता है अर्थात् कालांतरमें सिद्ध होता है इसी

१ आत्मलाभान्न परं विद्यते ।

प्रकार मनका निग्रह जो विना श्रम किया जाता है तो कालांतरमें सिद्ध होता है अर्थात् कभी न कभी उद्योगकी सफलता होती है ॥ ९ ॥

बृहद्रथस्य राजर्षेः शाकायन्यो मुनिः सुखम् ॥
प्राह मैत्राख्यशाखायां समाध्युक्तिपुरःसरम् ॥ १० ॥

भाषार्थ–यह बात केवल गीताहीमें नही कही किंतु मैत्रायणीय शाखामेंभी कही है कि यजुर्वेदकी मैत्रायणीय शाखामें शाकायन्य नाम मुनि अपने शरण आये बृहद्रथ राजर्षिको समाधिके प्रथम वर्णनके अनुसार ब्रह्म सुखको कहते भये ॥ १०॥

यथा निरिंधनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ॥
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यतित्तं ॥ ११ ॥

भाषार्थ–जिसप्रकारसे शाकायन्यने बृहद्रथराजाके प्रति योगका वर्णन किया उसप्रकारको कहतेहैं–कि जैसे इंधनसे रहित अग्नि–अपने कारण–तेजमें शांत होतीहै अर्थात् ज्वाला आदि विशेषरूपको त्यागकर तेजरूपसे टिकती है–तिसी प्रकार अंतःकरणभी वृत्तियोंके क्षयसे–अर्थात् समाधिके अभ्यास द्वारा रजोगुणी संपूर्ण वृत्तियोंके नाशसे अपने कारण सत्तामात्रमें शांत होताहै–अर्थात् सद्रूपब्रह्म होजाताहै ॥ ११॥

स्वयोनावुपशांतस्य मनसः सत्यकामिनः ॥
इंद्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ १२ ॥

भाषार्थ– अब चित्तशांतिके फलको कहतेहैं कि अपने कारणमें शांत और इंद्रिय और शब्द आदि विषयोंसे विमुख जो–सत्यरूप आत्माका अभिलाषी मन उसके कर्मोंके अधीन जो सुख आदि हैं वे सब मिथ्या हो जाते हैं अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त संपूर्ण जगतके पदार्थ उसको मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं ॥ १२ ॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ॥
यच्चित्तस्तन्मयो मर्त्यो गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि चित्तकी शांतिसे जगत् मिथ्या होता है यह नही बनसक्ता क्योंकि जगत्का उपादान चित्त नही है सो ठीक नही कि यद्यपि स्वरूपसे जगत्का चित्त उपादान कारण नही तथापि जगत्के भोग भोगनेमें चित्त ही कारण है–यहां हि शब्दसे सबके अनुभव प्रमाण समझना–कि सुषुप्ति आदि अवस्थाओंमें चित्तका लय होनेसे भोगको नही देखते–जिससें संसार चित्तरूप है इससे चित्तकी ही अभ्यास वैराग्य आदि यतनसे शुद्धि करै–अर्थात् रजोगुण तमोगुणसे रहित–चित्तको एकाग्र करै–कदाचित् कहो कि आत्माके मुक्तिके लिये आ-

त्माही शोधनेके योग्य है चित्त नही-सो ठीक नही–क्योंकि मर्त्य (देहधारी)का जिस पुत्र आदिके विषै चित्त होता है–वह तन्मयी हो जाता है क्योंकि पुत्र आदिकी पूर्णता और न्यूनताका आत्मामें ही आरोपण है यह बात अनादि सिद्ध है–अर्थात् स्वभावसे शुद्ध आत्माको चित्तके संबंधसे ही संसार है–इस श्रुतिमें भी लिखा है कि आत्मा मानो ध्यान करता है मानो विलास करता है इससे चित्तकी शुद्धिसे आत्माकी संसारसे निवृति होती है यह सिद्धहुआ भावार्थ–यह है कि जिससे-चित्तही संसार है तिससे धर्मसे चित्तकोही–शुद्ध करै– और मनुष्यका जिसमें चित्त होता है उसरूपको ही प्राप्त होजाता है–यह सदाकी गुप्त बात है १३

चित्तस्य हि प्रसादेन हंति कर्म शुभाशुभम् ॥
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ १४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अनादि जन्मोंकी परम्परामें संचित किये सुख और दुःखके दाता पुण्यपापरूप कर्मोंके–रहते चित्तकी शुद्धिसे आत्माकी संसारसे निवृत्ति कैसे होगी–सो ठीक नही–कि यह बात निश्चय है कि चित्तकी प्रसन्नतासे अर्थात् प्रसन्न चित्तसे–ब्रह्मके स्मरणसे–संपूर्ण शुभ अशुभ कर्मको नष्ट करता है सोई इन श्रुति और स्मृतियोंमें लिखा है कि जिसप्रकार ईषीकाका तूल (मूजका अग्रभाग) अग्निमें रखनेसे नष्ट होते हैं तिसीप्रकार ज्ञानीके सब पाप नष्ट होते हैं–और संपूर्ण उपपातक और पातकोंकी निवृत्तिके लिये रात्रिके प्रथम भागमें ब्रह्मका ध्यान करे–अब शुभ अशुभ कर्मके नाशका फल कहते हैं कि प्रसन्न है चित्त जिसका ऐसा मनुष्य–अपने स्वरूप अद्वितीय आनंदरूप ब्रह्ममें स्थित होकर अर्थात् वह ब्रह्मही मैं हूं–इस निश्चयसे सब जगत् को मिथ्या बुद्धिसे त्यागकर–और चिन्मात्ररूपसे टिककर अविनाशी जो अपनी आत्मारूप सुख है–उसको भोगता है–भावार्थ यह है कि चित्तको प्रसन्नतासे–शुभ अशुभ कर्म नष्ट होते हैं–और प्रसन्नचित्त मनुष्य अविनाशी सुखको भोगता है ॥ १४ ॥

समासक्तं यथा चित्तं जंतोर्विषयगोचरे ॥
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बंधनात् ॥ १५ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वश्लोकमें कही बातको दृष्टांतसे–दृढ करते हैं–कि जैसा प्राणीका चित्त इंद्रियोंकें जानेकी भूमि (विषय)में स्वाभावसे भलीप्रकार आसक्त होता है

---

१ ध्यायतीवलेलायतीव । २ तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हाऽस्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते । उपपातकेषु सर्वेषु पातकेषु महत्सु च । प्रविश्य रजनीपादं ब्रह्मध्यानं समाचरेत् ।

यदि वह चित्त उसीप्रकार ब्रह्ममें आसक्त होजाय तो कौन मनुष्य संसारसे मुक्त न हो अर्थात् सभी मुक्त हो जाय ॥ १५ ॥

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ॥
अशुद्धं कामसंपर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्तकी दृढताके लिये मनके अवांतर भेदोंको कहते हैं कि शुद्ध और अशुद्ध भेदसे मन दो प्रकारका कहा है जिसमें काम क्रोधका संबंध हो वह अशुद्ध और इनसे रहित हो वह शुद्ध है ॥ १६ ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ॥
बंधाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ-अब दो प्रकारके मनकोही संसार और मोक्षका हेतु दिखाते हैं कि मनुष्योंके बंध और मोक्षका कारण मनही है विषयोंमें लगा मन बंधनका और विषयोंसे रहितमन मोक्षका हेतु कहा है ॥ १७ ॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ॥
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदंतःकरणेन गृह्यते ॥ १८ ॥

भाषार्थ-अब प्रसन्न आत्मामें टिककर अक्षय सुखको भोगता है इसका श्रुतिके अनुसार विस्तारसे वर्णन करते हैं कि समाधिसे धोये हैं संपूर्ण रजोगुण, तमोगुण, रूप मल जिसके उसको और प्रत्यगात्मामें प्रवेश किये, चित्तको समाधिमें जो सुख होता है उस अलौकिक सुखको वाणीसे वर्णन नहीं कर सकते क्योंकी उस अपने स्वरूपभूत सुखको अंतःकरण स्वयं ग्रहण करता हैं अर्थात् उसका साक्षी दूसरा कोई नहीं है ॥ १८ ॥

यद्यप्यसौ चिरं कालं समाधिर्दुर्लभो नृणाम् ॥
तथापि क्षणिको ब्रह्मानंदं निश्चाययत्यसौ ॥ १९ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि इस दुर्लभ समाधिसे ब्रह्मानंदका निश्चय कैसे होगा सो ठीक नहीं कि यद्यपि यह समाधि मनुष्योंको चिरकालतक दुर्लभ है अर्थात् निरंतर नहीं रहती-तथापि क्षण मात्रकी भी यह समाधि ब्रह्मानंदका निश्चय करा देती है ॥ १९ ॥

श्रद्धालुर्व्यसनी योऽत्र निश्चिनोत्येव सर्वथा ॥
निश्चिते तु सकृत्तस्मिन् विश्वसित्यन्यदाप्ययम् ॥ २० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि आत्मज्ञानके लिये श्रवण निदिध्यासन आदिमें लगेहुये भी कोई मनुष्य आनंदके निश्चयसे बहिर्मुख दीखते हैं यह शंका करके श्रद्धाहीन मनुष्य बहिर्मुख रहैं तो रहो श्रद्धालु पुरुषोंको आनंदका निश्चय दिखाते हैं कि जो मनुष्य श्रद्धालु है और जिसको यह व्यसन (आग्रह) हैं कि मैं अवश्य समाधिका संपादन करूंगा वह मनुष्य समाधिमें अवश्य आनंदका निश्चय कर लेता है और जब एकवार क्षण मात्रकी भी समाधिमें ब्रह्मानंदका निश्चय हो जाता है तो यह मनुष्य अव्यय कालमें भी विश्वास करता है कि ब्रह्मानंद है भावार्थ यह है कि श्रद्धालु और व्यसनी मनुष्य समाधिमें ब्रह्मानंदके निश्चयको अवश्य कर लेता है–और एकवार निश्चय होनेपर अन्य कालमें भी यह मनुष्य ब्रह्मानंदका विश्वास कर लेता है ॥ २० ॥

तादृक् पुमानुदासीनकालेप्यानंदवासनाम् ॥
उपेक्ष्य मुख्यमानंदं भावयत्येव तत्परः ॥ २१ ॥

भाषार्थ–श्रद्धा आदिसे एकवार निश्चय वाला पुरुष उदासीन कालमें भी आनंद वासनाकी उपेक्षाको करके मुख्यानंदमें तत्परहुवा मुख्यानंदकीही भावना करता है ॥ २१ ॥

परव्यसनिनी नारी व्यग्रापि गृहकर्मणि ॥
तदेवास्वादयत्यंतः परसंगरसायनम् ॥ २२ ॥

भाषार्थ–अब व्यवहार कालमें भी निजानंदकी भावना करता है इसमें दृष्टांत दिखाते हैं कि जैसे पर पुरुषमें है व्यसन जिसका ऐसी नारी घरके कर्म (काम) में व्यग्र (लगी)हुई भी उसी परपुरुषके संगरूप रसायनका अपने अंतःकरणमें स्वाद लेती है अर्थात् उसके चित्तमें वही रहता है ॥ २२ ॥

एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रांतिमागतः ॥
तदेवास्वादयत्यंतर्बहिर्व्यवहरन्नपि ॥ २३ ॥

भाषार्थ–अब दृष्टांतको दार्ष्टांतिकमें घटाते हैं कि इसी प्रकार श्रेष्ठ और शुद्ध तत्त्वमें विश्रामको प्राप्त हुवा धीर मनुष्य बाह्य व्यवहारोंको करताहुवा भी अंतःकरणमें उसी शुद्ध तत्त्वका स्वाद लेता है ॥ २३ ॥

धीरत्वमक्षप्रावल्येप्यानंदास्वादवांछया ॥
तिरस्कृत्याखिलाक्षाणि तच्चिंतायां प्रवर्तनम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ-अब धीर शब्दके अर्थको कहते है इन्द्रियोंकी प्रबलता होने परभी अर्थात् इंद्रियोंका विषयोंमें ले जानेका सामर्थ्य होने परभी आनंदरूप अपने स्वरूप सुखके स्मरणकी वांच्छासे संपूर्ण इंद्रियोंका तिरस्कार करके जो आनंदके ही स्मरणमें प्रवृत्त हो उसे धीर कहते हैं ॥ २४ ॥

भारवाही शिरोभारं मुक्त्वास्ते विश्रमं गतः ॥
संसारव्यापृतित्यागे तादृग्बुद्धिस्तु विश्रमः ॥ २५ ॥

भाषार्थ-अब विश्रांति शब्दके अर्थको कहते हैं कि जैसे भार लेजाने वाला पुरुष अपने शिरके भारको त्यागकर श्रमसे रहित हो जाता है तिसी प्रकार संसारके व्यापार त्यागनेपर मैं श्रमसे रहितहुआ यह जिसकी बुद्धि हो जाय उस बुद्धिको विश्राम कहते हैं ॥ २५ ॥

विश्रांतिं परमां प्राप्तस्त्वौदासीन्ये यथा तथा ॥
सुखदुःखदशायां च तदानंदैकतत्परः ॥ २६ ॥

भाषार्थ-अब फलितार्थको कहते हैं कि परम विश्रांतिको प्राप्त हुआ पुरुष जैसे अपनी उदासीन अवस्थामें आनंदके स्वादमें तत्पर होता है इसीप्रकार सुख दुःख की प्राप्तिके समयमें सुख दुःखके स्मरणको त्यागकर अपने आनंदके स्वादमें ही तत्पर रहै ॥ २६ ॥

अग्निप्रवेशहेतौ धीः शृंगारे यादृशी तथा ॥
धीरस्योदेति विषयेऽनुसंधानविरोधिनि ॥ २७ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि दुःखको प्रतिकूल होनेपर उसके स्मरणकी इच्छाका अभाव रहो परंतु विषयोंका सुख तो अनुकूल है इसीसे मनुष्य उसको चाहते हैं उसके स्मरणकी इच्छा क्यों नही होती यह शंका करके उसकी इच्छा भी विवेकीको नही होती क्योंकि विषयोंका सुख भी विषयोंके संपादन द्वारा अत्यंत बहिर्मुख है इससे निजानंदके स्मरणका विरोधी है इस बातको दृष्टांत देकर वर्णन करते हैं कि जिस मनुष्यकी शीघ्र देहके त्यागकी इच्छा दृढ होती है उसकी विलंबके कारण अलंकार आदिमें जैसी विरस बुद्धि पैदा होती है अर्थात् शृंगार आदिको त्यागकर अग्निमें प्रविष्ट हो जाता है इसी प्रकार वैराग्य आदि साधनोंसे युक्त विवेकी

की ब्रह्म स्मरणके विरोधी विषय सुखमें विरस बुद्धि हो जाती है भावार्थ यह है कि जैसे अग्निके प्रवेशको चाहते हुये मनुष्यकी बुद्धि शृंगार आदिमें विरस होती है ऐसे ही धीर मनुष्यकी बुद्धि ब्रह्म स्मरणके विरोधी विषय सुखमें विरस हो जाती है ॥२७॥

अविरोधिसुखे बुद्धिः स्वानंदे च गमागमौ ॥
कुर्वत्यास्ते क्रमादेषा काकाक्षिवदितस्ततः ॥ २८ ॥

भाषार्थ—अब विरोधी जो विषय सुख उसमें इच्छा मत हो परंतु विना यत्न सुलभ और जो वहिर्मुखताका हेतु न हो ऐसे विषयमें इच्छा क्यों नहीं होती इसका वर्णन करते है कि अविरोधी सुखमें और अपने आनंदमें गमन आगमन (आना जाना) क्रमसे करती हुई यह बुद्धि काकाक्षिके समान इतः ततः (इधर उधर) रहती है ॥ २८ ॥

एकैव दृष्टिः काकस्य वामदक्षिणनेत्रयोः ॥
यात्यायात्येवमानंदद्वये तत्त्वविदो मतिः ॥ २९ ॥

भाषार्थ—अब दृष्टांतका विवरण करते हैं कि जैसे काककी दृष्टि अर्थात् दर्शनका हेतु एकही नेत्र इंद्रिय, वाम और दक्षिण नेत्रके दोनों गोलकोंमें क्रमसे गमन आगमन करती है इसी प्रकार विवेकीकी बुद्धि भी दोनों आनंदोंमें गमन आगमन करती है ॥ २९ ॥

भुंजानो विषयानंदं ब्रह्मानंदं च तत्त्ववित् ॥
द्विभाषाभिज्ञवद्विद्यादुभौ लौकिकवैदिकौ ॥ ३० ॥

भाषार्थ—अब दार्ष्टांतिकका विस्तारसे वर्णन करते है कि तत्वज्ञानी विषयानंद और ब्रह्मानंदको भोगता हुआ अर्थात् विषय सुखको और वेदांतोंसे पैदा हुये ब्रह्मानंदको भोगकर लौकिक और वैदिक (विषयानंद ब्रह्मानंद) दोनों आनंदोंको इस प्रकार जानता है जैसे दो भाषाओंका ज्ञाता मनुष्य दोनों भाषाओंको जानता है ॥ ३० ॥

दुःखप्राप्तौ नचोद्वेगो यथापूर्वं यतो द्विदृक् ॥
गंगामग्नार्द्धकायस्य पुंसः शीतोष्णधीर्यथा ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि दुःखके अनुभवके समय उद्वेग होनेपर निजानंदका अनुभव कैसे होगा यह शंका करके कहते हैं कि जिससे विवेकी मनुष्य लौकिक और वैदिक दोनों व्यवहारोंको जानता है उससे उसको दुःखकी प्राप्तिमें पूर्वके

समान उद्वेग नही होता–क्योंकि तिस २ समय विवेकका बोध हो जाता है जब २ उद्वेग होता है इससे दुःख ज्ञानके समयमें भी निजानंदका स्मरण इस प्रकार रहता है जैसे उस मनुष्यको शीत और उष्ण दोनोंका ज्ञान रहता है जिसकी काया आधी गंगामें मग्न (डुबी) है ॥ ३१ ॥

इत्थं जागरणे तत्त्वविदो ब्रह्मसुखं सदा ॥
भाति तद्वासनाजन्ये स्वप्ने तद्भासते तथा ॥ ३२ ॥

भाषार्थ–अब फलितका वर्णन करते हैं कि इस प्रकार तत्वज्ञानीको जागरण अवस्थामें सदैव सुख है अर्थात् सुख और दुःखके अनुभवकी दशा और तूष्णीं स्थितिमें सुखकीही प्रतीति होती रहती है–और केवल जागरणमें ही सुखका भान नही किंतु स्वप्न अवस्थामें भी सुखका भान होता है कि जागरणकी वासनासे जन्य स्वप्न अवस्थामें भी वह सुख उसी प्रकार भासता है जैसे जागरणमें भासताथा ॥ ३२ ॥

अविद्यावासनाप्यस्तीत्यतस्तद्वासनोत्थिते ॥
स्वप्ने मूर्खवद्देवैष सुखं दुःखं च वीक्षते ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि स्वप्न आनंदकी वासनासे होता है इससे स्वप्नमें आनंदही भासता है दुःख नही सो ठीक नही कि स्वप्नमें आनंदकी वासनाके समान अविद्याको भी वासना है इससे अविद्याकी वासनासे पैदा हुये स्वप्नमें यह तत्त्वज्ञानी मनुष्य मूर्खके समान सुख और दुःखको देखता है अर्थात् कुछ आनंदकी वासनासे ही स्वप्न नही होता किंतु अविद्याकी वासनासे भी स्वप्न होता है ॥ ३३ ॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे ब्रह्मानंदप्रकाशकम् ॥
योगिप्रत्यक्षमध्याये प्रथमेऽस्मिन्नुदीरितम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–पूर्वोक्त ग्रंथके समूहसे जो कहा उसको दिखाते हैं कि पांच अध्याय रूप ब्रह्मानंद नामके इस ग्रंथमे पहिले अध्यायमें सुषुप्ति अवस्थामें और उदासीन कालमें और समाधि, सुख दुःखकी दशामें स्वप्रकाश चित् रूप ब्रह्मानंदका प्रकाशक यह योगीका अनुभव रूप प्रत्यक्ष कहा–यह आगम (वेद) आदिका भी उपलक्षण है क्योंकि वेभी इस ग्रंथमें दिखाये हैं ॥ ३४ ॥

इति श्रीविद्यारण्यमुनिविरचितपंचदश्याम्प० मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृति सहितायां ब्रह्मानन्दे योगानन्दो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

इति ब्रह्मानन्दे योगानन्दः प्रकरणम् ॥ ११ ॥

श्रीः ।

पञ्चदशी ।

भाषाटीकासमेता ।

ब्रह्मानन्दे आत्मानन्दः प्रकरणम् १२

नन्वेवं वासनानंदाद्ब्रह्मानंदादपीतरम् ॥
वेत्तु योगी निजानंदं मूढस्यात्रास्ति का गतिः ॥ १ ॥

भाषार्थ-अब आत्मानंदका प्रारंभ करते हैं कि-तिससे इस प्रकार पहिले अध्यायमें विवेकीको निजानंदके अनुभवका प्रकार दिखाकर-मूढ जिज्ञासुको भी आत्मानंद पदका अर्थ जो त्वंपदार्थ, उसके विवेचन द्वारा ब्रह्मानंदके अनुभवका प्रकार दिखानेके लिये शिष्यके प्रश्नको कहते हैं कि इस प्रकार वासनानंद और ब्रह्मानंदसे भी अन्य जो निजानंद है उसको योगी जानो तो जानो परन्तु मूढकी इसमें क्या गति होगी अर्थात् मूढको निजानंदका ज्ञान कैसे हो ॥ १ ॥

धर्माधर्मवशादेष जायतां म्रियतामपि ॥
पुनः पुनर्देहलक्षैः किन्नो दाक्षिण्यतो वद ॥ २ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार शिष्यने पूछा है जिसको ऐसा गुरु यह उत्तर देता है कि मूढको विद्याका अधिकारही नही कि यह अतिमूढ पुरुष अनादि संसारमें पूर्व जन्मोंमें किये धर्म और अधर्मके आधीन वारंवार लक्षों देहोंसे जन्मको धारण करो वा मरो इसमें हमारी चतुरतासे क्या सिद्ध होगा यह तू कहो ॥ २ ॥

अस्ति वोनुजिघृक्षुत्वाद्दाक्षिण्येन प्रयोजनम् ॥
तर्हि ब्रूहि स मूढः किं जिज्ञासुर्वा पराङ्मुखः ॥ ३ ॥

भाषार्थ-फिर शिष्य यह कहता है कि आचार्य सबपर अनुग्राहक होते हैं इससे उसकीभी कोई गति कहनी चाहिये-आपको अनुग्रह कर्ता होनेसे चतुराईसे प्रयोजन है अर्थात् शास्त्रकी चतुराईसे मूढपरभी अनुग्रह करना उचित है तात्पर्य यह है कि आप शिष्यके उद्धारके अभिलाषी हैं इससे शिष्यके उद्धारका प्रयोजन है इस

प्रकार शिष्यके वचनको सुनकर विकल्पसे शिष्यको पूछते हैं कि जो मूढकी कोई गति कहने योग्य है तो बताओ वह मूढ जिज्ञासु है वा पराङ्मुख है अर्थात् रागी है वा विरक्त है ॥ ३ ॥

उपास्तिं कर्म वा ब्रूयाद्विमुखाय यथोचितम् ॥
मंदप्रज्ञं तु जिज्ञासुमात्मानंदेन बोधयेत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ–जो वह रागी है तो रागके अनुसार कर्म कहना चाहिये वा उपासना इन दोनोंमें पहिलेका परिहार कहते हैं कि तत्त्वज्ञानसे जो विमुख है उसको यथा योग्य ब्रह्मलोक आदिकी कामना होय तो उपासनाको और स्वर्ग आदिकी कामना होय तो कर्मको कहै और जिज्ञासु है तो उसको अति विवेकी होय तो पूर्व अध्यायमें कहे हुये प्रकारसे जो योग उससे बोध करावै और वह मंद बुद्धि है तो उस जिज्ञासुको आत्मानंदसे विवेचना पूर्वक बोध करावे. भावार्थ–यह है कि विमुखके प्रति तो यथायोग्य उपासना वा कर्मका उपदेश करै और मंदबुद्धि जिज्ञासुको तो आत्मानंदका उपदेश करै ॥ ४ ॥

बोधयामास मैत्रेयीं याज्ञवल्क्यो निजप्रियाम् ॥
न वा अरे पत्युरर्थे पतिः प्रिय इतीरयन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार जिसने बोध कराया उसको कहते हैं कि यजुर्वेदकी शाखाके प्रवर्त्तक याज्ञवल्क्यऋषि मैत्रेयी नामकी अपनी प्यारी भार्याको यह कहते हुये बोध कराते भये कि अरे मैत्रेयि पतिके लिये पति प्यारा नहीं होता[1] अर्थात् अपने लियेही पति प्यारा होता है ॥ ५ ॥

पतिर्जाया पुत्रवित्ते पशुब्राह्मणबाहुजाः ॥
लोका देवा वेदभूते सर्वं चात्मार्थतः प्रियम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ–अगले ग्रंथमें इस वचनसे[2] परमप्रेमके स्थान रूप हेतुसे आत्माको परमानंद रूप साधनेका अभिलाषी आचार्य प्रथम परमप्रेमको आपदरूप हेतुकी सिद्धिके लिये पहिले न वा अरे० इस पूर्वोक्त वाक्यको उपलक्षण (अन्यकाभी बोधक) मानकर उस प्रकरणके जितने पर्याय वाक्य हैं उन सबका तात्पर्य कहते हैं कि पति जाया पुत्र धन पशु ब्राह्मण क्षत्रिय लोक देवता वेद पांचोंभूत ये सब जो भोगके पदार्थ हैं संपूर्ण अपने लिये ही प्यारे होते हैं अन्यके लिये नहीं ॥ ६ ॥

१ न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति । २ परप्रेमास्पदत्वेन परमानंद इष्यताम् ।

पत्याविच्छा यदा पत्न्यास्तदा प्रीतिं करोति सा ॥
क्षुदनुष्ठानरोगाद्यैस्तदा नेच्छति तत्पतिः ॥ ७ ॥

भाषार्थ–अब नवा अरे० इस पूर्वोक्त वाक्यके अर्थको विभाग करके दिखाते हैं कि जिस कालमें पत्नी (स्त्री) की अपने पतिमें इच्छा होती है तब वह पत्नी पतिमें प्रीतिको करती है और जब उसका पति क्षुधा अनुष्ठान (कार्य) रोग आदिसे युक्त होता है तब पत्नी इच्छा नही करती अर्थात् अपनी पतिका संग नही चाहती ॥ ७ ॥

न पत्युरर्थे सा प्रीतिः स्वार्थ एव करोति ताम् ॥
पतिश्चात्मन एवार्थे न जायार्थे कदाचन ॥ ८ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्तके फलितको कहते हैं कि जायाकी जो वह प्रीति है वह पतिके लिये नही है किंतु अपने लियेही पतिमें उस प्रीतिको जाया करती है सोई इस वाक्यमें लिखा है अब न वा अरे जायायै०[2] इत्यादि और नवा अरे सर्वस्य० इस वाक्यतक जो वचन हैं उनके तात्पर्य्यको विभाग करके (पृथक् २) दिखाते हैं कि पतिभी अपने प्रयोजनके लिये ही जायाकी इच्छा करता है जायाके लिये कदाचित्भी नही करता ॥ ८ ॥

अन्योन्यप्रेरणेप्येवं स्वेच्छयैव प्रवर्तनम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो एक कि इच्छासे जहां प्रीति है वहां जो प्रीति है वह अपने लिये रहो-एकवार दोनोंकी इच्छासे जो प्रीति है वह तो दोनोंके अर्थ होगी इस शंकाकी निवृतिके लिये कहते हैं कि परस्परकी प्रेरणामेंभी अपनी कामना पूरण करनेकी इच्छासेही दोनोंकी प्रवृत्ति होती है अन्यकी इच्छासे अन्यकी प्रवृत्ति नही होती ॥ ९ ॥

श्मश्रुकंटकवेधेन बाले रुदति तत्पिता ॥
चुंबत्येव न सा प्रीतिर्बालार्थे स्वार्थ एव सा ॥ १० ॥

भाषार्थ–अब अपनी इच्छासे प्रवृत्तिको दिखाते हैं कि श्मश्रुके कांटों (डाढीके बाल) के बिंधनेसे बालकके रोदन करने परभी बालकका पिता बालकके मुखको

---

१ न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। २ न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे सर्व स्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।

जो चुंबता है वह प्रीति बालकके लिये नही है किंतु अपने लियेही बालक तो कांटोके लगनेसे उलटा रोता है इससे वह प्रीति अपने लियेही समझनी ॥ १० ॥

निरिच्छमपि रत्नादिवित्तं यत्नेन पालयन् ॥
प्रीतिं करोति स स्वार्थं वित्तार्थत्वं न शंकितम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—चेतन जो पति जाया पुत्र आदि हैं उनमें जो प्रीति की जाती है उसमें यह संदेह हो सकता है कि अपने लिये है वा अन्यके लिये–इच्छासे रहित जो अचेतन, धन है उसमें वह शंकाही नही हो सकती इस अभिप्रायसे इस वाक्यके तात्पर्यको कहते हैं कि इच्छासे हीनभी रत्न आदि धनकी यत्नसे पालना करता हुआ मनुष्य जिस प्रीतिको करता है वह अपने लिये है इसमें वित्तके अर्थ है यह शंकाही नही हो सकती क्योंकि धन इच्छा रहित है ॥ ११ ॥

अनिच्छति बलीवर्दे विवाहयिषते बलात् ॥
प्रीतिः सा वणिगर्थैव बलीवर्दार्थता कुतः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—अब चेतन होने परभी वहनेकी इच्छासे रहित पशुके विषय जो यह वचन है उसके तात्पर्यको कहते हैं कि बैल इच्छाभी नहीं करता तोभी किसान मनुष्य बलसे वाहते हैं वहां वहन करानेमें जो प्रीति है वह वैश्य आदि किसानोंके लियेही है बैलके अर्थ होही नही सकती क्योंकि वह भार ले जानेकी इच्छा नहीं करता ॥ १२ ॥

ब्राह्मण्यं मेस्ति पूज्योहमिति तुष्यति पूजया ॥
अचेतनाया जातेर्नो संतुष्टिः पुंस एव सा ॥ १३ ॥

भाषार्थ—अब नवा अरे ब्राह्मणः कामाय० इस वाक्यके तात्पयको कहते हैं कि मेरेमें ब्राह्मणत्व जाति है मैं पूज्य हूं इस प्रकार ब्राह्मण जातिसे की हुई जो पूजा है उससे वही संतोषको प्राप्त होता है कि मैं ब्राह्मण हूं ऐसे अभिमानी है और जड रूप जातिका पूजासे संतोष नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

क्षत्रियोहं तेन राज्यं करोमीत्यत्र राजता ॥
न जातेर्वैश्यजात्यादौ योजनायेदमीरितम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—अब नवा अरे क्षत्रस्य ० इस वाक्यके तात्पर्यको कहते हैं मैं क्षत्रिय हूं

---

१ न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति । २ न वा अरे पशूनाम् ।

तिससे राज्य करता हूं यहां राजा क्षत्रियत्व जाति नहीं किंतु जातिवाले पुरुष है अर्थात् राज्यके भोगका सुख पुरुषको ही होता है यहां क्षत्रियका ग्रहण वैश्य आदिमें घटानेके लिये कहा है अर्थात् क्षत्रिय पद वैश्य आदिका भी उपलक्षण है ॥ १४ ॥

स्वर्गलोकब्रह्मलोकौ स्तां ममेत्यभिवाञ्छनम् ॥
लोकयोर्नोपकाराय स्वभोगायैव केवलम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—अब नवा अरे लोकानां ० इस वाक्यके अर्थको कहते हैं मुझे स्वर्गलोक और ब्रह्मलोक मिले यह वांछा लोकोंके उपकारके लिये नहीं किंतु केवल अपनेही भोगके लिये है यहां भी दो लोकोंका ग्रहण सब लोकोंका उपलक्षण है ॥ १५ ॥

ईशविष्ण्वादयो देवाः पूज्यंते पापनष्टये ॥
न तन्निष्पापदेवार्थं तत्तु स्वार्थं प्रयुज्यते ॥ १६ ॥

भाषार्थ—और पापनाशके लिये ईश विष्णु आदि देवताओं की पूजाकी जाती है वह स्वतः पापरहित देवताओंके प्रयोजनार्थ नहीं किंतु अपने प्रयोजनके लिये ही पूजा की जाती है अर्थात् पूजासे पूजाके कर्ताका ही पाप नष्ट होता है ॥ १६ ॥

ऋगादयो ह्यधीयंते दुर्ब्राह्मण्यानवाप्तये ॥
न तत्प्रसक्तं वेदेषु मनुष्येषु प्रसज्जते ॥ १७ ॥

भाषार्थ—और दुर्ब्राह्मण्य (व्रात्य होना) इनकी निवृत्तिके लिये गायत्री आदिऋचा जो पढी जाती है वहां मनुष्योंमें ही व्रात्य जाति हो सकती है वेदोंमें उसका प्रसंग भी नहीं हो सकता अर्थात् वेदका पठन भी अपने लिये है वेदके लिये नहीं ॥ १७ ॥

भूम्यादिपंचभूतानि स्थानतृट्पाकशोषणैः ॥
हेतुभिश्चावकाशेन वांछंत्येषां न हेतवः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—और संपूर्ण प्राणी, स्थान देने, तृषाकी निवृत्ति, पाक, शुष्क, करने और अवकाश देनेके लिये पृथ्वी , जल, तेज, वायु, आकाश, इन पांच भूतोंकी जो वांच्छा करते हैं इन पृथ्वी आदि पांचों भूतोंके हेतु स्थान वांच्छा आदि निमित्त नहीं है किंतु प्राणियोंकी वांच्छाही हेतु है क्योंकि स्थान आदिमें वांच्छाका असंभव है॥ १८॥

स्वामिभृत्यादिकं सर्वं स्वोपकाराय वांछति ॥
तत्तत्कृतोपकारस्तु तस्य तस्य न विद्यते ॥ १९ ॥

भाषार्थ–अब नवा अरे सर्वस्य कामाय ० इस वाक्यके तात्पर्यको कहते हैं कि स्वामी भृत्य आदिकी जो संपूर्ण जन वांछा करते हैं वह अपने उपकारके लिये ही करते हैं और तिस २ का किया उपकार तिस २ को नहीं होता अर्थात् भृत्य स्वामी की वांच्छा अपने लिये करता है वह उपकार भृत्यको फलका दाता है स्वामीको नहीं इसी प्रकार स्वामीकी भृत्यकी वांच्छामें भी समझना ॥ १९ ॥

सर्वव्यवहृतिष्वेवमनुसंधातुमीदृशम् ॥
उदाहरणबाहुल्यं तेन स्वां वासयेन्मतिम् ॥ २० ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुतियोंमें बहुत उदाहरण क्यों दिये सो ठीक नहीं कि इच्छा पूर्वक भोजन आदि व्यवहारोंमें इस प्रकार समझनेके लिये कि अ-पनी ही कामनाके लिये संपूर्ण प्रिय होता है यह दिखानेके लिये पति जाया आदि बहुतसे उदाहरण दिये हैं तिससे अपनी बुद्धिमें यह निश्चय करै कि आत्माकी प्री तिके लिये ही संपूर्ण प्रिय होते हैं अन्यके लिये नहीं ॥ २० ॥

अथ केयं भवेत्प्रीतिः श्रूयते या निजात्मनि ॥
रागो वध्वादिविषये श्रद्धा यागादिकर्मणि ॥
भक्तिः स्याद्गुरुदेवादाविच्छा त्वप्राप्तवस्तुनि ॥ २१ ॥

भाषार्थ–आत्माके लिये सबको जो प्रिय कहा उससे आत्माको अत्यंत प्रिय क-हा सो नहीं बन सकता क्योंकि प्रीति क्या वस्तु है यह निरूपण नहीं कर सकते इस अभिप्रायसे शिष्य प्रश्न करता है कि जो यह अपने आत्मामें प्रीति सुनी जाती है वह क्या रागरूप है वा श्रद्धारूप है अथवा भक्तिरूप है किंवा इच्छारूप है इन चारों पक्षोंमेंभी प्रीति सब विषयक नहीं हो सकती क्योंकि राग वधू आदिकमें ही हो सक्ता है यज्ञ आदिमें नहीं और श्रद्धा याग आदिमेंही हो सकती है वधू आदिमें नहीं और भक्ति गुरु देवता आदिमेंही हो सक्ती है अन्यमें नहीं और इच्छा अप्राप्त वस्तुकीही होसक्ती है अन्यकी नहीं इससे प्रीतिके विषय संपूर्ण नहीं हो सकते ॥ २१ ॥

तर्ह्यस्तु सात्विकी वृत्तिः सुखमात्रानुवर्तिनी ॥
प्राप्ते नष्टेपि सद्भावादिच्छातो व्यतिरिच्यते ॥ २२ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्त चारों पक्षोंसे अन्यपक्षको मानकर उत्तर देते हैं कि १ यदि प्रीतिराग आदि रूप नहीं है तो केवल सुखही है विषय जिसका ऐसी जो सत्वगुण का परिणामरूप अंतःकरणकी वृत्ति वही प्रीति रहो कदाचित् कहो कि वह प्रीति इच्छा रूपही है सो ठीक नहीं क्यों कि इच्छा अप्राप्त सुखकीही होतीहै और प्रीति तो सबमें होती है क्यों कि प्राप्तहुये सुखके नष्ट होनेपरभी प्रीति विद्यमान रहती है इससे प्रीति इच्छासे भिन्नहै ॥ २२ ॥

सुखसाधनतोपाधेरन्नपानादयः प्रियाः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—अब सुखके हेतु अन्न आदिके समान आत्मामेंभी प्रीतिके दर्शनसे यह शंका करतेहैं कि आत्माभी सुखका हेतु होजायगा जैसे अन्नपान आदि सुखके हेतु भूत उपाधिसे प्यारे देखे हैं इसीप्रकार आत्माभी अनुकूल और प्रिय होनेसे अन्न आदिके समान सुखका हेतु होजायगा ॥ २३ ॥

आत्मानुकूल्यादन्नादिसमश्चेदमुनात्र कः ॥
अनुकूलयितव्यः स्यान्नैकस्मिन्कर्मकर्तृता ॥ २४ ॥

भाषार्थ—यहां यह अनुमान समझना कि विवादका स्थान आत्मा सुखको हेतु होने योग्यहै उक्त शंकाका इस अभिप्रायसे परिहार करते हैं कि अन्नपान आदिमें भोग्यत्व रूप उपाधिहै अर्थात् जहां २ सुखका साधन वहां २ भोग्यत्वहै और जहां २ प्रियत्वहै वहां २ भोग्यत्व है यह नियम नहीं क्योंकि आत्मामें प्रियत्व है भोग्यत्व नहीं क्योंकि जो धर्म साध्यका व्यापक और हेतु (साधन) का अव्यापक होता है उसकोही उपाधि कहतेहैं अर्थात् अन्न आदिके समान आत्माकोभी सुखकाहेतु मानो गे तो इस सुख साधन रूप अनुकूलसे अनुकूल करने योग्य जगत्में कौन होगा क्योंकि आत्मासे अन्य कोई भोक्ता नहीं है कदाचित् कहो कि अपने आचरणसे आत्मा आपही अनुकूल करने योग्य होजायगा सो ठीक नहीं क्योंकि एकही आत्मा कर्म और कर्त्ता नहीं होसक्ता अर्थात् एक आत्मा एक कालमें उपकारके योग्य और उपकारका कर्त्ता नहीं होसक्ता. भावार्थ यहहै कि अन्न आदिके समान आत्माको अनुकूलतासे युक्त मानोगे तो जगत्में सुखके हेतुसे अनुकूल करने योग्य कौन होगा अर्थात् कोई न होगा और एक आत्मा कर्म और कर्त्ता रूप नहीं होसक्ता॥२४॥

सुखे वैषयिके प्रीतिमात्रमात्मा त्वतिप्रियः ॥
सुखे व्यभिचरत्येषा नात्मनि व्यभिचारिणी ॥ २५ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहोकि अन्न आदिकेसमान सुखका हेतु न होनेपरभी सुखके समान भोक्ताका शेष आत्मा होजायगा इस आशंकाका परिहार आत्माको सर्वोत्तम प्रेमका आस्पद (स्थान) होनेसे करते हैं कि विषयोंके सुखमें केवल प्रीतिहै और आत्मामें अत्यंत प्रीतिहै इससे विषयोंके सुखके तुल्य नहीं क्योंकि विषयोंके सुखमें पैदा हुई यह प्रीति कदाचित् व्यभिचारको प्राप्त होतीहै अर्थात् अन्य सुखमेंभी चली जाती है और आत्मामें विद्यमान जो प्रीतिहै वह व्यभिचारिणी नहीं अर्थात् अन्य विषयमें नहीं जातीहै ॥ २५ ॥

एकं त्यक्त्वाऽन्यदादत्ते सुखं वैषयिकं सदा ॥
नात्मा त्याज्यो न चादेयस्तस्मिन्व्यभिचरेत्कथम् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—अब सुखकी प्रीतिके व्यभिचार और आत्माकी प्रीतिके अव्यभिचारको दिखाते हैं कि मनुष्य सदैव एक सुखको त्याग कर अन्य विषयसुखको ग्रहण करताहै और आत्मा न त्यागने योग्यहै और न ग्रहण करने योग्यहै इससे उसमें जो प्रीतिहै वह किसप्रकार व्यभिचारको प्राप्त होतीहै ॥ २६ ॥

हानादानविहीनेस्मिन्नुपेक्षा चेत्तृणादिवत् ॥
उपेक्षितुः स्वरूपत्वान्नोपेक्ष्यत्वं निजात्मनः ॥ २७ ॥

भाषार्थ—अब यह शंका करते हैं कि त्याग आदिके अविषय आत्मामें तृण आदिके समान उपेक्षा हो जायगी कि परित्याग और स्वीकारसे रहित आत्मामें तृण आदिके समान उपेक्षा (उदासीनता) होजायगी ऐसा मत कहो- क्यों कि उपेक्षा करने वालेका जो अविनाशी स्वरूप आत्माहै वहीहै रूप जिसका ऐसा आत्मा उपेक्षाके योग्य नहीं होसकता ॥ २७ ॥

रोगक्रोधाभिभूतानां मुमूर्षा वीक्ष्यते क्वचित् ॥
ततो द्वेषाद्भवेत्त्याज्य आत्मेति यदि तन्न हि ॥ २८ ॥

भाषार्थ—अब द्वेषसे आत्माके त्यागकी शंका करते हैं कि रोग और क्रोधसे अभिभूत (पूर्ण) मनुष्योंको कहीं २ मरनेकी इच्छा देखनेसे आत्मा त्यागने योग्य हो जायगा ऐसा यदि कहोगे तो सो ठीक नहीं ॥ २८ ॥

त्यक्तुं योग्यस्य देहस्य नात्मता त्यक्तुरेव सा ॥
न त्यक्तर्यस्ति स द्वेषस्त्याज्ये द्वेषे तु का क्षतिः ॥ २९ ॥

भाषार्थ-त्यागनेके योग्य देहको आत्मत्व नहीं किंतु त्यागनेवाला जीवही आत्माहै और त्यागनेवाले जीवमें वह द्वेष नहीं है कदाचित् कहो कि आत्मामें द्वेष मत हो देहमें तोहै सो ठीक नहीं क्यों कि त्यागने योग्य देहमें द्वेष होनेपरभी आत्माकी क्या क्षति (हानि) है ॥ २९ ॥

आत्मार्थत्वेन सर्वस्य प्रीतेश्चात्मा ह्यतिप्रियः ॥
सिद्धो यथा पुत्रमित्रात्पुत्रः प्रियतरस्तथा ॥ ३० ॥

भाषार्थ-इस प्रकार नवा अरे० इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मामें अत्यंत प्रीतिको दिखाकर युक्तिसेभी आत्मामें अत्यंत प्रीतिको दिखाते हैं कि संपूर्ण सुखसहित जो सुखके हेतु पति जाया आदि हैं वे आत्माकेही उपकारी हैं और प्रीतिसेभी आत्माही उपकारके योग्य है इससे स्वयं आत्मा इस प्रकार अत्यंत प्रिय सिद्ध हुआ जैसे जगत्में पुत्रके मित्रसे अर्थात् पुत्रके द्वारा जिसमें प्रीति है ऐसे देवदत्त आदिसे यज्ञदत्त आदि साक्षात् प्रीतिका विषय होनेसे विष्णु मित्र आदि पुत्र पिताको अत्यंत प्रिय होता है तैसेही अपनीही साक्षात् प्रीतिका विषय आत्मा सबसे अत्यंत प्रीतिका विषय (अत्यंत प्यारा) होता है ॥ ३० ॥

मा न भूवमहं किं तु भूयासं सर्वदेत्यसौ ॥
आशीः सर्वस्य दृष्टेति प्रत्यक्षा प्रीतिरात्मनि ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार श्रुति और युक्तिसे आत्मामें अत्यंत प्रीतिको दिखाकर अपने अनुभवसेभी अत्यंत प्रीतिको दिखाते हैं कि मैं मतहूं अर्थात् मेरे आत्माकी सत्ता न हो किंतु मैं सर्वदाहूं अर्थात् सदा मेरे आत्माकी सत्ता रहै इस आशीः (प्रार्थना) को संपूर्ण प्राणियोंके विषे देखते हैं अर्थात् सब इस प्रकार चाहते हैं इससेही आत्मामें अत्यंत प्रीति प्रत्यक्ष है ॥ ३१ ॥

इत्यादिभिस्त्रिभिः प्रीतौ सिद्धायामेवमात्मनि ॥
पुत्रभार्यादिशेषत्वमात्मनः कैश्चिदीरितम् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-अब वृत्तांतको कहकर मतांतरके दूषण देनेके अर्थ प्रारंभ करते हैं कि इस प्रकार अनुभव और श्रुति और युक्ति रूप पूर्वोक्त तीन हेतु (प्रमाण) ओंसे आत्मामें प्रीतिके सिद्ध होनेपरभी कोई २ श्रुतिके तात्पर्यके अज्ञानी मनुष्य आत्माको पुत्र भार्या आदिका शेष कहते भये अर्थात् पुत्र भार्या आदिको प्रधान और आत्माको गौण कहते हैं ॥ ३२ ॥

एतद्विवक्षया पुत्रे मुख्यात्मत्वं श्रुतीरितम् ॥
आत्मा वै पुत्रनामेति तच्चोपनिषदि स्फुटम् ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–और पुत्रकोही मुख्य आत्मा कहनेकी इच्छासे पुत्रमेंही इस श्रुतिसे मुख्य आत्मत्व कहा है कि पुत्रनामका आत्मा निश्चयसे है अर्थात् श्रुतिमें पुत्रको मुख्य आत्मा कहा है और पुत्र मुख्य आत्मा है यह ऐत्तरेय उपनिषदमें स्फुटहै॥ ३३॥

सोस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते ॥
अथास्येतर आत्मायं कृतकृत्यः प्रमीयते ॥ ३४ ॥

भाषार्थ–जिस वाक्यसे पुत्रको मुख्य आत्मा कहा उस वाक्यके अर्थको पढते हैं कि इस पिताको पालन करने योग्य जो पुत्ररूप आत्मा इस श्रुतिमें कहा है कि जो यह गर्भमें पुत्ररूप आत्मा होता है वह जन्मसे पहिलेही पिताके देहमें कारणरूपसे वसता है उस पुत्ररूप आत्माको पुण्योंका प्रतिनिधि बनाकर अर्थात् यह मेरा उपकारी आत्मा होगया यह समझकर पिताका जो प्रत्यक्षसे दीखता निज आत्मा (अपना देह) है वह वृद्ध अवस्थासे ग्रसा हुआ कृतकृत्य (कृतार्थ) होकर मरजाता है. भावार्थ यह है कि पिता अपने पुत्ररूप आत्माको पुण्य कर्मोंका प्रतिनिधि समझकर अन्य देहरूप अपने आत्माको कृतार्थ समझकर मरता है॥ ३४॥

सत्यप्यात्मनि लोकोस्ति नापुत्रस्यात एव हि ॥
अनुशिष्टं पुत्रमेव लोक्यमाहुर्मनीषिणः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्तके दृढ करनेकेलिये पुत्रहीनको परलोक नहीं है इस वाक्यके अर्थको कहते हैं कि जिससे पुत्र मुख्य आत्मा है इसीसे अपने विद्यमान रहतेभी पुराण आदिकोंमें यह बात प्रसिद्ध है कि पुत्रहीन मनुष्यको परलोक नहीं मिलता है. इस प्रकार निषेध मुखसे कहे पूर्वोक्तका इस वाक्यसे अन्वय मुखसे वर्णन करते हैं कि शास्त्रके ज्ञाता बुद्धिमान् पुरुष उसी पुत्रको परलोकका साधन (हितकारी) कहते हैं जिसको तू ब्रह्म है इत्यादि मंत्रोंसे शिक्षादीहो अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुत्रसे परलोकमें पिता पहुंचता है ॥ ३५ ॥

---

१ आत्मा वै पुत्र नामासि । २ सपुरुषे हवा अयमादितो गर्भो भवति । ३ नापुत्रस्य लोकोस्ति । ४ अनुशिष्ट पुत्रं लोक्यमाहुः ।

मनुष्यलोको जय्यः स्यात्पुत्रेणैवेतरेण नो ॥
मुमूर्षुर्मंत्रयेत्पुत्रं त्वं ब्रह्मेत्यादिमंत्रकैः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—अब इस वाक्यके अर्थको कहते हैं कि जिससे लौकिक सुखमें भी पुत्रही हेतु कहा है कि मनुष्य लोकका सुख पुत्रसेही होता है कर्म आदि अन्य साधनोंसे नहीं अर्थात् पुत्रहीन मनुष्यको धन आदिसे कुछ नहीं मिलता पहिले शिक्षा दिये पुत्रको जो परलोकका हितकारी कह आये अब शिक्षाके समय और मंत्रोंको दिखाते हैं कि मरणके समयमें पिता इन मंत्रोंसे पुत्रको शिक्षा दे कि तू ब्रह्म है तू यज्ञ है और तूही परलोक है ॥ ३६ ॥

इत्यादिश्रुतयः प्राहुः पुत्रभार्यादिशेषताम् ॥
लौकिका अपि पुत्रस्य प्राधान्यमनुमन्वते ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्त अर्थको समाप्त करते हैं कि इत्यादि पूर्वोक्त श्रुति आत्माको पुत्र और भार्या आदिका शेष कहती है और यह बात केवल श्रुतियोंसेही सिद्ध नहीं किं तु लोकमेंभी प्रसिद्धहै क्योंकि लौकिक मनुष्यभी पुत्रको प्रधान मानते हैं॥ ३७॥

स्वस्मिन्मृतेपि पुत्रादिर्जीवेद्वित्तादिना यथा ॥
तथैव यत्नं कुरुते मुख्याः पुत्रादयस्ततः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—सोई दिखाते हैं कि मनुष्य उसीप्रकारके यत्नको करता है कि जिससे अपने मरनेपरभी पुत्र भार्या आदि धन और क्षेत्र आदिके व्ययसे जीवें जिससे अपने परिश्रमको सहकरभी पुत्र आदिके जीवनका उपाय करता है इससे पुत्र आदि प्रधान हैं और अपना आत्मा गौण है ॥ ३८ ॥

बाढमेतावता नात्मा शेषो भवति कस्यचित् ॥
गौणमिथ्यामुख्यभेदैरात्मायं भवति त्रिधा ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार लोकप्रसिद्धिसे दिखाई पुत्रआदिकी प्रधानताको अंगीकार करते हैं कि यह बात सत्य है कि पुत्र आदि प्रधान हैं परंतु कहीं पुत्र आदिकी प्रधानतासे आत्मा किसीका शेष (अप्रधान) नहीं होता. कदाचित् कहो कि प्रतिज्ञा मात्रसे अर्थकी सिद्धि नहीं होती यह शंका करके और जिस २ व्यवहारमें जिस

---

१ सोयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा । २ त्वंयज्ञस्त्वंलोकः- त्वंब्रह्म ।

२ को आत्मा कहना है उस २ व्यवहारमें उस २ आत्माको प्रधान दिखानेकेलिये प्रथम आत्माके तीन भेद दिखाते हैं कि गौण, मिथ्या, और मुख्य, भेदसे आत्मा तीन प्रकारका होता है ॥ ३९ ॥

देवदत्तस्तु सिंहोयमित्यैक्यं गौणमेतयोः ॥
भेदस्य भासमानत्वात्पुत्रादेरात्मता तथा ॥ ४० ॥

भाषार्थ–उन तीनोंमें पुत्र आदिमें गौण आत्मा दिखानेकेलिये जगत्‌में गौण प्रयोगका उदाहरण देते हैं कि यह देवदत्त सिंह है. यहां जो देवदत्तसिंहकी एकता है वह गौण है क्योंकि इन दोनोंका भेद देखते हैं इसीप्रकार पुत्र आदिकी आत्मताभी भेदकी प्रतीतिसे गौण है ॥ ४० ॥

भेदोस्ति पंचकोशेषु साक्षिणो न तु भात्यसौ ॥
मिथ्यात्मताऽतः कोशानां स्थाणोश्चोरात्मता यथा ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–अब मिथ्या आत्माको दिखाते हैं कि आनन्दमय आदि अन्नमय पर्यंत पांचोकोशोंमें विद्यमानभी साक्षीका भेद प्रतीत नहीं होता इससे पांचोकोश उस प्रकार मिथ्या आत्मा स्वरूप है जैसे चोरसे भिन्न (न्यारा) स्थाणु मिथ्या चोररूप होता है ॥ ४१ ॥

न भाति भेदो नाप्यस्ति साक्षिणोऽप्रतियोगिनः ॥
सर्वांतरत्वात्तस्यैव मुख्यमात्मत्वमिष्यते ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार गौण और मिथ्या आत्माओंको दिखाकर साक्षीकोही मुख्य आत्मा वर्णन करते हैं कि साक्षीका गौण आत्मारूप पुत्र आदिके समान भेद प्रतीत नहीं होता और न मिथ्या आत्मारूप देह आदिके समान साक्षीका भेद है क्योंकि साक्षीका कोई उस प्रकार प्रतियोगी नहीं कि जैसे पुत्र आदिका देह आदि प्रतियोगी है अर्थात् पुत्र आदिकी अपेक्षा पिता आदि स्वयंभेदका निरूपक है इसी प्रकार अपने साक्षी रूप आत्माका कोई वस्तुरूप (सच्चा) प्रतियोगी नहीं है जिसकी अपेक्षासे भेद हो उसकोही प्रतियोगी कहते हैं और देह आदिसे आत्माका भेद इससे नहीं कहसकते कि ये आरोपित हैं कदाचित् कहो कि भेदके अभावसे साक्षी गौण और मिथ्या आत्मा मत हो परंतु साक्षिके मुख्य आत्मा होनेमें क्या कारण है सो ठीक नहीं कि देह पुत्र आदि सबका अंतर (साक्षी) होनेसे अर्थात् प्रत्यकूरूप आत्माको सबके मध्यमें प्रतीयमान होनेसे वह साक्षीही मुख्य आत्मा है गौण नहीं

यह बुद्धिमान् मनुष्योंको इष्ट है. यहां ग्रंथकारने यह अनुमान सूचित किया है कि विवादका स्थान साक्षी मुख्य आत्मा होने योग्य है सबका अन्तर होनेसे जो मुख्य आत्मा नहीं होता वह सबका अन्तरभी नहीं होता जैसे अहंकार आदि. भावार्थ यह है कि प्रतियोगी रहित साक्षीका भेद न भासता है और न है इससे सबका अंतर होनेसे साक्षीहि मुख्य आत्मा इष्टहै ॥ ४२ ॥

सत्येवं व्यवहारेषु येषु यस्यात्मतोचिता ॥
तेषु तस्यैव शेषित्वं सर्वस्यान्यस्य शेषता ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार आत्मा तीन प्रकारका रहोफिर पुत्र आदि को शेषी (प्रधान) कहनेसे क्या सिद्ध हुवा इस लिये कहते हैं कि ऐसे आत्माके तीन भेद होनेपर भी जिन लौकिक वैदिक व्यवहारोंमें अर्थात् पालन पोषणमें ब्रह्मको आत्मा समझनेमें जिस पुत्र देह वा साक्षीको आत्मता उचितहै तिन २ व्यवहारोंमें पुत्र देह वा साक्षी शेषीहै उससे अन्य सब शेष (गौण) होते हैं ॥ ४३ ॥

मुमूर्षोर्गृहरक्षादौ गौणात्मैवोपयुज्यते ॥
न मुख्यात्मा न मिथ्यात्मा पुत्रः शेषी भवत्यतः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–इस शेष शेषी भावकोही पांच श्लोकोंसे विस्तारसे कहतेहैं कि जो मनुष्य मुमूर्षुहै (मरणेयोग्य) उसके घरकी रक्षा आदिमें पुत्र भार्या आदिरूप गौण आत्माही उपयोगी होताहै क्योंकि कुछकालतक जीवेगा और साक्षी रूप मुख्य आत्मा अविकारी होनेसे और मिथ्यारूप आत्मा (देह) मरणके उन्मुख (योग्य) होनेसे उपयोगी नहीं होते हैं इससे पुत्ररूप आत्माही प्रधान होताहै ॥ ४४ ॥

अध्येता वह्निरित्यत्र सन्नप्यग्निर्न गृह्यते ॥
अयोग्यत्वेन योग्यत्वाद्बटुरेवात्र गृह्यते ॥ ४५ ॥

भाषार्थ–पूर्वोक्त गृहरक्षा आदि व्यवहारमें अपनी विद्यमानतामेंभी पुत्र आदिके स्वीकारकरनेमें दृष्टांत कहते हैं कि यह अध्येता(पाठक)वन्हि है इस प्रयोगमें जैसे स्वरूपसे विद्यमान अग्निको वह्नि शब्दसे नहीं लेते क्योंकि अग्नि पठ नहीं सकती किंतु पठनेके योग्य होनेसे वहां बटुककोही लेते हैं इसी प्रकार पूर्वोक्त गृहरक्षा आदि व्यवहारमें पुत्र रूप गौण आत्माकोही लेते है ॥ ४५ ॥

कृशोहं पुष्टिमाप्स्यामीत्यादौ देहात्मतोचिता ॥
न पुत्रं विनियुंक्तेत्र पुष्टिहेत्वन्नभक्षणे ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार गौण आत्माके स्थल को कहकर मिथ्या आत्माके स्थलको कहते हैं कि मैं कृशहोगयाहूं इससे अन्न भक्षण आदिसे पुष्टिका संपादन करूंगा इ-त्यादि व्यवहारोंमें मिथ्या भूत देहकोही आत्मा मानना उचित है क्योंकि पुष्टिके हेतु अन्न भक्षण रूप व्यवहारमें पुत्रको जगत्में कोईभी नियुक्त नहीं करता ॥ ४६ ॥

तपसा स्वर्गमेष्यामीत्यादौ कर्त्रात्मतोचिता ॥
अनपेक्ष्य वपुर्भोगं चरेत्कृच्छ्रादिकं ततः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–और जब यह मनुष्य यह व्यवहार करता है कि मैं तप करके स्वर्ग का संपादन करूं तब कर्त्ता (विज्ञानमय) कोही आत्मा मानना उचित है देह आदि को नहीं क्योंकि देह के भोगोंकी अपेक्षाको त्यागकर परलोकमें कर्त्ताके उपकारक कृच्छ्रचांद्रायण आदिको करता है ॥ ४७ ॥

मोक्ष्येहमित्यत्र युक्तं चिदात्मत्वं तदा पुमान् ॥
तद्वेत्ति गुरुशास्त्राभ्यां न तु किंचिच्चिकीर्षति ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–और जब मनुष्य इस बुद्धि को करता है कि मैं शम दम आदिका संपादन करके मुक्तिको प्राप्तहूं तब गुरू और शास्त्रके द्वारा तत्त्वमसि० इत्यादि वाक्यके विचारसे पैदा हुये अपरोक्ष ज्ञानसे मैं कर्त्ता रूप नहीं किंतु सच्चिदानंद ब्रह्म रूप हूं इस प्रकार चिदात्माको जानताहै वहां चेतनही आत्मा उचितहै कर्त्ता नहीं क्यों कि इसश्रुतिमें[1] लिखाहै कि सत्य ज्ञान अनंत विज्ञान आनंद ब्रह्महै अनंतर (भेदरहित) अबाह्य सर्वरूप प्रज्ञानमय ब्रह्म है ॥ ४८ ॥

विप्रक्षत्रादयो यद्वद्बृहस्पतिसवादिषु ॥
व्यवस्थितास्तथा गौणमिथ्यामुख्या यथोचितम् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–पूर्वोक्त तीन प्रकारके आत्माओंको तिस २ व्यवहारमें व्यवस्थासे प्रधानता माननेमें दृष्टांत देते हैं किजैसे बृहस्पति सव आदि नामके यज्ञोंमें व्यवस्थासे ब्राह्मण क्षत्रिय आदिकाही अधिकार इन[2] श्रुतियों के अनुसार है कि ब्राह्मण बृहस्पति सव यज्ञ करै क्षत्रिय वैश्य नहीं राजा राजसूय यज्ञ करै ब्राह्मण वैश्य नहीं वैश्य वैश्यस्तोम यज्ञ करै ब्राह्मण क्षत्रिय नहीं इसी प्रकार गौण मिथ्या मुख्य आत्माओंकोभी अपने २ उचित व्यवहारोंमें प्रधानता है ॥ ४९ ॥

---

१ सत्यंज्ञानमनंतं ब्रह्म विज्ञानमानन्दं ब्रह्म अनन्तरो बाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव ।
२ ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेनयजेत---राजाराजसूयेनयजेत---वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेत ।

तत्र तत्रोचिते प्रीतिरात्मन्येवातिशायिनी ॥
अनात्मनि तु तच्छेषे प्रीतिरन्यत्र नोभयम् ॥ ५० ॥

भाषार्थ—अब फलितार्थको कहते हैं कि जिस २ व्यवहारमें जो २ आत्मा योग्य होता है तिस २ व्यवहारमें उपयोगी होनेसे प्रधानभूत आत्माके विषय ही अधिक प्रीति होती है और उसके शेषभूत आत्मासे भिन्नमें केवल प्रीति होती है अत्यंत नहीं और आत्मा और शेषसे भिन्न जो जगत्की वस्तु हैं उनमें दोनों प्रकारकी प्रीति नहीं होती ॥ ५० ॥

उपेक्ष्यं द्वेष्यमित्यन्यद् द्वेधा मार्गतृणादिकम् ॥
उपेक्ष्यं व्याघ्रसर्पादि द्वेष्यमेवं चतुर्विधम् ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—आत्मा और शेषसे जो अन्य है उसमें दोनों प्रकारकी प्रीति नही होती इस श्लोकमें कहे अन्यशब्दके भेदोंको कहते हैं कि अन्यपदसे कही जो वस्तु है वह उपेक्षाके योग्य और द्वेषके योग्यरूप भेदसे दो प्रकारकी होती है उन दोनोंमें मार्ग तृण आदि उपेक्ष्य और व्याघ्र सर्प आदि द्वेष्य होते हैं इस प्रकार चार प्रकार-की वस्तु होती हैं ॥ ५१ ॥

आत्मा शेष उपेक्ष्यं च द्वेष्यं चेति चतुर्ष्वपि ॥
न व्यक्तिनियमः किंतु तत्तत्कार्यात्तथा तथा ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—चारोंभेदोंको दिखाते हैं कि आत्मा शेष उपेक्ष्य द्वेष्य इन चारोंमें भी व्यक्तिका नियम नही है अर्थात् यही प्रिय-उपेक्ष्य वा द्वेष्य है अन्य नही यह नियम नही है किंतु उपकार आदि तिस २ कार्यके अनुसार तैसे २ प्रतीति होती है अर्थात् कार्यसे प्रिय आदि होते हैं ॥ ५२ ॥

स्याद्व्याघ्रः संमुखो द्वेष्यो ह्युपेक्ष्यस्तु पराङ्मुखः ॥
लालनादनुकूलश्चेद्विनोदायेति शेषताम् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—सबमें अनियम समझनेके लिये प्रसिद्ध द्वेष्यरूप व्याघ्रमें नियमका अभा-व दिखाते हैं कि जब व्याघ्र(सिंह)अपने संमुख भक्षण करनेके लिये आता है तब तो द्वेष्य(वैरी)होता है और जब वह पराङ्मुख हुआ जाता है तब उपेक्ष्य होता है—और जब लाडकरनेसे अपने अनुकूल होता है तब विनोदके लिये होनेसे अपना उपकारक (शेष) है इससे प्रिय होताहै ॥ ५३ ॥

व्यक्तीनां नियमो मा भूल्लक्षणात्तु व्यवस्थितिः ॥
आनुकूल्यं प्रातिकूल्यं द्वयाभावश्च लक्षणम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि एक वस्तुको प्रिय आदि तीनरूप मानोगे तो व्यवहारकी व्यवस्था न होगी सो ठीक नही कि व्यक्तियोंका नियम मत हो तथापि लक्षणसे व्यवस्था हो जायगी लक्षणोंको ही कहते हैं कि अनुकूलता प्रियका और प्रतिकूलता द्वेष्यका और अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनोंका अभाव उपेक्ष्यका लक्षण होता है ॥ ५४ ॥

आत्मा प्रेयान् प्रियः शेषो द्वेषोपेक्षे तदन्ययोः ॥
इति व्यवस्थितो लोको याज्ञवल्क्यमतं च तत् ॥ ५५ ॥

भाषार्थ–इतने पूर्वोक्तग्रंथके समूहसे कहे अर्थको बुद्धिमें आनेके लिये संक्षेपसे दिखाते हैं कि प्रत्यक् आनंदरूप आत्मा अत्यंत प्रिय है और अपना गौण जो शेषपदार्थ है वह प्रिय है और इन दोनोंसे अन्य जो मार्गतृण और व्याघ्र आदि हैं वे उपेक्ष्य और द्वेष्य क्रमसे होते हैं इस रीतिसे चार प्रकारकी जगत्की व्यवस्थाहै. इन चार प्रकारोंसे अन्य नही होता और यह बात याज्ञवल्क्य ऋषिकोभी संमत है॥५५॥

अन्यत्रापि श्रुतिः प्राह पुत्राद्वित्तात्तथान्यतः ॥
सर्वस्मादांतरं तत्त्वं तदेतत्प्रेय इष्यताम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ–केवल मैत्रेयी ब्राह्मणमें ही आत्माको अत्यंत प्रिय नही कहा किंतु पुरुषविधब्राह्मणमें भी कहा है इस अभिप्रायसे उसके इस वचनके अर्थको पठते हैं कि अन्यत्रभी श्रुतिने कहा है कि पुत्र धन और अन्यसे यह आत्मा इससे अत्यंतप्रिय इष्ट है कि यह सबका अंतरात्मारूप तत्व है ॥ ५६ ॥

श्रौत्या विचारदृष्ट्यायं साक्ष्येवात्मा न चेतरः ॥
कोशान्पंच विविच्यांतर्वस्तुदृष्टिर्विचारणा ॥ ५७ ॥

भाषार्थ–इस प्रकारका कथन श्रुतिमें रहो प्रकरणमें क्या आया इस लिये कहते हैं कि श्रुतिके अर्थकी विचारदृष्टिसे साक्षी ही मुख्य आत्मा है अन्य(पुत्र आदि) नही–अब विचारदृष्टिको ही कहते हैं कि अन्नमय आदि पांच कोशोंको तैत्तिरीय श्रुतिमें कहे हुये प्रकारसे आत्मासे पृथक् जानकर अंतःकरणमें स्थित आत्माका जो ज्ञान उसको विचार कहते हैं ॥ ५७ ॥

१ तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोन्यस्मात्सर्वस्मादंतरंतरं यदयमात्मा ।

जागरस्वप्नसुप्तीनामागमापायभासनम् ॥
यतो भवत्यसावात्मा स्वप्रकाशचिदात्मकः ॥ ५८ ॥

भषार्थ-अब अंतःस्थित वस्तुके दर्शनका प्रकार कहते हैं कि जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं के मध्यमें उत्तर २ अवस्थाका आगमन और पूर्व २ अवस्था की निवृत्ति का भासन जिस चैतन्यरूप साक्षी से होतीहैं वह स्वप्रकाश चैतन्यरूप आत्मा है अन्य नहीं ॥ ५८ ॥

शेषाः प्राणादिवित्तांता आसन्नास्तारतम्यतः ॥
प्रीतिस्तथा तारतम्यात्तेषु सर्वेषु वीक्ष्यते ॥ ५९ ॥

भाषार्थ-संक्षेपसे कहे पूर्वोक्त अर्थका विस्तारसे वर्णन करतेहैं कि शेषजो प्राण आदि वित्त (धन) पर्यंत साक्षीसे भिन्न है (जो आगे कहे जांयगे) वे पदार्थ जैसे तारतम्य (क्रम) से आत्माके आसन्न है अर्थात् समीपवर्ती है उसी प्रकार उन प्राण आदिको में तारतम्यसे संपूर्ण जन प्रीतिको देखते हैं ॥ ५९ ॥

वित्तात्पुत्रः प्रियः पुत्रात्पिंडः पिंडात्तथेंद्रियम् ॥
इंद्रियाच्च प्रियः प्राणः प्राणादात्मा प्रियः परः ॥ ६० ॥

भाषार्थ-प्रीतिके तारतम्यसे अनुभवको स्पष्ट करते हैं कि संपूर्ण प्राणी पुत्र आदिको विपत्ति दूर करनेकेलिये धनका व्यय करते हैं इससे वित्तसे पुत्र प्रियहै-औरअपने देहकी रक्षाकेलिये कदाचित् पुत्रकोभी दे देते हैं इससे पुत्रकी अपेक्षा अपना पिंड (देह) प्रियहै और इंद्रियोंकी रक्षाकेलिये ताडन आदिसे देहकी पीडाकोभी सहते हैं इससे देहकी अपेक्षा इंद्रिय प्रियहैं-और मरणके प्रसंगमें मरण निवृत्तिके लिये इंद्रियोंकी विकलताकोभी स्वीकार करतेहैं जैसेकि गलते पैरको काट देतेहैं इससे इंद्रियोंकी अपेक्षा प्राण प्रियहैं इस प्रकार उत्तर २ को अत्यंत प्रेमका विषय सब जानते हैं और आत्मातो परम प्रेमका आस्पद है यह तत्वज्ञानी जानते हैं भावार्थ यह है कि धनसे पुत्र-पुत्रसे देह-देहसे इंद्रिय-इंद्रियसे प्राण-प्रिय होता है और आत्मा प्राणसेभी परम प्रिय होता है ॥ ६० ॥

एवं स्थिते विवादोत्र प्रतिबुद्धविमूढयोः ॥
श्रुत्योदाहारि तत्रात्मा प्रेयानित्येव निर्णयः ॥ ६१ ॥

भाषार्थ-इस पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माको प्रमाणोंसे अत्यंत प्रिय सिद्ध होनेपरभी

यहां तत्वज्ञानी और मूढ इनके विवादको दूर करनेके लिये श्रुतिने उनका विप्रतिपत्ति (विवाद) दिखाया है– उस विवादमें यही निर्णय है कि आत्मा ही अत्यंत प्रिय है ॥ ६१ ॥

साक्ष्येव दृश्यादन्यस्मात्प्रेयानित्याह तत्त्ववित् ॥
प्रेयान्पुत्रादिरेवेमं भोक्तुं साक्षीति मूढधीः ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–उस विवादको ही कहते हैं कि तत्वज्ञानी तो यह कहता है कि दृश्य (जगत्)रूप आत्मासे भिन्न जो जगत् उससे आत्मा ही अत्यंत प्रिय है और मूढबुद्धि यह कहता है कि पुत्र आदि ही अत्यंत प्रिय हैं–साक्षी तो इनका भोक्ता है ॥ ६२ ॥

आत्मनोन्यं प्रियं ब्रूते शिष्यश्च प्रतिवाद्यपि ॥
तस्योत्तरं वचो बोधशापौ कुर्यात्तयोः क्रमात् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–आत्मासे भिन्नको जो प्रिय कहता है उस वादीके उत्तर कहनेके लिये पृथक्२उन वादियोंको ही दिखाते हैं शिष्य और प्रतिवादी ये दोनों आत्मासे अन्यको प्रिय कहैं तो उन दोनोंको बोध और शाप ही प्रत्युत्तर क्रमसे करै ॥ ६३ ॥

प्रियं त्वां रोत्स्यतीत्येवमुत्तरं वक्ति तत्त्ववित् ॥
स्वोक्तप्रियस्य दुष्टत्वं शिष्यो वेत्ति विवेकतः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–उत्तररूप इस श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि तत्वज्ञानी शिष्य और प्रतिवादी जो पूर्वोक्त दोनों हैं उनके प्रति इस एक ही उत्तरको कहै कि हे शिष्य और हे प्रतिवादिन् जिस पुत्र आदिको तू प्रिय मानता है वह अपने मरणसे तुझे रोदन करावेगा– कदाचित् कहो कि यह एक ही तत्वज्ञानीका वचन शिष्य और प्रतिवादी दोनोंका उत्तर कैसे हुआ यह शंका करके प्रथम शिष्यके प्रत्युत्तरको साढेचार ॥४॥ श्लोकोंसे कहते हैं कि उन दोनोंके मध्यमें शिष्य तो विवेकसे अपने कहे प्रियको दुष्ट जान लेता है कि ॥ ६४ ॥

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ॥
लब्धोपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥ ६५ ॥

---

१ स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यतीति ।

जातस्य ग्रहरोगादिः कुमारस्य च मूर्खता ॥
उपनीतेप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पंडिते ॥ ६६ ॥
यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुंबिनः ॥
पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यंतो धनी चेन्म्रियते तदा ॥ ६७ ॥

भाषार्थ-दोषके विचारको ही दिखाते हैं कि अलभ्यमान (अप्राप्त) पुत्र-माता-पिताको चिरकाल तक क्लेश देता है- और प्राप्त (मिला) हुआभी गर्भपात और प्रसवसे बाधा करता है और पैदाहुये पुत्रको ग्रहोंकी पीडा- और कुमारकी मूर्खता और यज्ञोपवीत होनेपर विद्याका न होना- और पंडितभी होगया तो विवाहका न होना- और यौवन अवस्थामें परस्त्रीका संग- और पुत्रके कुटुंबी होनेपर दरिद्रता- और धनी पुत्र होजाय तौ मरणके होनेपर- दुःखदायी होता है- इस प्रकार मातापिताके दुःखका अंत कभीभी नहीं होता ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

एवं विविच्य पुत्रादौ प्रीतिं त्यक्त्वा निजात्मनि ॥
निश्चित्य परमां प्रीतिं वीक्षते तमहर्निशम् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार यहां पुत्रपद दारा आदिकाभी उपलक्षण है पुत्र आदि विषयोंमें प्रीतिको त्याग कर अर्थात् दोषोंको देखकर अपने साक्षीरूप प्रत्यक् आत्मामें परम प्रीतिको निश्चय करके उस प्रत्यक् आत्माकोही शिष्य सदैव देखता है ॥६८॥

आग्रहाद्ब्रह्मविद्वेषादपि पक्षममुंचतः ॥
वादिनो नरकः प्रोक्तो दोषश्च बहुयोनिषु ॥ ६९ ॥

भाषार्थ-अब प्रतिवादीके प्रति जो प्रिय तुझे रोदन करावेगा यह उत्तरहै उसकी शापरूपता प्रकट करते हैं कि आग्रहसे अर्थात् मैं जो पुत्र आदिको प्रिय कहा है उसको सर्वथा न त्यागोंगा इस हठसे- और इसके कहेका खंडन करूंगा इस ब्राह्मणके द्वेषसे अपने पक्षको नहीं छोडते हुये वादीको नरककी प्राप्ति और तिर्यक् आदि बहुत योनियोंमें पुत्र भार्या आदि इष्टका वियोग और अनिष्टकी प्राप्तिरूप दोष प्रिय तुझे रोदन करावेगा इस उत्तरके दाता ज्ञानीने, कहा है- भावार्थ-यह है कि आग्रह और ब्राह्मणके द्वेषसे पक्षको न छोडते वादीको नरक और बहुत योनियोंमें दुःख कहा है ॥ ६९ ॥

ब्रह्मविद्ब्रह्मरूपत्वादीश्वरस्तेन वर्णितम् ॥
यद्यत्तत्तत्तथैव स्यात्तच्छिष्यप्रतिवादिनोः ॥ ७० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि ज्ञानीका कहा पूर्वोक्त वचन, शिष्यके प्रति उपदेशरूप और वादीके प्रति शापरूप कैसे होगा क्योंकि एकमें विरुद्ध दोरूप नही घटसकते यह शंका करके इस[1] वचनके तात्पर्यको कहते हैं कि जिससे ब्रह्मज्ञानी अपनेको ब्रह्मका अनुभव होनेसे ईश्वररूप है इससे उसने जिस शिष्य आदिके प्रति जो २ इष्ट वा अनिष्ट कह दिया है वह २ शिष्य और प्रतिवादीको इष्ट अनिष्टरूपफल— ज्ञानीके अभिप्रायके अनुसार अवश्य होता है ॥ ७० ॥

यस्तु साक्षिणमात्मानं सेवते प्रियमुत्तमम् ॥
तस्य प्रेयानसावात्मा न नश्यति कदाचन ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—निषेध मुखसे कहे पूर्वोक्त अर्थका अन्वयमुखसे प्रतिपादक (बोधक) इस[2] वाक्यके अर्थको पढते हैं कि अनात्म (देह आदि) को प्रिय कहनेवालेसे अन्य जो शिष्य हैं वह अपने प्रिय अर्थात् अत्यंत प्रेमके विषय साक्षीरूप-आत्माकी ही सेवा करता है अर्थात् स्मरण करता है उस शिष्य आदिका अत्यन्त प्रिय माना यह आत्मा प्रतिवादीके माने हुये प्रियके समान कदाचित् नष्ट नही होता अर्थात् जैसे उत्तरके दाता तत्वज्ञानीको प्रिय ब्रह्मका सदा भान रहता है इसीप्रकार शिष्यकोभी सदानंदरूप प्रिय ब्रह्मका सदैव भान रहता है—भावार्थ— यह है कि जो अत्यंत प्यारे साक्षीरूप आत्माका स्मरण करता है उसका अत्यंत प्यारा यह आत्मा कदाचित्भी नष्ट नही होता ॥ ७१ ॥

परप्रेमास्पदत्वेन परमानंदरूपता ॥
सुखवृद्धिः प्रीतिवृद्धौ सार्वभौमादिषु श्रुता ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार आत्माको परम प्रेमके आस्पदका हेतु सिद्ध करके फलितका वर्णन करते हैं कि परम प्रेमका आस्पद होनेसे आत्मा परमानंदरूप है यहां यह अनुमान है कि आत्मा परमानंदरूप है अत्यंत प्रेमका आस्पद होनेसे जो परमानंदरूप नहीं होता वह अत्यंत प्रेमका आस्पदभी नहीं होता जैसे घट आदि यह केवल व्यतिरेकी अनुमान है अब परम प्रेमके आस्पदरूप हेतुकी आत्माके परमानंदरूप साधनेमें सामर्थ्य दिखानेके लिये प्रीतिकी वृद्धिमें सुखकी वृद्धिको कहते हैं कि सम्पूर्ण भूमिके राज्य आदि ब्रह्मलोक पर्यंत जितनी पदवी है उनमें जहां २ प्रीति बढती है वहां२सुखकी वृद्धि है यह तैत्तिरीय और बृहदा-

१ ईश्वरो ह तथैव स्यात् । २ आत्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेवप्रियमुपास्ते नेहास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ।

रण्यक श्रुतियोंमें कहा है इससे उत्तम प्रीतिके होनेसे आनंदकीभी उत्तमता जाननेको शक्यहै भावार्थ-यह है कि जिससे चक्रवर्ती राज्य आदि पदवीयोंमें प्रीतिकी वृद्धिसे सुखकी वृद्धि सुनी है इससे परम प्रेमका आस्पद होनेसे आत्मा परमानंदरूप है॥७२॥

चैतन्यवत्सुखं चास्य स्वभावश्चेच्चिदात्मनः ॥
धीवृत्तिष्वनुवर्तेत सर्वास्वपि चितिर्यथा ॥ ७३ ॥

भाषार्थ-वादी शंका करताहै कि चिदात्माका चैतन्यके समान सुखभी यदि स्वभाव (रूप)है तो चैतन्यके समान उस आत्माके स्वरूपभूत आनंद (सुख) का भी संपूर्ण बुद्धिकी वृत्तियोंमें अनुवर्तन (जाना) हो जायगा इससे आत्मा परमानंदरूप नहीं होसकता ॥ ७३ ॥

मैवमुष्णप्रकाशात्मा दीपस्तस्य प्रभा गृहे ॥
व्याप्नोति नोष्णता तद्वच्चितेरेवानुवर्तनम् ॥ ७४ ॥

भाषार्थ-चित् आनंद इन दोनोंको आत्मस्वरूप होनेपरभी वृत्तियोंमें चैतन्यकी ही अनुवृत्ति होती है आनंदकी नहीं यह बात दृष्टांतके बलसे कहते हैं ये पूर्वोक्त शंकाका समाधान करतेहैं कि ऐसा मत कहो कि जैसे दीपक उष्ण और प्रकाशरूप है उसकी प्रभा ही गृह आदिमें जाती है उष्णता नहीं जाती इसी प्रकार बुद्धियोंकी वृत्तियोंमें चैतन्य (चिति) का ही अनुवर्तन होता है आनंदका नहीं होता॥ ७४ ॥

गंधरूपरसस्पर्शेष्वपि सत्सु यथा पृथक् ॥
एकाक्षेणैक एवार्थो गृह्यते नेतरस्तथा ॥ ७५ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि चित् और आनंद ये दोनों एक हैं इससे चैतन्यकी व्यंजक (बोधक) जो बुद्धिकी वृत्ति हैं उनमें ही आनंदकीभी प्रकटकता हो जायगी इस शंकाका पूर्वोक्तनियमके अभावसे परिहार करते हैं कि जैसे एक द्रव्यमें वर्तमान गंध रूप रस स्पर्श आदिके मध्यमें घ्राण आदि एक इंद्रियसे गंध आदि एकही गुण जाना जाता है अन्यरूप आदि नहीं जाना जाता इसी प्रकार चैतन्यका ही भान होता है आनंदका नहीं ॥ ७५ ॥

चिदानंदौ नैव भिन्नौ गंधाद्यास्तु विलक्षणाः ॥
इति चेत्तदभेदोपि साक्षिण्यन्यत्र वा वद ॥ ७६ ॥

भाषार्थ-अब दृष्टांत और दार्ष्टांतिकके वैषम्यकी शंका करतेहैं कि चित् और आनंद ये दोनों भिन्न नहीं हैं और गंध आदि तो विलक्षण(भिन्न२) हैं ऐसा कहोगे तो इसमें

यह विकल्पहै चित् आनंदका भेद स्वाभाविकहै व औपाधिकहै अर्थात् चित् आनंद-एकता आत्मस्वरूप साक्षीमेंहै वा साक्षीकी उपाधिभूत उपाधियोंमेंहै-यह तुम कहो७६॥

आद्ये गंधादयोप्येवमभिन्नाः पुष्पवर्तिनः ॥
अक्षभेदेन तद्भेदे वृत्तिभेदात्तयोर्भिदा ॥ ७७ ॥

भाषार्थ-पहिले पक्षमें दृष्टांत और दार्ष्टांतिककी साम्यताको कहते हैं कि प्रथम पक्षमें साक्षीके विषै चित् आनंदका अभेद मानते होय तो पुष्पमें वर्तमान गंध आदि भी इसी प्रकार परस्पर चित् आनंदके तुल्य अभिन्नहैं क्योंकि अन्यको छोडकर एकको नहीं ल्यासकते-अब दुसरे पक्षमेंभी साम्यताको कहतेहैं कि गंध आदिकी ग्राहक इंद्रियोंके भेदसे गंध आदिका भेद मानोगे तो तिसी प्रकार चित् आनंदकी व्यंजक वृत्तियोंके भेदसे अर्थात् वृत्तियोंके रजोगुणी सत्त्वगुणी भेदसे चित् आनंदकाभी भेद होजायगा तो कुछ हानि नहीं है ॥ ७७ ॥

सत्त्ववृत्तौ चित्सुखैक्यं तद्वृत्तेर्निर्मलत्वतः ॥
रजोवृत्तेस्तु मालिन्यात्सुखांशोत्र तिरस्कृतः ॥ ७८ ॥

भाषार्थ-अब चित् और आनंद इन दोनोंका भान कहां होता है इस शंकाका उत्तर देते हैं कि शुभकर्मसे प्राप्त हुई सत्त्वगुणका परिणामरूप जो बुद्धिकी वृत्ति हैं उसमें चित् और सुखकी एकता भासती है क्योंकि वह वृत्ति निर्मलरूप है और रजोगुणका परिणामरूप जो वृत्ति है उसको मलीन होनेसे उसमें सुखरूप अंशका तिरस्कार होता है अर्थात् सुख नहीं भासता ॥ ७८ ॥

तिंतिणीफलमत्यम्लं लवणेन युतं यदा ॥
तदाम्लस्य तिरस्कारादीषदम्लं यथा तथा ॥ ७९ ॥

भाषार्थ-अब विद्यमानभी सुख अंशके तिरस्कारमें दृष्टांत देते हैं कि जैसे अत्यंत अम्लतिंतिणी (इमली) के फलमें लवणके योगसे अत्यंत अम्लता (खटाई) का तिरस्कार होता है इसी प्रकार रजोगुणी वृत्तिमें आनंदका तिरस्कार (छिपाव) होता है ॥ ७९ ॥

ननु प्रियतमत्वेन परमानंदतात्मनि ॥
विवेक्तुं शक्यतामेवं विना योगेन किं भवेत् ॥ ८० ॥

भाषार्थ–अब गूढ अभिप्रायसे शंका करते हैं कि पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माका परमानंदरूप परम प्रेमके आस्पदरूप हेतुसे गौण मिथ्या आत्मारूप जो प्रिय उपेक्ष्य द्वेष्य हैं उनसे पृथक्‌जाननेकी शक्य है तो उस आत्माके परमानंदरूपको जानो तथापि यह विवेक मुक्तिका हेतु नहीं है क्योंकि अपरोक्षज्ञानके द्वारा मुक्तिका हेतु योगको ही कहा है ॥ ८० ॥

यद्योगेन तदेवेति वदामो ज्ञानसिद्धये ॥
योगः प्रोक्तो विवेकेन ज्ञानं किं नोपजायते ॥ ८१ ॥

भाषार्थ–गूढ अभिप्रायसे ही उत्तर देते हैं कि जैसे योग अपरोक्षज्ञानका हेतु है ऐसे ही विवेकभी अपरोक्ष ज्ञानका हेतु है यह गूढ अभिप्राय है अब गूढ अभिप्राय जो शंका समाधानमें कहा उसको प्रगट करते हैं कि जैसे पूर्व अध्यायमें अपरोक्ष ज्ञानका साधन योगको कहा है इसीप्रकार इस अध्यायमें कहा जो गौण आदि आत्माके विवेकद्वारा पंचकोशोंका विवेक उससेभी अपरोक्षज्ञान पैदा होता है– भावार्थ– यह है कि जो योगसे होता है यह हम कहते हैं क्योंकि जैसे ज्ञानकी सिद्धिके लिये योगको कहा है तैसे ही क्या विवेकसे ज्ञान नहीं होता अर्थात् अवश्य होताहै॥ ८१॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ॥
इति स्मृतं फलैकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्तमें प्रमाण कहते हैं कि आत्मा और अनात्माके विवेकी सांख्यशास्त्रके ज्ञाता जिस मोक्षरूप स्थानको प्राप्त होते हैं योगीजनभी उसी स्थानको प्राप्त होते हैं इस श्रीकृष्णचंद्रके कहे वाक्यसे योगी और विवेकीयोंको एक ज्ञानके द्वारा मोक्षरूप फल कहा है ॥ ८२ ॥

असाध्यः कस्य चिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ॥
इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ॥ ८३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि विवेक और योगका एक ही फल है तो इन दोनोंमें एकका ही वर्णन शास्त्रोंमें क्यों न कहा यह शंका करके अधिकारीके भेदसे दोनोंका प्रतिपादन युक्त है इस अभिप्रायसे कहते हैं कि किसीको तो योग असाध्य है और किसीको ज्ञानका निश्चय (विवेक) असाध्य है यह विचारकर परमेश्वरने दो मार्ग कहे हैं ॥ ८३ ॥

योगे कोतिशयस्तेऽत्र ज्ञानमुक्तं समं द्वयोः ॥
रागद्वेषाद्यभावश्च तुल्यो योगिविवेकिनोः ॥ ८४ ॥

भाषार्थ–अत्यंत परिश्रमसे साध्य जो योग उसमें विना परिश्रम सुलभ जो विवेक उससे अधिकता कहनी योग्य है यह शंका करके उस अधिकताको अपरोक्षज्ञान-का जनक होनेसे कहते हो वा राग द्वेष आदिका निवर्तक होनेसे अथवा द्वैतकी अप्राप्तिका, वा कारण, होनेसे कहते हो ये तीन विकल्प करके प्रथमपक्षमें फलकी साम्यताको कहते हैं कि जब विवेक और योगका ज्ञानरूप फल समान कह आये हैं तो योगमें क्या उत्तमता है अर्थात् कुछभी नही अब दूसरे पक्षमेंभी तुल्यताको कहते हैं कि योगी और विवेकीको राग द्वेष आदिका अभावभी तुल्य है इससे योग विवेकसे अधिक नहीं ॥ ८४ ॥

न प्रीतिर्विषयेष्वस्ति प्रेयानात्मेति जानतः ॥
कुतो रागः कुतो द्वेषः प्रातिकूल्यमपश्यतः ॥ ८५ ॥

भाषार्थ–अब विवेकीको राग आदिका अभाव कहते हैं कि आत्मा अत्यंत प्रिय है यह जानते हुये पुरुषकी विषयोंमें प्रीति नहीं होती क्योंकि विषयोंमें प्रीतिकी हेतु अनुकूलताका ज्ञान नहीं है और विषयोंको प्रतिकूल नही देखता जो विवेकी है उसको विषयोंमें द्वेषभी नहीं होता ॥ ८५ ॥

देहादेः प्रतिकूलेषु द्वेषस्तुल्यो द्वयोरपि ॥
द्वेषं कुर्वन्न योगी चेदविवेक्यपि तादृशः ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि व्यवहार दशामें विवेकीकोभी देह आदिके उपद्रव कर्ताओंमें द्वेष देखते हैं यह शंका करके उसमें भी योगी और विवेकीको तुल्यतासे परिहार करते हैं कि देह आदिके प्रतिकूल वृश्चिक आदिके विषै द्वेष विवेकी है तो वह द्वेष तो दोनोंको तुल्य है अर्थात् योगीकोभी व्यवहारदशामें प्रतिकूल पदार्थों में द्वेषहै यदि प्रतिकूल वृश्चिक आदिमें द्वेषके कर्ताको आप योगी नही मानते तो उक्त द्वेषका कर्त्ता विवेकीभी विवेकवान् नहीं होता– इससे दोनों तुल्य हैं ॥ ८६ ॥

द्वैतस्य प्रतिभानं तु व्यवहारे द्वयोः समम् ॥
समाधौ नेति चेत्तद्वन्नाद्वैतत्वविवेकिनः ॥ ८७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो विवेकीको द्वैतका ज्ञान है योगीको नही इस पूर्वोक्त ती-सरे विकल्पमें योगीकी अधिकता होजायगी यह शंका करके– विवेकीको द्वैतका

ज्ञान व्यवहारदशामें कहते हो वा अन्य कालमें ये दो विकल्पकरके पहिलेमें दोनों की समानता कहते हैं कि व्यवहारदशामें द्वैतका भान योगी और विवेकी दोनोंको समान है यदि यह कहो कि योगीको समाधिकालमें द्वैतका दर्शन नही है तो विवेकीकोभी अद्वैत ही तत्व है इस प्रकारसे विवेककी दशामें द्वैतके दर्शनका अभाव है इससे दोनोंकी तुल्यता है भावार्थ यह है कि योगी और विवेकीको व्यवहारदशामें द्वैतका भान समान है कदाचित् कहो कि योगीको समाधिमें द्वैतका भान नही है तो अद्वैतकी विवेकदशामें विवेकीको भी द्वैतका भान नही है इससे दोनों तुल्यहैं ॥८७॥

विवक्ष्यते तदस्माभिरद्वैतानंदनामके ॥
अध्याये हि तृतीयेतः सर्वमप्यतिमंगलम् ॥ ८८ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि विवेकीको द्वैतज्ञानका अभाव कैसे है यह शंका करके कहते हैं कि वह विवेकीको द्वैतदर्शनका अभाव–अद्वैतानंद नामके इससे अगले तीसरे अध्यायमें कहेंगे–अब पूर्वोक्तअर्थको पूर्ण करते हैं कि इससे संपूर्ण अत्यंत मंगल है अर्थात् कहींभी दोष नहीं है ॥ ८८ ॥

सदा पश्यन्निजानंदमपश्यन्निखिलं जगत् ॥
अर्थाद्योगीति चेत्तर्हि संतुष्टो वर्द्धतां भवान् ॥ ८९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि द्वैतके अज्ञानसहित आत्मज्ञानी योगी होजायगा यह शंका करते हैं कि सदैव निजानंदको जो देखै और संपूर्ण जगत्को न देखै वह अर्थात् योगी होता है यह यदि आप कहोगे तो परमेश्वर तेरी संतोषसे वृद्धि करै अर्थात् यह हमकोभी इष्ट है ॥ ८९ ॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे मंदानुग्रहसिद्धये ॥
द्वितीयाध्याय एतस्मिन्नात्मानंदो विवेचितः ॥ ९० ॥

भाषार्थ–अब अध्यायके तात्पर्यको संक्षेपसे दिखाते हैं कि मंदबुद्धि जिज्ञासुओंपर अनुग्रहके लिये ब्रह्मानंदनामके ग्रंथमें जो यह दूसरा अध्याय है उसमें आत्मानंदका विवेचन किया ॥ ९० ॥

इति श्री० मत्पर महंस प०विद्यारण्य विरचितायां पंचदश्यां ब्रह्मानंदे आत्मानंदः ॥ १२ ॥

इति विद्यारण्यमुनिवर्यकृतपंचदश्यां पं० मिहिरचंद्रकृतभाषा विवृतिसहितायाम् आत्मानंदःसंपूर्णः ॥१२॥

श्रीः ।

पञ्चदशी ।

भाषाटीकासमेता ।

ब्रह्मानन्दे अद्वैतानन्दः प्रकरण १३

योगानंदः पुरोक्तो यः स आत्मानंद इष्यताम् ॥
कथं ब्रह्मत्वमेतस्य सद्वयस्येति चेच्छृणु ॥ १ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ब्रह्मानंद विद्यानंद विषयानंद भेदसे तीन प्रकारके ही आनंदकी प्रतिज्ञा पहिले अध्यायमें करके द्वितीयअध्यायमें आत्मानन्दके निरूपणसे उसका विरोध होगा यह शंका करके कहते हैं कि जो पहिले योगानंद कहा है वही आत्मानंद इष्ट है अर्थात् जैसे प्रतिज्ञा किया ब्रह्मानंद योगसे उत्पन्न हुये साक्षात्कारका विषय होनेसे योगानंदरूप है और निरुपाधिक (उपाधिरहित) होनेसे निजानंदरूप है तैसे ही उसी ब्रह्मानंदको गौण, मिथ्या, मुख्य, आत्माके विवेकसे जाननेकी इच्छासे आत्मानंदता कही है-कदाचित् कहो कि सजातीय पुत्रभार्या आदिरूप गौण आत्मासे और मिथ्या आत्मरूप देह आदिसे और विजातीय आकाश आदिसे भिन्न जो द्वैतसहित आत्मानंद है वह प्रथम अध्यायमें कहे अद्वितीययोगानंदरूप नहीं होसकता यह शंका करते हैं कि यह सद्वितीय आत्मानंद ब्रह्मानंद कैसे होसकता है इस शंकाका उत्तर देते हैं कि सजातीय माने हुये गौण आत्मारूप पुत्र आदि, और मिथ्यारूप देह आदि, और तैत्तिरीय श्रुतिमें कहे जगत्के अंतर्गत आकाश आदि, और जगत्, ये सब आत्मानंदके विना असत् (मिथ्या) है इससे सद्वितीय आत्मानंद, अद्वितीय ब्रह्मरूप होसकता है इस आशयसे बहुत मानपूर्वक उत्तर देते हैं कि सुनो– भावार्थ– यह है कि जो पहिले अध्यायमें योगानंद कहा है वही आत्मानंद इष्ट है कदाचित् कहो कि द्वैतसहित तिसको ब्रह्मत्व कैसे है इसका उत्तर सुनो कि ॥ १ ॥

आकाशादिस्वदेहांतं तैत्तिरीयश्रुतीरितम् ॥
जगन्नास्त्यन्यदानंदादद्वैतब्रह्मता ततः ॥ २ ॥

भाषार्थ-तिस इस आत्मासे आकाश हुआ इत्यादि तैत्तिरीय श्रुतिसे कहा जो आकाश आदि स्वदेह पर्यंत जगत् है वह आनंदसे भिन्न जिससे नही है तिससे वह आत्मानंद अद्वितीय ब्रह्मरूप है ॥ २ ॥

आनंदादेव तज्जातं तिष्ठत्यानंद एव तत् ॥
आनंद एव लीनं चेत्युक्तानंदात्कथं पृथक् ॥ ३ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त श्रुतिवाक्यमें आत्माको कारण कहा है आनंदको नही यह शंका करके तैत्तिरीयश्रुतिके ही इस वाक्यके अर्थको पढते हैं कि आनंदसे ही यह जगत् पैदा होता है आनंदमें ही टिकता है और आनंदमेंही लीन होता है इससे पूर्वोक्तआनंदसे पृथक् कैसे होसकता है यहां यह अनुमान है कि विवादका स्थान जगत्, आनंदसे भिन्न नही है, आनंदका कार्य होनेसे, जो २ कार्य होता है वह २ अपने कारणसे भिन्न नही होता जैसे मिट्टीका कार्य घट मिट्टीसे भिन्न नही होता है ॥ ३ ॥

कुलालाद्धट उत्पन्नो भिन्नश्चेति न शंक्यताम् ॥
मृद्वदेष उपादानं निमित्तं न कुलालवत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ-कुलालसे पैदा हुयेभी घटको कुलालसे भिन्न देखते हैं इससे पूर्वोक्त अनुमानमें जो हेतु है वह व्यभिचारी है अर्थात् कार्य कारणसे भिन्न नहीं होता यह नियम नही है यह शंका न करो क्योंकि यह आनंद पृथिवीके समान उपादान कारण है कुलालके समान निमित्त कारण नही ॥ ४ ॥

स्थितिर्लयश्च कुंभस्य कुलाले स्तो न हि क्वचित् ॥
दृष्टौ तौ मृदि तद्वत्स्यादुपादानं तयोः श्रुतेः ॥ ५ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि कुलालकोभी उपादानकारण क्यों नही मानते सो ठीक नही कि स्थिति और लयके आधारको उपादान कहते हैं यह उपादानका लक्षण उसमें नहीं घटता-जिस कारणसे घटकी स्थिति और लयका आधार कुलाल नही होता. इससे कुलाल घटका उपादान नही है- और घटकी स्थिति और

---

१ तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । २ आनंदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायंते आनंदेन जातानि जीवंति आनंदं प्रयन्त्यभिसंविशंति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म ।

लय ये दोनों भूमिमें ही देखते हैं इससे भूमि जैसे घटका उपादान है इसी प्रकार आनंद भी जगत्का उपादान है क्योंकि जगत्की स्थिति और लय ये दोनों आनंदाद्ध्येव० इस पूर्वोक्तवचनमें आनंदमें ही सुने हैं ॥ ५ ॥

उपादानं त्रिधा भिन्नं विवर्ति परिणामि च ॥
आरंभकं च तत्रांत्यौ न निरंशेऽवकाशिनौ ॥ ६ ॥

भाषार्थ-अब आनंदको अपनेको इष्ट जगत्का उपादान कहनेके लिये उपादान-के अवांतर भेदोंको कहते हैं कि विवर्ती और परिणामी और आरंभक भेदसे उपादान तीन प्रकारका होता है उन तीनोंमें विवर्तको ही शेषके लिये अन्य दो पक्षोंमें दोष देते हैं कि उन तीनोंपक्षोंमें अंत्यके जो आरंभ और परिणामि पक्ष हैं उन दोनोंका निरवयव वस्तु(ब्रह्म) में अनवकाश है अर्थात् नही घटसकते हैं ॥ ६ ॥

आरंभवादिनोन्यस्मादन्यस्योत्पत्तिमूचिरे ॥
तंतोः पटस्य निष्पत्तेर्भिन्नौ तंतुपटौ खलु ॥ ७ ॥

भाषार्थ-उन दोनोंपक्षोंका अनवकाश दिखानेके लिये प्रथम आरंभकवादीके मतका अनुवाद करते हैं कि वैशेषिक आदि जो आरंभवादी हैं वे अन्यसे अन्यकी ही उत्पत्तिको कहते हैं अर्थात् कारणकी अपेक्षा भिन्नही कार्य उत्पन्न होता है यहमा-नते हैं क्यों कि तंतुसे पटकी उत्पत्तिको देखते हैं कदाचित् कहो कि ऐसे देखनेसे कार्यकारणका भेद कैसे सिद्ध होसकता है सो ठीक नही कि तंतु और पट ये दोनों निश्चयसे भिन्न हैं क्यों कि दोनोंका परिणामि उपादान भिन्न २ है और भिन्न २ अर्थ और क्रियाको करते हैं-भावार्थ-यह है कि आरंभवादी अन्यसे अन्यकी उत्पत्ति-को कहते हैं क्योंकि तंतुसे पटकी उत्पत्ति होती है इससे निश्चय है कि तंतु और पट भिन्न २ हैं ॥ ७ ॥

अवस्थांतरतापत्तिरेकस्य परिणामिता ॥
स्यात्क्षीरं दधि मृत्कुंभः सुवर्णं कुंडलं यथा ॥ ८ ॥

भाषार्थ-अब परिणामका स्वरूप कहते हैं कि एकही वस्तु यदि पूर्व अवस्थाको त्यागकर अन्य अवस्थाको प्राप्त होजाय उसे परिणाम कहते हैं जैसे दूध दही-मिट्टी घट और सुवर्णकुंडल होजाता है अर्थात् ये दूध आदि 'दूधहै' इस आदि व्यवहारकी योग्यताको छोडकर दही आदि व्यवहारकी योग्यताको प्राप्तहो जाते हैं ॥ ८ ॥

अवस्थांतरभानं तु विवर्त्तो रज्जुसर्पवत् ॥
निरंशेप्यस्त्यसौ व्योम्नि तलमालिन्यकल्पनात् ॥ ९ ॥

भाषार्थ–अब विवर्तका लक्षण कहते हैं कि पूर्वअवस्थाको न छोडकर जो अन्य अवस्थाका भान (प्रतीति) उसे विवर्त कहते हैं जैसे रज्जुरूपसे स्थित ही द्रव्य सर्प रूपसे प्रतीत होता है कदाचित् कहो कि विवर्तभावको प्राप्त रज्जु आदि तो सावयव हैं निरवयवब्रह्ममें विवर्त उपादानभी न घटेगा सो ठीक नही कि निरवयमें भी यह विवर्त होता है क्यों कि अवयवरहित आकाशमें तल (नीचेमुखके कटाहकी तुल्यता) और मालिन्य (नीलवर्ण) इन दोनोंकी कल्पना वे करते हैं जो आकाशके स्वरूपको नही जानते इससे ब्रह्म विवर्त उपादान है–अतात्विक (झूठी) अन्यथा प्रतीतिको विवर्त और तात्विक (सच्ची) अन्यथा प्रतीतिको परिणाम कहते हैं भावार्थ– यह है कि अन्य अवस्थाके भान रज्जुसर्पके समान विवर्त होता है और वह आकाशमें तल और मालिन्यकी कल्पनासे निरवयवमें भी होता है ॥ ९ ॥

ततो निरंश आनंदे विवर्तो जगदिष्यताम् ॥
मायाशक्तिः कल्पिका स्यादैंद्रजालिकशक्तिवत् ॥ १० ॥

भाषार्थ–अब फलितको कहते हैं कि जिससे निरवयमेंभी विवर्त होसकता है इस-से निरवयव आनंदमें जगत् विवर्त (कल्पित) मानो–कदाचित् कहो कि अद्वितीय आनंदमें कल्पना कर्ताके अभावसे जगत्की कल्पना नही बनसकती सो ठीक नही कि मायारूपशक्ति ऐंद्रजालिककी शक्तिके समान कल्पना करनेवाली है अर्थात् जैसे इंद्रजाली मनुष्यमें विद्यमान मणिमंत्र आदिरूप मायारूप शक्ति गंधर्व नगर आदिकी कल्पना करती है तैसे ब्रह्मकी शक्तिरूप माया जगत्की कल्पना करलेती है ॥ १० ॥

शक्तिः शक्तात्पृथक् नास्ति तद्वद्दृष्टेर्न चाभिदा ॥
प्रतिबंधस्य दृष्टत्वाच्छक्त्यभावे तु कस्य सः ॥ ११ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि आनंदरूप आत्मासे भिन्न मायाको मानोगे तो द्वैत होजायगा यह शंका करके-अनिर्वचनीयरूप मायाको अनृत (मिथ्या) कहनेके लिये आगे जो लौकिक अग्नि आदिकी शक्ति कहेंगे प्रथम उसको ही भेदरूपसे वा अभेदरू पसे नही कह सकते यह दिखाते हैं कि स्फोट (फफोका) आदिकी उत्पादक जो अग्नि आदिमें वर्तमान शक्ति है वह शक्त (अग्नि आदिके रूप)से भिन्न नही है क्यों कि

भिन्न शक्तिको नही देखते हैं अर्थात् अग्निके स्वरूपसे पृथक् शक्ति प्रतीत नही होती है, और अग्निसे अभिन्न (अग्निरूप) भी शक्ति नही है, क्योंकि मणिमंत्र आदिसे अग्नि-का कार्य जो स्फोट आदि है इसका प्रतिबंध देखते हैं, इससे यह मानो कि अग्निके स्वरूपसे भिन्न शक्ति है-कदाचित् कहो कि प्रतिबंधभी दीखो और शक्ति भिन्नभी न हो तो क्या दोष है, सो ठीक नही कि शक्तिके अभावमें प्रतिबंध किसका होगा, अर्थात् प्रत्यक्ष दीखते हुये अग्नि आदिके स्वरूपका तो प्रतिबंध असंभव है, उस स्वरूपसे भिन्न शक्ति न मानोगे तो प्रतिबंध किसका होगा भावार्थ- यह है कि शक्ति शक्तिमान्से पृथक् नही है क्योंकि भिन्न दीखती नही-और प्रतिबंधके देखनेसे अभिन्न भी नही क्योंकि शक्तिके अभावमें प्रतिबंध किसका होगा ॥ ११ ॥

शक्तेः कार्यानुमेयत्वादकार्ये प्रतिबंधनम् ॥
ज्वलतोग्नेरदाहे स्यान्मंत्रादिप्रतिबंधता ॥ १२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अतींद्रिय शक्तिका प्रतिबंध कैसे होगा सो ठीक न-ही कि अतिन्द्रियभी शक्ति जिससे कार्यरूप हेतुसे जानी जाती है इससे कारण-के विद्यमान रहते भी कार्यके न होनेसे प्रतिबंध जाना जाताहै इसी अर्थको स्पष्ट करतेहैं कि, जलती हुई अग्निसे दाह आदि कार्यके न होनेपर मंत्र आदि शक्ति-के प्रतिबंधक हो सकते हैं ॥ १२ ॥

देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढां मुनयोऽविदन् ॥
परास्य शक्तिर्विविधा क्रिया ज्ञानफलात्मिका ॥ १३ ॥

भाषार्थ–इस प्रकार लौकिक शक्तिके स्वरूप और प्रमाणको दिखाकर अब माया शक्तिके होनेमें इस श्वेताश्वतरउपनिषद् वाक्यके अर्थको पढते हैं कि जगत्के कारणोंके ज्ञानार्थ ध्यानयोगमें भलीप्रकार स्थित और कालस्वभाव आदिभी का-रण हैं ये जो कारणोंके मत हैं उनमें दोषके द्रष्टा–वे मुनीश्वर–अपने कार्यरूप जो स्थूल सूक्ष्म शरीर हैं उनसे निरंतर गूढ (छिपी) हुई स्वप्रकाश चिदात्मा (प्रत्यक्से अ-भिन्न) ब्रह्मकी शक्तिको जानते भये– अब उसी उपनिषद्के इस वाक्य का जो अर्थ उसको पढते हैं कि, इस ब्रह्मकी परम (उत्तम) जगत्का कारण जो शक्ति है वह अनेकप्रकारकी सुनी जाती है– अब अनेकप्रकारोंकोही दिखाते हैं कि, ज्ञानक्रि-या बलरूप अर्थात् ज्ञानक्रिया ये दोनों प्रसिद्ध हैं और बलसे इच्छाशक्ति लेना और ज्ञा-

---

१ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् । २ परास्य शक्तिर्वि विधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।

नक्रियाशक्तिके साहचर्यसे क्रिया आदि शक्ति जिसका रूपहै जिसके ऐसी क्रिया ज्ञान बलरूप उस ब्रह्मकी शक्ति है भावार्थ यह है कि अपनेगुणोंसे छिपीजोस्वप्रकाशचिदा-त्मकी शक्तिहै उसको मुनियोंने जाना और इस ब्रह्मकी क्रिया ज्ञान बलरूपसे अनेक प्रकारकी श्रेष्ठहै ॥ १३ ॥

इति वेदवचः प्राह वसिष्ठश्च तथाऽब्रवीत् ॥
सर्वशक्ति परं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त दोनों वचनोंका स्थान कहते हैं कि, यह पूर्वोक्त बात वेदके वचननें कहीहै और केवल वेदमें ही प्रसिद्ध माया नहीं है किंतु स्मृ-तिमेंभी प्रसिद्धहै कि, जैसे श्रुतिने विचित्र माया शक्ति कही है इसीप्रकार वसिष्ठनेभी योगवासिष्ठ ग्रंथमें कहीहै अब मायाके बोधक योगवासिष्ठके ही श्लोकोंको पढते हैं कि, परब्रह्म सर्वशक्ति है अर्थात् उस ब्रह्मका सोपाधिक रूप सर्व शक्ति है और वह नित्य आपूर्ण और अद्वय है अर्थात् ये ब्रह्मके पारमार्थिक रूप हैं–भावार्थ यहहै कि, यह वेदवाक्यने कहा है और तैसेही वसिष्ठने कहा है कि, वह परब्रह्म सर्व-शक्तिहै और नित्य पूर्ण अद्वितीय है ॥ १४ ॥

यथोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशमधिगच्छति ॥
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेषूपलभ्यते ॥ १५ ॥

भाषार्थ–वह परब्रह्म जिस कालमें जिस माया शक्तिसे उल्लास (विवर्त) को प्राप्त होताहै तब २ वही २ शक्ति प्रकाशताको प्राप्त होती है अर्थात् प्रकट होजाती है–प्रकटताकोही दिखाते हैं कि, हे राम ! ब्रह्मकी चिद्रूप जो शक्ति है वह देव तिर्यक् मनुष्यरूप शरीरोंमें चेतन व्यवहारका हेतु होनेसे दीखती है अर्थात् मिलतीहै॥१५॥

स्पंदशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्तिस्तथोपले ॥
द्रवशक्तिस्तथांभःसु दाहशक्तिस्तथानले ॥ १६ ॥

भाषार्थ–और पवनमें चलनेकी हेतुस्पंद शक्ति और तैसे ही पत्थरमें दृढता शक्ति और जलोंमें द्रव (वहना) शक्ति और अग्निमें दाह शक्ति प्रकाशको प्राप्त होती है प्रकाश होनेके कहनेसे अप्रकट अवस्थामेंभी ब्रह्ममें जगत्की सत्ता दिखाई ॥ १६ ॥

शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि ॥
यथांडेतर्महासर्पो जगदस्ति तथात्मनि ॥ १७ ॥

भाषार्थ–और तैसे ही आकाशमें शून्यशक्ति और विनाशी पदार्थमें नाशशक्ति प्रकाश होती है– अब अप्रकट पदार्थकीभी सत्तामें दृष्टांत देते हैं कि, जैसे अंडेके मध्यमे महान् सर्प है इसीप्रकार आत्मामें जगत् है ॥ १७ ॥

फलपत्रलतापुष्पशाखाविटपमूलवान् ॥
ननु बीजे यथा वृक्षस्तथेदं ब्रह्मणि स्थितम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ–अब विचित्र पदार्थकीभी सत्तामें दृष्टांतदेतेहैं कि जैसे फल पत्र लता पुष्प शाखा विटप (डाले)मूल ये सब हैं जिसमें ऐसा वृक्ष बीजमें है तैसेही यह जगत् ब्रह्ममें स्थितहै ॥ १८ ॥

क्वचित्काश्चित्कदाचिच्च तस्मादुद्यंति शक्तयः ॥
देशकालविचित्रत्वात्क्ष्मातलादिव शालयः ॥ १९ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि, संपूर्ण शक्तियोंकी एक वारही प्रकटता क्योंनहीं होती सो ठीक नहीं कि, किसी देशविशेषमें और किसी कालविशेषमें कोई शक्ति आदि उदय होती है सब एकहीवार नहीं होती–सबकी एकवार अनुत्पत्तिमें दृष्टांत देते हैं कि देशकालकी विचित्रतासे जैसे शाली (सांठी चावल) होतेहैं अर्थात् जैसे भूमिमें वर्तमान सब बीजोंके मध्यमें देश और काल विशेषमें किन्ही २ बीजोंसेही अंकुरोंकी उत्पत्ति होतीहै सबसे सबकी नहीं ॥ १९ ॥

स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितमहावपुः ॥
यन्मनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥ २० ॥

भाषार्थ–अब जगत्की कल्पनामात्ररूप दिखानेकेलिये प्रथम जगत्के कल्पक मनके रूपको दिखातेहैं कि सब कालमें प्रकाशमानहै देशकाल आदि परिच्छेदसे रहित शरीर (रूप) जिसका ऐसा वह आत्मा जिसकालमें मननी अपने और परके जनानेवाली मायाके परिणामरूप शक्तिको धारण करताहै तब मन कहाजाताहै ॥ २० ॥

आदौ मनस्तदनुबंधविमोक्षदृष्टी
पश्चात्प्रपंचरचना भुवनाभिधाना ॥
इत्यादिका स्थितिरियं हि गता प्रतिष्ठा-
माख्यायिका सुभगबालजनोदितेव ॥ २१ ॥

भाषार्थ–अब कल्पनाके प्रकारको कहते हैं कि, प्रथम मनन शक्तिके उल्लाससे मन होता है फिर बंध और मोक्षकी कल्पना होती है और उसके पश्चात् बंधमोक्षकी दृष्टिसे भुवन है नाम जिसका ऐसे गिरिनगर आदि प्रपंचकी रचना (कल्पना) होतीहै इत्यादि (यह) जो जगत्की स्थिति है वह प्रतिष्ठा (स्थिरता) को प्राप्त इस प्रकार हुई जैसे हेसुभग बालकजनके प्रति वर्णन की हुई कथा वास्तव बुद्धिको प्राप्त होती है अर्थात् तैसे ही झूठा यह जगत् है ॥ २१ ॥

बालस्य हि विनोदाय धात्री वक्ति शुभां कथाम् ॥
क्वचित्सन्ति महाबाहो राजपुत्रास्त्रयः शुभाः ॥ २२ ॥
द्वौ न जातौ तथैकस्तु गर्भे एव न च स्थितः ॥
वसंति ते धर्मयुक्ता अत्यंतासाति पत्तने ॥ २३ ॥
स्वकीयाच्छून्यनगरान्निर्गत्य विमलाशयाः ॥
गच्छंतो गगने वृक्षान् ददृशुः फलशालिनः ॥ २४ ॥
भविष्यन्नगरे तत्र राजपुत्रास्त्रयोपि ते ॥
सुखमद्य स्थिताः पुत्र मृगयाव्यवहारिणः ॥ २५ ॥
धात्र्येति कथिता राम बालकाख्यायिका शुभा ॥
निश्चयं स ययौ बालो निर्विचारणया धिया ॥ २६ ॥

भाषार्थ–उसी वसिष्ठकी कथाको कहते हैं कि, बालकके विनोदके लिये धात्री (माता)शुभ कथाको कहती है कि, हेमहाबाहो कहीं शुभ तीन राजाके पुत्रहैं उन तीनोंमें दोतो पैदाही नहीं हुये और एक गर्भमेंही स्थित नहीं हुआ और धर्मसे युक्त वे तीनों अत्यंत असत् (झूठे) नगरमें वसते हैं–वे कदाचित् अपने शुन्य नगरसे निकसकर गमन करते हुये आकाशमें फलवाले वृक्षोंको देखते भये–और उस भविष्यत् नगरमें मृगया खेलतेहुये वे तीनों राजाके पुत्र अब सुखसे वर्तमानहैं–जब धात्रीने बालकके प्रति यह बालकोंकी शुभ कथा कही तब वह बालक निर्विचार (विचारशून्य) बुद्धिसे निश्चयको प्राप्त होता भया २२–२३–२४–२५–२६ ॥

इयं संसाररचना विचारोज्झितचेतसाम् ॥
बालकाख्यायिकेवेत्थमवस्थितिमुपागता ॥ २७ ॥

भाषार्थ–अब दृष्टांतसे सिद्ध अर्थ को दार्ष्टांतिकमें युक्त करते (घटाते) हैं कि,

विचारसे रहित मनुष्योंको यह संसारकी रचना बालकोंकी पूर्वोक्त कथाके समान इसप्रकार स्थिति (दृढता) को प्राप्त होगई हैं जैसे सच्ची बात होजाती है ॥ २७ ॥

इत्यादिभिरुपाख्यानैर्मायाशक्तेश्च विस्तरम् ॥
वसिष्ठः कथयामास सैव शक्तिर्निरूप्यते ॥ २८ ॥

भाषार्थ-अब वसिष्ठके कथनको समाप्त करते हैं कि, इत्यादि अनेक इतिहासोंसे माया शक्तिका विस्तार वसिष्ठजीने वर्णन किया-ऐसे मायाके होनेमें प्रमाणको कहकर मायाको अनिर्वचनीय कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं कि उस मायाकोही शक्ति कहते हैं ॥ २८ ॥

कार्यादाश्रयतश्चैषा भवेच्छक्तिर्विलक्षणा ॥
स्फोटांगारौ दृश्यमानौ शक्तिस्तत्रानुमीयते ॥ २९ ॥

भाषार्थ-यह मायारूप शक्ति अपने कार्यरूप जगत् और अपने आश्रयरूप ब्रह्मसे विलक्षण अर्थात् विपरीत स्वभाव वालीहै-अब मायाशक्तिकी कार्य और आश्रयसे विलक्षणताको दृष्टांतसे स्पष्ट करते हैं कि अग्निमें वर्तमान शक्तिका जो स्फोटरूप कार्य है और आश्रयरूप जो अंगारहै वे दोनों प्रत्यक्षहैं और शक्ति का तो कार्यसे अनुमान होता है इससे कार्य और आश्रय दोनोंसे शक्ति विलक्षण है ॥ २९ ॥

पृथुबुध्नोदराकारो घटः कार्योत्र मृत्तिका ॥
शब्दादिभिः पंचगुणैर्युक्ता शक्तिस्त्वतद्विधा ॥ ३० ॥

भाषार्थ-पूर्वोक्त न्यायको मिट्टीकी शक्तिमेंभी युक्त करतेहैं कि, पृथुबुध्न (गोल स्थूल) है उदर जिसका ऐसे आकारवाला घट कार्य होताहै और शब्द, स्पर्श, रूप रस, गंध, इन पांच गुणोंसे जो युक्त है वह इस घटमें पृथिवी आश्रय(कारण) रूपहै और शक्ति कार्य और आश्रय दोनों से विलक्षण है ॥ ३० ॥

न पृथ्वादिर्न शब्दादिः शक्तावस्तु यथा तथा ॥
अत एव ह्यचिंत्यैषा न निर्वचनमर्हति ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-विलक्षणताकोही कहतेहैं कि शक्तिमें पृथु आदि कार्यका धर्म नहीं है और शब्द आदि आश्रयका धर्मभी नहीं है इससे दोनोंसे विलक्षणहै-इससे यथा तथा (जैसी तैसी) रहो-इससे यह शक्ति अचिंत्य है-कदाचित् अचिंत्यही शक्तिका

रूप होजायगा सोभी नहीं कि, भेदरूपसे वा अभेदरूपसे वा अचिंत्यरूपसे जिस किसी प्रकारसे निर्वचनके योग्य नहीं अर्थात् कहनेमें नहीं आती ॥ ३१ ॥

कार्योत्पत्तेः पुरा शक्तिर्निगूढा मृद्यवस्थिता ॥
कुलालादिसहायेन विकाराकारतां व्रजेत् ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि यदि शक्ति कारण के स्वरूपसे भिन्नहै तो कारणके स्वरूपकी तुल्य क्यों नहीं भासती सो ठीक नहीं कि पृथिवीकी शक्ति कार्यकी उत्पत्तिसे पूर्व पृथिवीमें निगूढ (छिपी हुई) रहती है इससे नहीं भासती—कदाचित् कहो कि निगूढ मानोगे तो पीछेसेभी उसकी प्रकटता न होगी सो ठीक नहीं कि जैसे दूधमें अप्रकटभी नवनीत आदिकी मथने आदिसे प्रकटता होती है ऐसेही कुलाल दंड चक्र आदिकी सहायतासे वह शक्तिभी विकारके आकारको प्राप्त होजाती है ॥ ३२॥

पृथुत्वादिविकारांतं स्पर्शादिं चापि मृत्तिकाम् ॥
एकीकृत्य घटं प्राहुर्विचारविकला जनाः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि कारणसे भिन्न शक्तिका कार्य मानोगे तो कार्य कारण-का भेद क्यों प्रतीत नहीं होता इस शंकाका उत्तर विचारके अभावसे देते हैं कि पृथुत्व आदि विकार पर्यंत और स्पर्श आदि और मृत्तिका इन सबको एक करके विचारशून्यजन घट कहते हैं अर्थात् सबके समुदायको घट मान लेते हैं ॥ ३३ ॥

कुलालव्यापृतेः पूर्वो यावानंशः स नो घटः ॥
पश्चात्तु पृथुबुध्नादिमत्त्वे युक्ता हि कुंभता ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—घटका पूर्वोक्त जो व्यवहार उसके विचार मूल होनेमें हेतुको कहतेहैं कि कुलालके व्यापारसे पूर्वभावी जो मिट्टीका अंश घटसे भिन्न है, उसका घटरूपसे व्यवहार नहीं होता इससे घट व्यवहारका मूल अविचार है— और कुलालके व्यापा-रसे पीछे जो पृथुबुध्न आकार है वही घटशब्दका अर्थ है, क्योंकि उस आकारकी उत्पत्तिके अनंतरही घटव्यवहारको देखते हैं— भावार्थ—यह है कि कुलालके व्यापा-रसे पूर्व जो अंश वह घट नहीं है और कुलालके व्यापारके अनंतर जो पृथुबुध्नोदर है वही घटयुक्त है ॥ ३४ ॥

स घटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात् ॥
नाप्यभिन्नः पुरा पिंडदशायामनवेक्षणात् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि पारमार्थिक जो घट वह अनिर्वचनीय शक्तिका कार्य मानना युक्त नहीं सो ठीक नहीं क्योंकि घट पारमार्थिक नहीं होसकता– वह घट मिट्टीसे भिन्न नहीं है क्योंकि मिट्टीसे पृथक् दीख नहीं सकता और अभिन्न अर्थात् मिट्टीरूपभी नहीं है क्योंकि पिंड अवस्थामें उपलब्ध (प्राप्त) नहीं होसकता ॥ ३५॥

अतोऽनिर्वचनीयोयं शक्तिवत्तेन शक्तिजः ॥
अव्यक्तत्वे शक्तिरुक्ता व्यक्तत्वे घटनामभृत् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–इससे यह घटशक्तिके समान अनिर्वचनीय है तिसीसे शक्तिसे उत्पन्न है– कदाचित् कहो कि शक्ति और कार्य दोनों अनिर्वचनीय हैं तो शक्ति और कार्य यह भिन्न भिन्न व्यवहार किससे होता है सो ठीक नहीं कि अव्यक्त अवस्थामें शक्ति कहते हैं और व्यक्त अवस्थामें घट नाम होजाता है ॥ ३६ ॥

ऐंद्रजालिकनिष्ठापि माया न व्यज्यते पुरा ॥
पश्चाद्गंधर्वसेनादिरूपेण व्यक्तिमाप्नुयात् ॥ ३७ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि पूर्व अप्रकट शक्ति पीछेसे प्रकट होती है यह माया-का स्वरूप कहीं प्रसिद्ध नहीं है सो ठीक नही है कि इंद्रजालीकी मायाभी मणिमंत्र आदिके प्रयोगसे पहिले कहीभी प्रगट नहीं होती और पीछे गंधर्वनगर आदि रूपसे प्रगट होजाती है ॥ ३७ ॥

एवं मायामयत्वेन विकारस्यानृतात्मताम् ॥
विकाराधारमृद्वस्तु सत्यत्वं चाब्रवीच्छ्रुतिः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ–शक्तिका कार्य घट आदि मिथ्या और शक्तिका आश्रय मिट्टी आदि सत्य है– यह छांदोग्य श्रुतिमेंभी कहा है कि मायाका कार्य होनेसे घट आदि विकारका मिथ्यारूप और घट आदि विकारोंका आधाररूप जो मिट्टी है वह सत्य रूप, यह छांदोग्यकी इसश्रुतिमें कहा है कि वाणीसे कहनेमात्र जो नाम वह विकार है अर्थात् मिथ्या है और मृत्तिकाही सत्य है ॥ ३८ ॥

वाङ्निष्पाद्यं नाममात्रं विकारो नास्य सत्यता ॥
स्पर्शादिगुणयुक्ता तु सत्या केवलमृत्तिका ॥ ३९ ॥

---

१ वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।

भाषार्थ–अब वाचारंभणं इस पूर्वोक्त वाक्यके अर्थको पढते है कि वाणीरूप इं-द्रियसे उच्चारण किया जो नाममात्र है इससे यह घट आदि सत्य नही हैं अर्थात् नामसे भिन्न इनका पारमार्थिक (सत्य) रूप कोई नही है और स्पर्श आदि पांच गुणोंसे युक्त जो पृथिवी है आश्रयरूप वही सत्य है– और यह सत्यताभी व्यवहार दशामें ही है वस्तुतः वहभी मिथ्या है ॥ ३९ ॥

व्यक्ताव्यक्ते तदाधार इति त्रिष्वाद्ययोर्द्वयोः ॥
पर्यायः कालभेदेन तृतीयस्त्वनुगच्छति ॥ ४० ॥

भाषार्थ–अब शक्ति और उसके कार्य मिथ्या हैं और उनका आधार सत्य है इसमें हेतुको कहते हैं कि घट आदिरूप व्यक्त कार्य और उसका कारणरूप अव्यक्त शक्ति– और इन दोनोंका आधाररूप मिट्टी इन तीनोंके मध्यमें प्रथम कहेहुये दोके संबंधी जो काल हैं उनका भेद विद्यमान है इससे उन दोनोंका पर्याय (क्रमसे होना) होता है और उन दोनोंका आधार जो मिट्टी है वह दोनोंमें अनुगत है अ-र्थात् शक्ति और कार्य ये दोनों कदाचित् हानेसे, मिथ्या हैं और इनका आधार तीनों कालमें अनुगत होनेसे सत्य है ॥ ४० ॥

निस्तत्त्वं भासमानं च व्यक्तमुत्पत्तिनाशभाक् ॥
तदुत्पत्तौ तस्य नाम वाचा निष्पाद्यते नृभिः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ–अब विकारकेही मिथ्यात्वमें तीन हेतु कहते हैं कि व्यक्त शब्दका अर्थ जो घट आदिकार्य है वह स्वरूपसे असत्ही भासता है और उत्पत्ति, नाश, वाला दीखता है, और उत्पत्तिके अनंतरही वाणीसे मनुष्य उसका घट इस नामसे व्यव-हार करते हैं इससे घट मिथ्या है ॥ ४१ ॥

व्यक्ते नष्टेपि नामैतन्नृवक्त्रेष्वनुवर्तते ॥
तेन नाम्ना निरूप्यत्वाद्व्यक्तं तद्रूपमुच्यते ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–और व्यक्त (प्रकट) जो कार्य स्वरूप घट है उसके नष्ट होनेपरभी शब्दका प्रयोग करनेवाले जो मनुष्य उनके मुखमें यह घट शब्द वर्त्तता है इससे नामसेही व्यवहारके योग्य होनेसे घट आदिरूप जो व्यक्त है वह नामरूपही कहा जाता है यहां यह अनुमान है कि विवादका आस्पद जो घट वह घट शब्दरूप होने योग्य है घटशब्दसे व्यवहारके योग्य होनेसे घटशब्दके समान ॥ ४२ ॥

निस्तत्त्वत्वाद्विनाशित्वाद्वाचारंभणनामतः ॥
व्यक्तस्य न तु तद्रूपं सत्यं किंचिन्मृदादिवत् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार तीन हेतुओंको सिद्ध करके अनुमानकी रचनाके प्रकारको सूचित करते हैं घट आदिरूप कार्यका जो पृथुबुध्नोदराकार (वर्तुल और स्थूल उदर) है वह किंचित्‌भी सत्य नहीं क्योंकि उसका कोई वास्तवरूप नहीं और वह मिट्टीके विद्यमान रहतेभी नष्ट होजाता है और वाणीसे पैदा हुआ जो शब्द तद्रूप है यहां यह अनुमान है कि घट आदिरूप कार्य मिथ्या होने योग्य है, निस्तत्व होनेसे, जैसे घट आदिका उपादान मिट्टी, यह केवल व्यतिरेकी है इसीप्रकार अन्य-भी दोनों हेतुओंमें समझना ॥ ४३ ॥

व्यक्तकाले ततः पूर्वमूर्ध्वमप्येकरूपभाक् ॥
सतत्त्वमविनाशं च सत्यं मृद्वस्तु कथ्यते ॥ ४४ ॥

भाषार्थ-इस प्रकार विकारको मिथ्या कहकर अब विकारका आश्रय जो मिट्टी उसको सत्यत्व दिखाते हैं कि व्यक्तकी स्थितिके समय, और व्यक्तकी उत्पत्तिसे पूर्व और व्यक्तके नाश होनेके अनंतरभी एकरूप होनेसे वास्तवरूपसे युक्त है और विकारके संग नाश रहित जो मिट्टीरूप वस्तु वह सत्य कहाती है यहां यह अनुमान है कि विवादका स्थान मृतवस्तु- सत्य होने योग्य है- तत्त्वसहित होनेसे, आ-त्माके समान ॥ ४४ ॥

व्यक्तं घटो विकारश्चेत्येतैर्नामभिरीरितः ॥
अर्थश्चेदनृतः कस्मान्न मृद्बोधे निवर्तते ॥ ४५ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि घट आदि कार्यके समूहको असत्य मानोगे तो वह आरोपित रजत आदिके समान अधिष्ठानके ज्ञानसे बाधित होजायगा यह शंका करते हैं कि व्यक्त (प्रकट) घट, और विकार, इन तीन नामोंसे कहा जो अर्थ (कार्यरूप) उसकी कारणसे भिन्न सत्ता न मानोगे तो मिट्टीरूप कारणके ज्ञान होनेपर उसकी निवृत्ति क्यों नहीं होती ॥ ४५ ॥

निवृत्त एव यस्मात्ते तत्सत्यत्वमतिर्गता ॥
ईदृङ्निवृत्तिरेवात्र बोधजा न त्वभासनम् ॥ ४६ ॥

भाषार्थ-इष्टापत्ति मानकर उक्त शंकाका परिहार कहते हैं कि जिसकारण घट आदिके विषै तेरी सत्य बुद्धि नष्ट होगयी इससे वह घट निवृत्तही होगया- कदाचित् कहो कि आरोप किये रजत आदिरूपकीही अप्रतीति देखते हैं सत्य बुद्धिका नाश नहीं देखते सो ठीक नहीं कि वह निरुपाधिक भ्रम है इससे वहां अप्रतीति रहो- यहां सोपाधिक भ्रममें तो सत्य बुद्धिका जो अपगम (दूर होना) कोही निवृत्ति कहते हैं, इस अभिप्रायसे कहते हैं कि बोधसे पैदा हुई जो ऐसी निवृत्तिहै वही सोपाधिकभ्रममें होतीहै स्वरूपकी अप्रतीति नहीं होतीहै अर्थात् अधिष्ठानके यथार्थरूपके ज्ञानसे घट आदि कार्यकी निवृत्तिही माननी, भानका अभाव नहीं मानना. भावार्थ यहहै कि जिससे तेरी सत्यरूप घटहै यह बुद्धि गई इससे घट निवृत्तहीहै, क्योंकि बोधसे उत्पन्न ऐसी निवृत्तिही यहाँ होतीहै अभान नही होता ॥ ४६ ॥

पुमानधोमुखो नीरे भातोप्यस्ति न वस्तुतः ॥
तटस्थमर्त्यवत्तस्मिन्नैवास्था कस्यचित्क्वचित् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ-पूर्वोक्त निवृत्तिके स्थलको दिखातेहैं कि जलमें अधोमुख दीखताहुआभी पुरुष परमार्थसे नहींहै क्योंकि किसी विवेकी वा अविवेकी मनुष्यकी तिस अधोमुख पुरुषमें तटपर स्थित पुरुषके समान आस्था अर्थात् सत्य यह अभिमान किसी देश वा कालमें नहींहै ॥ ४७ ॥

ईदृग्बोधे पुमर्थत्वं मतमद्वैतवादिनाम् ॥
मृद्रूपस्यापरित्यागाद्विवर्तत्वं घटे स्थितम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहोकि घट आदिके केवल असत्य ज्ञानसे पुरुषार्थ (मोक्ष) की सिद्धि न होगी सो ठीक नहीं कि अद्वैतवादियोंने आत्मानंदसे भिन्न सबके मिथ्या निश्चय होनेपर अद्वितीय आनंदकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) रूप पुरुषार्थ सिद्ध होताहै कदाचित् कहोकि घट मिट्टिका विवर्त सिद्ध भया और मिट्टीके ज्ञानसे घटकी सत्यत्व बुद्धिभी निवृत्त होगई, परंतु यह अबतक सिद्ध नहीं भया सो ठीक नहीं कि मिट्टीके रूपका परित्याग नहीं होता इससे घट विवर्त सिद्ध भया ॥ ४८ ॥

परिणामे पूर्वरूपं त्यजेत्तत्क्षीररूपवत् ॥
मृत्सुवर्णे निवर्तेते घटकुंडलयोर्न हि ॥ ४९ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहोकि घटमें मिट्टिकेरूपका परित्याग मतहो परंतु घटको मृत् (मिट्टी)का परिणाम क्यों नहीं मानते सो ठीक नही कि जहां दूध आदिमें

परिणाम मानते हैं वहां दूध आदि जो पूर्वरूपहै उसका त्याग देखतेहैं-कदाचित् कहो कि विवर्तमें पूर्वरूपके त्यागका अभाव कहां देखाहै सो ठीक नहीं कि मृत् और सुवर्णके विवर्त जो घट और कुंडलहैं उनकी उत्पत्तिके होनेपरभी उनके कारणरूप मृत् और सुवर्णरूप निवृत्त नहीं होते-भावार्थ यहहै कि परिणाममें कारणका पूर्वरूप दूधके रूपके समान नष्ट हो जाताहै और घट और कुंडलमें मृत और सुवर्णकी निवृत्ति नही होती ॥ ४९ ॥

घटे भग्ने न मृद्भावः कपालानामवेक्षणात् ॥
मैवं चूर्णेऽस्ति मृद्रूपं स्वर्णरूपं त्वतिस्फुटम् ॥ ५० ॥

भाषार्थ-अब घट मृत्का विवर्त नहीं होसकता क्यों कि घटके नाश होनेपर फिर मृत्रूप नहीं देखते इस शंकाको करते हैं कि कपालोंकोही घटके नाश पीछे देखतेहै इससे घटनाश होनेपर मृत्रूप नहीं रहता कपालोंके नाश होनेपर मृत्रूप दीखताहै इस आशयसे उक्त शंकाका परिहार करतेहैं कि चूर्ण होनेपर मिट्टीकारूपहै इससे ऐसा मतकहो और कुंडलमें सुवर्णका रूप तो अत्यंत स्फुटहै ॥ ५० ॥

क्षीरादौ परिणामोस्तु पुनस्तद्भाववर्जनात् ॥
एतावता मृदादीनां दृष्टांतत्वं न हीयते ॥ ५१ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहोकि परिणाममें दृष्टांत कहे जो दूध, मृत्, सुवर्ण, आदिहै उनके मध्यमें यदि मृत् और सुवर्णको विवर्तका दृष्टांत मानो तो तैसीही दूधभी दृष्टांत होजायगा इस शंकाको करके कहते हैं कि पुनः (फिर) दही होनेके अनंतर दूधका रूप नहीं होसकता इससे दूध आदिमें परिणाम रहो कदाचित् कहो कि दूधके समान अन्य अवस्थाको प्राप्त हुये जो मृत्सुवर्ण, हैं वेभी दृष्टांत न होंगे सो ठीक नहीं कि इतनेसे अर्थात् दूध आदिको परिणामी होनेसे मृत् सुवर्ण आदिको दृष्टांत होनेमें कुछ हानि नहीं है तात्पर्य यहहै दूध अपनी पूर्व अवस्थाको त्यागकर अन्य अवस्थाको प्राप्त होताहै इससे परिणामी है और मृत्सुवर्ण अन्य अवस्थाके प्राप्त होनेपरभी पूर्वरूपको नहीं त्यागतेहैं-इससे विवर्त है भावार्थ यहहै कि फिर दूधकारूप न होनेसे दूध आदिमें परिणाम रहो ऐसा होनेपर मृत् आदिको दृष्टांत माननेमें कुछ हानि नहीं है ॥ ५१ ॥

आरंभवादिनः कार्ये मृदो द्वैगुण्यमापतेत् ॥
रूपस्पर्शादयः प्रोक्ताः कार्यकारणयोः पृथक् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि मृत् और सुवर्णको परिणाम विवर्तके समान आरंभक भी क्यों अंगीकार नहीं करते सो ठीक नहीं कि आरंभ वादीके मतमें घट आदि रूप कार्यमें मृत्तिका आदि द्रव्यका द्वैगुण्य होजायगा अर्थात् कार्य और कारण इन दोनों-के आकारसे मृत्तिकाभी दूनी होजायगी और ऐसा माननेपर गुरुत्व आदिभी दूने होजायगे क्योंकि कार्य और कारणके रूप और स्पर्श आदि पृथक् २ कहे हैं-भावार्थ यहहै कि आरंभवादीके मतमें कार्यमे मृत्तिका दूनी हो जायगी क्योंकि कार्य कारणके रूप स्पर्श आदि पृथक् २ होते हैं ॥ ५२ ॥

मृत्सुवर्णमयश्चेति दृष्टांतत्रयमारुणिः ॥
प्राहातो वासयेत्कार्यानृतत्वं सर्ववस्तुषु ॥ ५३ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि क्या विवर्तमें मृत् और सुवर्ण दोई दृष्टांतहैं सो ठीक नहीं कि अरुणके पुत्र उद्दालक ऋषिने हे सोम्य! जैसे एक मिट्टीके[1] पिंडसे सब मिट्टीके पदार्थ जाने जातेहैं इससे लेकर और कृष्ण लोहेके पिंडसे जैसे सब लोहेके विकार जाने जातेहैं यहांतक वाक्यके समूहसे कार्यके मिथ्या होनेमें मृत् सुवर्ण और लोहा ये तीन दृष्टांत कहेहैं इससे जैसे बहुतसे मृत् आदिकोंमें कार्यको मिथ्या देखतेहैं ऐसेही भूत भौतिक रूप वस्तु ओंमें कार्यको मिथ्या समझे- भावार्थ यहहै कि अरुणि ऋषिने मृत् सुवर्ण लोहा ये तीन दृष्टांत कहे हैं इससे सब वस्तुओंमें कार्यको मिथ्या समझले ॥ ५३ ॥

कारणज्ञानतः कार्यविज्ञानं चापि सोऽवदत् ॥
सत्यज्ञानेऽनृतज्ञानं कथमत्रोपपद्यते ॥ ५४ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि कार्यको मिथ्यासमझना आरुणिने क्यों कहा सो ठीक नहीं क्योंकि कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञानभी आरुणिने कहा अर्थात् कारणके ज्ञानसे कार्यके ज्ञानार्थ कार्यको मिथ्या वर्णन कियाहै कि हे सौम्य! जैसे एक मिट्टीके पिंडसे सब मिट्टीके विकार जाने जाते हैं-अब यह शंका करतेहैं कि मृत् सुवर्ण आदिरूप पारमार्थिक (सत्य) कारणके जाननेसे उससे विलक्षण (मिथ्यारूप) घट आदिकार्योंका ज्ञान किसप्रकार हो सकताहै-भावार्थ यहहै कि कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान भी आरुणिने कहाहै कदाचित् कहोकि सत्यके ज्ञानसे मिथ्याका ज्ञान कैसे हो सकताहै ॥ ५४ ॥

---

१ यथा सोम्यैकेन मृत्पिंडेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् ।

समृत्कस्य विकारस्य कार्यता लोकदृष्टितः ॥
वास्तवोत्र मृदंशोस्य बोधः कारणबोधतः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—उक्त शंकाका उत्तर अभिप्रायसे देतेहैं कि कार्यके सत्य और मिथ्या दो रूपहैं उन दोनोंमें कारणके ज्ञानसे कार्यमें वर्तमान जो सत्य अंश उसका ज्ञान होता है—मृत्तिका सहित अर्थात् अधिष्ठानरूप मृत्तिकासे युक्त जो आरोपित घट आदिरूप विकार वह कार्यहै अर्थात् लोक दृष्टिसे कार्य कहाताहै—कदाचित् कहोकि ऐसे कहनेसे कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान नहीं होता इस पूर्वोक्त शंकाका कौन परिहार हुआ सो ठीक नहीं कि कार्यके मिथ्यारूप अंशका ज्ञान मतहो परंतु कार्यमें मृत्तिकारूप जो सत्य अंश है उसका ज्ञान कारणके ज्ञानसे होजाताहै अर्थात् कार्यमें जो वास्तव मिट्टीरूप अंशहै उसका बोध कारणके बोधसे होताहै—भावार्थ यहहै कि मृत्तिका सहित जो विकार उसको जगत्में कार्यकहतेहैं उसमें जो वास्तव (सत्य) मिट्टीरूप अंशहै उसका ज्ञान कारणके ज्ञानसे होताहै ॥ ५५ ॥

अनृतांशो न बोद्धव्यस्तद्बोधानुपयोगतः ॥
तत्त्वज्ञानं पुमर्थं स्यान्नानृतांशावबोधनम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहोकि कार्यके सत्य अंशके समान मिथ्या अंशभी जानने योग्यहै सो ठीक नहीं कि मिथ्या अंश जानने योग्य नहींहै क्योंकि उसके ज्ञानका कुछ उपयोग नहींहै—प्रयोजनके अभावकोही दिखाते हैं कि बाधके अयोग्य जो तत्ववस्तु है उसका ज्ञान पुरुषके प्रयोजनार्थ है और मिथ्या अंशका जो ज्ञान है वह मनुष्यके प्रयोजनार्थ नहीं होताहै ॥ ५६ ॥

तर्हि कारणविज्ञानात्कार्यज्ञानमितीरिते ॥
मृद्बोधान्मृत्तिका बुद्धेत्युक्तं स्यात्कोत्र विस्मयः ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि कारणके ज्ञानसे कार्यका ज्ञान होताहै इस कहनेसे श्रोताकी बुद्धिमें कुछ चमत्कार हुआ सो ठीक नहीं इस अभिप्रायसे शंका करतेहै कि मृत् आदिकारणके ज्ञानसे कार्यके मृत्तिका आदि सत्यअंशका ज्ञान होताहै यह कहनेसे यही कहागया कि मृत्तिकाके ज्ञानसे मृत्तिकाकाही ज्ञान होताहै इस कहनेमें शब्दोंका चमत्कारहै अर्थका नहीं ॥ ५७ ॥

सत्यं कार्येषु वस्त्वंशः कारणात्मेति जानतः ॥
विस्मयो मास्त्विहाज्ञस्य विस्मयः केन वार्यत ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—उक्त शंकाका इस अभिप्रायसे परिहार करतेहैं कि ऐसे विवेकियोंको विस्मय मतहो विवेकसे शून्योंको तो विस्मय होताहीहै कि घट आदि कार्योंमें विद्यमान जो वास्तव अंशहै वह कारणरूपहै यह जो जानते हैं उनको आश्चर्य मतहो – अन्य जो तत्वज्ञानसे शून्यहै उनको पैदा हुवा जो आश्चर्य उसको कौन हट सकताहै ॥ ५८ ॥

आरंभी परिणामी च लौकिकश्चैककारणे ॥
ज्ञाते सर्वमतिं श्रुत्वा प्राप्नुवंत्येव विस्मयम् ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—अज्ञानीको विस्मय होताहै इस पूर्वोक्त अर्थका विस्तारसे वर्णन करते हैं कि जो समवायी असमवायी निमित्त इन तीनों कारणोंसे भिन्न कार्यकी उत्पत्ति माने वह आरंभी होताहै जिसमें समवाय (नित्य) संबंधसे कार्य पैदाहो वह समवायी कारण और जैसे कपाल घटका और समवायी कारणमें जो समवाय संबंधसे रहै वह असमवायी कारण होताहै जैसे कपालोंका संयोग घटका-इन दोनोंसे जो भिन्न वह निमित्त कारण होताहै जैसे घटके चक्र चीवर आदि पूर्वरूपके परित्यागसे अन्यरूपकी प्राप्ति माने वह परिणामी—इन दोनों प्रक्रियाओंको जो न जाने और लोक व्यवहारकोही जानै वह लौकिक कहाताहै इन तीनों कारणोंके मध्यमें एककारणके ज्ञानसे अनेक कार्योंका विज्ञान होताहै इस वाक्यके श्रवणसे विस्मय अवश्य होताहै-भावार्थ यहहै कि आरंभी परिणामी लौकिक ये तीनों मनुष्य एक कारणके ज्ञानसे सबके ज्ञानको सुनकर विस्मयको अवश्य प्राप्त होताहै ॥ ५९ ॥

अद्वैतेभिमुखीकर्तुमेवात्रैकस्य बोधतः ॥
सर्वबोधः श्रुतौ नैव नानात्वस्य विवक्षया ॥ ६० ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि यथाश्रुत (सीधे) अर्थको छोडकर इस प्रकारके अर्थ करनेमें क्या कारणहै इस शंकाको करके, यह उत्तर देतेहैं कि श्रुतिका यथाश्रुत अर्थमें तात्पर्य नहीं है कि अद्वैतके ज्ञानमें शिष्यको अभिमुख करनेकेलिये छांदोग्यकी श्रुतिमें एक कारणके विज्ञानसे सब कार्योंका विज्ञान कहाहै कुछ अनेक कार्योंके विज्ञानकेलिये नहीं ॥ ६० ॥

एकमृत्पिंडविज्ञानात्सर्वमृन्मयधीर्यथा ॥
तथैकब्रह्मबोधेन जगद्बुद्धिर्विभाव्यताम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—अब एकके ज्ञानसे सबके ज्ञानमें दृष्टांतका बोधक जो—हे सोम्य! जैसे एक

मृत्के पिंडसे सब मृत्तिकाके विकार जाने जाते हैं-यह वाक्य उसके अर्थका निरूपण करके-दार्ष्टांतिकका बोधक जो यह वाक्य कि क्या तुमने वह पूछाहै जिससे विनासुना सुनाजाताहै विना माना माना जाताहै और विनाजाना जाना जाताहै-उसके अर्थको दिखाते हुये प्रकरणमें जो फलित हुआ उसका वर्णन करतेहैं कि जैसे घट शराव आदिका उपादान जो एक मृत्तिकाका पिंड उसके ज्ञानसे उसके विकार जो संपूर्ण घट आदिहैं उनका बोध होताहै ऐसेही एक ब्रह्मके बोधसे कार्यरूप संपूर्ण जगत्का बोध जानना ॥ ६१ ॥

सच्चित्सुखात्मकं ब्रह्म नामरूपात्मकं जगत् ॥
तापनीये श्रुतं ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि जबतक ब्रह्म और जगत्के स्वरूपका ज्ञान न होले तबतक यह कैसे कहसकते हैं कि ब्रह्मज्ञानसे जगत्का ज्ञान होताहै इस शंकाको करके पूर्वोक्त ज्ञानकेलिये ब्रह्म और जगत् इन दोनोंके स्वरूपको कहतेहैं कि सत् चित् सुखरूप ब्रह्महै और नामरूपात्मक जगत्है-अब ब्रह्मके सत् चित् आनंदरूप होनेमें प्रमाण कहतेहैं कि उत्तरतापनीय उपनिषद्में ब्रह्मका सच्चिदानंदलक्षण कहाहै अर्थात् यह संपूर्ण जगत् सत् चित् आनंद मात्रहै इस वचन आदिसे सच्चित् आनंदरूप ब्रह्म कहाहै ॥ ६२ ॥

सद्रूपमारुणिः प्राह प्रज्ञानं ब्रह्म बह्वृचः ॥
सनत्कुमार आनंदमेवमन्यत्र गम्यताम् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ-अब आदि शब्दसे कहनेको अभीष्ट जो श्रुति उनको दिखातेहैं कि अरुणके पुत्र उद्दालकने ब्रह्मको सद्रूप और बह्वृचोंने ऐतरेयोपनिषद्में प्रज्ञाको प्रतिष्ठा (आश्रय) कहकर प्रज्ञान ब्रह्म-और पूर्वोक्त छांदोग्य श्रुतिमें सनत्कुमारने नारदशिष्यके प्रति-वह ब्रह्म भूमा जानने योग्यहै यह आरंभ करके जो भूमा वह सुखहै इस प्रकार भूमा शब्दके अर्थ ब्रह्मको आनंदरूप-कहाहै अर्थात् इन वचनों से सत् आदिरूपका जिस २ ने वर्णन कियाहै-इसी प्रकार तैत्तिरीय आदि श्रुतिमें आनंद ब्रह्मके जानताभया इत्यादि वचनोंसे जो आनंदरूप कहाहै वहभी जानना-भावार्थ यहहै कि आरुणिने सत्रूप और बह्वृचोंने प्रज्ञानरूप और सनत्कुमारने आनंदरूप-ब्रह्म कहाहै-इसी प्रकार अन्यत्रभी जानो ॥ ६३ ॥

---

१ उत तमादेशमप्राक्षो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् । २ ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानंदमात्रम् । ३ सदेव सौम्येदमग्र आसीत् प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः योवैभूमा तत्सुखम् । ४ आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात् ।

विचिंत्य सर्वरूपाणि कृत्वा नामानि तिष्ठति ॥
अहं व्याकरवाणीमे नामरूपे इति श्रुतेः ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–अब सत् चित् आनंदोंके समान नामरूपोंमें भी श्रुतिको दिखातेहैं कि संपूर्ण रूपोंको करके और धीर (ब्रह्म) नामोंको करके जिससे उच्चारण करता टिकताहै–इस जीवरूप आत्मासे प्रविष्ट होकर नामरूप मैं करूंगा यह श्रुतिहै॥६४॥

अव्याकृतं पुरा सृष्टेरूर्ध्वं व्याक्रियत द्विधा ॥
अचिंत्यशक्तिर्मायैषा ब्रह्मण्यव्याकृताभिधा ॥ ६५ ॥

भाषार्थ–उसमेंही अन्य श्रुतिको कहतेहैं कि बृहदारण्यक श्रुतिमें इस श्रुतिसे रचे हुये जगत्को नामरूपात्मक दिखायाहै कि सृष्टिसे पूर्व यह जगत्–अप्रकट नामरूपात्मक हुआ और पीछेसे अर्थात् सृष्टिकेसमय वाच्य वाचक (अर्थ शब्द) भाव दो रूपसे प्रकट होताहै अब वह जगत् उस समय अव्याकृत हुआ इसमें जो अव्याकृत शब्द उसके अर्थको कहतेहैं कि जो यह अचिंत्य शक्ति ब्रह्मकी मायाहै वही अव्याकृत शब्दका अर्थहै–भावार्थ यहहै कि सृष्टिसे पूर्व यह जगत् अव्याकृत हुआ और सृष्टिके समय नामरूप भेदसे दोप्रकारका होताहै और ब्रह्मकी जो अचिंत्य शक्ति मायाहै उसको अव्याकृत कहतेहैं ॥ ६५ ॥

अविक्रियब्रह्मनिष्ठा विकारं यात्यनेकधा ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ–वह माया नामरूपसे विकारको प्राप्त होतीहै इस पूर्वोक्त वचनके अर्थको कहते हैं कि विकारसे रहित जो ब्रह्म उसमें वर्तमान वह मायारूप शक्ति–भूतभौतिक प्रपंचरूपसे अनेकप्रकारके विकार (परिणाम) को प्राप्त होतीहै–ब्रह्ममें मायाके वर्तनेमें प्रमाण कहते हैं कि पूर्वोक्त मायाको प्रकृति अर्थात् उपादान कारण जानै–और मायी (मायाकाआश्रय) को महेश्वर अर्थात् मायाका नियामक जानै ॥ ६६ ॥

आद्यो विकार आकाशः सोस्ति भात्यपि च प्रियः ॥
अवकाशस्तस्य रूपं तन्मिथ्या न तु तत्त्रयम् ॥ ६७ ॥

---

(१) सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते–अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि । २ तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतासौनामाहमिदंरूपः ।

भाषार्थ-अब मायासे उपाहित (युक्त) ब्रह्मके प्रथमकार्य को कहतेहैं कि मायाका प्रथम विकार आकाशहै वह अस्ति भाति प्रिय (सत् चित् आनंद) रूपहै और उसका स्वाभाविकरूप अवकाशहै परंतु वह मिथ्याहै और पहिले सत् आदि तीनों रूप सत्यहैं ॥ ६७ ॥

न व्यक्तेः पूर्वमस्त्येव न पश्चाच्चापि नाशतः ॥
आदावंते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ॥ ६८ ॥

भाषार्थ-अब चौथे रूपके मिथ्या होनेमें हेतु कहते हैं कि जो व्यक्ति(प्रकटहोना) से पूर्व नहो और नाशके अनंतर इससे आदि अंतमें जो नहो वह वस्तु वर्तमान कालमेंभी तथाही है अर्थात् नहीं है इससे यह शंका नहीं करनी कि उत्पत्ति और नाशके मध्यमें वर्तमान अवकाश किसप्रकार मिथ्या होसकता है ॥ ६८ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ॥
अव्यक्तनिधनान्येवेत्याह कृष्णोर्जुनं प्रति ॥ ६९ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त अर्थमें श्रीकृष्णका वचन प्रमाण देते हैं कि श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रति यह कहा है कि हेभारत । इन भूतोंकी आदि, अव्यक्त (प्रकृति) है, और मध्यमें ये भूत व्यक्त (प्रकट) होजाते हैं और अव्यक्तमेंही इनका निधन (लय) होता है ॥ ६९ ॥

मृद्वत्ते सच्चिदानंदा अनुगच्छंति सर्वदा ॥
निराकाशे सदादीनामनुभूतिर्निजात्मनि ॥ ७० ॥

भाषार्थ-अब सत् आदि तीनों रूपोंकी अवकाशमें सत्ता होनेमें अनुभव प्रमाण देते हैं कि वे सत् चित् आनंद इसप्रकार सब कालमें अनुगत रहते हैं जैसे घट आदिकोंमें मृत्तिका- कदाचित् कहो कि अवकाशको छोडकर सत् आदि तीन रूप कहां देखे हैं यह शंका करके कहते हैं कि आकाश रहित अपने आत्मामें सत् आदिका अनुभव होता है ॥ ७० ॥

अवकाशे विस्मृतेऽथ तत्र किं भाति ते वद ॥
शून्यमेवेति चेदस्तु नाम तादृग्विभाति हि ॥ ७१ ॥

भाषार्थ-सोई कहते हैं कि अवकाशके विस्मरण होनेपर आपको क्या भासता है सो कहो कदाचित् कहो कि अवकाशके विस्मरणमें शून्यही भासता है- इस शंका-

का परिहार, अंगिकार करके करते हैं कि शून्य रहो अर्थात् शब्दसे शून्यको तुम मानो अर्थसे तो अवकाशका अभाव जो विशेषण उसके विशेष्यरूपसे प्रतीयमान कोई वस्तु है यह मानना पड़ैगा यही कहते हैं कि जो तादृश भासता है वही सत् आदिरूप ब्रह्म है यहां हि शब्द जगत्‌की प्रसिद्धि जतानेके लिये है ॥ ७१ ॥

तादृक्त्वादेव तत्सत्त्वमौदासीन्येन तत्सुखम् ॥
आनुकूल्यप्रातिकूल्यहीनं यत्तन्निजं सुखम् ॥ ७२ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि ऐसे रहो प्रकरणमें क्या आया यह शंकाकरके उत्तर देते हैं विशेष्य रूपसे जो प्रतीत होता है उसका स्वरूप मानना चाहिये इसका वर्णन करते हैं कि तादृश होनेसेही वह सत् है जिससे उदासीनतामें वह सुखरूप होगा इससे उदासीनताका विषय होनेसे वह सुखरूप है, कदाचित् कहो कि अनुकूलता रहितको सुख स्वरूप कैसे कहोगे, सो ठीक नहीं कि अनुकूलता और प्रतिकूलतासे जो हीनहो वही निजसुख होता है ॥ ७२ ॥

आनुकूल्ये हर्षधीः स्यात्प्रातिकूल्ये तु दुःखधीः ॥
द्वयाभावे निजानंदो निजदुःखं न तु क्वचित् ॥ ७३ ॥

भाषार्थ–सोई वर्णन करते हैं कि अनुकूल मानोगे तो हर्ष (आनंद) बुद्धि, हो जायगी और प्रतिकूल मानोगे तो दुःख बुद्धि, होजायगी कदाचित् कहो कि निजानंदके समान निज दुःखकोभी क्यों नहीं मानते यह शंका करके कहते हैं कि दोनोंके अभावमें निजानंदही भासता है कदाचित्भी निज दुःख नहीं भासता है अर्थात् दुःख निजरूप ही नहीं होसकता है ॥ ७३ ॥

निजानंदे स्थिरे हर्षशोकयोर्व्यत्ययः क्षणात् ॥
मनसः क्षणिकत्वेन तयोर्मानसतेष्यताम् ॥ ७४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि निजानंदको सदानंद रूप होनेसे सदा हर्ष ही होगा शोक न होगा इस शंकाका समाधान इस आशयसे करते हैं कि वह नित्य रहो परंतु उसका ग्राहक, मन, क्षणिक है इससे मानस सुख दुःखभी क्षणिक होते हैं कि स्थिररूपभी निजानंदमें क्षणमात्रमें हर्ष और शोकका व्यत्यय होजाता है क्यों कि मन क्षणिक है इससे हर्ष शोकभी मानस (क्षणिक) मानने इष्ट हैं ॥ ७४ ॥

आकाशेऽप्येवमानंदः सत्ताभाने तु संमते ॥
वाय्वादिदेहपर्यंतं वस्तुष्वेवं विभाव्यताम् ॥ ७५ ॥

भाषार्थ—अब दृष्टांतमें सिद्ध अर्थको दार्ष्टांतिकमें युक्त करते हैं कि जैसा आनंद निजात्मामें है वैसाही आनंद आकाशमें है और सत्ता और भानको तो आपभी मानते हो इससे उनके कहनेकी आवश्यकता नहीं है इसी प्रकार वायु आदि देह पर्यंत वस्तुओंमें विचार करना ॥ ७५ ॥

गतिस्पर्शौ वायुरूपं वह्नेर्दाहप्रकाशने ॥
जलस्य द्रवता भूमेः काठिन्यं चेति निर्णयः ॥ ७६ ॥

भाषार्थ—अब वायु आदिके असाधारण धर्मोंको दिखाते हैं कि गमन और स्पर्श वायुके, और दाह और प्रकाश अग्निके, और जलका द्रवत्व, और भूमिका कठिनता रूप असाधारण होते हैं ॥ ७६ ॥

असाधारण आकार औषध्यन्नवपुष्यपि ॥
एवं विभाव्यं मनसा तत्तद्रूपं यथोचितम् ॥ ७७ ॥

भाषार्थ—इसी प्रकार औषध अन्न देह, इनमेंभी असाधारण आकार होताहै इसी प्रकार तिस २ का यथोचित रूप विचारने योग्य है ॥ ७७ ॥

अनेकधा विभिन्नेषु नामरूपेषु चैकधा ॥
तिष्ठंति सच्चिदानंदा विसंवादो न कस्यचित् ॥ ७८ ॥

भाषार्थ—अनेक प्रकारसे भिन्न२नाम रूपोंमें एक प्रकारसे सत् चित् आनंद टिकते हैं इसमें विसंवाद किसीको नहीं है ॥ ७८ ॥

निस्तत्त्वे नामरूपे द्वे जन्मनाशयुते च ते ॥
बुद्ध्या ब्रह्मणि वीक्षस्व समुद्रे बुद्बुदादिवत् ॥ ७९ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहो कि प्रतीयमान जो नामरूप उनकी क्या गति होगी यह शंका करके नाम रूपको कल्पित कहते हैं कि नामरूप दोनों कल्पित हैं और वे दोनों जन्म और नाशसे युक्त है यह बात ब्रह्ममें इस प्रकार देखो जैसे समुद्रमें बुद्बुद (बुलबुले) प्रतीति मात्र हैं ॥ ७९ ॥

सच्चिदानंदरूपेऽस्मिन्पूर्णे ब्रह्मणि वीक्षिते ॥
स्वयमेवावजानाति नामरूपे शनैः शनैः ॥ ८० ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्त ज्ञानके फलको कहते हैं कि इस सच्चिदानंद पूर्ण ब्रह्मके

ज्ञान होनेपर मनुष्य स्वयंही शनैः २ दोनों नाम रूपोंकी अवज्ञा (तिरस्कार) कर देताहै ॥ ८० ॥

यावद्यावदवज्ञा स्यात्तावत्तावत्तदीक्षणम् ॥
यावद्यावद्दीक्ष्यते तत्तावत्तावदुभे त्यजेत् ॥ ८१ ॥

भाषार्थ–ब्रह्मज्ञानकी दृढताके लिये द्वैतकी अवज्ञा करनी इसका इसलिये वर्णन करते हैं कि वह दृढता द्वैतकी अवज्ञासे होती है– जितनी २ द्वैतकी अवज्ञा होती है उतना २ ही ब्रह्मका ज्ञान होताहै और जितना २ ब्रह्मका दर्शन होताहै उतने २ ही वे दोनों नामरूप त्यागे जाते हैं ॥ ८१ ॥

तदभ्यासेन विद्यायां सुस्थितायामयं पुमान् ॥
जीवन्नेव भवेन्मुक्तो वपुरस्तु यथा तथा ॥ ८२ ॥

भाषार्थ–अब दोनोंके अभ्यासका फल कहते हैं कि तिस प्रकारके अभ्याससे विद्या (ज्ञान)के भलीप्रकार स्थित होनेपर यह मनुष्य जीवन्मुक्त होजाता हैं देह चाहै जैसा रहो ॥ ८२ ॥

तच्चिंतनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ॥
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥ ८३ ॥

भाषार्थ–अब ब्रह्मके अभ्यासका स्वरूप कहते हैं कि ब्रह्मका चिंतन ब्रह्मका कथन और परस्पर ब्रह्मका प्रबोधन (समझना) और ब्रह्ममेंही एकाग्र मनसे तत्पर रहना इसको बुद्धिमान् मनुष्योंने ब्रह्मका अभ्यास कहाहै ॥ ८३ ॥

वासनानेककालीना दीर्घकालं निरंतरम् ॥
सादरं चाभ्यस्यमाने सर्वथैव निवर्तते ॥ ८४ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि अनादि कालसे भासते हुये द्वैतकी, कदाचित् हुये ज्ञानके अभ्याससे कैसे निवृत्ति होगी सो ठीक नहीं कि अनेक कालकी जो वासना है वह बहुत कालतक और निरंतर आदरसे किये ब्रह्मके अभ्याससे सर्वथा निवृत्त हो जाती है ॥ ८४ ॥

मृच्छक्तिवद्ब्रह्मशक्तिरनेकाननृतान्सृजेत् ॥
यद्वा जीवगता निद्रा स्वप्नश्चात्र निदर्शनम् ॥ ८५ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि एक ब्रह्म अनेक आकारके जगत्का हेतु नहीं होसकता सो ठीक नहीं कि मृत्तिकाकी शक्तिके समान ब्रह्म शक्ति (माया) अनेक अनृत (मिथ्या) पदार्थोंको रचेगी कदाचित् कहो कि मृत्तिकाकी शक्ति सत्य है वह अनेकका हेतु रहो असत् रूप माया कैसे रचेगी इससे दृष्टांत विषम है सो ठीक नहीं कि अथवा जीवकी निद्रा और स्वप्न यहां दृष्टांत है अर्थात् जैसे निद्रा स्वप्नको रचती है ऐसेही मायाभी रचेगी ॥ ८५ ॥

निद्राशक्तिर्यथा जीवे दुर्घटस्वप्नकारिणी ॥
ब्रह्मण्येषा स्थिता माया सृष्टिस्थित्यंतकारिणी ॥ ८६ ॥

भाषार्थ–अब दृष्टांतको स्पष्ट रीतिसे कहते हैं कि जैसे जीवको निद्रा शक्ति जीवमें दुर्घट स्वप्नको करती है इसी प्रकार ब्रह्ममें स्थित यह माया सृष्टि और स्थिति और अंतको करती है ॥ ८६ ॥

स्वप्ने वियद्गतिं पश्येत्स्वमूर्द्धच्छेदनं यथा ॥
मुहूर्ते वत्सरौघं च मृतपुत्रादिकं पुनः ॥ ८७ ॥

भाषार्थ–अब दुर्घट करनेकोही दिखाते हैं कि जैसे मनुष्य स्वप्नमें आकाशका गमन और अपने मस्तकका छेदन और मुहूर्तमात्रमें वर्षोंका समूह और मृत पुत्रको भी फिर देखता है, ऐसेही माया दुर्घटको रचती है ॥ ८७ ॥

इदं युक्तमिदं नेति व्यवस्था तत्र दुर्लभा ॥
यथायथेक्ष्यते यद्यत्तत्तद्युक्तं तथा तथा ॥ ८८ ॥

भाषार्थ–अब स्वप्नमें दुर्घटहोनेमें हेतु कहते हैं कि स्वप्नमें यह व्यवस्था दुर्लभ है कि यह युक्त है और युक्तनहीं है किंतु जो २ पदार्थ जैसे २ देखाजाताहै वह २ तिसी २ प्रकार युक्तहोताहै ॥ ८८ ॥

ईदृशो महिमा दृष्टो निद्राशक्तेर्यदा तदा ॥
मायाशक्तेरचिंत्योयं महिमेति किमद्भुतम् ॥ ८९ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त न्यायको कैमुतिकन्यायसे स्पष्टकरते हैं कि जब निद्राशक्तिकी ऐसी महिमा देखीहै तो मायाशक्तिकी यह अचिंत्य महिमाहै इसमें क्या अद्भुतहै अर्थात् कुछ नहीं है मायामें सब बनसकताहै ॥ ८९ ॥

शयाने पुरुषे निद्रा स्वप्नं बहुविधं सृजेत् ॥
ब्रह्मण्येवं निर्विकारे विकारान्कल्पयत्यसौ ॥ ९० ॥

भाषार्थ—अब यत्नसे रहित जो ब्रह्म उसकी माया जगत्का हेतु हैं इसमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे सोते हुये मनुष्यकी निद्रा अनेक प्रकारके स्वप्नको रचतीहै इसी प्रकार निर्विकारब्रह्ममें वर्तमान यह मायाभी अनेक प्रकारके विकारोंकी कल्पना करतीहै ॥ ९० ॥

खानिलाग्निजलोर्व्यंडलोकप्राणिशिलादिकाः ॥
विकाराः प्राणिधीष्वंतश्चिच्छाया प्रतिबिंबिता ॥ ९१ ॥

भाषार्थ—अब मायाके रचे पदार्थोंको दिखातेहैं कि आकाश पवन अग्नि जल पृथ्वि अंड लोक प्राणी शिला आदि विकारहैं कदाचित् कहो कि सब पदार्थ जब पांचभौतिक होनेसे समानहैं तो कोई जड और कोई चेतन यह कैसे होसकताहै सो ठीक नहीं कि प्राणियोंके अंतःकरणमें चैतन्यके प्रतिबिंब पडनेसे चेतन और न पडनेसे जड व्यवहार होताहै ॥ ९१ ॥

चेतनाचेतनेष्वेषु सच्चिदानंदलक्षणम् ॥
समानं ब्रह्म भिद्येते नामरूपे पृथक् पृथक् ॥ ९२ ॥

भषार्थ—कदाचित् कहो कि चेतन अचेतनका विभाग चित्रूप ब्रह्मका कियाही क्योंनहीं मानते सो ठीक नहीं कि चेतन अचेतनरूप इन आकाश आदि पदार्थोंमें सत् चित् आनंद लक्षण ब्रह्म समानहै इसीसे सबका उपादान ब्रह्म सर्वत्र समरूप होनेसे चेतन अचेतनके विभागका कारण नहीं होसकता और नामरूप ये दोनों भिन्न २ है ॥ ९२ ॥

ब्रह्मण्येते नामरूपे पटे चित्रमिव स्थिते ॥
उपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानंदधीर्भवेत् ॥ ९३ ॥

भाषार्थ—अब ब्रह्म जड पदार्थोंमें भी साधारणहै इसमें हेतुको कहतेहैं कि ब्रह्ममें यो दोनों नामरूप इस प्रकार स्थितहैं जैसे पटमें चित्ररूप अर्थात् सबका आधार ब्रह्म सर्वगतहै वह कैसे जाना जाताहै इस शंकाके उत्तरको कहतेहैं कि दोनों नामरूपोंकी उपेक्षा करके सत् चित् आनंदरूप ब्रह्मका ज्ञान होजाताहै अर्थात् कल्पित नामरूपके त्यागसे अधिष्ठान रूप ब्रह्म जाना जाताहै ॥ ९३ ॥

जलस्थेऽधोमुखे स्वस्य देहे दृष्टेप्युपेक्ष्य तम् ॥
तीरस्थ एव देहे स्वे तात्पर्यं स्याद्यथा तथा ॥ ९४ ॥

भाषार्थ–पूर्वोक्त अर्थमें दृष्टांत देतेहैं कि जलमें वर्तमान और अधोमुख अपने देहको देख करभी जलके देहकी उपेक्षा करके अर्थात् असत्य समझकर जैसे तीरपर स्थित अपने देहमेंही तात्पर्य (ममता) बुद्धि होतीहै इसी प्रकार नामरूपोंको त्यागकर ब्रह्ममें सत्य बुद्धि होती है ॥ ९४ ॥

सहस्रशो मनोराज्ये वर्तमाने सदैव तत् ॥
सर्वैरुपेक्ष्यते यद्वदुपेक्षा नामरूपयोः ॥ ९५ ॥

भाषार्थ–अब संपूर्ण मनुष्योंमें प्रसिद्ध अन्य दृष्टांतको कहते हैं कि जैसे सहस्रोंवार किये मनोराज्यके विद्यमान होनेपरभी संपूर्ण मनुष्य उपेक्षा करते हैं इसी प्रकार नामरूपकीभी उपेक्षा करने योग्य है ॥ ९५ ॥

क्षणे क्षणे मनोराज्यं भवत्येवान्यथाऽन्यथा ॥
गतं गतं पुनर्नास्ति व्यवहारो बहिस्तथा ॥ ९६ ॥

भाषार्थ–अब प्रपंचकी विचित्रतामें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे मनका राज्य क्षण २ में भिन्न २ प्रकारका होताहै और नष्ट हुआ २ फिर नहीं आताहै–इसी प्रकार व्यवहारभी क्षण २ में अन्यथा २ होकर फिर नहीं आताहै ॥ ९६ ॥

न बाल्यं यौवने लभ्यं यौवनं स्थाविरे तथा ॥
मृतः पिता पुनर्नास्ति नायात्येव गतं दिनम् ॥ ९७ ॥

भाषार्थ–पूर्वोक्तकाही विवरण करते हैं कि यौवन अवस्थामें बाल्य और तैसेही वृद्ध अवस्थामें यौवन नहीं मिलसकता और मृत पिता और गया दिन ये फिर नहीं आतेहैं ॥ ९७ ॥

मनोराज्याद्विशेषः कः क्षणध्वंसिनि लौकिके ॥
अतोऽस्मिन् भासमानेपि तत्सत्यत्वधियं त्यजेत् ॥ ९८ ॥

भाषार्थ–अब द्वैतकी क्षणिकता को समाप्त करते हैं कि क्षणमात्रमें है विध्वंस जिसका ऐसे लौकिक पदार्थका मनोराज्यसे क्या विशेष (भेद) है इससे लौकिकके भासमान होनेपरभी लौकिक पदार्थमें सत्य बुद्धिको त्यागदे ॥ ९८ ॥

उपेक्षिते लौकिके धीर्निर्विघ्ना ब्रह्मचिंतने ॥
नटवत्कृत्रिमास्थायां निर्वहत्येव लौकिकम् ॥ ९९ ॥

भाषार्थ-अब लौकिककी उपेक्षासे ब्रह्ममें स्थिर बुद्धिके लाभका वर्णन करते हैं कि लौकिककी उपेक्षा करनेसे ब्रह्मके चिंतनमें बुद्धि निर्विघ्न होजातीहै कदाचित् कहो कि ज्ञानीका व्यवहार लौकिककी उपेक्षा करनेसे कैसे होगा सो ठीक नहीं कि कृत्रिम अवस्थामें जैसे नट तिस २ व्यवहारको करताहै इसी प्रकार ज्ञानीभी लौकिक व्यवहारका निर्वाह करता है ॥ ९९ ॥

प्रवहत्यपि नीरेऽधः स्थिरा प्रौढशिला यथा ॥
नामरूपान्यथात्वेपि कूटस्थं ब्रह्म नान्यथा ॥ १०० ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहोकि ज्ञानीको व्यवहार मानोगे तो विकारी होजायगा यह शंका करके बुद्धिके व्यवहार करनेपरभी उसका साक्षी आत्मा निर्विकारहै इस बातका दृष्टांत पूर्वक वर्णन करते हैं कि जलके अपने ऊपर वहते हुयेभी नीचे स्थित भारी शिला जैसे चलायमान नहीं होती इसी प्रकार बुद्धिके संसारभावको प्राप्त होनेपरभी कूटस्थ ब्रह्म अन्यथा नहीं होता अर्थात् ज्ञानी संसारको प्राप्त नहीं होता ॥ १०० ॥

निश्छिद्रे दर्पणे भाति वस्तुगर्भं बृहद्वियत् ॥
सच्चिद्घने तथा नाना जगद्गर्भमिदं वियत् ॥ १०१ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि अखंडब्रह्ममें उससे विलक्षण जगत् कैसे भासताहै सो ठीक नहीं कि जैसे छिद्ररहित दर्पणमें वस्तुहै गर्भमें जिसके ऐसा महान् आकाश भान होताहै इसीप्रकार सत् चित् घन ब्रह्ममें नाना प्रकारका जगत् है गर्भमें जिसके ऐसा आकाश भासताहै ॥ १०१ ॥

अदृष्ट्वा दर्पणं नैव तदंतस्थेक्षणं तथा ॥
अमत्वा सच्चिदानंदं नामरूपमतिः कुतः ॥ १०२ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि दर्शनके अयोग्य ब्रह्ममें कैसे जगत् प्रतीत होताहै सो ठीक नहीं कि जैसे दर्पणके विनादेखे दर्पणमें स्थित वस्तुका देखना नहीं होसकता इसी प्रकार सच्चिदानंदकी प्रतीतिके विना नामरूपात्मक जगत्कीभी प्रतीति कैसे होसकतीहै अर्थात् सच्चिदानंदके ज्ञानद्वाराही प्रतीति होतीहै ॥ १०२ ॥

प्रथमं सच्चिदानंदे भासमानेऽथ तावता ॥
बुद्धिं नियम्य नैवोर्ध्वं धारयेन्नामरूपयोः ॥ १०३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो कि नामरूपकेभी भाननेसे निर्विषय ब्रह्मकी प्रतीति कैसे होगी यह शंका करके ब्रह्म बुद्धिका उपाय कहते हैं कि प्रथम सच्चिदानंद ब्रह्मके भासमान होनेपर अर्थात् ब्रह्ममें कल्पित नामरूपात्मक प्रपंचमें सच्चिदानंदमात्रकेविषै बुद्धिका नियमन (रोकना) करके उसके अनंतर नामरूपमें बुद्धिको न धारण करै ॥ १०३ ॥

एवं च निर्जगद्ब्रह्म सच्चिदानंदलक्षणम् ॥
अद्वैतानंद एतस्मिन्विश्राम्यंतु जनाश्चिरम् ॥ १०४ ॥

भाषार्थ–अब फलितका वर्णन करतै हैं कि ऐसे माननेपर जगत्से भिन्न ब्रह्म सच्चिदानंद रूपहै–इस पूर्वोक्त अद्वैतानंदमें मनुष्य चिरकालतक विश्राम करो ॥ १०४ ॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे तृतीयोध्याय ईरितः ॥
अद्वैतानंद एव स्याज्जगन्मिथ्यात्वचिंतया ॥ १०५ ॥

भाषार्थ–अब अध्यायके अर्थको समाप्त करते हैं कि ब्रह्मानंद नामके ग्रंथमें पांचवां अद्वैतानंद नामका अध्याय वर्णन किया क्यों कि जगत्की मिथ्यात्व चिंतासे मनुष्य अद्वैतानंद (ब्रह्म) ही होजाताहै ॥ १०५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्विद्यारण्यमुनिविरचिते ब्रह्मानंदे अद्वैतानंदो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति श्रीपरमंहस०श्रीविद्यारण्यमुनिरचितपंचदश्यां पं०मिहिरचंद्रकृत भाषाविवृतिसहितायां ब्रह्मानंदे अद्वैतानंदोनाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इत्यद्वैतानंदप्रकरणं त्रयोदशम् ॥ १३ ॥

श्रीः ।

पञ्चदशी ।

भाषाटीकासमेता ।

ब्रह्मानन्दे विद्यानन्दः प्रकरण १४

योगेनात्मविवेकेन द्वैतमिथ्यात्वचिंतया ॥
ब्रह्मानंदं पश्यतोऽथ विद्यानंदो निरूप्यते ॥ १ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वापर ग्रंथोंके संबंधको कहते हैं कि योगसे आत्माके विवेकसे और द्वैतकी मिथ्थात्व चिंतासे ब्रह्मानंदको जो जानता है उसकेलिये विद्यानंद-का निरूपण करते हैं ॥ १ ॥

विषयानंदवद्विद्यानंदो धीवृत्तिरूपकः ॥
दुःखाभावादिरूपेण प्रोक्त एष चतुर्विधः ॥ २ ॥

भाषार्थ—अब विद्यानंदके स्वरूपको कहते हैं कि विषयानंदके समान विद्यानंदभी बुद्धिकी वृत्तिरूप है और यह दुःखाभाव आदिरूपसे चार प्रकारका कहाहै ॥ २ ॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिः कृतकृत्योहमित्यसौ ॥
प्राप्तप्राप्योहमित्येव चातुर्विध्यमुदाहृतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—चारों प्रकारोंकोही दिखाते हैं कि दुःखाभाव, और कामनाकी प्राप्ति, और मैं कृतकृत्य हूं यह—और मुझे प्राप्त होने योग्य प्राप्त हुआ यह—यही चार प्रकारका विद्यानंद कहा है ॥ ३ ॥

ऐहिकं चामुष्मिकं चेत्येवं दुःखं द्विधेरितम् ॥
निवृत्तिमैहिकस्याह बृहदारण्यकं वचः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—अब निवृत्तिके योग्य दुःखका विभाग करते हैं कि ऐहिक (जगत्का) और आमुष्मिक (परलोकका) ऐसे दुःख दो प्रकारका कहा है उन दोनोंमें ऐहिक दुःखकी निवृत्ति बृहदारण्यक उपनिषदके वाक्यने कही है ॥ ४ ॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ॥
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ-उसीश्रुतिके वाक्यको पढते हैं कि यदि मनुष्य इस प्रकार आत्माको जानै कि मैं आत्मारूप हूं तो किसकी इच्छासे किसकी कामनाकेलिये शरीरको दुःखदे ॥ ५ ॥

जीवात्मा परमात्मा चेत्यात्मा द्विविध ईरितः ॥
चित्तादात्म्यात्त्रिभिर्देहैर्जीवः सन् भोक्तृतां व्रजेत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ-आत्मामें शोकका संबंध दिखानेकेलिये आत्माके भेद कहते हैं कि जीवात्मा, और परमात्माके भेदसे आत्मा दो प्रकारका कहा है उन दोनोंमें, चित् (चैतन्य) स्थूल सूक्ष्म कारणरूप तीनों देहोंके संग तादात्म्य (एकता) से भोक्ता होता है और भोक्ताकोही जीव कहते हैं ॥ ६ ॥

परात्मा सच्चिदानंदस्तादात्म्यं नामरूपयोः ॥
गत्वा भोग्यत्वमापन्नस्तद्विवेके तु नोभयम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ-अब परमात्माका स्वरूप कहते हैं कि सच्चिदानंदरूप परमात्मा है वही परमात्मा नामरूपके संग तादात्म्यको प्राप्त होकर भोग्यरूपको प्राप्त होता है और उन शरीरों और जगत्से विवेक (भेदका ज्ञान) होनेपर दोनों नहीं अर्थात् भोक्ता और भोग्य दोनों नहीं रहते किंतु सच्चिदानंद परमात्माही शेष रहता है ॥ ७ ॥

भोग्यमिच्छन् भोक्तुरर्थे शरीरमनुसंज्वरेत् ॥
ज्वरास्त्रिषु शरीरेषु स्थिता न त्वात्मनो ज्वराः ॥ ८ ॥

भाषार्थ-अब पूर्वोक्त अर्थको स्पष्ट करते हैं कि भोक्ताके लिये भोग्यकी इच्छा करता हुआ मनुष्य शरीरको दुःखी करता है और वे ज्वर (दुःख) तीनों शरीरोंमें स्थित हैं आत्मामें ज्वर नहीं है ॥ ८ ॥

व्याधयो धातुवैषम्ये स्थूलदेहे स्थिता ज्वराः ॥
कामक्रोधादयः सूक्ष्मे द्वयोर्बीजं तु कारणे ॥ ९ ॥

भाषार्थ-अब जिस शरीरमें जो ज्वर है उसको दिखाते हैं कि धातुओंकी है विषमता जिसमें ऐसे स्थूल देहमें व्याधि (रोग) स्थित हैं और सूक्ष्म शरीरमें

काम क्रोध आदि स्थित हैं और दोनों प्रकारके दुःखोंका बीज कारण शरीरमें स्थित है ॥ ९ ॥

अद्वैतानंदमार्गेण परात्मनि विवेचिते ॥
अपश्यन्वास्तवं भोग्यं किं नामेच्छेत्परात्मवित् ॥ १० ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त श्रुतिका जो अर्थ उसके कथनके व्याज (मिस)से पूर्वोक्त अर्थको स्पष्ट करते हैं कि तीसरे अध्यायमें उक्त प्रकारसे मायाके कार्य जो नाम रूप हैं उनसे सच्चिदानंदरूप परमात्माका विवेक होनेपर संपूर्ण प्रपंच (जगत्) मिथ्या है जानताहुआ मनुष्य किस भोगने योग्य वस्तुकी इच्छा करै अर्थात् किसीकी नहीं करता ॥ १० ॥

आत्मानंदोक्तरीत्यास्मिन् जीवात्मन्यवधारिते ॥
भोक्ता नैवास्ति कोप्यत्र शरीरे तु ज्वरः कुतः ॥ ११ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वाध्यायमें उक्त रीतिसे जीवके असंग कूटस्थ चैतन्य रूपके निश्चय होनेपर कामना कर्ताके अभावसे ज्वर आदिका संबंध नही है इसका वर्णन करते हैं कि आत्मानंद अध्यायमें कही रीतिसे इस जीवात्माके चैतन्यरूपका निश्चय होवेपर इन तीनों पूर्वोक्त शरीरोंमें भोक्ता ही कोई नही है तो ज्वर (दुःख) किस प्रकार हो सकता है अर्थात् नही होता है ॥ ११ ॥

पुण्यपापद्वये चिंता दुःखमामुष्मिकं भवेत् ॥
प्रथमाध्याय एवोक्तं चिंता नैनं तपेदिति ॥ १२ ॥

भाषार्थ–अब परलोकके दुःखको दिखाते हैं कि पुण्य पाप इन दोनोंके विषे जो चिंता वह पारलौकिक दुःख होता है–और उस दुःखका अभाग पहिले अध्यायमें ही कह आये कि पुण्य पापकी चिंता इस ज्ञानीको नही तपाती है ॥ १२ ॥

यथा पुष्करपर्णेऽस्मिन्नपामश्लेषणं तथा ॥
वेदनादूर्ध्वमागामिकर्मणोऽश्लेषणं बुधे ॥ १३ ॥

भाषार्थ–कदाचित् कहो प्रारब्ध कर्मकी चिंता तो मत हो परंतु आगामी कर्मकी चिंता तो होई जायगी यह शंका करके इस (१) श्रुतिके अनुसार आगामी

१ तद्यथा पुष्करपर्णः ।

कर्मकेभी निराकरणसे आगामी कर्मकी चिंताके अभावका वर्णन करते हैं कि जैसे कमलके पत्तेपर जलोंका संबंध नही होता इसी प्रकार ज्ञान होनेके अनंतर ज्ञानीमें आगामी कर्मका संबंध नही होताहै ॥ १३ ॥

इषीकातृणतूलस्य वह्निदाहः क्षणाद्यथा ॥
तथा संचितकर्मास्य दग्धं भवति वेदनात् ॥ १४ ॥

भाषार्थ–अब इस[1] श्रुतिके बलसे ज्ञानीको संचित कर्मकी भी चिंताका अभाव कहते हैं कि जैसे मूंजकी इषीकाका तूल अग्निसे क्षणमात्रमें दग्ध होजाताहै इसी प्रकार इस ज्ञानीका संचित कर्म भी ज्ञानके अनंतर दग्ध (भस्म) होजाताहै ॥ १४ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ १५ ॥

भाषार्थ–अब पूर्वोक्त अर्थमें भगवान्के वाक्यका प्रमाण देते हैं कि जैसे भली प्रकार जलती हुई अग्नि काष्ठोंको हे अर्जुन भस्म करती है इसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मोंको भस्म करती है ॥ १५ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ॥
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हंति न निबध्यते ॥ १६ ॥

भाषार्थ–जिसको अहंकार नही है और जिसकी बुद्धि लिपायमान नही है वह पुरुष इन सब लोकोंको हतकर भी नही हतताहै और नबंधनको प्राप्त होताहै ॥१६॥

मातापित्रोर्वधस्तेयं भ्रूणहत्यान्यदीदृशम् ॥
न मुक्तिं नाशयेत्पापं मुखकांतिर्न नश्यति ॥ १७ ॥

भाषार्थ–इसी बातमें इस[2] कौषीतकी श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि माता पिताका वध (मारना) चोरी-भ्रूणहत्या और अन्यजो ऐसाही पापहै वह इस ज्ञानीकी मुक्तिको नष्ट नही करता और न इसके मुखकी कांति नष्ट होती है ॥ १७ ॥

दुःखाभाववदेवास्य सर्वकामाप्तिरीरिता ॥
सर्वान् कामानसावाप्त्वा ह्यमृतोऽभवदित्यतः ॥ १८ ॥

---

१ तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयंते । २ न मातृवधेन न पितृवधेन नस्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं च न चक्षुषो मुखान्नीलं वेति ।

भाषार्थ-पूर्वोक्त चारोंके मध्यमें दूसरे प्रकारको कहते हैं कि दुःखके अभावके समानही इस ज्ञानीको सर्व कामाप्ति (सब कामना ओंका लाभ) श्रुतिमें कही है- इसी अर्थमें तैत्तिरीयश्रुति वाक्यके अर्थको पढते हैं कि इसीसे यह ज्ञानी सब कामना ओंको प्राप्त होकर अमृत होजाताहै ॥ १८ ॥

जक्षन्क्रीडन्रतिं प्राप्तः स्त्रीभिर्यानैस्तथेतरैः ॥
शरीरं न स्मरेत्प्राणः कर्मणा जीवयेदमुम् ॥ १९ ॥

भाषार्थ-अब इसे छांदोग्य श्रुति वाक्यके अर्थको पढते हैं कि भक्षण करता हुआ और क्रीडा करता और स्त्री यान और अन्योंके संग रति (प्रीति)को प्राप्त हुआ यह ज्ञानी शरीरका स्मरण नहीं करताहै और कर्म सहित जो प्राण वह इस ज्ञानीको जीवाताहै अर्थात् कर्म सहित प्राण ज्ञानीके देहका रक्षकहै ॥ १९ ॥

सर्वान्कामान्सहाप्नोति नान्यवज्जन्मकर्मभिः ॥
वर्तंते श्रोत्रिये भोगा युगपत्क्रमवर्जिताः ॥ २० ॥

भाषार्थ-अब उसीमें तैत्तिरीयश्रुतिवाक्यके अर्थको पढते हैं कि ज्ञानी सब कामना ओंको प्राप्त होताहै- कदाचित् कहो कि ज्ञानीको फलका भोग मानोगे तो जन्मभी हो जायगा सो ठीकनहीं कि अन्योंके समान ज्ञानीका कर्मोंसे जन्म नहीं होताहै क्यों कि ज्ञानसे संचित कर्म नष्ट होजाते हैं और श्रोत्रिय (वेदके ज्ञाता) में क्रमको छोडकर एक वार संपूर्ण भोग वर्तते हैं अर्थात् प्राप्त होतेहैं ॥ २० ॥

युवा रूपी च विद्यावान्नीरोगो दृढचित्तवान् ॥
सैन्योपेतः सर्वपृथ्वीं वित्तपूर्णां प्रपालयन् ॥ २१ ॥

भाषार्थ-अब तैत्तिरीय और बृहदारण्यके वाक्यका संक्षेपसे अर्थ पढते हैं कि युवा-रूपवान्-विद्यावान्- नीरोग और दृढचित्त और सेनासे युक्त और धनसे पूर्ण संपूर्ण पृथ्वीकी पालना करता हुआ राजा ॥ २१ ॥

सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नस्तृप्तभूमिपः ॥
यमानंदमवाप्नोति ब्रह्मविच्च तमश्नुते ॥ २२ ॥

---

१ जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वाऽज्ञातिभिर्वा वयस्यैर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्।

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि चक्रवर्तीसे लेकर, हिरण्यगर्भपर्यंत जो जीवके आनंद हैं वे ज्ञातीमें कैसे संभव हैं यह शंका करके-इस आशयसे उत्तर देतेहैं कि संपूर्ण आनंद ज्ञानीके जाने हुए ब्रह्मके अंश है इससे ज्ञानीके पूर्वोक्त सब आनंदोंका संभव होसक्ता है और मनुष्यके संपूर्ण भोगोंसे संपन्न और तृप्त राजा जिस आनंदको होताहै उसी आनंदको ब्रह्मज्ञानी भी भोगता है ॥ २२ ॥

मर्त्यभोगे द्वयोर्नास्ति कामस्तृप्तिरतः समा ॥
भोगान्निष्कामतैकस्य परस्यापि विवेकतः ॥ २३ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि चक्रवर्ती और तत्वज्ञानी इन दोनोंको विषयोंकी प्राप्ति समान नहीं है इससे आनंदकी तुल्यता कैसे होसक्ती है सो ठीक नहीं कि मृत्युलोकके भोगमें चक्रवर्ती और ज्ञानी दोनोंकी कामना नहीं है इससे दोनोंकी तृप्ति समान है उन दोनोंमें एक (राजा) भोगोंसे निष्काम है और दूसरा (ज्ञानी) विवेकसे निष्काम है अर्थात् निरपेक्षतासे तृप्तीकी साम्यता है ॥ २३ ॥

श्रोत्रियत्वाद्वेदशास्त्रैर्भोगदोषानवेक्षते ॥
राजा बृहद्रथो दोषांस्तान् गाथाभिरुदाहरत् ॥ २४ ॥

भाषार्थ-अब विवेकसे निष्कामताका वर्णन करते हैं ज्ञानी श्रोत्रिय (वेदपाठी) होनेसे वेद और शास्त्रोंसे भोगोंके दोषोंको देखता है कदाचित् कहो कि भोगोंके दोष किस शाखामें और किसने कहे हैं सो ठीक नहीं कि बृहद्रथ राजाने मैत्रायणीय शाखामें वे दोष गाथाओंसे कहे है की ॥ २४ ॥

देहदोषांश्चित्तदोषान् भोग्यदोषाननेकशः ॥
शुना वांते पायसे नो कामस्तद्वद्विवेकिनः ॥ २५ ॥

भाषार्थ-देहके दोष चित्तके दोष और अनेक भोग्य पदार्थोंके दोष उक्त राजाने वर्णन किये हैं अब विवेकीको कामनाके नहोनेमें दृष्टांत कहते हैं कि जैसे श्वानने वमन किये पायसमें किसीकी कामना नहीं होती इसी प्रकार विवेकीकी किसी विषयमें कामना नहीं होती ॥ २५ ॥

निष्कामत्वे समेप्यत्र राज्ञः साधनसंचये ॥
दुःखमासीद्भाविनाशादतिभीरनुवर्तते ॥ २६ ॥

भाषार्थ-अब सार्वभौम राजासे तत्वज्ञानीकी अधिकताको कहते हैं कि यद्य

दोनोंकी निष्कामता समान है तथापि राजाको साधनोंके संचय करनेमें दुःख हुआ है और भविष्य नाशसे अत्यंत भीति बनी रहती है ॥ २६ ॥

नोभयं श्रोत्रियस्यातस्तदानंदोऽधिकोऽन्यतः ॥
गंधर्वानंद आशास्ति राज्ञो नास्ति विवेकिनः ॥ २७ ॥

भाषार्थ—और श्रोत्रियको ये दोनों नहीं होते इससे तत्वज्ञानीका आनंद अधिक है और अर्थात् चक्रवर्ती अनेक साधनोंसे होताहै और पीछे उसके नाशका भय रहता है और ज्ञानीमें इन दोनोंका अभाव रहता है इससे ज्ञानीका आनंद अधिक है और इससेभी श्रोत्रिय अधिक है कि राजाकी गंधर्वानंदमें आशा है और विवेकी की नहीं ॥ २७ ॥

अस्मिन्कल्पे मनुष्यः सन्पुण्यपाकविशेषतः ॥
गंधर्वत्वं समापन्नो मर्त्यगंधर्व उच्यते ॥ २८ ॥

भाषार्थ—अब गंधर्वानंदके दो प्रकार दिखानेके लिये दो श्लोकोंसे गंधर्वका भेद कहते हैं कि इस श्लोकमें मनुष्य हुआ जो मनुष्य पुण्यके पाप विशेषसे गंधर्व योनिको प्राप्त होजाय उसे मर्त्य गंधर्व कहते हैं ॥ २८ ॥

पूर्वकल्पे कृतात्पुण्यात्कल्पादावेव चेद्भवेत् ॥
गंधर्वत्वं तादृशोऽत्र देवगंधर्व उच्यते ॥ २९ ॥

भाषार्थ—और जो पूर्व कल्पमें किये हुए पुण्यसे कल्पकी आदिमेंही गंधर्व योनिको प्राप्त होजाय वह देव गंधर्व कहाता है ॥ २९ ॥

अग्निष्वात्तादयो लोके पितरश्चिरवासिनः ॥
कल्पादावेव देवत्वं गता आजानदेवताः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—अब चिरलोक पित्रानंद दिखानेके लिये चिरलोकके पितरोंको कहते हैं पितृलोकमें जो चिरवासी अग्निष्वात्ता आदि हैं वे पितर कहाते हैं अब देवानंदके तीन प्रकार जाननेके लिये देवताओंके भेद कहते हैं कि, कल्पकी आदिमेंही जो देवभावको प्राप्त हुए हैं वे आजान देवता कहाते हैं ॥ ३० ॥

अस्मिन्कल्पेऽश्वमेधादि कर्म कृत्वा महत्पदम् ॥
अवाप्याजानदेवैर्याः पूज्यास्ताः कर्मदेवताः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ-इस कल्पमें अश्वमेध आदि कर्म करनेके अनंतर महान् पदको प्राप्त हुए जिनकी आजान देवता पूजा करते हैं वे कर्म देवता कहाते हैं ॥ ३१ ॥

यमाग्निमुख्या देवाः स्युर्ज्ञाताविंद्रबृहस्पती ॥
प्रजापतिर्विराट् प्रोक्तो ब्रह्मा सूत्रात्मनामकः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ-यम और अग्नि है मुख्य जिनमें वे देवता होते हैं इंद्र और बृहस्पतिको ज्ञात, और प्रजापतिको विराट्, और ब्रह्माको सूत्रात्मा कहते हैं ॥ ३२ ॥

सार्वभौमादिसूत्रांता उत्तरोत्तरकामिनः ॥
अवाङ्मनसगम्योयमात्मानंदस्ततः परः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ-अब चक्रवर्तीसे सूत्रात्मा पर्यंतोंको तत्वज्ञानीसे न्यूनता दिखाते हैं कि चक्रवर्तीसे सूत्रात्मा पर्यंत जितने हैं वे उत्तरोत्तर पदके अभिलाषी होते हैं और वाणी मनसे अगम्यरूप यह परमात्मा उन सबसे परे हैं अर्थात् उन सबसे अधिकहै॥ ३३॥

तैस्तैः काम्येषु सर्वेषु सुखेषु श्रोत्रियो यतः ॥
निःस्पृहस्तेन सर्वेषामानंदाः संति तस्य ते ॥ ३४ ॥

भाषार्थ-अब सबके आनंद निस्पृह श्रोत्रियके विषे दिखाते हैं कि जिससे श्रोत्रिय (ज्ञानी) तिस २ कारणसे कामनाके योग्य संपूर्ण सुखोंमें निस्पृह है इससे सबके वे आनंद श्रोत्रियको होते हैं ॥ ३४ ॥

सर्वकामाप्तिरेषोक्ता यद्वा साक्षिचिदात्मना ॥
स्वदेहवत्सर्वदेहेष्वपि भोगानवेक्षते ॥ ३५ ॥

भाषार्थ-अब कहे हुए अर्थको समाप्त करते हैं कि यह सर्व कामाप्ति वर्णनकी अब दूसरा पक्ष कहते हैं कि अथवा जैसे साक्षीरूप चिदात्मासे अपने देहमें आनंदको मानता है इसी प्रकार ,आनंदाकार बुद्धिका साक्षी होनेसे संपूर्ण देहोंमें भोग आदिके आनंदोंको देखता है इसीको सर्व कामाप्ति कहते हैं ॥ ३५ ॥

अज्ञस्याप्येतदस्त्येव न तु तृप्तिरबोधतः ॥
यो वेद सोऽश्नुते सर्वान्कामानित्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि पूर्वोक्त प्रकारसे अज्ञानीकोभी सर्वानंदकी प्राप्ति है यह शंका करकै उत्तर देते हैं कि अज्ञानीको संपूर्ण देहोंमें यह ज्ञान नहीं कि मैं

सबकी बुद्धिका साक्षी हूं यद्यपि अज्ञानीकोभी यह सर्व कामाप्ति है तथापि अज्ञानसे उसकी तृप्ति नहीं है और ज्ञानीकी तृप्ति है क्योंकि तैत्तिरीय श्रुतिमें यह लिखा है कि अंतःकरणमें स्थित ब्रह्मको जो जानता है वह सब कामनाओंको भोगताहै॥ ३६॥

यद्वा सर्वात्मतां स्वस्य साम्ना गायति सर्वदा॥
अहमन्नं तथान्नादश्चेति साम ह्यधीयते ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—अब तीसरे प्रकारको कहते हैं कि अथवा सामवेदके अनुसार ज्ञानी इन लोकोंकी कामनाओंमें निष्काम रूपी विचरता है इस श्रुतिसे सब कालमें अपनेको सर्वात्मरूप गाता है और इस सामको पढता है कि मैंही अन्नहूं और मैंही अन्नको भोक्ताहूं ॥ ३७ ॥

दुःखाभावश्च कामाप्तिरुभे ह्येवं निरूपिते ॥
कृतकृत्यत्वमन्यच्च प्राप्तप्राप्यत्वमीक्षताम् ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—इस प्रकार दुःखाभाव और कामाप्ति इन दोनोंका वर्णन पूर्वोक्त ग्रंथसे किया और अन्य जो कृतकृत्यता और प्राप्यकी प्राप्यता है उनकोभी देखो कि॥ ३८॥

उभयं तृप्तिदीपे हि सम्यगस्माभिरीरितम् ॥
त एवात्रानुसंधेयाः श्लोका बुद्धिविशुद्धये ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—उन दोनोंका तृप्तिदीपमेंही हमने भलीप्रकार वर्णन किया वेही श्लोक बुद्धिकी शुद्धिके लिये यहां अनुसंधान (स्मरण) करने योग्य है ॥ ३९ ॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये ॥
बहुकृत्यं पुरास्याभूत्तत्सर्वमधुना कृतम् ॥ ४० ॥

भाषार्थ—उन श्लोकोंकोही वर्णन करते हैं कि इस लोक और परलोकके अनेक पदार्थोंकी सिद्धि और मुक्तिकी सिद्धिके लिये ज्ञानसे पूर्व, इस ज्ञानीको अनेक प्रकारका कृत्य रहा वह सब अब ज्ञानकी अवस्थामें ज्ञानीने करलिया ॥ ४० ॥

तदेतत्कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम् ॥
अनुसंदधदेवायमेवं तृप्यति नित्यशः ॥ ४१ ॥

---

१ इमान् लोकान् कामान् निष्कामरूपमनुचरन् ।

भाषार्थ–तिससे प्रतियोगीके ज्ञानपूर्वक इस कृत्यकृत्यताका स्मरण करता हुआ यह ज्ञानी इस प्रकार नित्य तृप्त होताहै कि ॥ ४१ ॥

दुःखिनोऽज्ञाः संसरंतु कामं पुत्राद्यपेक्षया ॥
परमानंदपूर्णोहं संसरामि किमिच्छया ॥ ४२ ॥

भाषार्थ–अब तृप्तिका स्पष्टरीतिसे वर्णन करते हैं कि दुःखी अज्ञानी पुरुष, पुत्र आदिकी अपेक्षासे-यथेच्छ संसारमें प्राप्तहो अर्थात् जन्मो और मरो-परमानंदसे पूर्ण मैं किसकी इच्छासे संसारमें प्राप्त हूं ॥ ४२ ॥

अनुतिष्ठंतु कर्माणि परलोकयियासवः ॥
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ–परलोकमें जानेके अभिलाषी मनुष्य कर्मको करै तो करो, संपूर्ण लोक रूपमैं किससे, किसप्रकार, किस, कर्मको करूं ॥ ४३ ॥

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयंतु वा ॥
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ–जो शास्त्र और वेदके अधिकारी हैं वे शास्त्रोंका व्याख्यान करो और वेदोंको पढाओ मेरा तो इसमें अधिकार नहीं क्योंकि मैं क्रिया रहित हूं ॥ ४४ ॥

निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ॥
द्रष्टारश्चेत्कल्पयंति किं मे स्यादन्यकल्पनात् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ–निद्रा-भिक्षा-स्नान-शौच इनकी मैं न इच्छा करता हूं और न मैं इनको करताहूं यदि द्रष्टा मनुष्य कल्पना करते हैं तो अन्यकी कल्पनासे मुझे क्या ॥ ४५ ॥

गुंजापुंजादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना ॥
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥ ४६ ॥

भाषार्थ–जैसे गुंजा (चोहटनी) का पुंज अन्य मनुष्यकी आरोपणकी अग्निसे दग्ध नहीं होता इसी प्रकार अन्य पुरुषोंके आरोपण किये संसारके धर्मोंको मैं नहीं भजता ॥ ४६ ॥

शृण्वंत्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम् ॥
मन्यंतां संशयापन्ना न मन्येहमसंशयः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–जिनको तत्वज्ञान नहीं वे शास्त्रोंको सुनो जानताहुआमें क्यों सुनो संशयसे युक्त मनुष्य शास्त्रोंको मानो संदेहसे रहित मैं नहीं मानता ॥ ४७ ॥

विपर्यस्तो निदिध्यासेत्किं ध्यानमविपर्यये ॥
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ–विपरीत ज्ञानी निदिध्यासन करो विपरीत ज्ञानसे रहित मुझे ध्यान करनेसे क्या प्रयोजनहै क्योंकि देह और आत्माके विपरीत ज्ञानको मैं कदापि नहीं भजता ॥ ४८ ॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम् ॥
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोवकल्पते ॥ ४९ ॥

भाषार्थ–और मैं मनुष्य हूं इत्यादि व्यवहार तो इस विपरीत ज्ञानके विनाभी चिरकालके अभ्यासकी वासनासे हो जायगा ॥ ४९ ॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते ॥
कर्माक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ ५० ॥

भाषार्थ–क्योंकि प्रारब्ध कर्मके नाश होनेपर व्यवहार निवृत्त होताहै और प्रारब्ध कर्मके क्षय विना यह व्यवहार सहस्रों कर्मोंसेभी क्षय नहीं होता ॥ ५० ॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते ॥
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ–यदि आपको व्यवहार विरल (विलक्षण) वा, भिन्न इष्टहै तो आपको ज्ञान रहो व्यवहारको अबाधक मानताहुवा मैं ध्यानको क्यों करूं ॥ ५१ ॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम ॥
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥ ५२ ॥

भाषार्थ–जिस कारण मुझे विक्षेप नहींहै इसीसे समाधिभी मुझे नहीं क्योंकि विक्षेप और समाधि उसको होते हैं जिसके मनमें विकार होताहै ॥ ५२ ॥

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक् ॥
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव निश्चयः ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—नित्यानुभवरूप मेरेसे भिन्न अनुभव कोन है अर्थात् कोई नहीं, क्योंकि मेरा यह निश्चयहै कि मैं कृत्य करलिया और प्राप्त होने योग्य वस्तु मुझे प्राप्त होगई ५३

व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वान्यथापि वा ॥
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—लौकिक वा शास्त्रीय वा अन्यथा जो व्यवहार है वह सब कर्तासे भिन्न और निर्लेप मेरा प्रारब्धके अनुसार वर्तो ॥ ५४ ॥

अथवा कृतकृत्योपि लोकानुग्रहकाम्यया ॥
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेहं का मम क्षतिः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—अथवा कृतकृत्यभी मैं लोकके अनुग्रहकी कामनासे शास्त्रोक्त मार्गसे वर्तू (चलू) तो मेरी क्या क्षतिहै अर्थात् कुछ नहीं है ॥ ५५ ॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः ॥
तारं जपतु वाक् तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—देवताका पूजन स्नान शौच भिक्षा इनको देह करो वाणी तारक मंत्रको जपो, और तैसेही आम्नायमस्तक (उपनिषद्) को पढो ॥ ५६ ॥

विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानंदे विलीयताम् ॥
साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—बुद्धि विष्णुका ध्यान करो वा ब्रह्मानंदमें लीन होजाओ साक्षीरूपमें इसमें न कछु करताहु न कछु कराताहु ॥ ५७ ॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः ॥
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरंतरम् ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—कृतकृत्यतासे तृप्त और प्राप्यकी प्राप्यतासे तृप्त हुवा यह ज्ञानी अपने मनसे निरंतर (सदैव) ऐसे मानता है जो वर्णन कर चुके हैं ॥ ५८ ॥

धन्योहं धन्योहं नित्यं स्वात्मानमंजसा वेद्मि ॥
धन्योहं धन्योहं ब्रह्मानंदो विभाति मे स्पष्टम् ॥ ५९ ॥

भाषार्थ–मुझे धन्यहै २ मैं सुखसे नित्य अपने आत्माको जानता हूं मुझे धन्य है२ कि मुझे स्पष्ट रीतिसे ब्रह्मानंदका भान होता है ॥ ५९ ॥

धन्योहं धन्योहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेद्य ॥
धन्योहं धन्योहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥ ६० ॥

भाषार्थ–मुझे धन्य है२ क्योंकि मैं अब संसारके दुःखको नहीं देखताहूं मुझे धन्य है २ कि मेरा अज्ञान कहीं भजगया अर्थात् नष्ट होगया ॥ ६० ॥

धन्योहं धन्योहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित् ॥
धन्योहं धन्योहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य संपन्नम् ॥ ६१ ॥

भाषार्थ–मुझे धन्यहै २ कि मुझे अब किंचित् भी कर्तव्य नहीं है मैं धन्य हूं२कि मेरा प्राप्त होने योग्य संपूर्ण संपन्न (सिद्ध) हुवा ॥ ६१ ॥

धन्योहं धन्योहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ॥
धन्योहं धन्योहं धन्यो धन्यः पुनःपुनर्धन्यः ॥ ६२ ॥

भाषार्थ–मैं धन्यहूं २ कि मेरी तृप्तिकी उपमा जगतमें कोई नहीं मैं धन्यहूं धन्यहूं धन्यहूं फिर धन्यहूं और फिर धन्यहूं ॥ ६२ ॥

अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ॥
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ–अहो (बडाभारी) पुण्यहै अहो पुण्यहै जिससे दृढ फल मुझे हुवा२ इस पुण्यकी सिद्धिसे अहो हम हैं अहो हम हैं ॥ ६३ ॥

अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ॥ ६४ ॥

भाषार्थ–अहो शास्त्र है अहो शास्त्र है अहो गुरु है अहो गुरु है अहो ज्ञान है अहो ज्ञान है अहो सुख है अहो सुख है इस प्रकार तृप्तिदीपमें वर्णन किये कृतकृत्यता और प्राप्य प्राप्यता इन दोनोंका ३९ श्लोकसे यहांतक दुवारा स्पष्ट रीतिसे वर्णन किया ॥ ६४ ॥

ब्रह्मानंदाभिधे ग्रंथे चतुर्थोऽध्याय ईरितः ॥
विद्यानंदस्तदुत्पत्तिपर्यंतोभ्यास इष्यताम् ॥ ६५ ॥

भाषार्थ–अब अध्यायके अर्थको समाप्त करते हैं कि ब्रह्मानंद नामके ग्रंथमें विद्यानंद नामका यह चौथा अध्याय वर्णन किया मुमुक्षुको विद्याकी उत्पत्ति पर्यंत इस विद्यानन्दका अभ्यास करना इष्ट है ॥ ६५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविद्यारण्यस्वामिविरचितायां पंचदश्यां ब्रह्मानंदे विद्यानंदो नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीविद्यारण्यस्वामिविरचितायां पंचदश्यां पं० मिहिरचंद्रकृतभाषाविवृत्तिसंहितायां ब्रह्मानन्दे विद्यानंदो नाम चतुर्थोध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

श्रीः।

पञ्चदशी।

भाषाटीकासमेता।

ब्रह्मानन्दे विषयानन्दः प्रकरण १५

अथात्र विषयानंदो ब्रह्मानंदांशरूपभाक् ॥
निरूप्यते द्वारभूतस्तदंशत्वं श्रुतिर्जगौ ॥ १ ॥

भाषार्थ–अब पांचमें अध्ययमें वर्णन किये अर्थको कहते हैं कि ब्रह्मानंदके अंश रूपका भागी जो विषयानंद उसका निरूपण करते हैं कि कदाचित् कहोकि विषयानंद लौकिक है इससे मोक्ष शास्त्रमें उसका निरूपण नही हो सकता यह शंक-करके लौकिक भी वह, ब्रह्मानंदका एकदेश है इससे ब्रह्मज्ञानका उपयोगी होनेसे उसके वर्णनकी योग्यताको कहते हैं कि विषयानन्द ब्रह्मानन्दका द्वाररूप है अब विषयानन्द ब्रह्मानन्दका एकदेश है इसमें प्रमाण कहते हैं कि विषयानंदको ब्रह्मानं-दका एक देश श्रुतीने कहा है ॥ १ ॥

एषोस्य परमानंदो योऽखंडैकरसात्मकः ॥
अन्यानि भूतान्येतस्य मात्रामेवोपभुंजते ॥ २ ॥

भाषार्थ–उसी श्रुतिके अर्थको पढते हैं कि यह इस मुमुक्षुका परमानन्द है जो अखंड एक रसरूप है अन्य जितने भूत (प्राणि) हैं वे सब इस आनंदकी ही मात्रा (लेश) को भोगते हैं अर्थात् सबके आनन्दमें ब्रह्मानन्दका अंश है ॥ २ ॥

शांता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा ॥
वैराग्यं क्षांतिरौदार्यमित्याद्याः शांतवृत्तयः ॥ ३ ॥
तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तयः ॥
संमोहो भयमित्याद्याः कथिता मूढवृत्तयः ॥ ४ ॥

भाषार्थ–अब विषयानंदका ब्रह्मानंदका लेश दिखानेके लिये उसकी उपाधिरूप जो अंतःकरणकी वृत्ति है उनका विभाग करते हैं कि शांत (सात्विक) घोर (रजोगुणी) और मूढ (तमोगुणी) ये तीन प्रकारकी मनकी वृत्ति हैं –उन शां-

त आदि वृत्तियोंकोही दिखाते हैं कि वैराग्य क्षमा—और उदारता आदि शांत वृत्ति- में—और तृष्णा स्नेह राग लोभ आदि घोर वृत्ति हैं और संमोह भय आदि मूढ वृत्ति कही हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता ॥
प्रतिबिंबति शांतासु सुखं च प्रतिबिंबति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—पूर्वोक्त तीन प्रकारकोभी वृत्तियोंमें चित्‌रूप ब्रह्मके भानको वर्णन करते हैं कि इन संपूर्ण वृत्तियोंमें ब्रह्मके चित्स्वभावका प्रतिबिंब पडता है और शां- त वृत्तियोंमें सुखकाभी प्रतिबिंब पडता है ॥ ५ ॥

रूपं रूपं बभूवासौ प्रतिरूप इति श्रुतिः ॥
उपमा सूर्यकेत्यादि सूत्रयामास सूत्रकृत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—अब पूर्वोक्त अर्थमें इस[1] श्रुतीके अर्थको पढते हैं कि रूप २ के प्राति यह ब्रह्मप्रतिरूप (सदृश) हुआ यह श्रुतिमें कहा है उसमें ही व्याससूत्रके ए- क देशको पढते हैं कि सूत्रकार (व्यासजी) नेभी यह सूत्ररचा है कि इसीसे ब्रह्म- को सूर्यकी उपमा है ॥ ६ ॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ॥
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचंद्रवत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—अब स्वरूपसे एक वस्तुके उपाधिके संबंधसे नाना (अनेक) होनेमें श्रुतीको पढते हैं कि एकही भूतात्मा भूत २ में व्यवस्थित हुआ एक प्रकारका और बहुत प्रकारका ऐसे दीखते हैं जैसे जलमें चंद्रमा दिखे है ॥ ७ ॥

जले प्रविष्टश्चंद्रोयमस्पष्टः कलुषे जले ॥
विस्पष्टो निर्मले तद्वद्द्वेधा ब्रह्मापि वृत्तिषु ॥ ८ ॥

भाषार्थ—कदाचित् कहोकि निरवयव ब्रह्मका कही चिद्रूपसे भान, और अन्यस्थ- लमें चिदानन्दका भान, ऐसा विभाग करना अनुचित है यह शंका करके चंद्रमा- के दृष्टांतसे परिहार करते हैं कि जैसे जलमें प्रविष्ट यह चंद्रमा मलीन जलमें अ- प्रकट, और निर्मल जलमें भली प्रकार स्पष्ट दीखता है तैसेही वृत्तियोंमें ब्रह्मभी अ- स्पष्ट और स्पष्ट प्रतीत होताहै ॥ ८ ॥

---

१ रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

घोरमूढासु मालिन्यात्सुखांशश्च तिरोहितः ॥
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिंबनम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ-सोई कहते हैं कि घोर और मूढ वृत्तियोंमें मलीनतासे सुखरूप अंश तिरोहित (छिपा) रहताहै और उनमें किंचित् निर्मलतासे चित् अंशका प्रतिबिंब पडताहै ॥ ९ ॥

यद्वाऽपि निर्मले नीरे वह्नेरौष्ण्यस्य संक्रमः ॥
न प्रकाशस्य तद्वत्स्याच्चिन्मात्रोद्भूतिरेव च ॥ १० ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि चंद्रमाकी उपाधि जो जल वह दो प्रकारका है इससे दो प्रकारके अंशका भान युक्त है यहां तो अन्तःकरणरूप उपाधि को एक होनेसे एक अंशका भान नहीं हो सकता यह शंका करके अन्य दृष्टांत देते हैं कि अथवा जैसे निर्मलजल में भी अग्निकी उष्णताका संक्रम (गमन) होता है और प्रकाशका नहीं तैसे ही घोर मूढवृत्तियोंमें चिन्मात्र अंशका प्रतिबिंब पड़ता है सुखका नहीं ॥ १० ॥

काष्ठे त्वौष्ण्यप्रकाशौ द्वावुद्भवं गच्छतो यथा ॥
शांतासु सुखचैतन्ये तथैवोद्भूतिमाप्नुतः ॥ ११ ॥

भाषार्थ-अब शांतवृत्तियोंमें चित् आनंद दोनोंकी प्रतीति में अन्यदृष्टांत देते हैं कि जैसे काष्ठमें अग्निकी उष्णता और प्रकाश दोनों प्रकटताको प्राप्त होते हैं इसी प्रकार शांत वृत्तियोंमें सुख और चैतन्य दोनों प्रकटताको प्राप्त होते हैं ॥ ११ ॥

वस्तुस्वभावमाश्रित्य व्यवस्था तूभयोः समा ॥
अनुभूत्यनुसारेण कल्प्यते हि नियामकम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो कि यह व्यवस्था कैसे होती है सो ठीक नहीं कि वस्तुका स्वभाव उसके आश्रयसे दोनोंकी व्यवस्था समान है क्यों कि अनुभूति (प्रतीति) से नियामककी कल्पना होती है ॥ १२ ॥

[illegible]तु न मूढासु सुखानुभव ईक्ष्यते ॥
[illegible]स्वपि काचित्काश्चित्सुखातिशय ईक्ष्यताम् ॥ १३॥

[illegible]भूतिकोही दिखाते हैं कि घोर और मूढवृत्तियोंमें सुखका अनु

भव नहीं दीखता है और शांतवृत्तियोंमें भी आनंद का प्रकाश
किसी २ शांतवृत्तिमें अत्यंतसुखरूप दीखता है ॥ १३ ॥

गृहक्षेत्रादिविषये यदा कामो भवेत्तदा ॥
राजसस्यास्य कामस्य घोरत्वात्तत्र नो सुखम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ-पूर्वोक्त घोर और मूढवृत्तियोंमें सुखके अभावको दिखाते हैं कि
प्राणीको गृह और क्षेत्र आदि रूप विषयकी कामना होती है तब उस रजो
कामनाको घोररूप होनेसे उसमें सुख नहीं होता ॥ १४ ॥

सिध्येन्न वेत्यस्ति दुःखमसिद्धौ तद्विवर्धते ॥
प्रतिबंधे भवेत् क्रोधो द्वेषो वा प्रतिकूलतः ॥ १५ ॥

भाषार्थ-कार्यसिद्ध होगा वा न होगा यह दुःख है और सुखकी सिद्धि न
में दुःख बढता है और सुखका प्रतिबिंब होने पर क्रोध होता है वा प्रतिकूल
खके होनेसे द्वेष होता है ॥ १५ ॥

अशक्यश्चेत्प्रतीकारो विषादः स्यात्स तामसः ॥
क्रोधादिषु महद्दुःखं सुखशंकापि दूरतः ॥ १६ ॥
काम्यलाभे हर्षवृत्तिः शांता तत्र महत्सुखम् ॥
भोगे महत्तरं लाभप्रसक्तावीषदेव हि ॥ १७ ॥
महत्तमं विरक्तौ तु विद्यानंदे तदीरितम् ॥
एवं क्षांतौ तथौदार्ये क्रोधलोभनिवारणात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ-यदि प्रतीकार (दुःख निवृत्ति) न करसके तो तमोगुणी विषाद हो
है और क्रोध आदि में महान् दुःख हैं सुखकी शंका तो दूर रही और
(इष्ट) विषयके लाभ होने पर हर्षवृत्ति शांतरूप है उसमें महान्सुख
और भोग में महत्तर (कुछ अधिक) सुख है और लाभके प्रसंगमें
सुख होता है और विरक्तिमें तो महत्तम (अत्यंत अधिक)
विद्यानंदप्रकरणमें वर्णनकर आये इसीप्रकार क्रोध और
क्षांति (क्षमा) और उदारता में॥१६॥ १७ ॥ १८ ॥

यद्यत्सुखं भवेत्तत्तद्ब्रह्मैव प्रतिबिंबनात् ॥
वृत्तिष्वंतर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिंबनम् ॥

भाषार्थ-जो २ सुख होता है वह २ ब्रह्म का प्रतिबिंब है, क्यों कि अंतर्मुखवृत्तियोंमें ब्रह्मका निर्विघ्न प्रतिबिंब पडता है ॥ १९ ॥

सत्ता चितिः सुखं चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः ॥
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्वयम् ॥ २० ॥

भाषार्थ-अब सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपका अनुभव दिखानेके लिये ब्रह्मके स्वभावोंका स्मरण कराते हैं कि सत्ता चिति और सुख ये तीन ब्रह्मके स्वभाव हैं मृत्तिका और शिला आदि में सत्ता ही प्रतीत होती है अन्य दो नहीं ॥ २० ॥

सत्ता चितिर्द्वयं व्यक्तं धीवृत्त्योर्घोरमूढयोः ॥
शांतवृत्तौ त्रयं व्यक्तं मिश्रं ब्रह्मेत्थमीरितम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ-सत्ता, और चिति, ये दोनों ब्रह्मके स्वरूप बुद्धिकी घोर और मूढ वृत्तियोंमें व्यक्त (प्रकट) हैं और शांतरूप बुद्धिकी वृत्तिमें सत्ता चिति आनंद ये तीनों व्यक्त हैं इस प्रकार मिश्ररस प्रपंच ब्रह्मका वर्णन किया ॥ २१ ॥

अमिश्रं ज्ञानयोगाभ्यां तौ च पूर्वमुदीरितौ ॥
आद्येऽध्याये योगचिंता ज्ञानमध्याययोर्द्वयोः ॥ २२ ॥

भाषार्थ-अमिश्र (प्रपंच रहित) ब्रह्मके ज्ञानका उपाय कहते हैं कि अमिश्र ब्रह्मका ज्ञानयोगसे जाना जाता है उन ज्ञान, योगोंका वर्णन पहिले कर आये उनमेंसे पहिले अध्यायमें योगकी चिंता और उससे आगेके दो अध्यायोंमें ज्ञान वर्णन किया है ॥ २२ ॥

असत्ता जाड्यदुःखे द्वे मायारूपं त्रयं त्विदम् ॥
असत्ता नरशृंगादौ जाड्यं काष्ठशिलादिषु ॥ २३ ॥

भाषार्थ-कदाचित् कहो सत् चित् आनंद ये ब्रह्मरूप रहो परंतु मायाका क्या रूप है इस शंकाका उत्तर कहते है कि असत्ता, और जाडच दुःख, ये दो ये तीन मायाके रूप हैं उन तीनोंमें नरशृंग आदिमें असत्ता और काष्ठ शिला आदिमें जाडच होताहै ॥ २३ ॥